# ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

भामती—वेदान्तकल्पतरु—कल्पतरुपरिमल—रत्नप्रभा—न्यायनिर्णय-

अनुवादक—डा० थीबो प्रभृतीनां विविधाभिष्टीका-

टिप्पणीभिर्विलसितम् ।

तदिदं

शुकराजशास्त्रिविद्याभूषणविहितं

हिन्दीभाषानुवादसहितम् ।

अध्याय

प्रथमो भागः ।

—※—

यह

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य वाचस्पति, अप्पयदीक्षित, अमलानन्द सरस्वती, गोविन्दानन्द, आनन्दगिरि, अनुवादक तथा डा० थीबो कृत विविध टीकाटिप्पणी सहित है।

प्रथम संस्करण

१९३७

मूल्य अजिल्द २॥) | राजसंस्करण १०) | सजिल्द ३)



श्री ३ महाराज युद्ध शम्शेर जङ्ग बहादुर राणा, नेपाल ।

# समर्पणम्

श्रीमदतिप्रचण्ड भुजदण्ड, ओजस्वी राजन्य, प्रोज्ज्वल नेपालतारा, अतिप्रबल गोरखा दक्षिण बाहु पृथुलाधीश, श्री ३ महाराज युद्ध शम्शेर जङ्गबहादुर राणा, ग्राहद् क्वाद् ला लेजिओद् अनेयर जी. सी. सान्ति मरिजिओ एलाज्जारो, जी. सी. एस. आई., जी. सी. आई. ई., थिटेङ्ग पावेटिङ्ग सुन चियांन् लुचुयां स्याङ्ग च्याङ्ग, आनरेरी लेफ्टेनेन्ट जरनल ब्रिटिश आर्मी, आनरेरी करोलि आव् आल् दी गोरखा राईफल रेजिमेन्ट्स् इण्डियन आर्मी, प्राइम मिनिस्टर एण्ड सुप्रीम कमाण्डर-इन-चीफ, नेपाल के कर्त्ता धर्त्ता श्रीमान् महाराज के कर कमल में......

यह महान् हर्ष का विषय है कि सर्वव्यापक परमेश्वर की कृपा दृष्टि से शूर वीर क्षत्रियों का स्वतन्त्र राज्य नेपाल अब तक विद्यमान है। एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य नेपाल अब तक जिस किसी परिस्थिति में भी स्वतन्त्र ही है इस विचार से समग्र हिन्दू जनता आनन्द से गद्‌गद् होती रहती है। ऐसे स्वतन्त्र हिन्दू राज्य नेपाल को उन्नति के शिखर में पहुँचाने के लिये पूर्व शासकों ने यथाशक्य चेष्टा की थी। उसमें भी वर्त्तमान महाराजने अपनी पूर्ण शक्ति से नेपाल को उन्नत करने के लिये महान् उद्योग किया, जिससे निकट भविष्यमें नेपाल की कीर्ति उज्ज्वल होगी। इस प्रकार सबकी आशा बन्ध रही है।

(१) आज कल व्यापार का युग है, जिस राष्ट्र का व्यापार है वह उन्नत अवस्था में है, और जिसका नहीं है वह अधोगत दशा में है। इस तत्त्व को जान कर व्यापार का प्रबन्ध भी नेपालियों के हाथ में ही रहना चाहिये इस विचार से नेपाल महाराज ने "नेपाल ट्रेडिंग कम्पनी" नामक एक व्यापारिक संस्था की स्थापना की।

(२) नेपाल में सब प्रकार के उन्नति सम्बन्धी उद्योगों का पूरा प्रबन्ध करने के लिये महाराज ने "उद्योग परिषद्" नामक संस्था स्थापित की।

(३) नेपाल ने वस्त्रनिर्माण आदि घरेलु व्यवसायों को प्रोत्साहन दिलाने के लिए विदेशी वस्त्र आदि में अधिक ड्यूटी बढ़ा दी, इस से स्वदेशी प्रचार के लिये बहुत कुछ प्रोत्साहन होगा।

(४) स्वदेशी वस्त्रों के प्रचार के लिये नेपाल सरकार द्वारा अनेक अनुभवी नेपाली पुरुषों के नियत किये जाने के कारण भविष्य में नेपाल का वस्त्रव्यवसाय भी उन्नत होगा यह आशा झलक रही है।

(५) जब तक मातृजाति शिक्षित न होगी कोई देश उठ नहीं सकता, जो २ उन्नत हैं वहां मातृ जाति ने उन्नति में पूरा आधा भाग लिया है इस विचार से महाराजने नेपालीय कान्तिपुर, ललितपुर और भक्तपुर तीनों शहरों में शिल्पविद्या के प्रचार के लिये कन्या पाठशालाएं खोल कर नेपाली कन्याओं को प्रोत्साहित किया।

[illegible] हिन्दू नेपाल राष्ट्र को उन्नत करने के लिये महाराज ने स्त्री जाति को भी शिल्प [illegible] या। सनातन हिन्दू जाति में यह एक क्रन्ति ही है। यह क्रान्ति [illegible] से किसी अंश में सफल हुई है।

[illegible] भूकम्प नेपाल की उन्नति में बहुत बड़ा बाधक सिद्ध हुवा, [illegible] र्य के साथ इस प्रलयकारी विपत्ति का मुकाबला कर

पुराने, विगड़े, उजड़े हुवे तीनों शहरों को नये रूप में परिवर्तन कर सुन्दर रमणीय बना दिया है। यदि यह घातक भूकम्प न होता तो और अधिक नेपाल की उन्नति होती।

( ८ ) इसी प्रकार महाराजने परराष्ट्रों में राजनैतिक सम्मान स्थापित करने के लिये इंग्लैण्ड में अपना एक मिनिस्टर रखने की नयी आयोजना ता० १२ जून सन् १९३४ में की। स्वतन्त्र देश नेपाल के लिये यह गौरव की बात है।

( ९ ) नेपाल महाराज ने स्वतन्त्र देश नेपाल के गौरव को स्थापित करने के लिये मार्च १ सं० १९३७ से ब्रिटिश इण्डिया भर में नेपाली स्टाम्प, पोस्टकार्ड और लिफ़ाफ़े को चला दिया है जो कि एक महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद कार्य है।

( १० ) नेपाल में सामाजिक ( Social ) अवस्था का सुधार करना बहुत कठिन काम था। पूर्व काल से चली हुई हानिकर रीति रिवाजों को बदल कर उन्नति कर नये नियमों को प्रचलित करना महान् साहस व उत्साह का काम है, जो केवल एक अद्वितीय धीर वीर क्षत्रिय राजा द्वारा मात्र किये जा सकने वाला काम है। यह काम अधिक कठिन होने पर भी समाजिक सुधार जब तक न होगा गृहस्थ धर्म की ठीक २ व्यवस्था न होगी, इस कारण कुछ परिवर्त्तन न कर वैसे ही उपेक्षा दृष्टि से छोड़ना भी विपज्जनक सिद्ध होता। नेपाल में पुराने कानून के अनुसार ६ वर्ष की कन्या के साथ ६ वर्ष से लेकर ६० से अधिक अवस्था के कुमार तथा वृद्ध पुरुष का विवाहसम्बन्ध हो सकता था, इन अवस्थाओं में सम्बन्ध करने से कानून में कोई बाधा न होती थी।

इस प्रचलित कानून के अनुसार बालविवाह और वृद्धविवाह का चलन अप्रतिहत रूप से प्रचलित होते रहने के कारण बाल विधवाओं की संख्या बढ़ती गई। किसी प्रकार की शिक्षा की प्राप्ति से प्रथम ही इन बालविधवा भगिनियों का विवाहसम्बन्ध हो जाने के कारण विपत्ति आने पर स्वयं कुछ उद्योग धन्दा करने में भी असमर्थ होती थीं। मातृ कुल में तथा पति के घर में शोचनीय परिस्थिति होने पर हतभाग्या भगिनियों को धर्म भ्रष्ट पतित अथवा विधर्मी होने के अतिरिक्त कहीं शरण जाने योग्य मार्ग भी नहीं था। नेपाल महाराज ने इस शोचनीय दुःखदायी परिस्थिति को विचार कर बाल विधवाओं की संख्या भविष्य में अधिक न बढ़े इस विचार से बाल विवाह निषेधक कानून बना दिये।

अब इस नये कानून के अनुसार ब्राह्मण जाति की १२ वर्ष से कम अवस्था की और अन्य तागाधारी जाति की १४ वर्ष से कम अवस्था की कन्या के साथ १६ वर्ष से कम अवस्था के कुमारों का और २० वर्ष से कम अवस्थाओं की कन्याओं के साथ ४८ वर्ष से लेकर ६० से अधिक अवस्था के वृद्ध पुरुषों का विवाह कानून में निषिद्ध हो गया है। नेपाल सरकार द्वारा किया गया यह समाजिक सुधार (Social reform) दूसरी बड़ी क्रान्ति है।

कन्याओं के विवाह की अवस्था प्रथम ६ वर्ष की नियत थी, अब उसकी जगह १२ वा १४ वर्ष की अवस्था नियत हो गई। इसी का नाम डबल मार्च (Double March) है।

नेपाल जैसे स्थान में अनेक प्रकार की उन्नति तथा... धीर वीर क्षत्रिय का काम है। महाराज में ऐसे शूरत्व के तेज... प्रकट होने पर मनुस्मृति धर्मशास्त्र में वर्णित एक श्लोक का स्मरण...

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्य...

'जोतिर्मय सूर्य जैसे धीर वीर क्षत्रिय राजा का तेजस्वी स्वरूप प्रज्वलित होता रहता है। तेज की ज्योति से सब की आंख और मन को तपा देते हैं, ऐसे धीर वीर राजा को कोई भी पुरुष टेढ़ी दृष्टि से देख नहीं सकता।'

नेपाल को उन्नत करने के लिये और सब प्रकार की उन्नति तथा सुधार करने के कारण वर्त्तमान नेपाली जनता महाराज की बहुत ऋणी है। भविष्य में उत्पन्न होनें वाले नेपाली वर्ग महाराज के गुण गान करेंगे।

इस प्रकार की उन्नति और सुधार करने के उपलक्ष में वर्त्तमान महाराज को धन्यवाद पूर्वक 'ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य' का हिन्दी भाषानुवाद अत्यन्त भक्ति के साथ समर्पण किया जाता है।

सबसे बड़े को 'ब्रह्म' कहते हैं, परमेश्वर सबसे बड़ा है इस कारण उसका नाम 'ब्रह्म है। सब धर्म पुस्तकोंमें वेद महान् होनेसे वेदका नाम भी 'ब्रह्म' है, इस महत् ब्रह्मके प्रतिपादक होनेके कारण वेदान्तका नाम 'ब्रह्मसूत्र' पड़ा।

ऐसा महान् 'ब्रह्मसूत्र—वेदान्त' किसको समर्पण करूं? इस प्रकार बहुत दिनोंसे विचार हुवा था। नेपाल महाराज भी ब्रिटिश भारत भरमें व्यक्तिगत शक्तिकी अपेक्षासे सबसे अधिक शक्तिमान् होनेसे 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वर्त्तमान महाराजमें भी चरितार्थ होता है। यह महान् ब्रह्मसूत्रका भाष्यानुवाद महाराज जैसे धीरवीर महान् व्यक्तिको समर्पण करना अधिक उचित प्रतीत होनेके कारण उन्हींके करकमलमें समर्पण किया जाता है। बड़ी चीज बड़े व्यक्तिविशेषके पास पहुंच जानेके कारण मैं अपने आपको सफलप्रयत्न मानता हूँ। इस प्रकार अपने प्रयत्नको सफल होता देख कर मुझे अत्यन्त हर्ष और आनन्द होरहा है।

श्री ३ महाराजको भक्तिसाथ समर्पण करने वाला,
नेपालका एक सेवक,
शुक्रराज शास्त्री।

# सम्मतियां

पुस्तक की उपयोगिता, सरलता तथा अनेक विशेषताओं के विषय में भारत के अनेक विद्वानों की सम्मतियां प्राप्त हुई हैं। उदाहरणार्थ केवल ३, ४ नीचे दी जाती हैं:—

(१) बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय प्राच्यविभाग (Oriental College) के प्रिंसिपल श्रीमान् महामहोपाध्याय विद्वच्छिरोमणि श्री पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण शर्मा जी लिखते हैं:—

Benares Hindu University
College of Oriental Learning
24-12-36

श्री विश्वनाथः शरणम्।

श्रीमता शुक्रराजशास्त्रिणा विहितेन हिन्दीभाषानुवादेन सहितं वेदान्तसूत्रशाङ्करभाष्यं महता मुद्रणसौष्ठवेन समलङ्कृतं विलोक्य परां प्रीतिमवाप्तवानस्मि, अनुवादस्य सारल्यं मूलानुगतत्वं च सर्वथा प्रशंसनीयम्—मूलभाष्ये च सर्वेषां पूर्वपक्षाणामुत्तरपक्षाणां च पृथङ्निर्देशेन भाष्यतात्पर्यबुभुत्सूनां महत्सौकार्यं साधितम्। तथा भामतीरत्नप्रभादिटीकाग्रन्थानामपेक्षणीयतात्पर्यपर्यालोचनेन च भाष्यस्याशयोऽपि बहुषु स्थलेषु नितरां स्पष्टतां नीतः। अस्य ग्रन्थस्य वेदान्ततत्त्वान्वेषिसहृदयेषु सम्यगादरो भवितेति अत्र नास्ति मे सन्देहलेशः॥ सर्वतोभावेन शिष्टैः समुत्साहनीयः खल्वयं पण्डितवर्यः श्रीमान् शुक्रराजशास्त्रीति विनिवेदनम्।

—श्री प्रमथनाथतर्कभूषणशर्मणः

(२) बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय प्राच्यविभाग (Oriental College) के प्रधान आचार्य, वेद वेदाङ्ग तथा षटशास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् श्रीमान् पं० बालकृष्ण मिश्र शास्त्री जी लिखते हैं:—

Benares Hindu University
College of Oriental Learning,
3-1-1337.

[illegible] श्रीमता [illegible]शुक्रराजशास्त्रि[illegible]णा विनिर्मितं शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्यानं [illegible] भाषा[illegible]निबद्धमालोक्य प्रमोदमावहामि, स्थालीपुलाकन्यायेन [illegible] आत्मतत्त्व[illegible]मुमुक्षूणामुपकृतिरविलम्बेन भविष्यतीति। परिश्रम[illegible] [illegible]म्।

—बालकृष्णमिश्रः

(३) गोयनका विद्यालय काशी के प्रिंसिपल की ओर से श्रीमान् मान्यवर पं० डी० बी० शर्मा जी न्यायाचार्य काशी से लिखते हैं :—

॥ श्रीः ॥

Benares, 3-6-32

श्रीयुत शास्त्री जी !

आपने शांकरभाष्य भाषानुवाद समालोचनार्थ भेजा था सो सम्पूर्ण अवकाश न मिलने के कारण ठीक समालोचना न हो सकी। पर स्थालीपुलाकन्याय से देखने में अच्छा ही मालूम पड़ा।

D. B. Sharma, Nyayacharya

For Principal Goinka Vidyalaya Benares.

(४) त्रिभुवनचन्द्र कालिज नेपाल के प्रधान प्रोफेसर वेदान्तशास्त्र के प्रकाण्डपण्डित श्रीमान क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती एम० ए०, बी० एल० नेपाल से लिखते हैं :—

Katmandu (Nepal)
October 14 1936

The Hindi Translation of "Brahma-Sutra Shankar Bhashya" by Pandit Shukra Raj Shastri of Nepal is a clear and analytic presentation of the Indian logic of the Vedanta following the monistic philosophy of great Shankaracharjya occasionally elucidated by learned comments of scholars like Bachaspati and Thibaut as well as of the translator himself. The book when completed will be of great use for understanding the entire intricate and vital system of Indian thought with all its currents and cross-currents.

चिरपरिचितविद्यासाध्यविज्ञानजातम् ,
वितरति सकृदेवालोकनादल्पधीभ्यः ।
तदिति समवलोक्यानन्दमान्द्रान्तरात्मा ,
परिगतपरमार्थो मोदतेऽयं क्षितीशः ॥

—Kshitisha C.C.

# उत्थानिका

ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्यके हिन्दी अनुवादको पाठकोंके सन्मुख उपस्थित करता हुवा यह निवेदन करूं कि इस भाष्यके हिन्दी अनुवाद करनेका उत्थान कैसे हुवा तथा इस अनुवादके विषयमें क्या रहस्य छिपा हुवा है। सन् १६२० में D. A. V. हाईस्कूल इलाहाबादमें मैं हेडपण्डित था। स्कूलके हेडमास्टर श्रीमान् पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय वेदान्त आदि दर्शन शास्त्रके प्रेमी तथा दर्शनशास्त्रोंके विद्वान् भी हैं जो अब भी इलाहाबादमें विद्यमान हैं। उन्होंने मुझसे कहा था कि—"आप ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्यका हिन्दी अनुवाद कीजिये" तदनुसार अन्य वेदान्त प्रेमी मित्रोंने भी इस कार्यको करनेके लिये समय २ पर उत्साहित किया, मैं भी उसी टाइपके होनेके कारण इस काममें झट जुट गया। अनुवादका काम तो तभीसे आरम्भ हो गया था, किन्तु यह महान् प्रयाससाध्य कार्य भिन्न२ स्थानोंमें रहने के कारण ता० २७-११-१६३१ मे नेपालमें समाप्त किया। इतना अधिक समय लगनेके कितने ही कारण थे। असहयोग आन्दोलनके कारण स्कूल छोड़ दिया, प्रचारका कार्य आरम्भ कर दिया। असहयोग आन्दोलन बन्द हो जानेपर बीच२ में अंग्रेजीका भी स्वाध्याय करता हुवा अंग्रेजी परीक्षायें देता रहा। फिर अनेक विघ्न बाधायें भी समय२ पर उपस्थित होती रहीं, इसी कारण इतना अधिक समय लग गया।

जैसे तैसे यह अधिक प्रयाससाध्य कार्य समाप्त तो कर दिया, किन्तु अब एक बड़ी विकट समस्या उपस्थित हुई कि इसका प्रकाशन हो कैसे? हजार पांचसौ से यह काम होनेका नहीं। फिर क्या उपाय किया जाय? यह प्रश्न मुझे सताने लगा। सरस्वती जिनके पास है उनके पास लक्ष्मी कभी फटकती नहीं, भटकती रहती है, कभी अटकती नहीं, सदा भटकती रहती है, और कभी कहीं कभी कहीं लटकती रहती है, इस कारण इनका कोष कभी साकार नहीं होता है, सदा निराकार ही रहता है। फिर निराकार कोषसे यह महान् कार्य कैसे साकाररूपमें परिणत हो सकता है? कई महीनों तक यह विचार—विनिमय होता रहा। बहुतोंने गीता प्रेसका नाम लिया, बस मैंने गीता प्रेस वालोंसे पत्र व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने नमूना मांगा, मैंने नमूना भेज दिया। कल्याणके सम्पादक श्रीमान् हनुमानप्रसाद जी पोद्दार महोदय वेदान्तके अच्छे विद्वान् हैं उन्होंने मुझे लिखा कि—"आपका अनुवाद मुझे तो पसन्द आ गया, तथापि विद्वानों द्वारा इसकी और परीक्षा करा लूं" उन्होंने मेरे भेजे हुये नमूनेको 'अच्युतग्रन्थ आश्रम' काशीमें भेज दिया। वहां से परीक्षा करा कर सम्पादकजीने लिखा कि "अब आपके अनुवादके विषयमें श्रीमान् जयदयालजी गोयनका अन्तिम निर्णय करेंगे। मैं उस समय कलकत्ता था, पत्र व्यवहार श्रीमान् जयदयालजीसे भी होता रहा, वे भी कलकत्ते आये। कलकत्तेके प्रसिद्ध गोविन्दभवनमें श्रीमान् सेठजीसे मिला। वहां भी सेठजीने कई एक विद्वान् पण्डितोंसे अनुवादकी परीक्षा करा कर प्रकाशित करानेका निश्चय कर लिया। जब लेने देनेकी बातचीत शुरू हुई तब साधारण सी बातपर सौदा नहीं पटा। इस कारण प्रकाशनकी अवस्था जैसी प्रथम थी वैसी ही रह गई। फिर मैंने बड़े२ प्रेमवाले धनियोंके यहां जाकर किवाड़ खटखटाया, नाम कहां तक गिनाऊं, संक्षेपसे समझ लीजिये कि गीता प्रेस गोरखपुरसे लेकर बम्बई तक कोई बड़ा प्रेस बचा नहीं जहां मैं न पहुंचा, और इधर उधर जहां२ मैं न पहुंचा पत्र व्यवहार किया, सबोंने यही कोरा उत्तर दिया कि—"आपने परिश्रम तो बहुत किया, किन्तु अधिक व्ययसाध्य होनेसे इसे अभी हम प्रकाशनार्थ ले नहीं सकते" इसके अतिरिक्त और भी अनेक श्रीमानोंसे इसके प्रकाशनार्थ अनुनय विनय किया, प्रार्थनाकी, याचना भीकी। जो कुछ भी करना चाहिये था सब कुछ किया। इन सबके करने करानेमें कुछभी कमी नहीं रक्खी, प्रत्युत मात्रासे अधिक ही किया। किन्तु परिणाममें कुछ सुधार नहीं हुवा वैसाका वैसा ही रहा। तत्पश्चात् मैं निर्गुण निराकार ईश्वरको माननेवाले प्रसिद्ध२ पुरुषोंके पास भी गया और सगुण साकार ईश्वर मानने वालोंके पास भी। निर्गुण निराकार ईश्वर माननेवालोंने तो निराकाररूप ही सहानुभूति प्रकटकी, इसमें मुझे कोई

आश्चर्य प्रतीत नहीं हुआ, किन्तु सगुण साकार ईश्वर माननेवालोंने भी जब निराकार ही प्रेम प्रकट किया तब मुझे अवश्य आश्चर्य प्रतीत होने लगा। परिणामतः प्रश्न जो सहल था हल न हुआ, कार्य जो असिद्ध था सिद्ध न हुआ, अभिलाषा जो दिलमें थी, पूरी न हुई, मन की बात मनमें ही रह गई, बाहर प्रकट न हो सकी। असफलता बीमारी बढ़ती गई, अर्थ—औषधसे उपचार करनेवाला कोई वदान्य-डाक्टर न मिला। ऐसी परिस्थितिमें असहाय रोगीकी जो अवस्था होती है उसको वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं। कभी२ मनमें यह संकल्प विकल्प होता रहा कि एक ओर तो यह मायामय संसार है और दूसरी ओर सत्-चित्-आनन्दमय परमात्मा है। अन्तरात्माका कभी२ उद्गार निकलना था कि इस मायामय संसारमें न फंसो सच्चिदानन्दमय परमात्मामें ही मग्न हो जाओ, और व्यर्थकी कामनायें करना त्याग दो। किन्तु फिर अन्तरात्मा इसका भी परिहार कर देती थी कि कुकाम की कामना नहीं करनी चाहिये, असद्भावकी भावना नहीं करनी चाहिये किन्तु सत्यभावकी भावना और सत्य कामकी कामना तो कर्त्तव्य-रूपसे करनी ही चाहिये यह धर्म है। अन्ततः अन्तरात्माकी आकाशवाणी हुई कि—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्'

बस फिर क्या था! इस महान कार्यको स्वयं निभानेके लिये कटिबद्ध हो गया। अन्तरात्मामें पारमेश्वरी उज्ज्वल ज्योति जगमगाने लगी, दीनता घटने लगी, हीनता हटने लगी, निरुत्साह जाने लगा, सदुत्साह आने लगा, निर्बलताका अपचय होता गया, शक्तिका उपचय होता गया, तब नये उमंगों व उल्लासोंका विकाश होने लगा, फिर नवीन स्फूर्तिका भी प्रकाश होने लगा। तब मैंने प्रतिज्ञाकी कि इस कार्यको अवश्य पूर्ण करूंगा। मुझे एक खरगोशकी कथा याद आ गई जिसे मैंने Nelson's Reader में पढ़ी थी। खरगोश शिकारी कुत्तों द्वारा विपत्ति पड़ने पर घोड़े, गाय, बकरे आदिके पास शरण लेने गया किन्तु सबने एक२ बहाना लगा दिया और किसीने उसे शरण नहीं दी. आखिर उसने यही निश्चय किया कि—अब किसीपर भरोसा करना व्यर्थ है, केवल अपनेपर ही भरोसा करनेसे रक्षा होगी, यह विचार कर वह इतने वेगसे भागा कि शिकारी कुत्तोंकी दृष्टिसे ओझल हो गया और अपने पुरुषार्थसे ही उसकी रक्षा हो गई।

मेरी भी यही अवस्था हुई। अब यह प्रथम भाग पाठकोंके सन्मुख है। आधा रास्ता तय कर चुका हूं, आधा बाकी है। परमात्माकी कृपासे शेष आधा रास्ता भी निर्विघ्न हो या सविघ्न हो अवश्य तय करूंगा और पाठकोंकी सेवामें द्वितीय भाग भी भेंट करूंगा।

**एस० आर० जोशी**



# अनुवाद के विषय में

इस भाष्यानुवादमें मैंने क्या विशेषता रखी उसे निवेदन करना चाहता हूं। मेरा मुख्य ध्येय इस अनुवादमें यही रहा है कि अनुवाद जहां तक हो सके सुगम होना चाहिये। इसी विचारसे प्रेरित होकर इस भाष्यको सुगम करनेके लिये कोई प्रयत्न शेष नहीं रखा, जितना हो सका सुगम कर दिया। आखिर यह दार्शनिक ग्रन्थ है, इसमें दार्शनिक शब्दोंका ही प्रयोग होता है। इसको स्वाध्याय करनेके लिये अधिकारी भी होना चाहिये। तथापि स्थान२ पर दार्शनिक पारिभाषिक शब्दोंका अर्थ भी उन्हीं शब्दोंके आगे (—) डैस देकर पर्यायवाची सरल शब्द रख दिये गये हैं अथवा शब्दान्तरमे अर्थ खोल दिये गये हैं।

इस शाङ्करभाष्यके पूर्वपक्ष व उत्तरपक्षको समझना बहुत कठिन था, भाष्यकार आचार्य शङ्करने उत्तरपक्षको प्रबल युक्तियोंसे जितना सिद्ध किया उतना ही अपने तीक्ष्णतर्कोंसे पूर्वपक्षको भी सिद्ध किया। पूर्वपक्षमें भी प्रश्नके उत्तर हैं, और उत्तरपक्षमें भी प्रश्नोंके उत्तर हैं, ऐसे२ अधिकरणोंमे यह समझना कठिन होजाता है कि यह उत्तर पूर्वपक्षीका है अथवा उत्तरपक्षीका, बस इसी कठिनताको दूर करना मेरा मुख्य उद्देश्य था।

इस कठिनताको हटानेके लिये मैंने समग्र भाष्य व अनुवादको प्रश्न, उत्तर, प्रत्युत्तर रूपमे पृथक्२ कर दिया. इससे पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्षको समझनेमे बड़ी सुगमता होगी।

अब इसे यों समझ लीजिये कि जहां२ वा जिन२ अधिकरणोंमें केवल प्रश्न व उत्तर होंगे वहां२ प्रश्न पूर्वपक्षीके हैं, और उत्तर सिद्धान्तपक्षीके हैं उदाहरणार्थ जैसे—

उपोद्घातके अध्यास भाष्य, जिज्ञासाधिकरण, जन्माद्यधिकरण तथा शास्त्रयोनित्वाधिकरणोंको देखिये, ऐसे२ अधिकरणोंमें प्रश्न पूर्वपक्षीके हैं और उत्तर सिद्धान्तपक्षीके हैं। ऐसे२ अधिकरणोंके प्रश्न—उत्तर किनारे ( Coupon ) में रख दिये गये हैं। जहां२ प्रश्न सिद्धान्तीके वा अन्य किसी एकदेशी आचार्यके हों और उत्तर पूर्वपक्षीके हों ऐसे२ प्रश्न व उत्तरोंको किनारे ( Coupon ) पर न देकर वे भीतर दिये गये हैं जैसे—ईक्षत्यधिकरण, आनन्दमयाधिकरण, अन्तरधिकरण आदि२, पूर्वपक्षीके इन उत्तरोंको खण्डन करने के लिये प्रत्युत्तर किनारे ( Coupon ) पर दिये गये हैं।

संक्षेपसे यों समझ लीजिये कि जहां२ अधिकरणोंमे किनारेपर दिये गये केवल प्रश्न व उत्तर हों वहां२ प्रश्न पूर्वपक्षी हैं और उत्तर सिद्धान्तीके हैं। और जहां२ प्रश्न व उत्तर भीतर दिये गये हों वहां२ उत्तर पूर्वपक्षीके हैं, इस उत्तरके परिहार करनेके लिये सिद्धान्तीके प्रत्युत्तर हैं। यह नियम सम्पूर्ण भाष्यके सब अधिकरणोंमे समान जानना चाहिये। यह ठीक जान लेनेपर शाङ्करभाष्यको समझना कठिन नहीं।

अनेक अधिकरणोंमे प्रश्न उत्तरोंको और भी स्पष्ट करनेके लिये प्रश्न व उत्तरोंके साथ२ उन२ पक्षोंके नाम भी दिये गये हैं, जैसे सांख्य, वैशेषिक, सर्वास्तित्ववादी, विज्ञानवादी जैनी इत्यादि। समन्वयाधिकरणमें इस नियमका उल्लङ्घन हो गया है, पृष्ठ१६ से एकदेशी आचार्यका सिद्धान्त आरम्भ होता है जिसका भाष्यकारने पृष्ठ २१ में **'अत्राभिधीयते'** यहांसे परिहार कर दिया है। उपर्युक्त नियमके अनुसार तो यहां भी एकदेशी आचार्यके प्रश्न व उत्तर किनारे ( Coupon ) पर न देकर भीतर देने चाहिये थे, यह वस्तुतः कम्पोज़ीटरोंकी असावधानतासे भूल हो गई है। पाठकगण इसे सुधार लें। द्वितीय संस्करण में उचित स्थानपर दे दिये जायेंगे।

यह विशेषता तो हुई भाष्यानुवादकी, इस विशेषतासे साधारण योग्यताके छात्र भी पूर्वपक्षी और सिद्धान्तीके अभिप्रायोंको सुगमतासे समझ सकेंगे। फिर भी आवश्यक तथा कठिन स्थलोंमें भाष्यको और भी स्फुट करनेके लिये भामती, वेदान्तकल्पतरु, कल्पतरुपरिमल, रत्नप्रभा और न्यायनिर्णयकी टिप्पणियां भी

दी गई हैं। इसके अतिरिक्त भाष्यके पाठभेद और अर्थभेद दिखानेके लिये अनुवादक तथा डा० थीबोकृत अंगरेजी अनुवादकी टिप्पणी भी स्थान२पर दे दी गई हैं। मैं अवश्य आशा करता हूं कि इन सब विशेषताओंसे पाठकोंको बड़ी सहायता मिलेगी और परीक्षार्थी विद्यार्थियोंके लिये तो यह अनेक विशेषताओंसे सुसम्पन्न अनुवाद अत्यन्त उपयोगी ही सिद्ध होगा।

यदि सहृदय पाठक तथा छात्रगण मेरे इस परिश्रमको अपनायेंगे तो मैं अपनेको कृतकृत्य तथा सफल-प्रयत्न समझूंगा। और द्वितीय संस्करणमें इस अनुवादको और भी संस्कृत तथा परिवर्द्धित कर दूंगा।

इस भाष्यानुवादके १४० पृष्ठ तक श्रीपं० शङ्करदेवजी पाठक काव्यतीर्थ महोदयने संशोधन किया, मुझे प्रूफ देखनेका सौभाग्य प्राप्त न हुआ, इस कारण कई स्थलोंपर शब्दयोजनामें परिवर्तन आदि कुछ न कर सका, जिससे बहुत सम्भव है कि इन स्थलोंमें पाठकगण अवश्य कुछ कमीको अनुभव करेंगे, वैसे तो उन्होंने मेरे उद्देशके अनुसार यथाशक्य उपर्युक्त नियमके अनुसार संशोधन किया जिसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं तथापि कई जगह त्रुटियां रह भी गई हैं, कुछ तो शीघ्रतामें देखनेमें जितनी भी त्रुटियां मिल सकीं शुद्धाशुद्ध पत्रकी सूचीमें दे दी गई हैं, पाठक वहां देखकर शुद्ध कर लें।

पृष्ठ १३ पंक्ति ६ में **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'** के पश्चात् **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'** इतना मूल भाष्यका पाठ कम्पोजिटरोंकी असावधानतामें छूट गया, यह संशोधनका भी, दोष है। एवं पृष्ठ ४० पंक्ति ३में **'ब्रह्मात्मै...इति'** इस एक भाष्यकी पंक्तिका अनुवाद रह गया जो इस प्रकार है:—

"ब्रह्मात्माके साथ एकत्वके ज्ञान होनेकी प्रतिज्ञा नहींकी गई इस निमित्त शास्त्रका आरम्भ उचित है—**'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इत्यादि।"

पृष्ठ १०६ पंक्ति ३० में "(प्रश्न)—तो क्या प्राप्त होता है?" इस पंक्तिको ३२ वीं पंक्तिके पश्चात् रखना चाहिये था, भूल हो गई। पाठक इसे समझ लें। अन्यत्र स्थलोंमें भी त्रुटियोंका रह जाना संभव है। १४० पृष्ठसे आगे तो मुझे स्वयं संशोधन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने भी जहां तक हो सका संशोधन कर दिया। प्रतिदिन आधे फार्म संशोधन कर छपवाना था, फिर अनेक कारणवश इस अनुवादको अविलम्ब प्रकाशित करनेकी आवश्यकता होनेके कारण प्रतिदिन १ फार्म भी संशोधन कर प्रकाशित कराने लगा। पाठक विचार लें कि ८ पृष्ठोंके ३ बार प्रूफ स्वयं एकाकी पढ़ने और संशोधन करनेमें कितना मुझे अधिक परिश्रम करना पड़ा और कितना व्याकुल होना पड़ा। ऐसी परिस्थितिमें मुझमें भी अनेक त्रुटियोंका होना बहुत कुछ संभव है, यह तो मनुष्य सुलभ दोष है। द्वितीय संस्करणमें सब दोष दूर कर दिये जावेंगे।

अब अन्तमें संस्कृत शब्दोंके नियत लिंगोंको हिन्दीमें व्यवहार करनेके विषयमें कुछ निवेदन करना है, वह यह है कि हिन्दीमें आग, हवा, आदि शब्द स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं, इसलिये प्रायः सब लोग अग्नि, वायु आदि शब्दोंको भी हिन्दीमें स्त्रीलिङ्गमें ही प्रयोग करते हैं. किन्तु अग्निपर्यायवाची तेजः और वायुपर्याय-वाची पवन शब्द हिन्दीमें भी पुलिङ्गमें प्रयुक्त किये जाते हैं, तथा आत्मा शब्द हिन्दीमें स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त होता है, किन्तु आत्मामें विशेषणवाचक परम शब्दके संयोग होनेपर परम + आत्मा=परमात्मा यह शब्द पुलिङ्गमें प्रयुक्त होता है, यह क्यों? विशेषणमात्र होनेसे आत्मा शब्द पुलिङ्ग और विशेषण न होनेपर स्त्रीलिङ्ग होता है, यह लिङ्ग व्यवहार मुझे अधिक रुचा नहीं, इस कारण अनेक स्थलोंपर अग्नि, वायु, आत्मा आदि संस्कृत नियतपुलिङ्ग शब्द पुलिङ्गमें प्रयुक्त किये गये हैं, किन्तु कई स्थलोंपर लोकप्रथानुसार आत्मा आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयुक्त कर दिये गये हैं।

—अनुवादक।

# ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यमें क्या है ?

संसारमें अनेक प्रकारके, पृथक्२ रुचिके, नाना विचारके, बहुतसे सम्प्रदायके तथा भिन्न२ धार्मिक पुरुष होते हैं। अपने२ जन्म जन्मान्तरोंके संस्कार विशेषोंसे किसीको कोई सिद्धान्त रुचता है और किसीको कोई और ही। भिन्न२ धार्मिक वा दार्शनिक सिद्धान्तोंके प्रवर्तक आचार्य किसीकी दृष्टिमें पूजनीय हैं, वे ही किसीकी दृष्टिमें निन्दनीय हैं। तथा किसी२की दृष्टिमें साधारण हैं न पूजनीय न निन्दनीय। इसी कारण कहा जाता है—"**भिन्नरुचिर्हि लोकः।**" ठीक यही उक्ति इस ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यके लिये भी चरितार्थ होती है।

कोई आचार्य शङ्करके भक्त इस भाष्यको अमृतरूपसे पान करता है, कोई विषरूपसे घृणा करता है। कोई विद्वान् इस भाष्यको वेदोंका सिद्धान्त बतलाते हैं, और कोई विद्वान् इसे वेदविरुद्ध सिद्ध करते हैं। तो क्या ये दोनों पक्ष सत्य हैं? अथवा दोनों मिथ्या? विचार करनेसे विदित होता है कि पराकाष्ठामें पहुँचे हुवे ये दोनों पक्ष सत्य नहीं हो सकते और न दोनों मिथ्या। तो अब किसको सही कहें और किसको ग़लत? यही तो बड़ा विकट प्रश्न है। वेदोंके प्रमाणके विना एक इंच भी आगे न बढ़ने वाले शङ्करके सिद्धान्तको असत्य कहें तो मूलतः असत्य सिद्ध करना कठिन काम है, यदि सत्य कहें तो उसे सत्य सिद्ध कर दिखाना और भी कठिन काम है। प्रथम पक्षके पण्डित कहते हैं—यह जो कुछ '**त्वम्-तू, अहम्-मैं**' इस रूपसे संसार दीख रहा है वह अध्यासमय है, काल्पनिक है, लौकिक व्यवहारमात्र है, मिथ्या है, और '**सर्वं ब्रह्म, अहं ब्रह्म**' बस यही सत्य है, यही परम गति है, यही परमार्थ है, एक ही मूल तत्त्व है, यही मूल कारण है, इसीसे सब कार्य उत्पन्न होते हैं, इसलिये उपादान कारण है, इसीके द्वारा उत्पन्न होनेसे निमित्त कारण भी है।

द्वितीय पक्षके पण्डित कहते हैं कि—जो चोरी करता है वह चोर, जिनके यहां चोरी करता है वे पुरुष, जो चोरी जाती है वह वस्तु, चोरको पकड़नेवाली पुलिस तथा चोरको दण्ड देनेवाला शासक पुरुष ये सबके सब एक ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? यह किसकी समझमें आने वाली बात है? एवं एक ही तत्त्व निमित्त व उपादान दोनों कारण कभी नहीं हो सकता, क्योंकि लोकमें भी ऐसा दृष्टान्त मिलता नहीं।

अब प्रश्न होता है कि क्या आर्यजगत्को, इसी व्यर्थके विवादमें शुष्क कलहमें समय बिताते रहना चाहिये? क्या इन दोनों पक्षोंमें समझौता करानेका कोई उपाय नहीं?

पाठक गण! यदि आप इन सबके रहस्यको जानना चाहते हैं तो आप '**वेदान्तरहस्य**' पढ़िये, इसमें इन सब रहस्योंका उद्घाटन किया गया है। एक ही ब्रह्म उपादान व निमित्त कारण कैसे हो सकता है और क्यों होता है? इत्यादि सब रहस्योंके मर्म खोलकर इन सिद्धान्तोंकी वेदोंसे सङ्गति लगाई गई है। यह पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हुई है, पाठक धैर्य करें, कालान्तरमें यह भी प्रकाशित होगी। इस वेदान्तरहस्यमें भाष्यविषयक जितने भी प्रश्न, उत्तर, आलोचना और प्रत्यालोचना होनी चाहियें, सबकी समालोचना कर सङ्गति लगा दी गई है।

ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यको क्यों पढ़ना चाहिये? इसलिये कि—

इसमें ईश्वरकी सिद्धि कर आस्तिकवादकी स्थापना और नास्तिकवादका खण्डन किया गया है। इसलिये कि—परमेश्वरकृत वेदोंका स्वतः प्रामाण्य स्थापित किया गया है, इसके अतिरिक्त यह भाष्य सबको तर्कशास्त्रोंमें निपुण बना देता है, धुरन्धर वाक्पटु कर देता है इत्यादि अनेक उपकारोंका श्रेय आचार्य शङ्करको है। क्या ऐसे उपकारी आचार्यके उपकारोंको हमें भुला देना चाहिये? क्या हमें आचार्यके प्रति श्रद्धाञ्जलि नहीं चढ़ानी चाहिये? मैं तो सबसे निवेदन करूंगा कि हम लोग सब आचार्यके उपकारोंके ऋणी हैं, इस ऋणसे उन्मुक्त होना यही है कि इस अनुपम ललित सुन्दर भाष्यका पठन पाठन स्वाध्याय सदा करते रहा करें। आइये आप हम सब मिलकर इसका स्वाध्याय करें। इति शम्।

ओ३म्—तत्सत् ।

# ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यानुवादकी विषयसूची

## प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ।

| संख्या | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|

**इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः।**

---

## अथ चतुर्थः पादः।

## (२) चमसाधिकरण विषयाः



## (३) संख्योपसंग्रहाधिकरणविषयाः

---

## अथ द्वितीयाध्यायारम्भः।

### प्रथमः पादः

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः

---

| संख्या | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|

## अथ द्वितीयः पादः ।

### (१) रचनानुपपत्त्यधिकरण विषयाः



### (२) महद्दीर्घाधिकरणविषयाः



### (३) परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणविषयाः



### (४) समुदायाधिकरणविषयाः

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।

ओ३म् तत्सत्

# अनुवादकर्त्तुर्विनिवेदनम्

(१) सर्वाधारं निराधारं लोचनञ्चाप्यलोचनम् ।
सर्वाकारं निराकारं सगुणं ह्यपि निर्गुणम् ॥

(२) अविज्ञेयमपि विज्ञेयमणुञ्चाप्यनणुं ध्रुवम् ।
अन्तिकस्थञ्चापि दूरस्थं प्रसिद्धञ्चाप्रसिद्धकम् ॥

(३) व्यापकत्वाद्धि सर्वेभ्योऽभिन्नं भिन्नं स्वरूपतः ।
अयोगोलगतञ्चाप्यभिन्नं भिन्नमिवानलम ॥

(४) सर्वज्ञमीश्वरं ध्यात्वा गुरूँश्च धिषणोपमान् ।
भावयामि महाभागान् पूजार्हान्हृदि तान् हि तान् ॥

(५) कणादकपिलवेदव्यासगौतम जैमिनि—
पतञ्जलीमहर्षींश्च शास्त्रकारान्विचक्षणान् ॥

(६) आचार्यं शङ्करञ्चापि भाष्यकारं यशस्विनम् ।
नौमि प्रवर्तमानोऽहं कष्टसाध्ये हि कर्मणि ॥

(७) आर्यया भाषया टीकाटिप्पणीयुक्तियुक्तया ।
ब्रह्मसूत्रस्य भाष्यस्यानुवादं कर्तुमुद्यतः ॥

(८) गम्भीरं शाङ्करं भाष्यं क्व चाहं खलु मन्दधीः !
प्रहास्यत्वं गमिष्यामि समवाये विपश्चिताम् ॥

(९) तथापि प्रयते ह्यस्मिन् फलं त्यक्त्वा समुत्सहे ।
कर्मणैव महात्मानः सिद्धिमनुगताः किल ॥

(१०) विधाय कर्म पुरतः संस्मृत्य परमेश्वरम् ।
विशामि ननु निष्कामो भाष्याब्धौ सङ्गवर्जितः ॥

(११) परमेश्वरसाहाय्यसेतुना पारहेतुना ।
पारं यास्यामि भाष्याब्धेर्धृत्योत्साहेन संयुतः ॥

(१२) इति विज्ञापयन् धीरान् गुणदोषज्ञान् बुधान् हि तान् ।
कुर्वेऽनुवादं सुस्पष्टं श्रीशुक्लो माधवात्मजः ॥



# ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् ।



## समन्वयाध्यायः प्रथमः ॥ १ ॥

उपोद्घातः ।

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां

अन्धकार और प्रकाशके तुल्य विरुद्ध स्वभाववाले [1]अचेतन चेतनस्वभावात्मक, युष्मद्–अस्मत्पदवाच्य [2]तुम हम इस ज्ञानके विषयोंका इतरेतरभाव ( अर्थात् एकमें दूसरेका भाव युष्मत्पद -'तुम'मे अस्मत्पद-'हम'का ज्ञान और अस्मत्पद–'हम' में युष्मत्पद-'तुम' का ज्ञान ) सिद्ध न होने पर युष्मदस्मद् पद–'तुम हम' धर्मोंका भी एक दूसरे मे नितान्त अभाव है । इस कारण चेतनात्मक अस्मत्पदवाच्य विषयी–'हम' मे युष्मत्पदवाच्य विषय–'तुम' और उसके धर्मोंका अध्यास होता है, तथा विपर्ययमे अस्मत्पदवाच्य चेतनात्मक विषयी और उसके धर्मोंका युष्मत्पदवाच्य विषयमे अध्यास यद्यपि मिथ्या होना उचित है, तो भी अत्यन्त भिन्न धर्म और

---

१ "तुम" कभी "हम" नही हो सकता, और न कभी "हम" "तुम" हो सकता है । ये दोनों "तुम और हम" अन्धकार और प्रकाशके समान अत्यन्त विरुद्ध धर्म वाले होते हैं। विषय-घट पट आदि अचेतन हैं, और विषयको जानने वाला विषयी आत्मा चेतन होते हैं, इस कारण विषय-विषयी–अचेतन-चेतन होते हैं। विषय–'तुम' युष्मत्पदवाच्य है अर्थात् 'तुम' शब्दसे कहा जाता है, विषयी–चेतन आत्मा 'हम' अस्मत्पदवाच्य है अर्थात् 'हम' शब्दसे कहा जाता है । जब 'तुम' 'हम' नहीं हो सकता और न कभी 'हम' 'तुम' हो सकता है तो 'तुम'मे जो 'तुम'का धर्म है वह भी 'हम'में नहीं हो सकता, तथा 'हम'का 'हम' धर्म भी 'तुम'में नहीं होसकता है । इस प्रकार तुममे हमका भाव और हममें तुमका भाव तथा तुममें हमका धर्म और हममें तुमका धर्म एक दूसरेमें न होनेपर भी अज्ञानवशसे एक दूसरेमें एक दूसरे का भाव और धर्मों का ज्ञान हो रहा है—अनुवादक ।

२ भाष्यमें यद्यपि 'इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' ऐसा पढ़ना चाहिये था, तथापि 'इदम्'के स्थानमें "त्वं" शब्द पढ़नेसे अत्यन्त भेद ज्ञापन कराता है । जैसा "अस्मत्", शब्दका विरुद्धवाचक शब्द "त्वं" है वैसा "इदम्—यह" शब्द नहीं है । लोकमें "एते वयम्, इमे वयम् आस्महे—यह हम बैठते हैं" इस प्रकार ( अभेदरूपसे ) अधिक प्रयोग मिलते हैं—भामती

च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

प्रश्नः—आह—कोऽयमध्यासो नामेति।

उत्तरम्—उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति। अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते इति। सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथाच लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति।

प्रश्नः—कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्। सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि।

उत्तरम्—उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः। तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न संबध्यते, तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधि-

धर्मियोंके विषयमें एक दूसरेके विवेक शून्य ज्ञानसे अन्य २ आत्मा और शरीरादि धर्मीमें अन्य अन्योंको और अन्यान्य धर्मोंको अध्यास करके मिथ्याज्ञाननिमित्तक-अध्यासनिमित्तक--सत्य-चेतनरूप आत्म, अनृत-बुद्धि इन्द्रिय देहादि इन दोनो धर्मियोको एकत्रित करके 'मैं यह हूं' 'मेरा यह है' इस प्रकार यह स्वाभाविक लोक का व्यवहार हो रहा है।

प्रश्न—अध्यास किसे कहते हैं?

उत्तर—परत्र-शुक्तिकादिमें स्मृतिरूप पहिले देखे हुये (रजत आदि) का भान होना अध्यास कहलाता है। उस अध्यासको कोई अन्यमें अन्य धर्मोंका अध्यास कहते हैं, कोई तो जहां पर जिसका अध्यास होता है वह विवेक ज्ञानसे अगृहीत होनेसे भ्रम है ऐसा कहते हे, और अन्य कोई जिसका जहा पर अध्यास होता है उसीके विपरीत धर्म कल्पनाको अध्यास कहते हे। सर्वथा ही तो अन्यमें अन्य धर्मोंका भान होना नही छूटता है। तथा लोकमें यह अनुभव है कि सीप चांदीके तुल्य प्रतीत होता है, एक चन्द्रमा ( जलपूर्ण पात्रमें या आंखको अंगुलीसे दबाने पर ) दोके तुल्य प्रतीत होता है।

प्रश्न—( शुक्तिकादिमें रजत आदिका अध्यास होना हो तो होने दो ) कैसे फिर व्यापक अविषय आत्मामें विषयों और विषयके धर्मोंका अध्यास होता है? सब लोग सम्मुख स्थित हुये ( इन्द्रिय और अर्थों से संयुक्त ) घट पट आदि विषयमें ही विषयान्तरको अध्यास करते हैं। युष्मत्पदवाच्यसे रहित चेतनरूप आत्मा को आप अविषय कहते हैं?

उत्तर—यह आत्मा एक सिद्धान्तरूपसे तो अविषय नहीं हैं ( अर्थात् चेतन आत्मा भी विषय ही है ) क्योंकि यह आत्मा 'हम' इस प्रकार ज्ञानका विषय होता है, तथा यह व्यापक आत्मा अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध भी होता है। यह नियम नहीं है कि सम्मुखस्थ विषयमें ही विषयान्तरका अध्यास हो क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाशमें भी बालक लोग मलिनता आदिका अध्यास करते हैं, इस कारण चेतन व्यापक आत्मामें भी अध्यासका होना अविरुद्ध है। इस लक्षणयुक्त अध्यासको पण्डित

प्रतिषेधमोक्षपराणि।

प्रश्नः—कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति।

उत्तरम्—उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। नचाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। नचानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते। नचैतस्मिन्सर्वस्मिन्नसति असङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। नच प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते अनुकूले च प्रवर्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां

लोग अविद्या मानते हैं, उस अध्यासके विवेक ज्ञानसे वस्तुके वास्तविक स्वरूपके ज्ञानको ही पण्डित लोग विद्या कहते हैं। ऐसी अवस्थामें जहां पर जिसका अध्यास होता है उस अध्यासकृत दोष या गुणसे वह चेतन आत्मा अणुमात्र भी सम्बद्ध नहीं होता है। उस अविद्या नामक—आत्मा और अनात्मामें एक दूसरेके—अध्यासको आगे रखकर सब लौकिक और वैदिक प्रमाण प्रमेय व्यवहार होते हैं। तथा [1]विधि, निषेध और मोक्ष परक सब शास्त्र भी ( अध्यासको आगे रखकर प्रवृत्त हुवे हैं )।

प्रश्न—कैसे फिर प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्यायुक्त हैं ?

उत्तर—देह और इन्द्रियादिमें जिसको अहं और ममत्वका अभिमान नहीं है वह प्रमाता नहीं हो सकता, इस कारण [2]प्रमाता न होने पर प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होसकती, इन्द्रियोंको ग्रहण न करके प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का व्यवहार नहीं होता है, न शरीर आदि स्थानके बिना इन्द्रियोंका व्यवहार होता है, न कोई ऐसे देहसे काम करता है जिसमें आत्माका अध्यास न हुवा हो, न इन सबके न होने पर असङ्ग आत्मा प्रमाता सिद्ध हो सकता है, और न प्रमाताके विना प्रमाणकी प्रवृत्ति हो सकती है, इस कारण प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र सब अविद्यायुक्त हैं, तथा यह व्यवहार पशु आदियोंके साथ समान है। जैसे पशु आदि श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका शब्दोंके साथ सम्बन्ध होने पर शब्दादि ज्ञान होनेके पश्चात् प्रतिकूल—विरुद्ध होने पर निवृत्त होते हैं और अनुकूल होने पर प्रवृत्त होते हैं, जिस प्रकार दण्ड हाथमें लिये हुवे मनुष्यको सामने प्राप्त होकर यह मुझको मारना चाहता है इस प्रकार जान-भागना आरम्भ कर देते हैं, तथा हरे भरे तिनकोंसे पूर्ण हाथ वाले मनुष्यको प्राप्तकर उसके सामने

---

१ किसी काममें प्रवृत्ति करानेके लिये जो विधानरूप शास्त्रीय आज्ञा हो वह विधि है, जैसे:—

"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"

स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करे, यह विधि है।

किसी काम में अप्रवृत्ति कराने की जो शास्त्रीय आज्ञा हो, वह निषेध है, जैसे:—

"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"

अर्थात्—सब प्राणियोंको न मारे, यह निषेध है।

जो विधि निषेधसे रहित आत्मज्ञान कराने वाले अध्यात्मपरक शास्त्र हैं वह मोक्षपरक हैं, जैसे:—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि—अनुवादक।

२ 'प्रमाता' आत्माको कहते हैं, जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ज्ञान करता है। 'प्रमाण' वह है जिससे ज्ञान होता है जैसे नेत्र आदि इन्द्रियोंसे यह अमुक पुरुष है ऐसा ज्ञान होता है, 'प्रमेय' वह है जो जाना जाता है जैसे घट पट आदि ज्ञेय होनेसे प्रमेय हैं। जो प्रतीति होती है वह 'प्रतीति-प्रमा' कहाती है, जैसे—यह घट है, यह पट है, यह प्रतीति होती है—अनुवादक।

हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति, एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, अविपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः । पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते । शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसंबन्धमधिक्रियते तथापि न वेदान्तवेद्यमशनायाद्यतीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च । प्राक्च तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते । तथाहि—'ब्राह्मणो यजेत'. इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते । अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम । तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु

चले जाते हैं, एवं विवेकी पुरुष भी क्रूर दृष्टियुक्त, चमकाते हुवे तलवार हाथमे लिये हुवे बलवानों को प्राप्त कर उनसे दूर हो जाते हैं और उनसे विपरीत अपने अनुकूल पुरुषोंके पास प्रवृत्त होते हैं, इस कारण पुरुषोंका पशु आदियोंके साथ प्रमाण और प्रमेयका व्यवहार समान है। पशु आदियों का विवेक रहित प्रत्यक्षादि व्यवहार प्रसिद्ध है. उन पशुओंके साथ समान व्यवहार देखे जानेसे विद्वान् पुरुषोंके भी प्रत्यक्षादि व्यवहार और व्यवहार काल समान ही हैं ऐसा निश्चय होता है।

*शास्त्रीय व्यवहारमें तो यद्यपि आत्मा परलोकके साथ सम्बन्धको न जानकर बुद्धि पूर्वक करनेवाला पुरुष अधिकृत नहीं किया जाता है ( अर्थात् विधि निषेध परक शास्त्र अविवेकी पुरुषको परलोकसे सम्बन्ध होने वाले स्वर्गादि फल वाले कर्ममे प्रयुक्त नहीं करता है ) तथापि वेदान्तसे जानने योग्य, भूख प्यासमे होने. ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णभेदसे रहित असंसारी आत्मतत्त्व शास्त्रीय स्वर्गादिविषयक अधिकारमे अपेक्षित नहीं होता है, क्योंकि उसका ( शास्त्रीय कर्माधिकारमें उस अकर्ता अभोक्ता असंसारी आत्मतत्त्वका ) उपयोग नहीं होता है, तथा ( कर्माधिकारमें ऐसे आत्मतत्त्वको प्रयोग करना ) विरोध भी होता है। इस प्रकार के आत्मविज्ञानसे पहिले भी प्रवृत्त होने वाला शास्त्र अविद्यायुक्त दोषसे पृथक नहीं होता है जैसा कि:—

"ब्राह्मण यज्ञ करे"

इत्यादि शास्त्र आत्मामें ब्राह्मणादि वर्ण, ब्रह्मचर्यादि आश्रम, आयु, कुमारादि अवस्था विशेष अध्यास मे आश्रय करके ही प्रवृत्त होते हैं, किसी वस्तुमे अन्यथा ज्ञान करना अध्यास कहलाता है, यह हम कह चुके। जैसे कि—पुत्र भार्यादियोंके दुःखित वा स्वस्थ होने पर मै ही दुःखित वा स्वस्थ हूं इस प्रकार बाह्य धर्मोंको आत्मामे अध्यास कर लेता है, नथा शरीर धर्मोंको ( भी आत्मामें अध्यास कर

---

*प्रच्छा —प्रत्यक्षादि व्यवहार अविद्यायुक्त विषय हो तो होने दो, 'स्वर्गके इच्छुक ज्योतिष्टोमसे यज्ञ करें' ऐसे शास्त्रको तो देहात्माके अध्यास मे परिवर्त्तित नहीं कर सकते। यहां तो परलोक फलके उपभोग योग्य कोई अधिकारी प्रतीत होता है, तथा यह परम ऋषि जैमिनिका सूत्र है:—

"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात्

( पूर्व मी० अ० ३ । पा० ७ । सू० १८ )

"अर्थात् शास्त्रका फल प्रयोक्तामें होता है, क्योंकि उसका फल उसी प्रयोक्तामें लक्षित होता है, इसलिये स्वतः प्रयुक्त होने पर प्रयोक्तामें फल होता है।"

भस्मीभूत देह आदि पारलौकिक फलके लिये प्रयुक्त नहीं किया जाता, इसलिये शास्त्र देहसे अतिरिक्त किसी आत्माको अधिकार करता है। उस आत्माको जानना ही विद्या है, तो क्यों शास्त्र अविद्यायुक्त-विषय है ? इस प्रकार शङ्काकर भाष्यकार कहते हैं कि—शास्त्रीय व्यवहारमें तो......भामती।

वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति, तथा देहधर्मान्—स्थूलोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्—मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान्कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्। एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

---

लेता है) जैसे–मैं स्थूल हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं गोरा हूं, बैठता हूं, जाता हूं, लंघन करता हूं इत्यादि। तथा इन्द्रियोंके धर्मोंको, जैसे–मैं गूंगा हूं, मैं काणा हूं, नपुंसक हूं, बहिरा हूं, अन्धा हूं, तथा अन्तःकरण के धर्मों की, जैसे–काम–इच्छा, सङ्कल्प–निश्चय, विचिकित्सा–संशय, अध्यवसाय दृढ़ निश्चय आदि। एवं अहंप्रत्ययी-अन्तःकरणकी सब अन्तःकरणको प्रचार रूप क्रियामें साक्षी होने वाले व्यापक आत्मामें अध्यास कर तथा उस व्यापक, सबके साक्षी आत्माको विपर्ययसे (आत्माकी विपरीततासे) अन्तःकरण आदिमें अध्यास करता है। इस प्रकार अनादि, अनन्त, स्वाभाविक, मिथ्याज्ञानस्वरूप, कर्तृत्व भोक्तृत्व को प्रवृत्त करानेवाला अध्यास सब लोगोंको प्रत्यक्ष है। इस अनर्थके बीजरूप अध्यासको नाश करने के लिये तथा आत्माकी एकत्व विद्याको जाननेके लिये सब वेदान्त आरम्भ किये जाते हैं। जिस प्रकार सब वेदान्तोंका यह प्रयोजन है, उस प्रकार हम इस [1]शारीरक मीमांसामें दिखावेंगे।

---

१—शरीर ही शरीरक है (स्वार्थमें क प्रत्यय है) शरीरमें रहने वाला शारीरक–जीवात्मा है, [**'तत्र भवः'** (अ० ४। ३। ५३) इससे भवार्थमें अथवा **'सोऽस्य निवासः'** (अ० ४। ३। ८९) इससे निवासार्थमें अण् प्रत्यय हो गया है], उस त्वंपदाभिधेय—त्वंपदसे कहे जाने वाले जीवात्माका तत्पदाभिधेय (**'तत्त्वमसि'** वाक्यमें तत्पदसे कहे जाने वाले) परमात्माकी रूपताकी मीमांसा—विवेचना जो हो वह शारीरक मीमांसा है—**भामती**।

## प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ।

### जिज्ञासाधिकरणम् ।

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥**

तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् । मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् । अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति । पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात् ।

प्रश्नः—सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षत एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते तद्वक्तव्यम् । स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम् । नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः ।

उत्तरम्—न । धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः । यथाच हृदयाद्यवदाना-

---

( अस्मदादि द्वारा ) व्याख्यान करनेके अभीप्सित वेदान्त मीमांसा शास्त्रका यह पहिला सूत्र है:—

**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥**

सूत्रमें 'अथ' शब्द अनन्तर वाचक लिया जाता है अधिकार वाचक नहीं क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा अधिकार करने योग्य नहीं होती है । ( यदि कहो कि यहां अथ शब्द मङ्गलवाचक है तो ) मङ्गलवाचक अथ शब्दका ब्रह्मजिज्ञासारूप वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता है । अर्थान्तर अर्थात् आनन्तर्यार्थकरूप से प्रयुक्त किये जाने पर ही अथ शब्द सुने जाने पर ही मङ्गलवाचक होजाता है । तथा पूर्वप्रकृत ( धर्मजिज्ञासा ) की अपेक्षामें भी [1]फलतः—परिणामतः आनन्तर्यार्थकसे पृथक नहीं है ।

प्रश्न—आनन्तर्यार्थक होने पर जैसे धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्त-विशेषकारण वेदाध्ययनको अपेक्षा करती है वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासा भी जिस पूर्ववृत्त-विशेषकारण को नियमसे अपेक्षा करती है उसे कहना चाहिये ।

यदि कहा जाय कि—स्वाध्यायके अनन्तर (ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये तो स्वाध्याय कारण धर्मजिज्ञासाका भी है इस कारण धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा दोनोंमें यह स्वाध्याय कारण) तो समान है ।

यदि यह कहा जाय कि—यहां यज्ञादि कर्मबोधके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है, ( धर्मजिज्ञासामें तो वेदाध्ययनके अनन्तर ) इस कारण ब्रह्मजिज्ञासामें धर्मजिज्ञासासे विशेषता होती है ?

उत्तर—ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि [2]धर्मजिज्ञासासे प्रथम ही वेदान्तज्ञको [3]ब्रह्मजिज्ञासा होती है । जिस

---

१—हम आनन्तर्यार्थताको व्यसनीरूपसे चाहते नहीं, किन्तु ब्रह्मजिज्ञासाके कारणरूप पूर्वप्रकृतकी सिद्धिके लिये चाहते हैं । अथ शब्दके पूर्व प्रकृतार्थक ( धर्मजिज्ञासाको ) अपेक्षा करने पर भी वह ब्रह्मजिज्ञासा सिद्ध होती है, इसलिये आनन्तर्यार्थकताको निश्चय करनेका हमारा आग्रह व्यर्थ है, इस कारण भाष्यकार ने **"फलतः"** कहा है, तत्वतः तो यह है कि किसी विकल्पको निर्देश करनेमें पूर्वप्रकृतकी अपेक्षा होती है, यहां किसी विकल्पान्तरका निर्देश नहीं है, इस कारण परिशेषसे अथ शब्द आनन्तर्यार्थक ही उचित होता है—**भामती ।**

२—भामती टीकाकारने "धर्मजिज्ञासासे प्रथम ही" के स्थानमें "कर्मबोधसे प्रथम ही" ऐसा लिखा है, प्रश्नके अनुसार तो "कर्मबोधसे प्रथम ही" ऐसा उनका अर्थ करना उचित ही है । जैसा धर्म क्रियापेक्षित है एवं कर्म भी, इस समानतासे उन्होंने लिखा है इसीकारण भामतीकारने पृष्ठ १३५ में **'यदपि शास्त्रविदामनुक्रमणम्'** इसपर टीका करते हुवे लिखा है कि—"धर्म-कर्मके होनेसे" सत्र में **"कर्मावबोधनम्"** ऐसा लिखा है—**अनुवादक ।**

नामानन्तर्यनियमः, क्रमस्य विवक्षितत्वात्। न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं

प्रकार [4]हृदय आदि अवदानोंका (काटनेका) क्रम विवक्षित होनेसे आनन्तर्य नियम है, इस प्रकार धर्म और ब्रह्मजिज्ञासामें क्रम विवक्षित नहीं है। तथा धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें न [5]शेषशेषिभाव है, और न [1]अधिकृताधिकारके ग्रहणमें (अर्थात् गुणी पुरुषको गुणविषयक प्रशंसाको कहनेमें) कोई प्रमाण है। 'अथ' शब्द क्रमार्थक इस कारण भी नहीं है कि धर्म तथा ब्रह्मजिज्ञासामें फल भेद तथा जिज्ञास्य भेद होता है, जैसे, अभ्युदय—लौकिक सुखरूप फलवाला धर्म

३—यद्यपि वेदान्ताध्ययन ब्रह्मजिज्ञासामें पूर्वकारण नहीं है, तथापि वेदान्ताध्ययनके बिना ब्रह्मजिज्ञासा युक्त नहीं है। वेदान्तज्ञको धर्मजिज्ञासाके बिना ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये, क्योंकि धर्मजिज्ञासाका उपयोग ब्रह्मजिज्ञासामें नहीं होता है, इसलिये धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी उचित नहीं—**आनंदगिरीय व्याख्या।**

४—धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें कार्यकारणभाव न होने पर भी आनन्तर्योक्तिद्वारा क्रमज्ञानार्थक यहां अथ शब्दका अर्थ है, जैसा कि:-

"हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः।"

'प्रथम हृदयके आगेसे काटता है, पश्चात् जिह्वाके, फिर इसके अनन्तर छातीके अग्र भागसे काटता है।'

यहां पर अवदानोंका (काटनेका) क्रम तथा अथ शब्द क्रमार्थक है - **रत्नप्रभा व्याख्या।**

**हृदयस्याग्रे॰** इस श्रुति शब्द पर डा॰ थीबो टिप्पणी देते हैं -

"He cuts off from the heart, then from the tongue, then from the breast." (P. 11)

इसका अभिप्राय ऊपर टिप्पणीमें दे दिया गया है।

५ शेषशेषिभाव अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव वा साध्यसाधक भावको कहते हैं शेष अङ्ग अर्थात् गौणको कहते हैं, शेषी—मुख्यको, जैसे, अग्निहोत्र यज्ञ शेषी अर्थात् मुख्य कर्म है और समिधाहोम तथा आग्नेय अष्टाकपाल होम अग्निहोत्र यज्ञके शेष- अङ्गकर्म हैं। अथवा जैसे सन्ध्योपासन एक शेषी—अङ्गवान् प्रधान कर्म है, और आचमन, मार्जन तथा प्राणायाम आदि उसके शेष अर्थात् अङ्ग हैं। इस प्रकार से धर्मजिज्ञासामें और ब्रह्मजिज्ञासा में शेषशेषिभाव नहीं —**अनुवादक।**

**'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृहाद् वनी भूत्वा प्रव्रजेच्च'** इति श्रुति से तथा—

**अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रानुत्पाद्य धर्मतः।**
**इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥**

इस स्मृतिसे अधिकारी सिद्ध हुये का अधिकार प्रतीत होता है ऐसा यदि कहोगे तो ठीक नहीं क्योंकि—

**'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'** इस श्रुति से, तथा—

**'आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे।'**

**इस स्मृतिके प्रमाणसे यह निश्चय होता है कि तुम्हारी दिखलाई हुई श्रुति और स्मृति अशुद्धचित्त वालोंके लिये है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि—यदि जन्मान्तरोंके किये कर्मोंसे चित्त शुद्ध होजाय तब तो ब्रह्मचर्यसे ही संन्यासी होकर ब्रह्मके जाननेकी इच्छा करनी चाहिये, और जब चित्त शुद्ध नहीं इस प्रकार यदि प्रतीत होता हो तब तो गृहस्थी होना चाहिये, गृहस्थी होने पर भी अशुद्धता बनी रहे**

तच्चानुष्ठानापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलं, अवबोधस्य चोदनाऽजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे तद्वत्।

प्रश्नः—तस्मात्किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति।

उत्तरम्—उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं

---

ज्ञान है, वह अनुष्ठानकी अपेक्षा करता है ( अर्थात् क्रिया द्वारा कर्म करनेकी अपेक्षा करता है ) मोक्षफलवाला ब्रह्मज्ञान तो किसी अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं करता है। जिज्ञासनीय धर्म जो भव्य अर्थात् भविष्यमें साधनीय है वह ज्ञानकालमें नहीं है, क्योंकि वह धर्म पुरुषोंके प्रयत्नके अधीन होता है, किन्तु यह जिज्ञास्य ब्रह्म तो भूत है ( अर्थात् असाधनीय है, प्रयत्नान्तरकी अपेक्षा नहीं करता है ) क्योंकि ब्रह्म नित्य होनेसे पुरुषोंके प्रयत्नाधीन नहीं होता है।

प्रेरणाकी प्रवृत्तिके भेदसे भी ( अथ शब्द क्रमार्थक नहीं ), धर्मका लक्षणरूप जो ( **स्वर्गकामो यजेत**—स्वर्गकी कामना करनेवाला यज्ञ करे इत्यादि ) प्रेरणा है वह अपने विषयमें नियुक्त करती हुई पुरुषको बोध कराती है। (**अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, तत्वमसि इत्यादि**) ब्रह्मप्रेरणा तो केवल पुरुषको ही बोध कराती है ( और किसी विषय में पुरुषको प्रवृत्त नहीं कराती है ) क्योंकि ज्ञान प्रेरणाद्वारा उत्पन्न नहीं होता है इसलिये पुरुष ज्ञानमें नियुक्त नहीं किया जाता है, जैसे इन्द्रियोंका किसी विषयके साथ सम्बन्ध होनेमें जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञानमें ( पुरुष नियुक्त नहीं किया जाता है ) उसी प्रकार ( ब्रह्मज्ञानमें पुरुष नियुक्त नहीं किया जाता है )

प्रश्न—इस कारण कुछ भी तो कहना चाहिये जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश किया जाता है?

उत्तर—नित्य अनित्य वस्तुओंका ज्ञान, इहलोक और परलोकमें अर्थोंके—विषयोंके भोगका विराग, [2]शम दम

---

तो वानप्रस्थी होजाय, वानप्रस्थी होने पर भी अशुद्धता दूर न हो तो कुछ और समय तक समय यापन करे, मन में शुद्धता आजाने पर सन्यासी हो जाना चाहिये. जैसे कि यह श्रुतिका प्रमाण है.—

"**यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।**"

अर्थात् जिस दिन ही विराग उत्पन्न हो जाय उसी दिन संन्यस्त होना चाहिये।

इस कारण धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासाका 'अधिकारी सिद्ध हुवका अधिकार' इस प्रकार सम्बन्ध होने मे कोई प्रमाण नहीं हो सकता—**रत्नप्रभाव्याख्या**।

१ इन दोनों जिज्ञास्योंमें न केवल स्वरूपतः भेद है, किन्तु ज्ञापक तथा प्रमाणप्रवृत्ति भेदोंसे भी इनमें भेद है—**भामती**।

२ शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये ६ षट्क सम्पत्ति कहलाती हैं। आत्मा और मनको अधर्माचरणसे हटाकर धर्माचरणमें प्रवृत्त करना '**शम**' है। नेत्र आदि इन्द्रियों तथा शरीरको व्यभिचार कर्मसे हटाकर जितेन्द्रियत्व आदि शुभ कर्ममें प्रवृत्त करना '**दम**' है। दुष्ट पुरुषोंसे अलग रहना '**उपरति**' है। निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ होते रहनेपर भी हर्ष शोकको छोड़कर मोक्षके साधनोंमें लगे रहना '**तितिक्षा**' है। वेद आदि सत्य शास्त्र और इनके बोधसे पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महापुरुषोंके वचनोंपर विश्वास करना '**श्रद्धा**' है। चित्तकी एकाग्रता '**समाधान**' है। भाष्यस्थ '**शमदमादि**' मे आदिपदसे उपरति आदि चार अन्य लिये जाते हैं—**अनुवादक**।

च । तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च न विपर्यये । तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते । अतःशब्दो हेत्वर्थः । यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' ( छान्दो० ८ । १ । ६ ) इत्यादिः । तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिः ( तैत्ति० । २ । १ ) तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या । ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति । अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम् । ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च ।

प्रश्नः—ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, संबन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् ।

उत्तरम्—एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात् ।

प्रश्नः—न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेत् । ?

उत्तरम्—न प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात् । ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम् ।

आदि साधनरूप सम्पत्ति और मोक्षकी इच्छा होना इन चारोंके होने पर धर्मजिज्ञासासे पहले और पश्चात् ब्रह्मकी जिज्ञासा कर सकता है तथा उसको जान सकते हैं, अन्यथा नहीं, इसलिये यहां सूत्रमें अथ शब्दसे उपर्युक्त साधन सम्पत्ति के पश्चात् ब्रह्मका उपदेश किया जाता है । सूत्रमें 'अतः' शब्द हेतुको द्योतित करता है, जिससे वेद ही कल्याणके साधन अग्निहोत्रादियोंके फलको अनित्य दिखाता है—(तद्यथेह०) जिस प्रकार इस लोकमें कर्म करनेवाले नष्ट होजाते हैं, उसी प्रकार परत्र लोकमें पुण्य सञ्चय करनेवाले मनुष्य नष्ट हो जाते हैं—( छा० ८ । १ । ६ ) तथा ब्रह्मज्ञानसे भी अत्यन्त पुरुषार्थ दिखाता है—( ब्रह्मवि० ) ब्रह्मको जाननेवाला उत्कृष्टताको प्राप्त होता है ( तैत्ति० २ । १ ) । इसलिये उपर्युक्त साधन सम्पत्तिके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये । ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा ( षष्ठीसमास ) और ब्रह्मका लक्षण ( जन्माद्यस्य यतः ) जो आगे कहेंगे वही है, इसलिये ब्रह्मको जाति आदि अर्थान्तरका सन्देह नहीं करना चाहिये । सूत्रमें 'ब्रह्मणः' यह कर्ममें षष्ठी है, शेषमें नहीं, क्योंकि जिज्ञासा जिज्ञास्यकी अपेक्षा करती है तथा अन्य जिज्ञास्यका निर्देश नहीं किया जाता है।

प्रश्न—शेष षष्ठीके ग्रहण करनेपर भी ब्रह्मका जिज्ञासाकर्मत्वका होना विरोध नहीं पड़ता है ।

उत्तर—इस तरहसे भी प्रत्यक्ष ब्रह्मकर्मको छोड़कर सामान्यद्वारा परोक्ष कर्मकी कल्पना करना व्यर्थ प्रयास है ।

प्रश्न—व्यर्थ नहीं, ( शेषषष्ठी समास ) ब्रह्माश्रित अशेष विचारोंके जाननेके लिये है ।

उत्तर—यह ठीक नहीं, प्रधानके ग्रहण होनेसे तदपेक्षित अर्थोंका आक्षेप हो सकता है, ज्ञानसे प्राप्त करनेके इष्टतम होनेसे ब्रह्म प्रधान है, उस प्रधान जिज्ञासाकर्मके ग्रहण होजाने पर जिन जिज्ञासाओंके बिना वह ब्रह्म नहीं जाना जा सकता व सब अर्थसे ही आक्षिप्त है, इसलिये पृथक् सूत्र नहीं करना चाहिये, जैसे—'यह राजा जाता है' इस प्रकार कहे जाने पर परिवारसहित राजाका जाना सिद्ध होता है उसी प्रकार वेदसे भी यही ज्ञान होता है—( यतो वा इमानि तैत्ति० ३ । १ ) इत्यादि श्रुतियां तथा (तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म) आदि प्रत्यक्ष ही ब्रह्मके जिज्ञासाकर्मत्वको दिखाती हैं, यह तो कर्मषष्ठीके ग्रहण करनेमें ही सूत्रसे अनुगत होता है । इसलिये 'ब्रह्मणः' यह कर्ममें षष्ठी है । जाननेकी इच्छा

तस्मिन्प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि । यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति तद्वत् । श्रुत्यनुगमाच्च । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' ( तैत्ति० ३ । १ ) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति । तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति । तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा । अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः । कर्मफलविषयत्वादिच्छायाः । ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म । ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात् । तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम् ।

प्रश्न—तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् । यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम् । अथाऽप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति ।

उत्तरम्—उच्यते–अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम् । ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् । सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः । सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति,न नाहमस्मीति । यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् । आत्मा च ब्रह्म ।

प्रश्नः—यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम् ।

उत्तरम—न । तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः । देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लौकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः । इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे । मन इत्यन्ये । विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके । शून्यमित्यपरे । अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे । भोक्तैव केवल

जिज्ञासा, सन्प्रत्ययवाच्य इच्छाका कर्म अवगतिपर्यन्त ज्ञान है, क्योंकि इच्छा फलविषयक होती है । ब्रह्मज्ञान प्रमाणद्वारा अवगम्य है, ब्रह्मकी प्राप्ति पुरुषार्थ है, क्योंकि निःशेष संसारबीज जो अविद्यादि हैं उनका नाश हो जाता है, इसलिये ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिये ।

प्रश्न—अब यह सन्देह होता है कि वह ब्रह्म प्रसिद्ध है वा अप्रसिद्ध ? यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नहीं करनी चाहिये, यदि अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नहीं की जा सकती ।

उत्तर—ब्रह्म तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है, ब्रह्म शब्दके बनानेमें नित्य शुद्धत्वादि अर्थ प्रतीत होते हैं, क्योंकि 'बृह वृद्धौ' इस धातुके अर्थको विचार करनेसे यही सिद्ध होता है । सर्वात्मा होनेसे ब्रह्मास्तित्वकी प्रसिद्धि है । सब ही जन अपनेको 'है' बोध करते हैं, 'मैं नहीं हूं' ऐसा ज्ञान नहीं होता है । यदि आत्मास्तित्वकी प्रसिद्धि नहीं होती तो सबको 'मैं नहीं हूं' ऐसा प्रतीत हो जाना चाहिये । यह आत्मा ही ब्रह्म है ।

प्रश्न—यदि लोकमें ब्रह्म आत्मत्वेन प्रसिद्ध है तो वह तो ज्ञात ही हो गया, इसलिये वह ब्रह्म फिर अजिज्ञास्य हो जावेगा ?

उत्तर—यह बात नहीं है, कारण कि ब्रह्मविशेषके प्रति विप्रतिपत्ति अर्थात् ब्रह्मविषयमें भिन्न २ विचार होते हैं । लौकायतिक प्राकृत सामान्य ज्ञानवालोंका यह मत है कि—चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है, कोई तो 'चेतन इन्द्रियां ही आत्मा हैं' ऐसा मानते हैं, किसीके मतमें मन, किसीके मतमें विज्ञानमात्र क्षणिक, किसीके मतमें शून्य, किसीके मतमें देहादिसे भिन्न संसारी कर्ता तथा भोक्ता, किसीके मतमें केवल भोक्ता ही है कर्त्ता नहीं, किसीके मतमें जीवात्मासे भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिसमन्वित है, भोक्ता जीवात्माका वह ब्रह्म आत्मा है ऐसा कोई मानते हैं । इस प्रकारकी विप्रतिपत्तियां युक्तिवाक्यों के

न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्। तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥ १ ॥

इति जिज्ञासाधिकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

## २ जन्माद्यधिकरणम्। सू० २

अथ जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्। किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत आह भगवान्सूत्रकारः—

**जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥**

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभंगं समासार्थः। जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि; जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात्। अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसंबन्धार्था। यत इति कारणनिर्देशः। अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभंगं यतः सर्वज्ञा-

आत्मा भोक्ता है। ब्रह्मप्राप्तिमें विचार न करता हुआ कोई तत्पर हो तो मुक्तिसे हीन हो जाय तथा अनर्थको प्राप्त हो जाय। इसलिये ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखसे वेदान्तवाक्यमीमांसाके अविरुद्ध तर्कोंसे युक्त तथा मोक्षप्रयोजनवाली वेदान्तवाक्यमीमांसा प्रस्तुत की जाती है। यह जिज्ञासाधिकरण समाप्त हुआ।

### २ जन्माद्यधिकरणम्।

प्रश्न—ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिये यह कह दिया। फिर वह ब्रह्म किस लक्षणयुक्त है?

उत्तर—इस कारण भगवान् सूत्रकार व्यासजी कहते हैं—

**जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥**

'उत्पत्ति आदि जिसकी' यह बहुव्रीहिसमास तद्गुणसंविज्ञान है, समासका अर्थ उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है। उत्पत्तिका आदि होना श्रुतिके निर्देशकी अपेक्षा करता है तथा वस्तुस्वरूपकी भी, श्रुतिनिर्देश तो:—

"जिससे ये पृथिवी आदि तथा प्राणी उत्पन्न होते हैं (तैत्ति० ३।१)" इस वाक्यमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयोंका क्रम देखा जाता है। वस्तुस्वरूप भी जैसे:—

उत्पत्तिसे विद्यमान जो धर्मी है उसकी स्थिति और प्रलय होते है। सूत्रमें यह पद प्रत्यक्षादिसे सन्निधियुक्त जो धर्मी है उसको इदम् शब्दसे निर्देश किया है, 'अस्य' यह षष्ठी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धके लिये है। 'यतः' यह पद कारणको निर्देश करता है। नाम और रूपसे बनाये हुवे, अनेक कर्त्ता भोक्ताओंसे संयुक्त, व्यवस्थित देश, काल और निमित्तसे होनेवाली क्रिया और फलके आश्रयसे युक्त, जिसकी रचना और रूप मनसे भी चिन्तनीय नहीं हो सकते, इस प्रकारके जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारणसे होते हैं वह ब्रह्म है, यह वाक्यशेष रहगया है। अन्य भी भावविकारोंका (वृद्धि-क्षयादियोंका) तीनमें ही अन्तर्भाव हो जाता है; इस कारण उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका ग्रहण यहां किया गया है। यास्काचार्यके पढ़े हुवे जायते—उत्पन्न होता है,

न्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः। अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्। यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते। न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात्संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः।

प्रश्नः—नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे ?

उत्तरम्—न। वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिर्नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता। सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। तथाहि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' ( बृह० २।४।५ ) इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद' ( छान्दो० ६।१४।२ ) इति च

**अस्ति** है ( **वर्धते**—बढ़ता है, **विपरिणमते**—बदलता है, **अपक्षीयते**—क्षीण होता है, **विनश्यति**—नष्ट होता है ) इत्यादियोंके ग्रहण करने में तो उनका ( जायते, अस्ति इत्यादियोंका ) जगत्की स्थितिकालमें संभव होनेसे मूल कारण ( ब्रह्म ) से जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय न लिये जाते इस प्रकार कोई शङ्का करता, वह शङ्का न हो इसलिए जो ब्रह्मसे उत्पन्न है [illegible], स्थिति और प्रलय लिये जाते हैं। यथोक्त विशेषणयुक्त जगत्की यथोक्त विशेषणयुक्त ईश्वरको छोड़कर अन्य अचेतन प्रधानसे, अणुओंसे, अभावसे अथवा जीवात्मासे, उत्पत्ति आदिकी सम्भावना नहीं कर सकते। न स्वभावसे ( जगत्की उत्पत्ति होती है ), क्योंकि यहाँ देश, काल और निमित्त विशेषोंका ग्रहण किया जाता है। यही अनुमान है कि ईश्वरको कारण माननेवाले ( वैशेषिक लोग ) संसारी जीवात्मासे भिन्न ईश्वरकी सत्ता आदि साधनको मानते हैं।

प्रश्न—क्या 'जन्मादि०' सूत्रमें भी उसी ईश्वरका वर्णन है ( जिसको वैशेषिक लोग मानते हैं ) ?

उत्तर—नहीं, वेदान्तवाक्यरूप पुष्पोंको गूँथना ही सूत्रोंका प्रयोजन है। सूत्रोंसे वेदान्तवाक्योंको उद्धृत कर विचार किया जाता है। ब्रह्मज्ञान वेदान्तवाक्योंके अर्थविचारके अनन्तर प्रकट होता है, अनुमान आदि प्रमाणान्तरसे आविर्भाव नहीं होता। जगत्की उत्पत्ति आदिके ब्रह्मकारणवादवाले वेदान्तवाक्योंके होनेपर तो ब्रह्मकारणवादरूप अर्थके ग्रहण करनेमें दृढ़ताके लिये अनुमान भी वेदान्तवाक्योंसे अविरुद्ध प्रमाण होता हुआ हटाया नहीं जाता है, क्योंकि श्रुति ही तर्कको सहायकरूपसे स्वीकार करती है। जैसे:—

( १ ) "वह आत्मा श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है ( बृ० २।४।५ )"

( २ ) "वह पण्डित बुद्धिमान पुरुष गन्धार देशोंको ही प्राप्त होता है, एवं यहाँपर भी आचार्यवान् पुरुष ब्रह्मको जान लेता है। ( छा० ६।१४।२ )"

२—जैसे कि किसी समय किसी विद्वान् पुरुषको गन्धार देशोंसे लाकर चोरोंने उसकी आँखें बाँधकर वनमें छोड़ दिया था, विद्वानके उपदेशसे उस उपदेशको सम्पूर्णरूपसे ग्रहण न कर सकनेके कारण वह

**पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति। न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्। किंतु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणं अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति। तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्।**

इत्यादि श्रुति आत्माका पुरुषोंकी बुद्धि सहायक होती है यह दिखलाती है। धर्मजिज्ञासाके समान ब्रह्मजिज्ञासामें भी वेद आदि प्रमाण नहीं होते हैं, किन्तु यहां ब्रह्मजिज्ञासामें यथासंभव वेद आदि और अनुभवादि प्रमाण होते हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान अनुभवके अन्तमें होता है तथा वह परमार्थ-वास्तविक तत्त्वरूप विषय है। कर्तव्यविषय में अनुभवोंकी अपेक्षा नहीं रहती, इस कारण श्रुति आदियोंका ही प्रामाण्य होता है, क्योंकि कर्तव्यविषय पुरुषाधीन तथा निजलाभके निमित्त होता है। लौकिक और वैदिक कर्म किये जा सकते हैं, नहीं भी किये जा सकते, अथवा अन्यथा विरुद्ध भी किये जा सकते हैं, जैसा कि—घोड़ेसे जाता है, पैरोंसे जाता है, अथवा अन्यथा जाता है, अथवा नहीं भी जाता है, तथा वैदिक कर्म जैसे—( १ ) अतिरात्र यज्ञमें षोडशी नामक यज्ञपात्रको ग्रहण करते हैं, तथा अतिरात्र यज्ञमें षोडशी यज्ञपात्रको ग्रहण नहीं भी करते हैं, तथा सूर्योदय होनेपर यज्ञ करता है और सूर्योदय न होनेपर यज्ञ करता है, इत्यादि। यहां लौकिक वैदिक कर्मोंमें विधि और निषेध वचन सार्थक होते हैं, तथा विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद ( सामान्य और विशेष नियम ) भी, किन्तु कोई पदार्थ ऐसा है, ऐसा नहीं, अथवा है नहीं

---

विद्वान पण्डित स्वयं तर्क करनेमें निपुण होनेसे वह बुद्धिमान् पुरुष गन्धार देशोंको ही पहुंच गया। इस प्रकार ब्रह्मने विवेकदृष्टिको अविद्या आदियोंसे ढककर संसाररूप वनमें जीवात्माको छोड़ दिया, वह परम कृपालु गुरुके उपदेशसे अपने स्वभावको प्राप्त होजाता है, यह भाष्यस्थ श्रुतिका अर्थ है—**वेदान्तकल्पतरु।**

( १ ) इन वाक्योंका अनुवाद थीबोने निम्नलिखित प्रकारसे किया है :—

'At the atiratra he takes the shodashin cup', and at the atiratra he does not take the shodashin cup.' ( P. 18 )

उन्होंने **'षोडशी'** शब्दका अर्थ **'प्याला'** अर्थात् यज्ञपात्र किया है। हमने भी उसका यज्ञपात्र ही अर्थ किया है, किन्तु यहां षोडशी शब्द का अर्थ कोषकार करते हैं—अग्निष्टोम-यज्ञका कोई विभाग, तथा **'अतिरात्र'** का अर्थ है—ज्योतिष्टोम-यज्ञका वैकल्पिक विभाग, जैसे कि यह कोषका प्रमाण है :—

"**अतिरात्र** A Ved. ( **अतिक्रान्तो रात्रिं** ) Prepared overnight—**त्रः** ( **अतिशयिता रात्रिः ततः, अस्त्यर्थे अच्** ) 1—An optional part of the Jyotishtoma sacrifice. ( **एकरात्रसाध्यगवामयने प्रथमसंस्थः यागभेदः** )"

**षोडशिन् M. A modification of the Agnistoma sacrifice ( Sanskrit-English Dictionary by Apte. )**

प्रश्न :—किं तर्हि ।

उत्तरम् :—वस्तुतन्त्रमेव तत् । नहि 'स्थाणावेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्, स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात् एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम् । तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात् ।

प्रश्न :—ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता ।

उ० :—न इन्द्रियाविषयत्वेन संबन्धाग्रहणात् स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि । सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्येत । कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा संबद्धं किमन्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम् । तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम् ।

प्र० :—किं तर्हि ।

उ० :—वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम् ।

प्र० :—किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् ।

उ०—'भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याह—'यतो

---

इस प्रकार विकल्प नहीं किया जाता है । विकल्प तो पुरुषबुद्धिकी अपेक्षामें होते है, पदार्थके तात्त्विक ज्ञान पुरुषबुद्धिकी अपेक्षासे नहीं होता हैं ।

प्रश्न—तो किससे होता है ?

उत्तर—पदार्थका यथार्थज्ञान पदार्थाधीन ही होता है । एक स्थाणु ( वृक्षका ठूंठ ) मे यह स्थाणु है वा पुरुष है अथवा अन्य कोई है, यह यथार्थज्ञान नहीं है । एक स्थाणुमे पुरुष वा अन्य कोई है यह मिथ्याज्ञान है, स्थाणु ही है यह वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि यह वास्तविक ज्ञान वस्त्वधीन होता है. एवं यथार्थ विषयोंका प्रामाण्य पदार्थाधीन होता है. इस प्रकार सिद्ध होजानेपर तो ब्रह्मज्ञान भी वस्त्वधीन ही है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान यथार्थवस्तुविषयक होता है ।

प्रश्न—ब्रह्म यथार्थवस्तु होनेपर अनुमानादि प्रमाणान्तरगम्य ही होजायेगा, इस कारण वेदान्तवाक्योंका विचार व्यर्थ ही होजाता हैं ( अर्थात् यह जो पहिले कहा था कि सूत्रोंमे वेदान्तवाक्य उद्धृत कर विचार किये जाते हैं यह सब व्यर्थ हो जावेंगे )

उत्तर—नहीं, ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय नहीं होता है, इस कारण ( इन्द्रियोका ब्रह्मके साथ ) सम्बन्धका ग्रहण नहीं होता है, कारण कि इन्द्रिया स्वभावसे ही अपने विषयोंके ग्राहक होती हैं । ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय होनेपर यह कार्यजगत् ब्रह्मसे सम्बद्ध है इसप्रकार ग्रहण किया जाता । कार्यजगत् भी ग्रहण किया जाय तो क्या यह ब्रह्मसे सम्बद्ध है वा अन्य किसीसे ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता, इस कारण जन्मादि सूत्र अनुमानको निर्देश करनेके लिये नहीं ।

प्रश्न—तो किसके लिये ?

उत्तर—वेदान्तवाक्योंको दिखलानेके लिये है ।

प्रश्न—वह वेदान्तवाक्य कौनसा है जिसे सूत्रोंसे दिखलाना चाहते हो ?

उत्तर—"वरुणका पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया और कहा कि भगवन् ! आप मुझे ब्रह्मका उपदेश दीजिये ।"

या इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति' ( तैत्ति० ३ । १ )। तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' ( तैत्ति० ३ । ६ )। अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि ॥ २ ॥

## ३ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ।

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं तदेव द्रढयन्नाह—

### शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके । किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोर्ऋग्वेदा-

इस प्रकार आरम्भ कर कहते हैं कि :—

"जिससे ये सब पृथिव्यादि भूत और प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसमें उत्पन्न होकर जीवित होते हैं, और अन्तमें जिसमें जाकर प्रवेश हो जाते हैं, तुम उसको जाननेकी इच्छा करो, वह ब्रह्म है।"

( तैत्ति० ३ । १ )

उसका यह निर्णयवाक्य है :—

"आनन्दसे ही ये पृथिवी आदि पञ्चभूत और जन्तु उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे उत्पन्न होकर जीते हैं, अन्तमें आनन्दमें जाकर प्रवेश होते हैं। ( तैत्ति० ३ । ६ )"

इस प्रकारके अन्यान्य भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञस्वरूप, कारणविषयक वाक्योंको उदाहरण कर लेना चाहिये ॥ २ ॥

—:०:—

## अथ शास्त्रयोनित्वाधिकरण ।

जगत्के कारणत्वको दिखानेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है यह स्वतः आक्षिप्त होगया है, उसीको दृढ़ करते हुए कहते हैं :—

### शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

अनेक विद्यास्थानोंसे परिवर्द्धित, दीपकके समान सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले, सर्वज्ञके तुल्य, महान् ऋग्वेदादि शास्त्रोंकी योनि कारण ब्रह्म है। इस प्रकारके सर्वज्ञगुणोंसे युक्त ऋग्वेदादिलक्षणवाले शास्त्रका अन्य किसीसे उत्पन्न होना संभव नहीं है, कारण कि जो २ विस्तृत अर्थवाला शास्त्र जिस पुरुषविशेषसे उत्पन्न होता है जैसे कि पाणिनि आदि महर्षियोंके बनाये ज्ञातव्यविषयोंके उपदेशार्थवाले व्याकरणादि शास्त्र हैं, वह पुरुषविशेष उस शास्त्रसे भी अधिक ज्ञानवान् होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। उस ब्रह्मके सर्वज्ञत्वविषयमें अधिक क्या कहा जाय! अनेक शाखाओंके भेदोंसे भिन्न, देव-कीट-पतङ्ग-मनुष्य-वर्ण-आश्रमादि विभागोंका कारण, सब ज्ञानोंका समुद्र, ऋग्वेदादि

द्यात्मकस्य सर्वज्ञाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' ( बृह० २ । ४ । १० ) इत्यादिश्रुतेः। तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति। अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि।

प्र०—किमर्थं तर्हीदं सूत्रं, यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्।

उ०—उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादिति ॥ ३ ॥

## ४ समन्वयाधिकरणम्।

प्र०—कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' ( जै० सू० १ । २ । १ ) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्। अतो वेदान्तानामानर्थक्यं; अक्रियार्थत्वात्। कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिविशेषत्वं, उपासना-

नामक शास्त्रोंकी उत्पत्ति बिना ही प्रयत्न किये खेलरूपसे पुरुषोंके श्वासके समान जिसका महान् कारण ब्रह्ममें है, यथा :—

"इस महान् व्यापक ब्रह्मका यह ऋग्वेद श्वासके समान है ( बृ० २ । ४ । १० )"

इत्यादि श्रुति प्रमाण है, वह महान् ब्रह्म निरतिशय सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, यह प्रथम वर्णन है। अथवा—यथोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र इस ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपके ज्ञान होनेमें कारण अर्थात् प्रमाणरूप होते हैं, शास्त्रप्रमाणसे ही जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण ब्रह्म जाना जाता है यह अभिप्राय है।

पूर्वसूत्रमें शास्त्रको दिखा दिया है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' इत्यादि।

प्रश्न—यह 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र किसलिये है, जबकि पूर्वसूत्रमें ही इस प्रकारके शास्त्रको दिखलाते हुये ब्रह्मको शास्त्रप्रमाणगम्य दिखाया था ?

उत्तर—वहां जन्मादिसूत्रमें इस पूर्वसूत्रके अक्षरमें शास्त्रको स्पष्टरूपसे ग्रहण न करनेसे उत्पत्ति आदिको केवल अनुमानसे निर्देश किया है यह शङ्का की जाती, उस शङ्काको हटानेके लिये यह 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र प्रवृत्त होता है ॥ ३ ॥ यह तीसरा शास्त्रयोनित्वाधिकरण समाप्त होगया।

—:०:—

## ४ अथ समन्वयाधिकरणम्।

प्रश्न—कैसे फिर ब्रह्म शास्त्रप्रमाणगम्य कहा जाता है जबकि :—

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ( जै० सू० १।२।१ )"

अर्थ :—'वेदोंके क्रियापरक अर्थ होनेसे क्रियारहित वेदवाक्य निष्प्रयोजन हैं।'

इस सूत्रमें शास्त्रको क्रियापरत्व दिखाया है, इसकारण वेदान्तवाक्य व्यर्थ सिद्ध होते हैं, क्योंकि वेदान्तवाक्य क्रियाके अर्थसे रहित हैं। अथवा कर्त्ता, देवता आदिके प्रकाशक होनेसे वेदान्तवाक्य क्रियाविधिके अङ्गरूप होंगे, अथवा उपासना आदि क्रियान्तरोंको विधान करनेसे वेदान्तवाक्य सार्थक

त्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः। तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात्। अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति। 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम्। मन्त्राणां च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम्। न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा। न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः। तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते।

उत्तरम्—उच्यते—

## तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद्ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते।

प्रश्नः—कथम्?

---

होजावेंगे। सिद्धवस्तुका प्रतिपादन नहीं होसकता है, क्योंकि सिद्धवस्तु प्रत्यक्ष आदियोंका विषय होती है, अत्याज्य तथा अग्राह्य उस ब्रह्मरूप सिद्ध वस्तुको प्रतिपादन करनेमें पुरुषार्थ नहीं होता है, इसी कारण "वह रोया" इत्यादि वाक्य अनर्थक न हों, इसलिये :—

"विधिना त्वेकवाक्यात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः (जै० सू० १।२।७)"

अर्थ :—'विधिके साथ एकवाक्यता होनेपर सब विधिरहित वाक्य स्तुत्यर्थक होनेसे प्रयोजन वाले होजावेंगे।'

इस प्रकार स्तावकरूपमे (स्तुति करनेवाले होनेसे) अर्थवत्त्व कहा है। तथा "इषे त्वोर्जेत्वा (यजु० १।१)" इत्यादि मन्त्रोंको क्रिया तथा क्रियाके साधनोंको कहनेवाले होनेसे कर्मसमवायी (कर्मोंको सङ्गत करनेवाला) कहा है। कहीं भी वेदवाक्य विधिस्पर्शके विना न सार्थक देखे गये और न सार्थक होना उचित है। (१) सिद्ध वस्तुके स्वरूपमें विधि नहीं होती है, क्योंकि विधि क्रियाविषयक होती है। इस कारण कर्मको अपेक्षा करनेवाले कर्त्तास्वरूप देवतादिको प्रकाश करनेसे वेदान्त क्रियाविधिके अङ्ग होंगे। यदि प्रकरणभयसे यह स्वीकार नहीं है, तथापि वेदान्तवाक्य निजवाक्यगत उपासनादि कर्मको बतलावेंगे, इसकारण ब्रह्म शास्त्रप्रमाणगम्य नहीं (अर्थात् स्वयंसिद्ध ब्रह्म क्रियारहित वेदवाक्योंसे नहीं जाना जा सकता)।

उत्तर—इस प्रकार प्राप्त होने पर कहा जाता है—"तत्तु समन्वयात्।" सूत्रमें तुशब्द पूर्वपक्षको हटानेके लिये है। वह ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण है इस प्रकार वेदान्तशास्त्रसे ही जाना जाता है।

प्रश्न—कैसे?

---

(१)-क्रियार्थपरक न होनेपर भी वेदान्तवाक्य ब्रह्मस्वरूपविधिपरक होजावेंगे, तथा "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्०" इस सिद्धान्तसूत्रको स्वीकार कर लेंगे। अप्रवृत्तको प्रवृत्त करना (किसी काममें लगाना) ही विधि नहीं कहलाती है, क्योंकि उत्पत्तिविधि अज्ञातविषयको बतानेवाली होती है, वेदान्तवाक्य अज्ञात ब्रह्मको बतानेवाले होनेसे उत्पत्तिविधिपरक होजावेंगे, इसलिये कहते हैं कि—सिद्धवस्तुके स्वरूपमें—भामती।

उत्तरम्—समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'। 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० ६।२।१) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत० २।१।१।१) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्'। अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० २।५।१९) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) इत्यादीनि। नच तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। नच तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते, 'तत्केन कं पश्येत्' (बृह० २।४।१३।) इत्यादि क्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः। नच परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात्। यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः, हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः। देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। नतु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। नह्ये-

उत्तर—समन्वय होनेसे, सब वेदान्तोंमें वाक्य तात्पर्यसे इसी अर्थको प्रतिपादन करनेमें संगत होते हैं :—

(१) "हे सोम्य ! सृष्टिके आदिमें सत् ही था।" "वह एक ही अद्वितीय था।" (छा० ६।२।१)

(२) "अथवा सृष्टिके आदिमें आत्मा ही एक था (ऐत० २।१।१।१)"

(३) "वह ब्रह्म अपूर्व—कारणरहित, अनपर-कार्यरहित, अनन्तर-जात्यन्तररहित, अबाह्य · अद्वितीय।" "वह आत्मा ब्रह्म सबको अनुभव करनेवाला है (बृ० २।५।१९)"

(४) "प्रथम ब्रह्म ही एक अमृत था (मुण्ड० २।२।११)"

इत्यादि। वेदान्तवाक्यगत पदोंके ब्रह्मस्वरूपविषयक समन्वय निश्चित विदित होजानेपर अन्यार्थकी कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि अन्यार्थकी कल्पना करनेसे श्रुत-सुने हुवे विषयकी हानि और अश्रुतकी कल्पना करनी पड़ेगी, तथा उन वेदान्तवाक्योंका कर्त्तारूप प्रतिपादनपरक होना प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि :—

"कौन किसमे किसको देखे ? (बृ० २।४।१३)"

यह श्रुति क्रिया और कारकके फलको खण्डन करती है। ब्रह्म सिद्धवस्तुस्वरूप होनेपर प्रत्यक्ष आदिका विषय नहीं होता है, क्योंकि :—

"हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तुम हो (छा० ६।८।७)"

इस प्रकारके ब्रह्मात्मत्वको शास्त्रके बिना नहीं जान सकते।

जो यह कहा कि—हेय-हान करने योग्य, उपादेय-ग्रहण करने योग्य, इन दोनोंसे रहित वेदान्तवाक्य होनेसे उनका उपदेश व्यर्थ है, सो यह दोष नहीं आता है, क्योंकि त्याज्य और ग्राह्यरहित ब्रह्मात्मत्वको जाननेसे ही समस्त दुःख नष्ट होजानेसे पुरुषार्थकी सिद्धि होजाती है। देवतादि प्रतिपादनका तो निजवाक्यगत उपासनार्थकत्व होनेपर भी कोई विरोध नहीं, किन्तु उस प्रकार ब्रह्म उपासनाविधिका अङ्ग नहीं हो सकता, ब्रह्म एक होनेपर हेय और उपादेयरहित होनेसे क्रिया और कारक आदि द्वैतज्ञानका उपमर्द (नाश) ही हो जावेगा। एकत्वज्ञानसे मये हुवे द्वैतज्ञानका फिर संभव नहीं होसकता, जिससे ब्रह्म उपासनाविधिका अङ्ग होजाय। यद्यपि अन्यत्र वेदवाक्योंका विधि-

कत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनामपेक्षेत। तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्।

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते तद्वत्।

प्रश्नः—कुत एतत्?

उत्तरम्—प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य। तथाहि शास्त्रतात्पर्यविद आहुः—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इति। 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्'। 'तस्य ज्ञानमुपदेशः'—( जै० सू० १।१।५ )। तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः'—( जै० सू० १।१।२५ )। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'—( जै० सू० १।२।१ )

---

स्पर्शके बिना प्रामाण्य नहीं देखा गया है, तथापि आत्मज्ञान फलपर्यन्त होनेसे आत्मज्ञानविषयक शास्त्रके प्रामाण्यको खण्डन नहीं कर सकते। शास्त्रोंका प्रामाण्य अनुमानसिद्ध नहीं, जिससे अन्यत्र देखे हुये उदाहरणोंकी अपेक्षा हो, इस कारण ब्रह्म शास्त्रप्रमाणगम्य है यह सिद्ध होगया।

( अब एकदेशी आचार्यके मतको दिखाते हैं ):—

( १ ) अब अन्य लोग आक्षेप करते हैं—यद्यपि ब्रह्म शास्त्रप्रमाणसिद्ध है, तथापि शास्त्रद्वारा कर्मको विधान करनेवाले विधि ( Injunction ) के कर्म ( Object ) रूपमें ही ब्रह्म समर्पित होता है, जैसे अलौकिक यूप—पशुको बांधनेका खूंटा और आहवनीय-अग्नि आदि भी विधिके अङ्ग रूपसे ही शास्त्रद्वारा समर्पित होते हैं, उस प्रकार ( ब्रह्म भी समर्पित होना चाहिये )।

प्रश्न—यह कैसे?

उत्तर—क्योंकि शास्त्रका प्रयोजन प्रवृत्ति या निवृत्ति कराना है, जैसे कि शास्त्रके तात्पर्यको जाननेवाले कहते हैं:—

( १ ) "उस वेदका अर्थ कर्मबोधक देखा गया है।"

( २ ) "चोदना—यह वचन क्रियाका प्रवर्त्तक है।"

( ३ ) "उसका ज्ञान उपदेश है अर्थात् विधिबोधक है ( जै० सू० १।१।५ )"

( ४ ) "वैदिक शब्दोंका क्रियाके अर्थके साथ समाम्नाय है अर्थात् उन्हें कार्यवाची लिङादि विधिके पदोंके साथ उच्चारण करना चाहिये ( जै० सू० १।१।२५ )"

( ५ ) "वेद क्रियार्थपरक है, इस कारण क्रियार्थरहित वाक्य अनर्थक होते हैं।"

( जै० सू० १।२।१ )"

---

( १ )—इस भाष्यको जार्ज थीबोने इसी प्रकार अङ्गरेजीमें अनुवाद किया है:—

Here others raise the following objection:—Although the Veda is the means of gaining a right knowledge of Brahman, yet it intimates ( संकेत करता है ), Brahman only as the object of certain injunctions, just as the information which the Veda gives about the sacrificial post the ahavaniya-fire and the other objects not known from the practice of common life is merely supplementary to certain injunctions. ( विधि ) ( P 23 )

इति च । अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चा-र्थवच्छास्त्रम् । तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम् । तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात् । सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयत एवममृत-त्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम् ।

प्रश्नः—नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्—कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्य इह तु भूतं नित्यनि-र्वृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति । तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति ।

उत्तरम्—नार्हत्येवं भवितुम् । कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' ( बृह० २ । ४ । ५ ) इति । 'य आत्माऽपहतपाप्मा—सोऽन्वेष्टव्यः स विजि-ज्ञासितव्यः' । ( छान्दो० ८ । ७ । १ ) । 'आत्मेत्येवोपासीत' ( बृह० १ । ४ । ७ ) 'आत्मा-नमेव लोकमुपासीत' ( बृह० १ । ४ । १५ ) । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ( मुण्ड० ३ । २ । ९ ) इत्यादिविधानेषु सत्सु कोऽसावात्मा किं तद्ब्रह्म इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमा-नन्दं ब्रह्म' इत्येवमादयः । तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति । कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासम्भवात्, सप्तद्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छतीत्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात् ।

इत्यादि. इस कारण शास्त्र पुरुषको कहीं विषयविशेषमें प्रवृत्त करता हुआ और कहीं विषय विशेषसे निवृत्त करता हुआ सार्थक होता है, अन्य क्रियाविधिके अङ्गरूपसे उपयोगी होता है। उस क्रियाविधिके समानतासे वेदान्त भी ऐसे ही क्रियार्थक होना चाहिये। वेदान्त विधिपरक होनेपर जो स्वर्गादि कामनावालेको अग्निहोत्र आदि साधन विधान किया जाता है, एवं मोक्षकी कामना करनेवालेको ब्रह्मज्ञान विधान किया जाता है।

प्रश्न – यहां ( धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानमें ) जिज्ञास्यभेदको कह दिया था, जैसे कि—कर्मकाण्डमें अन्य—भविष्यमें होनेवाला धर्म जिज्ञास्य है, और यहां तो भूत—नित्यसिद्ध ब्रह्म जिज्ञास्य है, वहां अनुष्ठानकी अपेक्षा करनेवाले धर्मज्ञानफलसे ब्रह्मज्ञानफल विलक्षण होना चाहिये?

उत्तर – ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि कार्य कर्तव्यविधिप्रयुक्त ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया जाता है, यथा:—

( १ ) "वह आत्मा दर्शनीय है ( बृ० २ । ४ । ५ )"
( २ ) "जो आत्मा निष्पाप है वह अन्वेषणीय है और जिज्ञासनीय है ( छा० ८ । ७ । १ )"
( ३ ) "यह आत्मा ही है इस प्रकार उपासन करे ( बृ० १ । ४ । ७ )"
( ४ ) "देखने योग्य आत्माको ही उपासन करे ( बृ० १ । ४ । १५ )"
( ५ ) "ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है ( मुण्ड० ३ । २ । ९ )"

इत्यादि—क्रियाविधियोंके होनेपर वह आत्मा कौनसा है और वह ब्रह्म क्या वस्तु है ? यह आकांक्षा होनेपर उस ब्रह्मके स्वरूपको समर्पण करनेसे सब वेदान्त उपयोगी होते हैं। वह ब्रह्म नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्य तृप्त होनेवाला, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, विज्ञान तथा आनन्दरूप है, इत्यादि। उस ब्रह्मकी उपासनासे शास्त्रद्वारा देखा हुआ अदृष्ट मोक्ष फल होगा। कर्तव्यविधिमें प्रवेश न होनेपर वस्तुमात्रके कहनेसे हान और उपादान ( त्याग और ग्रहण ) होना असंभव होनेसे 'पृथिवी सात द्वीपवाली होती है, यह राजा जाते हैं' इत्यादि वाक्योंके समान वेदान्तवाक्य अनर्थक ही होजाते।

प्रश्नः—ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि रज्जुरियं नायं सर्प इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टं तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात् ।

उत्तरम्—स्यादेतदेवं, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत । न तु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ( बृह० २ । ४ । ५ ) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात् । तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति ।

प्रत्युत्तरम्—अत्राभिधीयते—न । कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात् । शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' ( जै० सू० १ । १ । १ ) इति सूत्रिता, अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय । तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे । मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते । ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते । धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम् । प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम् । तथाच यागाद्यनुष्ठायिनामेव

प्रश्न—वस्तुमात्रके कथन करनेपर भी 'यह डोरा है सर्प नहीं' इत्यादिमें भ्रांतिजन्य भयके नाश होजानेसे यह वाक्य सार्थक देखा गया है, वैसे यहांपर भी असंसारी आत्मारूप वस्तुके कहनेसे संसारी जीवात्मत्व की भ्रान्ति हट जानेसे यह वाक्य सार्थक होजावेगा ।

उत्तर—हां, यह इसप्रकार होजाय, यदि जिसप्रकार डोराके स्वरूपको सुन लेनेपर सर्पकी भ्रान्ति हट जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूपके श्रवणमात्रसे ही संसारी जीवात्माकी भ्रान्ति हट जाती हो, किन्तु हटती तो नहीं, क्योंकि ब्रह्मको सुने हुवे पुरुषके भी पहिलेके समान सुख दुःख आदि संसारी जीवात्माके धर्म देखे जाते हैं, तथा :—

"यह आत्मा श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है, तथा निश्चयसे ध्यान करने योग्य है।" (बृ० २ । ४ । ५ )

इस प्रकार श्रवणके अनन्तर भी मनन और ध्यानविधि देखी जाती है, इस कारण प्रतिपादन करना रूप क्रियाविधिके विषय कर्म-Object भावसे ही ब्रह्म शास्त्रप्रमाणगम्य माना जाना चाहिये ।

( अब भाष्यकार इस एकदेशी आचार्यके सिद्धान्तको खण्डन करते हैं ) ।

( प्रत्युत्तर )—यहां कहा जाता है—यह ऊपर मानी हुई बात ठीक नहीं, क्योंकि कर्मफल और विद्याफलमें विलक्षणता ( भेदता ) होती है । शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्म श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध धर्मनामक है, उस धर्मविषयक जिज्ञासाके लिये **"अथातो धर्मजिज्ञासा"** ( जै० सू० १ । १ । १ ) यह सूत्र बनाया गया; हिंसादि अधर्म भी निषेधकरनारूप प्रेरणालक्षणयुक्त होनेसे त्याग करनेके लिये जिज्ञास्य है ( अर्थात् जाननेके लिये कामना करने योग्य है ), उन प्रेरणारूप विधिलक्षणवाले अर्थ और अनर्थस्वरूप धर्म और अधर्मके शरीर, वाणी और मनसे भोगे जानेवाले, विषय और इन्द्रियसंयोगजन्य, ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सुखदुःखरूप फल प्रत्यक्ष हैं, मनुष्यसे लेकर ब्रह्मातक शरीरधारियोंमें सुखदुःखका तारतम्य ( सिलसिला ) सुना जाता है, पश्चात् सुखके हेतु धर्मका तारतम्य प्रतीत होता है, धर्मके सिलसिलासे अधिकारियोंका सिलसिला है, अर्थित्व—फलके इच्छुक होना, इस अर्थित्व सामर्थ्यसे किया हुवा

समाधिविशेषानुसारेण पथा गमनं, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् 'यावत्संपातमुषित्वा' ( छान्दो० ५ । १० । ५ ) इत्यस्माद्गम्यते न तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम। तथाच श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' ( छान्दो० ८ । १२ । १ ) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते।

प्रश्नः—अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमितिचेत्।

प्रत्युत्तरम्—न। तस्य स्वाभाविकत्वात्। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' ( काठ० १ । २ । २१ ) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'

---

अधिकारियोंका तारतम्य प्रसिद्ध है। तथा यज्ञादि अनुष्ठान करनेवालोंका ही विद्या और समाधिविशेषसे उत्तरायण मार्गसे जाना, इष्ट-श्रुतिविहित, पूर्त स्मृतिविहित वापी कूप आदि, दत्त दान, केवल इन साधनोंसे जानेवालोंका दक्षिणायन मार्गसे जाना, वहांपर भी सुखका तारतम्य और सुखके साधनोंका तारतम्य :—

''जबतक कर्मोंका क्षय नहीं होता तबतक निवास कर........ ... ( छा० ५ । १० । ५ )'

—इत्यादि शास्त्रसे जाना जाता है, तथा मनुष्य आदिसे लेकर नरक और स्थावर—वृक्षादि पर्यन्तोंमें तारतम्यसे विद्यमान सुखका लेश प्रेरणारूप लक्षणवाले धर्मसे साध्य ही है, तथा ऊपर गये हुवे और नीचे गये हुवे और देहधारियोंमें दुःखका सिलसिला देखे जानेसे निषेध करनारूप प्रेरणालक्षणवाले दुःखका कारण अधर्मके और अधर्मको अनुष्ठान करनेवालोंका तारतम्य जाना जाता है। एवं अविद्यादि दोषवाले पुरुषोंका धर्म और अधर्मके तारतम्य निमित्तसे शरीरग्रहणपूर्वक सुखदुःख का तारतम्य यह श्रुति, स्मृति और न्यायप्रसिद्ध अनित्य संसाररूप है, तथा यह श्रुति है :—

''शरीरयुक्त मनुष्य सुखदुःखसे रहित नहीं हो सकता।''

यह श्रुति ऊपर वर्णन किये हुवे संसारस्वरूप को अनुवाद करती है, तथा—

''शरीररहित पुरुषको सुख और दुःख छूते नहीं। ( छा० ८ । १२ । १ )''

इसप्रकार सुखदुःखके स्पर्शको निषेध करनेसे शरीररहित मोक्ष प्रेरणालक्षणवाले धर्म का कार्य नहीं यह विदित होता है। मोक्ष धर्मका कार्य होनेपर सुखदुःखके स्पर्शको निषेध करना बनता नहीं।

प्रश्न—धर्मका कार्य ही शरीररहित होना है ?

प्रत्युत्तर—यह बात नहीं, क्योंकि मोक्ष तो स्वाभाविक-नित्य है:—

(१)-''नाश होनेवाले शरीरोंमें वह शरीररहित है, अस्थिरोंमें वह स्थिर है अर्थात् अचल एकरस है, उस रूपसे बड़े व्यापक परमात्माको जानकर विद्वान् पण्डित धीरवीर पुरुष शोक नहीं करते हैं।''

( काठ० १ । २ । २१ )

( मुण्ड० २ । १ । २ ) 'असंगो ह्ययं पुरुषः' ( बृह० ४ । ३ । १५ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतएवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम् । तत्र किंचित्परिणामि नित्यं यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते । यथा पृथिव्यादिजगन्नित्यत्ववादिनाम् । यथा च सांख्यानां गुणाः । इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिःस्वभावम् । यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते । तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' ( क० २ । १४ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता, तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात् । तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत, नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः । अपि च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ( मुण्ड० ३ । २ । ९ ) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे

(२)-"वह परमेश्वर प्राणोंसे रहित है, मनरहित स्वच्छ है ( मुण्ड० २ । १ । २ )"

(३) "यह पुरुष सङ्गरहित है ( बृ० ४ । ३ । १५ )"

इत्यादि श्रुतिप्रमाण हैं, इसी कारण अनुष्ठान करनेयोग्य कर्मफलसे विलक्षण मोक्षनामक शरीररहित नित्य है यह सिद्ध होगया ।

नित्यमें कोई परिणामी नित्य होता है जिसमें विकार होनेपर भी यह वही है ऐसी बुद्धि नष्ट नहीं होती अर्थात बनी रहती है, जैसे कि पृथिवी आदि जगत्को नित्य कहनेवालोंका मत है, तथा जैसे सांख्योंके गुण हैं ( जो विकारयुक्त होनेपर भी नित्य होते हैं ) यह मोक्ष तो वास्तविक, कूटस्थनित्य, [1]आकाशके तुल्य सर्वव्यापक, सब विकारोंसे रहित नित्यतृप्त, निरवयव तथा स्वयं ज्योतिःस्वभाववाला है । जहां धर्म और अधर्म कार्यके साथ तीनों कालोंमें प्राप्त नहीं, सो यह मोक्षनामक शरीररहित तत्त्व है:—

"वह परमात्मा धर्म अधर्मसे पृथक् है, कृत-कार्य और अकृत कारण अर्थात कार्य कारणरूप स्थूलसूक्ष्म पृथिवी आदिसे पृथक् है, तथा भूत-भूतकाल और भव्य भविष्यकालसे भी पृथक् है ।" ( क० २ । १४ )

—इत्यादि श्रुतियोंके प्रमाणोंसे, इस कारण वह ब्रह्म जिसकी यह जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है, यदि वह ब्रह्म कर्त्तव्यके अङ्गरूपसे उपदेश किया जाय, और उस कर्त्तव्यसे मोक्षस्वरूप ब्रह्म साध्य—साधने योग्य साधनीय कार्य माना जाय तो अनित्य ही होजाय, इसप्रकार अनित्य कार्य होनेपर तारतम्यरूपसे स्थिर होनेवाले अनित्य यथोक्त कर्मफलोंमें ही कोई अतिशय सुखविशेष मोक्ष है, प्रसंग होता । मोक्ष तो नित्य है यह सब मोक्षवादियोंका सिद्धान्त है इस कारण कर्त्तव्य के अङ्गरूपसे ब्रह्मका उपदेश होना उचित नहीं । और दूसरी बात यह भी है कि :—

(१)-"ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है ( मु० ३ । २ । ९ )"

---

१—व्योमवत् यह दृष्टान्त दूसरोंके मतसे है, हमारे मतमें तो वह भी कार्य होनेसे अनित्य है, यहां मोक्षका कूटस्थनित्य विशेषण उत्पाद्य कर्मको, सर्वव्यापी विशेषण प्राप्यकर्मको, सर्वविकाररहित विशेषण विकार्य कर्मको और निरवयव विशेषण संस्कार्य कर्मको हटाता है—भामती ।

परावरे' ( मुण्ड० २ । २ । ८ ) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चन' ( तैत्ति० २ । ६ ) । 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' ( बृह० ४ । २ । ४ ) 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' ( वाजसनेयिब्राह्मणोप० १ । ४ । १० ) 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ( ईशा० ७ ) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति । तथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' ( बृह० १ । ४ । १० ) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम् । यथा तिष्ठन्गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते । 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' ( प्र० ६ । ८ ) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' ( छान्दो० ७ । १ । ३ ) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' ( छान्दो० ७ । २६ । २ ) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति । तथाचाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—

(२)–"उसपर—तीनों शरीरोंसे सम्बन्धवर्जित निर्गुण, अवर—सृष्टिकर्ता आदि गुणोंसे युक्त सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर इस मुमुक्षु पुरुषके सब कर्म क्षीण होते जाते हैं ( मु० २ । २ । ८ )"

(३)–"विद्वान लोग ब्रह्मके आनन्दस्वरूपको प्राप्त होकर किसीसे भी डरते नहीं ( तैत्ति० २ । ६ )"

(४)–"हे जनक ! आप अभयको प्राप्त होगये हैं ( बृ० ४ । २ । ४ )"

(५)–"तब आत्माको ही जाने कि मैं ब्रह्म हूं, उससे यह सब उत्पन्न हुआ ( वाजसनेयि ब्राह्मणोप० १ । ४ । १० )"

(६)–"आत्मा और परमात्माकी एकताको देखते हुये पुरुषको क्या मोह, क्या शोक हो सकता है ?" ( ईशा० ७ )

इत्यादि श्रुतियां ब्रह्मविद्याके अनन्तर मोक्षको दिखाती हुई बीचमें कार्यान्तरको हटाती हैं, तथा :—

"वह ब्रह्म मैं हूं। इसप्रकार देखते हुवे वामदेव ऋषि मनु और सूर्यभावको प्राप्त होगये।" ( बृ० १ । ४ । १० )

इत्यादि श्रुतियोंको ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभाव के बीच मे कर्तव्य-कर्मान्तरको हटानेके लिये उदाहरण कर लेना चाहिये । जैसे 'बैठता हुवा गाता है' इस वाक्यमें बैठने और गानेके बीचमें इन दोनोंके किये कार्यान्तर नहीं हैं यह प्रतीत होता है, तथाः—

(१)–"आप हमारे पिता हैं, जो हमें अविद्यासे परे पार उतार देते हैं ( प्र० ६ । ८ )"

(२)–"आपके सदृश विद्वानोंसे मैंने सुना है कि आत्माको जाननेवाला पुरुष शोकको तर जाता है, हे भगवन् ! वह मैं शोक कर रहा हूं, इस कारण शोकसे ग्रसित हुवे मुझको आप शोकसे पार उतार दीजिये ( छा० ७ । १ । ३ )"

(३)–"पापको दहन करनेवाले उस पापरहित नारदजीको भगवान् सनत्कुमारने अविद्यारूप अन्धकारके पारको दिखाया है ( छा० ७ । २६ । २ )"

इत्यादि श्रुतियां मोक्षकी बाधाको हटानामात्र ही आत्मज्ञानके फलको दिखाती हैं । तथा यह गौतम ऋषिके बनाये न्यायसे परिवर्धित न्यायसूत्र हैः—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० सू० १।१।२) इति। मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति। नचेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम्। यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।'
(न्या० सू० १।१।२)

मिथ्याज्ञानका नाश ब्रह्म और जीवात्माके एकत्वज्ञानसे होता है। यह ब्रह्म और जीवात्माकी एकता का ज्ञान *सम्पद्रूप नहीं है, जैसे :—

"जिस प्रकार मन अपनी वृत्तिके अनन्त होनेसे अनन्त है विश्वदेव भी अनन्त हैं, इस अनन्तत्व सामर्थ्यसे मनमें विश्वदेवका सम्पादन करनेसे अनन्त लोकको जीतता है (बृ० ३।१।९)"

(१)—पाठकी अपेक्षासे उत्तर—(आगे) के कारण हैं और पहिलेके कार्य हैं, कारणके नाशसे कार्यका नाश होजाता है, जैसे—कफके नाश होजाने पर कफसे उत्पन्न हुवे ज्वरका नाश होजाता है। जन्मके नाश होनेपर दुःखका नाश होजाता है, प्रवृत्तिके नाश होनेपर जन्मका नाश होता है, दोषके नाश होनेपर प्रवृत्तिका नाश होता है तथा मिथ्याज्ञानके नाश होनेपर दोषका नाश होजाता है—**भामती।**

सूत्रका तात्पर्य यह है कि सब अनर्थोंका मूलकारण मिथ्याज्ञान है, मिथ्याज्ञान आदि उत्तर २ कारणके नाश होनेपर अनन्तर (समीप में) में पड़े हुवे पूर्व २ कार्यका नाश होजाता है, तब अपवर्ग मोक्षकी प्राप्ति होती है—**अनु०।**

(२)—जिस प्रकार मनकी अनन्तवृत्ति होनेसे मन विश्वदेवके समान होनेके कारण समस्त देवोंको मनमें सम्पादन कर मनरूप आलम्बनको अविद्यमानवत् कर मुख्यरूपसे सम्पादन किये जानेवाले समस्त ही देवोंका अनुचिन्तन—(विचार) होता है, और उससे अनन्त लोककी प्राप्ति होती है, एवं चेतन रूपकी समतासे जीवको ब्रह्मरूप बनाकर जीवरूप आलम्बन—(प्रहणस्थान) को अभावतुल्य करके मुख्यरूपसे ब्रह्मका अनुचिन्तन होता है, उससे अमृत मोक्षकी प्राप्ति होती है.... .....इस कारण भाष्यकार कहते हैं कि—यह ब्रह्म और जीवात्माकी एकताका ज्ञान सम्पद्रूप नहीं है—**भामती।**

**सम्पद्** आरोप्यप्रधान होता है, और **अध्यास** अधिष्ठान प्रधान होता है, तद्भाव अर्थात् ब्रह्मआदि भावका आरोप जिसको किया गया हो वह मन आदि सम्पद् है—**वेदान्तकल्पतरु**

**'आरोप्यप्रधान'** इसपर टीका करते हुवे अपनी कल्पतरुपरिमलटीकामें अप्पय दीक्षित जी लिखते हैं :—

यद्यपि बृहदारण्योपनिषद्में **"अथ सम्पद"** इस प्रकार सम्पद उपासनोंके आरम्भमें—"थोड़े कर्मोंमें बड़े कर्मोंके फलके लिये बुद्धिसे सम्पादन करना सम्पद् है, अथवा अश्वमेध आदि बड़े २ कर्मोंको सम्पूर्णरूपसे अनुष्ठान करनेमें समर्थ न होनेवाले, सम्भवयोग्य अङ्गमात्रसहित उन कर्मोंको अनुष्ठान करनेवालोंका उस अङ्गकर्माश्रित उपासनाविशेषोंसे उन बड़े २ कर्मोंके फलको सम्पादन करना सम्पद् है।"

इस प्रकार दो प्रकारसे भाष्यकारोंने सम्पद्को व्याख्यान किया है। तथा वार्त्तिककारोंने भी :—

(अ) फलवत्कर्मणां क्वापि किञ्चित्सामान्यसंश्रयात्।
सम्पत्तिर्महतां संपदल्पीयः कर्मसूच्यते ॥

**स तेन लोकं जयति' ( बृह० ३ । १ । ६ ) इति । न चाध्यासरूपम् । यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत ( छान्दो० ३ । १८ । १ ) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' ( छान्दो० ३ । १९ । १ ) इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः । नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तं 'वायुर्वाव संवर्गः' 'प्राणो वाव संवर्गः' ( छान्दो० ४।३।१ ) इतिवत् । नाप्याज्यावेक्ष-**

इत्यादि । न यह ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान अध्यासरूप है, जैसे कि :—

"मन ब्रह्म है इस प्रकार उपासन करे ( छा० ३ । १८ । १ )"

"सूर्य ब्रह्म है, यह आदेश है ( छा० ३ । १९ । १ )"

इस प्रकार मन और सूर्य आदिमें ब्रह्मदृष्टिका अध्यास किया जाता है। और न यह ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान विशेष क्रियायोगके निमित्तसे है, जैसे कि :—

"निश्चय ही यह वायु संवर्ग है।"

"निश्चय ही यह प्राण संवर्ग है ( छा० ४ । ३ । १ )"

—इत्यादिके समान ( जीवात्मामें देहादि परिणामरूप विशेषक्रियाके योगमें ब्रह्मदृष्टि करना है ), और न ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान (अ) आज्यावेक्षणादि कर्मके समान कर्माङ्गसंस्काररूप है कारण कि यदि ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान संपद्रूप, अध्यासरूप, विशिष्ट क्रियायोगरूप तथा आज्यावेक्षणादि कर्मके समान

---

**( आ ) यदि वा तत्फलस्यैव किञ्चित्सामान्यवर्त्मना ।**
**सम्पादनं भवेत्संपदग्निहोत्रादि कर्मणि ॥**

**( इ ) नातिभारोऽस्ति नो बुद्धेः शास्त्रं चेत्तत्परं भवेत् ।**
**विदुषां श्रेयसेऽतोऽध्वा न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥'**

इत्यादि . . . . . . . . . . . **कल्पतरुपरिमल ।**

( अ ) 'फलवाले कर्मोंकी कुछ समानताके आश्रयसे अल्प, कर्मोंमें अधिक सम्पत्तिको बुद्धिमें कल्पना करना संपद कहलाता है।'

( आ ) 'अथवा अग्निहोत्र आदि कर्ममें उसी फलको कुछ सामान्य उपायसे सम्पादन करना संपद है।' [ अर्थात् इन दोनों श्लोकोंमें ऊपर लिखे दोनों संपदके लक्षण आजाते हैं। प्रथम लक्षणमें अल्पत्वमें महत्त्वकी कल्पना अर्थात् बुद्धिमें आरोप करना संपद है, द्वितीय लक्षणमें महान् कर्मोंमें महान् फलकी प्राप्तिके लिये महान् कर्माश्रित कुछ कर्माङ्गोंका अनुष्ठान करना संपद है ]

( इ ) 'यदि शास्त्र इस प्रकार संपदपरक हो जाय तो हमारी बुद्धिके लिये यह विशेषभार नहीं है, इस कारण विद्वानोंके लिये यह श्रेयःरूप मार्ग रुकता नहीं।'—**कल्पतरुपरिमल ।**

( २ )—संवर्गपर भामती टीकाकार वाचस्पति मिश्र लिखते हैं :—

"महाप्रलयके समय वायु, अग्नि आदियोंको संहार कर अपनेमें रख लेता है, जैसे कि द्रविडाचार्य कहते हैं :—

"संहार करनेमें अथवा आत्मभावसे ग्रहण-स्वीकार करनेमें वायु संवर्ग है।"

शरीरमें रहनेवाला मुख्य प्राण भी संवर्ग है, वह मुख्य प्राण सब वाणी आदि इन्द्रियोंको ग्रहण करता है। मृत्युके समयमें वह प्राण सब इन्द्रियोंको लेकर शरीरसे निकलता है, सो यह संवर्गदृष्टि जिस प्रकार वायु और प्राणमें दश दिशागत जगत्को दिखाती है, एवं जीवात्मामें देहादिके परिणामरूप वृद्धिक्रियामें ब्रह्मदृष्टि करना मोक्षफलके लिये होता है—**भामती ।**

**णादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम् । संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि' ( छान्दो० ६ । ८ । ७ ) 'अहं ब्रह्मास्मि' ( बृह० १४ । १० ) 'अयमात्मा ब्रह्म' ( बृह० २ । ५ । १६ ) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ( मुण्ड० २ । २ । ८ ) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन् । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ( मुण्ड० ३ । २ । ९ ) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन् । तस्मान्न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् । अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या ।**

कर्माङ्गसंस्काररूप माना जाय तो :—

( क ) "हे "श्वेतकेतो ! वह आत्मा तुम हो ( छा० ६ । ८ । ७ )"

( ख ) "मैं ब्रह्म हूं ( बृ० १ । ४ । १० )"

( ग ) "यह आत्मा ब्रह्म है ( बृ० २ । ५ । १६ )"

इत्यादि श्रुतिवाक्योंका ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुतत्त्वको प्रतिपादन करनेवाला पदसमन्वय—( शब्दोंकी संगति ) पीड़ित होजाय अर्थात् उपर्युक्त पदोंकी परस्पर संगति न लगती, तथा :—

"पर तथा अपर ब्रह्मको देख लेनेपर हृदयकी सब गांठ कटजाती है और सब संशय मिट जाते हैं ।"

( मुण्ड० २ । २ । ८ )

इत्यादि अविद्यानिवृत्तिरूप फलको श्रवण करानेवाले वाक्य बाधित होजायँ, तथा :—

"ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है ( मुण्ड० ३ । २ । ९ )"

इत्यादि ब्रह्मभावको प्राप्त करानेवाले वचन संपदादिपक्षमें असलरूपसे संगत नहीं होते हैं, इस कारण ब्रह्मात्मैकत्व — ब्रह्म और जीवात्माकी एकताका ज्ञान संपदादिरूप नहीं, इसी कारण ब्रह्मविद्या पुरुषोंके कर्मके अधीन नहीं है ।

( अ )—जिस प्रकार दर्शपूर्णमास प्रकरणमें लिखा है कि :-

"**पत्न्यवेक्षितं आज्यं भवति**—पत्नी द्वारा देखा हुआ आज्य—घृतादिद्रव्य विशेष होता है ।"

इत्यादि उपांशुयागके अङ्गभूत आज्यका संस्काररूप अवलोकन पत्नीके लिये विधान किया है, उस प्रकार कर्ममें कर्त्तारूपसे अङ्गभूत आत्माका संस्कारनिमित्तक ब्रह्मज्ञान भी ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान नहीं —

**रत्नप्रभा ।**

इस भाष्यको थीबोने इङ्गलिशमें निम्नलिखित प्रकारसे टिप्पणीके सहित अनुवाद किया है :—

Nor is it a mere ( ceremonial ) purification of ( the self constituting a subordinate member ) of an action ( viz. the action of seeing etc , Brahman ), in the same way as, for instance, the act of looking at the sacrificial butter.

( 1 ) The butter used in the Upansuyaga is ceremonially purified by the wife of the sacrificer looking at it, so, it might be said, the self of him who meditates on Brahman ( and who as Kartri—agent—stands in a subordinate anga—relation to the Karman of meditation ) is merely purified by the cognition of its being one with Brahman.

इस लेखका अभिप्राय और भाषानुवाद टिप्पणीमें आगया है ।

प्र०—किं तर्हि ?

प्रत्यु०—प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा । एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम् । न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' ( केन० १ । ३ ) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' ( बृह० २ । ४ । १३ ) इति च । तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' ( केन० १ । ४ ) इति ।

प्र०—अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत् ।

प्रत्युत्तरम्—न । अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य । नहि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति ।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

प्रत्यु०—प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदमपनयति । तथा शास्त्रम्—'यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां

प्रश्न—तो किसके अधीन है ?

प्रत्युत्तर—प्रत्यक्षादि प्रमाणविषयक वस्तुज्ञानके समान ब्रह्मविद्या भी वस्त्वधीन है, इसप्रकारके ब्रह्मका और ब्रह्मज्ञानका किसी युक्तिसे कार्यमें प्रवेश करनेकी कल्पना कोई भी नहीं कर सकता । और न 'विद—जाने—जानना' इस विद् धातुके "ब्रह्मको जानना" इस जाननारूप क्रियाका कर्म ( Object ) होनेसे ब्रह्म कार्य होसकता है, क्योंकि—

"वह ब्रह्म विदित—कार्य, और अविदित—कारणसे अन्य ही है।" ( केन० १ । ३ )

इस प्रकार श्रुतिने ज्ञान रूप क्रियाके कर्मका निषेध किया है, तथा—

"जिससे सबको जानता है उस ब्रह्मको कौन किससे जाने ?" ( बृ० २ । १३ )

यह श्रुति भी ( जाननारूप क्रियाके कर्मत्वको निषेध करती है ) तथा उपासना करनारूप क्रियाके कर्मका निषेध भी होता है :—

"जो ब्रह्म वाणीद्वारा नहीं कहा जा सकता, जिसके होनेसे वाणी बोली जाती है।"

इस प्रकार ब्रह्मको वाणी आदिका अविषय बतला कर—

"उसीको तुम ब्रह्म जानो, जिसकी उपासना नहीं होती ( केन० १ । ४ )" इत्यादि ।

प्रश्न—ब्रह्म अविषय होनेपर शास्त्रप्रमाणगम्य नहीं होसकता ?

प्रत्युत्तर—यह बात नहीं, क्योंकि शास्त्र तो अविद्याकल्पित भेदमात्रको हटाता है । 'यह ब्रह्म है' इसप्रकार विषयरूप ब्रह्मको शास्त्र प्रतिपादन करना नहीं चाहता है ।

प्रश्न—तो क्या करना चाहता है ?

प्रत्युत्तर—व्यापक होनेके कारण अविषयरूपसे प्रतिपादन करता हुवा अविद्याकल्पित वेद्य—जानने योग्य विषय, वेदिता जाननेवाला कर्त्ता, वेदना—ज्ञान कर्म इत्यादि भेदोंको दूर करता है, तथा यह शास्त्र है :—

( १ ) "जिसका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म ज्ञानका अविषय है उसने ब्रह्मको जाना है, और जिसका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म चेतनत्वका विषय है उसने ब्रह्मको नहीं जाना है, इस कारण ब्रह्मज्ञानके अभिमानियोंको ब्रह्म अविदित ही रहता है, ऐसे अभिमानी लोग

विज्ञातमविजानताम्' ( केन० २ । ३ ) 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीथाः' ( बृह० ३ । ४ । २ ) इति चैवमादि । अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः । यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं, कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम् । तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । नहि दध्यादि विकार्यं, उत्पाद्यं वा घटादि, नित्यं दृष्टं लोके । नचाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात् । स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वं, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः, आकाशस्येव । नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत । संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा । न तावद्गुणाधानेन संभवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य । नापि दोषापनयने, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य ।

प्रश्न:—स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इतिचेत् ।

प्रत्यु०—न । क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः । यदाश्रया क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते ।

उसे जान नहीं सकते, और जो ब्रह्मज्ञानाभिमान रहित हैं उनको ब्रह्म विदित होता है, वे लोग ही उसे इन्द्रियोंके अविषयरूपमें जानते हैं ( केन० २ । ३ )"

( २ ) "दर्शनशक्तिके द्रष्टा ब्रह्मको इस नेत्रसे देख नहीं सकते, तथा विज्ञानशक्तिके विज्ञाता ब्रह्मको जान नहीं सकते ( बृ० ३ । ४ । २ )

इत्यादि, इस कारण अविद्याद्वारा कल्पित संसारी जीवात्मत्वकी निवृत्ति होनेसे नित्यमुक्त आत्म स्वरूपको समर्पण करनेके कारण मोक्षको अनित्यत्व दोष आता नहीं ।

जिसके मतमें मोक्ष उत्पाद्य—( उत्पन्न करने योग्य )—है उसको मानसिक, वाचिक अथवा शारीरिक कर्मकी अपेक्षा होना उचित है, तथा विकार्य—( विकार होने योग्य )—होनेपर उन दोनों—उत्पाद्य और विकार्य-पक्षोंमे मोक्ष निश्चय ही अनित्य होजावेगा, दही आदि विकार होने योग्य वस्तु अथवा उत्पन्न होने योग्य घटादि पदार्थ लोकमें नित्य नहीं देखे गये हैं । मोक्ष प्राप्य ( प्राप्त करने योग्य ) होनेपर भी कर्मकी अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि मोक्ष निज आत्मस्वरूप होनेसे प्राप्य नहीं होसकता, तथा ब्रह्म जीवात्मासे भिन्न पृथक तत्त्व होनेपर भी ब्रह्म प्राप्य नहीं होसकता, क्योंकि ब्रह्म सर्वगत होनेसे सबको नित्य प्राप्त ही है, जैसा कि आकाश सर्वगत होनेसे नित्य-प्राप्त है ।

मोक्ष संस्कार्य—( संस्कारविशेषसे होने योग्य )—भी नहीं है, जिससे किसी क्रियाकी अपेक्षा हो । संस्कार वह है जो संस्कार करने योग्य पदार्थमें गुणस्थापन करनेसे अथवा दोषोंको दूर करनेसे होता है, गुणोंको स्थापन करनेसे मोक्ष नहीं होसकता, क्योंकि मोक्ष किसीप्रकार गुण-स्थापन करनेके अयोग्य ब्रह्मस्वरूप होता है, और न दोषोंको दूर करनेसे मोक्ष होसकता है, क्योंकि मोक्ष नित्य शुद्ध ब्रह्मस्वरूप होता है ।

प्रश्न—निजात्मधर्म ही अन्तर्हित ( ढका हुवा ) मोक्ष उपासनक्रियासे. आत्मामें संस्कार किये जानेपर प्रकट होता है, जैसे—दर्पणमें रगड़नारूप क्रियासे संस्कार किये जानेपर स्वच्छतारूप धर्म प्रकट होता है ?

प्रत्युत्तर—ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि आत्मा क्रियाको आश्रयण नहीं करता है । जिसके आश्रय क्रिया रहती है उसको विकार न करती हुई वह उत्पन्न होती नहीं, यदि आत्मा क्रियासे विकृत होजाय

यद्यात्मा क्रियया विक्रियेतानित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत । 'अविकार्योऽयमुच्यते' इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन् । तच्चानिष्टम् । तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः संभवति । अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयात्मा संस्क्रियते ।

प्र०—ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः ।

प्रत्यु०—न । देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात् । प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम् । तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदविद्ययात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम् । यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलं, अहमरोग इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते । एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना अहं शुद्धः संस्कृत इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव । तेनैव ह्यहंकर्त्राहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते । तत्फलं च स एवाश्नाति, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति' ( मुण्ड० ३ । १ । १ ) इति मन्त्रवर्णात् । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' ( काठ० १ । ३ । ४ ) इति च । तथाच 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' ( श्वेता०

---

तो वह अनित्य होजाय, "यह आत्मा अविकार्य है" इत्यादि वचन बाधित होजाते, उन वचनोंका बाधित होना हितकर नहीं, इस हेतु आत्माकी निजाश्रया क्रिया नहीं होती है ।

प्रश्न—शरीरको आश्रयण करनेवाली, स्नान–आचमन करना और यज्ञोपवीत धारण करना इत्यादि क्रियामें जीवात्माका संस्कार किया जाना देखा गया है ?

प्रत्युत्तर—नहीं, क्योंकि देहादिसे संयुक्त और अविद्यामें ग्रसित जीवात्माका ही संस्कार किया जाता है, उस देहाश्रित क्रियासे देहसंयुक्त ही कोई अविद्याद्वारा आत्मरूपसे ग्रसित किया हुआ जीवात्मा संस्कृत किया जाता है ऐसा मानना उचित है, जैसा—देहको आश्रयण करनेवाली चिकित्साके निमित्तसे धातुओंकी समता होजानेपर देहमें संयुक्त देहाभिमानी जीवात्माको आरोग्यफल होता है । जहां 'मैं रोगरहित हूं' यह ज्ञान होता है, एवं स्नान–आचमन–यज्ञोपवीतधारणादि क्रियासे 'मैं शुद्ध होगया हूं , मैं संस्कृत होगया हूँ' यह ज्ञान जहां होता है वह संस्कृत होता है, वह जीवात्मा देहसे संयुक्त है ही, उसी 'मैं कर्त्ता हूं , मैं अहं इस ज्ञानका विषय हूँ' इस अहंकर्त्ता तथा अहं ज्ञानका विषय होनेवाले ज्ञानी जीवात्माद्वारा ही सब क्रियायें होती हैं, उन क्रियाओंका फल वही जीवात्मा भोगता है, क्योंकि :—

"उन ब्रह्म जीव दोनोंमें अन्य जीवात्मा फलरूप कर्मफलको भोगता है, अन्य ब्रह्म कर्मफलको न भोगता हुआ साक्षीरूपसे सबको देखता हैं ( मु० ३ । १ । १ )"

यह मन्त्र इस विषयको वर्णन करता है, तथा :—

"मनीषि मुनि लोग इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं ( क० १ । ३ । ४ )"
यह श्रुति भी उपर्युक्त विषयको वर्णन करती है । तथा :—

( १ ) "वह दिव्यलक्षणयुक्त अकेला परमात्मा सब प्राणियोंमें छिपा रहता है, वह सर्वव्यापक है, सब प्राणियोंका अन्तर्यामी है, कर्मफलको देनेवाला स्वामी है, वह सब प्राणियोंमें व्यापकरूपसे निवास करनेवाला है, वह सबका साक्षी, चेतन, निर्दोष तथा सत्त्व–रज–तमः गुणोंसे रहित है ( श्वेता० ६ । ११ )"

६ । ११ ) इति । 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्' ( ईशा० ८ ) इति च । एतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः । ब्रह्मभावश्च मोक्षः । तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः । अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम् । तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते ।

प्र०—ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया ।

प्रत्यु०—न । वैलक्षण्यात् । क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च । यथा यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' इति । 'संध्यां मनसा ध्यायेत्' ( ऐ० ब्रा० ३ । ८ । १ ) इति चैवमादिषु । ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं, पुरुषतन्त्रत्वात् । ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् । प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयमतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत् । न चोदनातन्त्रम् । नापि पुरुषतन्त्रम् । तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम् । यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः', 'योषा वाव गौतमाग्निः' ( छान्दो० ५ । ७, ८ । १ ) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धि-

( २ ) "वह ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, शुक्र-स्वच्छ है, अकाय स्थूल सूक्ष्म लिङ्ग शरीर इन तीनों शरीरोंसे रहित है, अव्रण फोड़ाफुन्सी आदि घाव और छिद्रोंसे रहित अस्नाविर स्नायुशिरा आदि नाड़ियोंके सम्बन्धसे रहित, शुद्ध निष्पाप है ( ईशा० ८ )",

ये दोनों मन्त्र ब्रह्मको गुणाधायकसे अयोग्य और नित्यशुद्ध दिखाते हैं । ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होना मोक्ष है, इस हेतु मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है । इससे अन्य ( अर्थात् उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार होना इन चार क्रियाविशेषोंसे अतिरिक्त पांचवां ) क्रियाके प्रवेश करनेके द्वारको कोई दिखा नहीं सकता, इस कारण एक ज्ञानको छोड़कर क्रियाके गन्धमात्रका भी प्रवेश यहां मोक्षमें होता नहीं ।

प्रश्न—ज्ञान तो मानसिक क्रियाका नाम है ?

प्रत्युत्तर—नहीं, क्योंकि मानसिक क्रियासे ज्ञान विलक्षण होता है, क्रिया वह है जहां विषयमें वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षा न करनेवाली ही कही जाती है और वह पुरुषचित्तव्यापारके अधीन होती है, जैसे :—

( १ ) "जिस देवताके लिये होतासे हविष्यको ग्रहण किया हो । "उस देवताको वषट्कार ( हविष्य समर्पण ) करता हुआ मनमें ध्यान करे ।'

( २ ) "सन्ध्याको मनमें ध्यान करे ( ऐ० ब्रा० ३ । ८ । १ )"

—इत्यादियोंमें । ध्यान करना, चिन्तन करना यद्यपि यह मानसिक क्रिया है, तथापि ऐसी क्रियाको पुरुष कर सकता है, नहीं भी कर सकता है, अथवा अन्यथा-विरुद्ध भी करता है, क्योंकि ऐसी क्रियायें पुरुषोंके व्यवहाराधीन होती हैं । ज्ञान तो प्रमाणोंसे उत्पन्न होता है प्रमाण वह है जो वास्तविक वस्तुविषयक हो, इसकारण करना, न करना, विरुद्ध करना ऐसा कोई कर नहीं सकता, वह ज्ञान केवल वस्तुके अधीन ही होता है, न यह विधिरूप प्रेरणाधीन है, और न पुरुषाधीन होता है, इसकारण ज्ञान मानसिक होनेपर भी बहुत कुछ विलक्षण होता है । और जैसे :—

" हे गौतम ! निश्चय ही यह पुरुष अग्नि है ।"

" हे गौतम ! निश्चय ही यह स्त्री अग्नि है ( छा० ५ । ७ । ८ । १ )"

यहांपर स्त्री और पुरुषमें अग्निबुद्धि मानसिक होती है, यह केवल विधिरूप प्रेरणाजन्य होनेसे

मानसी भवति। केवलचोदनाजन्यत्वात्क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिर्न सा चोदनातन्त्रा। नापि पुरुषतन्त्रा। किं तर्हि प्रत्यक्षवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्त्युपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्, अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात्।

प्र०—किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि।

प्रत्यु०—स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः। यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूदिति, न च तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि। तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते। "इदं सर्वं यदयमात्मा' ( बृह० २। ४। ६ ) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' ( बृह० ४। ५। १५ ) 'अयमात्मा ब्रह्म' ( बृह० २। ५। १९ ) इत्यादिभिः। यदप्य-

क्रिया ही है और वह पुरुषाधीन है, और जो तो प्रसिद्ध अग्निमें अग्निबुद्धि है वह विधिरूपप्रेरणाधीन नहीं और न पुरुषाधीन है।

प्रश्न—तो किसके अधीन है?

प्रत्युत्तर—प्रत्यक्षप्रमाणके विषय होनेवाली वस्तुके अधीन होती है सो तद्बुद्धिरूप ज्ञान ही है क्रिया नहीं। इस प्रकार सब प्रमाणविषयक वस्तुओंमें जान लेना चाहिये। ऐसा सिद्ध होजानेपर वास्तविक ब्रह्मात्मविषयक ज्ञान भी विधिरूप प्रेरणाधीन नहीं. विधिविषयमें सुने जानेवाली लिङ्—'उपासीत' आदि क्रियायें भी नियोज्यविषय—( किसीमें लगाने योग्य विषय ) के न होनेसे कुण्ठित—अप्रमाणित होजाती हैं, जैसे—पत्थर आदियोंमें प्रहारार्थ प्रयोग की हुई छुराओंकी धारें कुण्ठित होजातीं अर्थात् मुड़ जाती हैं, क्योंकि ब्रह्म हान करने और उपादान करने योग्य वस्तुका विषय नहीं है।

प्रश्न—तो "आत्मा दर्शन करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है"—इत्यादि विधिके छायायुक्त वचन किस प्रयोजनके लिये हैं?

प्रत्युत्तर— स्वाभाविक प्रवृत्तिके विषयोंमे विमुख करनेके लिये हैं, यह हम कहते हैं। जो पुरुष बाह्य विषयोंकी ओर प्रवृत्त होता है कि मुझे सुख हो दुःख न हो, वहां अत्यन्त पुरुषार्थको वह प्राप्त नहीं करता है, परम पुरुषार्थको चाहनेवाले उस पुरुषको स्वाभाविक शरीरेन्द्रिय समुदायोंकी प्रवृत्तिके विषयसे विमुख कर व्यापक "आत्माके प्रभावसे आत्मा दर्शन करने योग्य है" इत्यादि वचन प्रवृत्त कराते हैं। आत्मान्वेषणमें तत्पर हुये उस पुरुषको त्याग करने अयोग्य आत्मतत्त्वका उपदेश किया जाता है:—

( १ ) "यह जो सब कुछ है वह आत्मा है ( बृ० २। ४। ६ )"

( २ ) "जहां तो इसके सब आत्मा ही है उसे कौन किससे किसको देखे किससे किसको जाने। उस विज्ञाता परमात्माको किससे जाने ( बृ० ४। ५। १५ )"

( ३ ) "यह आत्मा ब्रह्म है ( बृ० २। ५। १९ )"

—इत्यादि वचनोंसे।

कर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलंकारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति। तथाच श्रुतिः—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत।' ( बृह० ४।४।१२ ) इति। 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत' ( भ० गी० १५ . २० ) इति स्मृतिः। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

यदपि केचिदाहुः—'प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्ति' इति। तन्न, औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात्। योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्य वदितुम्, 'स एष नेति नेत्यात्मा' ( बृह० ३।९।२६ ) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात्।

प्र०—नन्वात्माहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्।

प्रत्यु०—न। तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। नह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा,

---

और जो यह कहा था कि कर्तव्यप्रधानरहित आत्मज्ञान त्यागने अथवा ग्रहण करनेके लिए नहीं होता है, सो वह वैसा ही माना जाता है। हमारा यह आभूषणरूप सिद्धान्त है कि ब्रह्मरूप आत्माका ज्ञान होनेपर सब कर्तव्य कर्मोंकी हानि और कृतकृत्यता होजाती है, तथा यह श्रुतिप्रमाण है:—

'यह आत्मा मैं हूँ इसप्रकार जो पुरुष जानता है वह किस कामनाकी इच्छा कर परितप्त शरीरको फिर तपावे? ( बृ० ४। ४। १२ )

"हे भारत! इस शास्त्रके तत्त्वको जानकर मनुष्य बुद्धिमान और कृतकृत्य होजाता है।" ( भ० गी० १५। २० )

यह स्मृतिका वचन है। इसकारण प्रतिपादन करनारूप विधिकी विषयतासे ब्रह्मका समर्पण नहीं होता है।

और जो यह भी किसीने कहा था कि—प्रवृत्ति—किसी पुण्यकर्ममें प्रवृत्त होना, निवृत्ति—पाप कर्मसे हट जाना, विधि—उपासनादिकी प्रेरणा करना और तच्छेष—विधिक्रियाका अङ्ग, इनसे अतिरिक्त केवल वस्तुमात्रको कथन करनेवाला वेदभाग नहीं है, सो यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि उपनिषद्गम्य पुरुष किसी क्रियाविधिका अङ्ग नहीं है। यह जो उपनिषदोंमें ही प्राप्त होनेवाला पुरुष, असंसारी ब्रह्म है, वह उत्पाद्य-विकार्य-प्राप्य-संस्कार्य इन चार प्रकारके द्रव्योंसे विलक्षण, अपने प्रकरणमें स्थित, किसी क्रियाविधिका अङ्ग नहीं है, वह नहीं है, है अथवा नहीं प्राप्त होता है इसप्रकार नहीं कह सकते, क्योंकि:—

"वह ब्रह्मात्म 'नेति नेति' शब्दसे कहा जाता है ( बृ० ३। ९। २६ )"

इस प्रकार यह श्रुति ब्रह्मको आत्मशब्दसे कहती है, आत्माका खण्डन नहीं होसकता क्योंकि जो खण्डन करनेवाला है उसीका वह ब्रह्म आत्मा है।

प्रश्न—आत्मा 'अहं' इस ज्ञानका विषय-कर्म होनेसे वह उपनिषदोंमें ही जाना जाता है यह ठीक नहीं?

प्रत्युत्तर—ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि अहमात्मक ज्ञानको विषय करनेवाले जीवात्माका वह ब्रह्मात्मा साक्षी है, उस साक्षीरूपसे जीवात्माका खण्डन किया गया है। 'अहं' इस ज्ञानका विषयकर्त्ता जीवात्माके विना उस जीवात्माका साक्षी, सब प्राणियोंमें स्थित, एकरस, एक, कूटस्थनित्य सबके

**अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम्। आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः। सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति। पुरुषो विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अतएव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः। तस्मात् 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' ( काठ० १।३।११ ) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' ( बृह० ३।९।२६ ) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते। अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्। यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं**

आत्मा पुरुषको विधिकाण्डमें अथवा तर्क करनेके समयमें किसीने प्राप्त नहीं किया है, इसकारण वह आत्मा किसीसे खण्डित नहीं किया जा सकता, और न वह विधिके अङ्गरूपसे प्राप्त किया जा सकता है, वह सबके ही आत्मा होनेसे न त्यागने योग्य है और न ग्रहण करने योग्य है। सब ही नाश होनेवाले विकारसमुदाय पुरुषतक नष्ट हो जाते हैं, पुरुष तो विनाशहेतुके न होनेसे अविनाशी है, विकारहेतुके न होनेसे कूटस्थनित्य है, इसीलिये वह नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्तस्वभाव है, इस कारण :—

( १ ) "पुरुषसे परे और कुछ नहीं है, वही अन्तिम अवधि हद है, उससे परे पहुंचनेकी कोई और हद नहीं ( कठ० ३। ११ )"

( २ ) "उस उपनिषद्गम्य पुरुषको पूछता हूं ( बृ० ३। ९। २६ )"

इस श्रुतिमें पुरुषका औपनिषद विशेषण उपनिषदोंमें मुख्यरूपसे प्रकाशित होनेपर बनता है। इस हेतु वास्तविक वस्तु अर्थात् स्वयंसिद्ध ब्रह्मरूपवस्तु विषयक वेदभाग विद्यमान नहीं, यह वचन साहसमात्र है;

यह जो शास्त्रके तात्पर्यको जाननेवालोंका ( पृष्ठ १९ में लिखे एकदेशी आचार्यके सिद्धान्तरूप ) यह आरम्भ है कि :—

"उस वेदका अर्थ 'कर्मबोधक देखा जाता है'" इत्यादि। वह तो धर्मजिज्ञासाविषयक होनेसे विधि और निषेधरूप शास्त्रके अभिप्रायको देखना चाहिये। और दूसरी बात यह भी है कि :—

"वेद क्रियार्थक होनेसे क्रियार्थरहित वाक्य निरर्थक हैं।"

इसको सिद्धान्तरूपसे माननेवालोंके मतमें सिद्ध वस्तुओंका उपदेश व्यर्थ होता है। प्रवृत्ति, निवृत्ति, विधि और विधिशेष—विधिका अङ्ग इनसे अतिरिक्त यदि सिद्धवस्तुको क्रियाके लिये शास्त्र

( १ )—"उस वेदका अर्थ प्रयोजनवाले अर्थबोधक देखा गया है" इस प्रकार सूत्र बनाना चाहिये था, किन्तु धर्मजिज्ञासा पूर्वप्रकृत होनेसे तथा धर्म कर्मरूप होनेसे "कर्मावबोधनम्" अर्थात् 'कर्मबोधक' इसप्रकार कहा है। धर्मजिज्ञासाविषयक यह कर्मावबोधन कहा जाना वेदके सिद्धरूप ब्रह्मबोधन कामको हटाता तो नहीं। सोमशर्मा प्रकृत होनेपर उसका गुणकथन विष्णुशर्माकी गुणवत्ताको खण्डन नहीं करता है। विधिशास्त्र विधान करनेयोग्य कर्मविषयक है, तथा निषेधशास्त्र निषेध करने योग्य कर्मविषयक है, ये विधि और निषेध दोनों ही कर्मबोधक होते हैं—**भामती**।

चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः । नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति ।

प्र०—अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एवं भूतोपदेश इति चेत् ।

प्रत्यु०—नैष दोषः । क्रियार्थत्वेऽपि क्रियातिवर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव । क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य । न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति ।

प्र०—यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति ।

प्रत्यु०—उच्यते—अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति । तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन । अपि च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति चैवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते । न च सा क्रिया । नापि क्रियासाधनम् । अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम् । तच्चानिष्टम् । न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं, हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण । नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसंबन्धिनोऽभाव बोधयतीति । अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम् । सा च

उपदेश करता है तो कूटस्थनित्य ब्रह्मरूप सिद्ध वस्तुको शास्त्र उपदेश नहीं करता है इसमें क्या हेतु—कारण है ? सिद्धवस्तुको उपदेश करना क्रिया नहीं ।

प्रश्न—क्रियारहित होनेपर भी सिद्धवस्तु क्रियाके [१]साधन होनेसे क्रियाके निमित्त सिद्धवस्तुओंका उपदेश है ?

प्रत्युत्तर—ऐसा मानो तो यह दोष नहीं, क्योंकि सिद्धवस्तुओंका उपदेश क्रियाके लिये होनेपर भी क्रियाके उत्पादक शक्तिमान् वस्तुका ही उपदेश किया है, क्रियार्थ होना तो उस सिद्धवस्तुका प्रयोजन है. इतने मात्रसे ( अर्थात् सिद्धवस्तुओंका उपदेश क्रियार्थक होने मात्रसे ) सिद्धवस्तुका उपदेश नहीं होता है यह बात नहीं ।

प्रश्न—यदि सिद्धवस्तुको उपदेश किया है तो उससे तुम्हारा प्रयोजन क्या है ?

प्रत्युत्तर—अज्ञात आत्मारूप वस्तुका उपदेश प्रयोजनवाला ही होता है. उस आत्माको जाननेसे संसारके कारणभूत मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिरूप प्रयोजन है. यह क्रियाके साधन सोम, दधि आदि सिद्ध वस्तुओंके उपदेशसे ( स्वयंसिद्ध ब्रह्मात्माके उपदेशका ) समान ही अर्थवत्त्व है ।

और दूसरी बात यह भी है कि "ब्राह्मण मारने योग्य नहीं होता है" इत्यादि क्रिया निवृत्तिका उपदेश है, यह निवृत्ति क्रिया नहीं, और न यह क्रियाका साधन है । यदि क्रियारहितोंका उपदेश निष्प्रयोजन है तो "ब्राह्मण मारने योग्य नहीं होता है" इत्यादि निवृत्तिके उपदेश निष्प्रयोजन हो जाते हैं, यह निष्प्रयोजन होना इष्ट नहीं है । हननक्रियाकी निवृत्ति और उदासीनता—क्रियामें प्रवृत्त न होना इसके अतिरिक्त निषेधवाचक नञ्शब्दके—स्वभावतः प्राप्त हननार्थकके अनुरागसे ( सम्बन्धसे )—अप्राप्तक्रियार्थ होनेकी कल्पना नहीं कर सकते । निषेधवाचक नञ शब्दका यह स्वभाव है कि अपने सम्बन्धीके अभावको बताता है, यह अभावबुद्धि उदासीनताका कारण है, और

---

( १ )—सिद्धवस्तु क्रियाके साधन होती हैं, जैसे—"**सोमेन यजेत. दध्ना जुहोति ।**" इत्यादि वाक्योंमें सोम और दही यज्ञके साधन हैं अर्थात् यज्ञ करना रूप क्रियाकी सामग्री हैं, यदि ये न हों तो किससे यज्ञ किया जाता ? इसकारण जैसे सोम और दधि आदि सिद्धवस्तुओंका उपदेश यज्ञक्रियानिमित्त हैं एवं स्वयंसिद्ध ब्रह्मका उपदेश भी क्रियाके लिये है—**अनुवादक ।**

दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम्। यदप्युक्तं—कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् 'सप्तद्वीपा वसुमती'त्यादिवदिति, तत्परिहृतम्। रज्जुरियं नायं सर्प इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्।

प्र०—ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्।

प्रत्यु०—अत्रोच्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात्। नहि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो

---

यह अभावबुद्धि जली हुई लकड़ीकी आगके समान स्वयं ही शान्त हो जाती है, इसकारण प्राप्तक्रिया की निवृत्ति और उदासीनता ही "ब्राह्मण मारने योग्य नहीं है" इत्यादि वाक्योंमें निषेधार्थको हम 'प्रजापति व्रतादियोंसे अन्यत्र मानते हैं। इसकारण मोक्षमें उपयोग न होनेवाले कथा आदि अर्थवाद विषयोंके अनर्थक होनेका कथन ( **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्**० जै० सू० १ । २ । १ ) इस सूत्रमें देख लेना चाहिये।

और यह भी जो कहा था कि कर्त्तव्यविधिमें प्रवेश किये विना वस्तुमात्रका कथन अनर्थक होगा जैसा कि—'सात द्वीपवाली पृथिवी है' इत्यादि वाक्य अनर्थक हैं। सो इसका समाधान कर दिया है, क्योंकि 'यह डोरी है, सर्प नहीं' इस प्रकार वस्तुमात्रको कथन करनेपर भी प्रयोजन देखा गया है।

प्रश्न—ब्रह्मको सुना हुआ पुरुष भी पूर्ववत् संसारी देखा गया है, इसकारण 'यह डोरी है सर्प नहीं' इत्यादि कथनके समान ( ब्रह्मस्वरूपका कथन ) अर्थवान् नहीं होगा यह कहा था ?

प्रत्युत्तर—ब्रह्मात्मतत्त्वको जाने हुवे पुरुषका पूर्ववत् संसारी होना कोई दिखा नहीं सकता, क्योंकि संसारी जीवात्माका होना वेदप्रमाणजन्य ब्रह्मात्मभावका विरोध होता है। शरीरादिमें आत्माका अभिमान करनेवाला पुरुष दुःख भयादियुक्त देखा गया है इस कथनसे उसी पुरुषको वेदप्रमाणजन्य ब्रह्मात्मत्व बोध हो जानेपर उस देहादिमें आत्माका अभिमान निवृत्त होनेपर ( वह पुरुष ) उसी मिथ्याज्ञान निमित्तसे दुःख भयादियुक्त होता है ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। धनाभिमानी धनी गृहस्थीका

---

( ३ )—"**तस्य व्रतम्**—उस ब्रह्मचारीका व्रत है" इस वाक्यमें अनुष्ठेय क्रियावाची व्रतशब्दसे कार्यको आरम्भ कर "**नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्**—उदय होते हुवे सूर्यको न देखे" यह व्रत कहा है। इसकारण उपक्रम बलसे यहां नञ् शब्दका अर्थ ईक्षणविरुद्ध संकल्प क्रियाको ही स्वीकार किया है। इन प्रजापति व्रतोंसे अन्यत्र तो निषेधवाचक नञ् शब्दका अर्थ निषेधार्थ ही हम लोग मानते हैं—**रत्नप्रभाव्याख्या**।

इस भाष्यको थीबोने इसप्रकार अनुवाद किया है—

"Hence we are of opinion that the aim of prohibitory passages, such as 'A Brahman is not to be killed', is a merely passive state, consisting in the abstinence from one possible action; excepting some special cases, such as so-called Prajapati-vow, etc.

इसका भावार्थ भाषानुवादमें और टिप्पणीमें आगया है।

धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति । न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति । तदुक्तं श्रुत्या—'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ( छान्दो० ८ । १२ । १ ) इति ।

प्र०—शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेत् ।

प्रत्यु०—न । सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात् । न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वान्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम् । नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम ।

प्र०—तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेत् ।

प्रत्यु०—न । शरीरसंबन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः । शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना । क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः ।

प्र०—संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेत् ।

धननाश निमित्तक दुःख देखा गया है, इस कथनसे संन्यासी होकर धनाभिमानरहित हुवे पुरुषको वही धननाशनिमित्तक दुःख होता नहीं । तथा कुण्डल ( कर्णभूषण ) से युक्त पुरुषका कुण्डल होनेके अभिमाननिमित्तक सुख देखा गया है, इससे कुण्डलविहीन कुण्डल होनेका अभिमान न करनेवाले उसी पुरुषको कुण्डल होनेका अभिमाननिमित्तक सुख नहीं होता है, इस बातको श्रुति कहती है :—

यह निश्चय है कि शरीररहित आत्माको सुख दुःखरूप प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं । ( छा० ८ । १२ । १ ) इत्यादि ।

प्रश्न—शरीरत्याग होनेपर आत्मा शरीररहित होता है, जीवित आत्मा शरीररहित नहीं होता है ।

प्रत्युत्तर—ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि सशरीर होना मिथ्याज्ञानके निमित्तसे है ( तत्त्वज्ञाननिमित्त नहीं ), शरीरमें आत्माका अभिमान करना, इस लक्षणयुक्त मिथ्याज्ञानको छोड़कर अन्य प्रकारसे आत्माको सशरीर होनेकी कल्पना नहीं कर सकते, कर्मरूप निमित्त न होनेसे आत्मा नित्य ही अशरीर है यह हमने कहा था ।

प्रश्न—आत्माके किये धर्म और अधर्मके निमित्तसे आत्मा सशरीर होता है ?

प्रत्युत्तर—शरीरसम्बन्ध असिद्ध होनेसे धर्म और अधर्म आत्माके किये सिद्ध होते नहीं, तथा धर्म और अधर्मका शरीरके साथ सम्बन्ध होना और उनका आत्मकृत होनेकी यह अनादित्वकल्पना [1]इतरेतराश्रय दोष प्रसङ्ग होनेसे अन्धपरम्परा है । तथा क्रियाके साथ समवायसम्बन्ध न होनेसे आत्मा कर्त्ता नहीं होसकता ।

प्रश्न—( भृत्य आदियोंके ) समीप होनेमात्रसे ( क्रियाके साथ सम्बन्ध न होनेपर भी ) राजा आदि कर्त्ता होते हैं ?

---

( १ )—आत्माके होनेपर धर्म और अधर्म होते हैं, धर्माधर्म होनेपर शरीरके साथ सम्बन्ध होता है, तथा शरीर होनेसे ही धर्म और अधर्म किये जाते हैं । इस प्रकार धर्म और अधर्मका शरीरके साथ, शरीरका धर्माधर्मके साथ आत्माका शरीरके साथ तथा धर्माधर्मके साथ सम्बन्ध होना इतरेतराश्रयदोष युक्त है, इसे अन्योन्याश्रय दोष भी कहते हैं—अनुवादक ।

प्रत्यु०—न । धनदानाद्युपार्जितभृत्यसंबन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः । न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसंबन्धनिमित्तं किंचिच्छक्यं कल्पयितुम् । मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः संबन्धहेतुः । एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम् ।

प्र०—अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेत् ।

प्रत्यु०—न । प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः । यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः, यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः सिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य । तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ । यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथावा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम् । आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः । तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्व-

प्रत्युत्तर—यह मानना उचित नहीं, क्योंकि धन देने आदि द्वारा स्वीकार किये हुवे भृत्योंके साथ (राजा आदियोंका) सम्बन्ध होनेसे उनका—राजा आदियोंका—कर्त्ता होना बनता है, धनदानादिके समान आत्माका शरीर आदियोंके साथ स्वस्वामिभाव (मालिक—और मिल्कियत) के सम्बन्ध होनेकी कुछ कल्पना तो नहीं कर सकते, किन्तु सम्बन्धका हेतु मिथ्याभिमान तो प्रत्यक्ष होता है. इस प्रकार (**यजेत**—यज्ञ करे इत्यादि विधिसे) आत्माका यजमान होना व्याख्यान किया गया (अर्थात् आत्माका यजमान होना भी मिथ्या ही है)।

प्रश्न—यहां कोई कहते हैं कि—देहादिसे अतिरिक्त आत्माका निज देहादिमें आत्माभिमान होना गौण—अमुख्य है, मिथ्या नहीं ?

प्रत्युत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रसिद्ध हुई वस्तुओंके भेदके गौणत्व और मुख्यत्वकी प्रसिद्धि होती है, जिसका वस्तुभेद प्रसिद्ध है, जैसा कि केश आदि युक्त आकृतिविशेष [१]अन्वयव्यतिरेकसे सिंहशब्दवाच्य अन्य मुख्य 'सिंह' प्रसिद्ध है । फिर (उस मुख्य सिंहसे भिन्न) अन्य पुरुष प्रायः क्रूरता और शूरता आदि सिंहके गुणोंसे सम्पन्न होता हुआ प्रसिद्ध होता है, उस (मुख्य प्रसिद्ध सिंह) का पुरुषमें सिंहशब्द और सिंहत्वज्ञान गौण होते हैं, अप्रसिद्ध वस्तुभेदके (गौणत्व और मुख्यत्व) नहीं होते हैं, उस प्रसिद्ध सिंहके अन्यत्र (पुरुष आदिमें सिंह आदि) अन्य शब्द तथा अन्य (सिंहपदवाच्य आदिका) ज्ञान भ्रान्तिनिमित्त ही होते हैं, गौण नहीं, जैसे—अल्प अन्धकारमें यह स्थाणु—ठूंठ है, इस विशेष ज्ञानका ग्रहण न होनेपर ठूंठविषयक पुरुष शब्द और पुरुषका ज्ञान (भ्रान्तिनिमित्त होते हैं), अथवा जैसे सीपमें अकस्मात्—एकाएक यह चांदी है इस प्रकार निश्चित रजतशब्द और रजतज्ञान (भ्रान्तिमूलक होते हैं), उसप्रकार देहादिसमुदायमें 'मैं' इस प्रकार मुख्यरूपसे आत्मशब्द और आत्मज्ञान आत्मा और अनात्माके अविवेकसे (अज्ञानसे) उत्पन्न होनेवाले कैसे गौण-अमुख्य कहे जा सकते हैं ? आत्मा और अनात्माके विवेक होनेवाले पण्डितोंको भी बकरी और भेड़ोंको चरानेवाले गड़रियोंके समान शब्द और ज्ञान अज्ञान होते

---

(१)—भाव और अभावको अन्वय-व्यतिरेक कहते हैं, जैसे केश आदियुक्त आकृतिविशेष होनेसे सिंह होता है और न होनेसे नहीं होता है—अनुवादक ।

वादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। तथाच ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—'तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृह० ४।४।७) इति। 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च। स्मृतिरपि च—'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (भ० गी० २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबन्धं दर्शयति। तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासावगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्। यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति। न। अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः। यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। नतु तदस्ति, मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम्। एवंच सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रारम्भ उपपद्यते। प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासे'त्येवारब्धत्वान्न पृथक्शास्त्रमारभ्येत। आरभ्यमाणं

है, इसकारण देहादिमें अतिरिक्त आत्माके अस्तित्वको कहनेवालोंके देहादिमें अहमात्मक ज्ञान मिथ्या ही है, गौण नहीं, इस हेतु सशरीर होना मिथ्याज्ञाननिमित्त होनेसे जीवित विद्वान्का भी शरीररहित होना सिद्ध होगया, तथा यह ब्रह्मविषयक श्रुति है:—

( १ ) "जिस प्रकार केंचुली बंबईमें फेंकी हुई प्राणरहित होकर सोती है, ऐसे यह शरीर सोता है, और यह अमृत प्राण ब्रह्म ही है तथा ज्योतिःस्वरूप है ( बृ० ४ । ४ । ७ )"

( २ ) "यथार्थतत्त्वज्ञ पुरुष सनेत्र होता हुआ नेत्ररहित है, श्रोत्रसहित होता हुआ श्रोत्रहीन है, वाणीयुक्त होता हुआ वाणीविहीन है, समन होता हुआ अमन है तथा प्राणके सहित होकर प्राणसे रहित होता है।" इत्यादि, तथा स्मृति भी:—

"समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञावाले योगीकी कौनसी भाषा है अर्थात् उनका लक्षण क्या है' ( भ० गी० २ । ५४ )"

इसप्रकार योगीके लक्षणको कहती हुई स्मृति विद्वान् पुरुषोंका सब प्रवृत्तियोंमें सम्बन्धरहित होना दिखाती है, इसकारण ब्रह्मात्मत्वको जाननेवाले विद्वान् पूर्ववत् संसारी जीवात्मा नहीं होते हैं। और जो पूर्ववत् संसारी जीवात्मा होता है वह ब्रह्मात्मत्वको प्राप्त नहीं हुआ है, यह कथन गर्हित नहीं।

और फिर जो यह कहा था कि श्रवणके अनन्तर मनन और ध्यान करना देखे जानेसे वेदान्त विधिके अङ्गरूप है, ब्रह्मके स्वरूपबोधक नहीं, सो यह बात नहीं, क्योंकि मनन करना और ध्यान करना भी ब्रह्मका साक्षात्कार करना है। यदि साक्षात्कार किया हुआ ब्रह्म अन्यत्र विनियुक्त हो जाय तब वेदान्त विधिका अङ्ग होसकता है, किन्तु इसप्रकार ब्रह्मका नियोग तो नहीं है, क्योंकि मनन और ध्यान भी श्रवणके समान ब्रह्मको बोध करानेवाले होते हैं, इसकारण आत्मप्राप्तिकी विधिकी विषयतासे ब्रह्म शास्त्रप्रमाणगम्य नहीं हो सकता, इसलिये वेदान्तवाक्योंका समन्वय होनेसे ब्रह्म स्वतन्त्र ही शास्त्रप्रमाणगम्य है यह सिद्ध होगया। इसप्रकार सिद्ध हो जानेपर **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"** इस तरह ब्रह्मविषयक पृथक् शास्त्रका आरम्भ बन जाता है। वेदान्त आत्मप्राप्तिकी विधिपरक होनेपर **"अथातो धर्मजिज्ञासा"** इस सूत्रसे ही वेदान्तका आरम्भ होजानेसे पृथक् वेदान्तशास्त्रका आरम्भ न किया जाता, यदि आरम्भ किया भी जाय तो इसप्रकार आरम्भ किया जाता:—

**चैवमारभ्येत—'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति', 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा' ( जै० ४ । १ । १ ) इतिवत् । ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति । तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि । नह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति । अपिचाहुः—गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् । सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत ॥ अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः । अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥ देहात्म-**

"**अथातः परिशिष्ट धर्मजिज्ञासा ।**"

अर्थात् अब इसलिये शेष धर्मोंकी जिज्ञासा की जाती है इत्यादि, जिस प्रकार यह सूत्र है :—

"**अथातो क्रत्वर्थपुरुषयोर्जिज्ञासा** ( जै० सू० ४।१।१ ) इत्यादि, इसकारण सब विधि और सब प्रमाण '**अहं ब्रह्मास्मि**' यहीं तक बोध करानेवाले होते हैं। त्यागने और ग्रहण करनेके अयोग्य अद्वैत आत्माके ज्ञान होनेमें विषयरहित तथा प्रमातारहित प्रमाण [1]प्रवृत्त नहीं हो सकते ।

तथा ब्रह्म तत्त्वको जाननेवाले कहते भी हैं कि :—

( १ ) पुत्र तथा देह आदिके बाध होजानेसे आत्मा गौण तथा मिथ्या न होनेपर 'मैं सद् ब्रह्म हूं' इसप्रकार ज्ञानशील कार्य कैसे होसकता है ? ( अर्थात् तत्त्वज्ञान कार्य नहीं हो सकता है )*

( २ ) कारण कि—अन्वेषण करने योग्य आत्माके ज्ञानसे पहिले आत्मा प्रमाता—ज्ञान करनेवाला होता है. अन्वेषण कर लेनेपर प्रमाता—( जीवात्मा ) ही पाप और दोष आदिसे

( १ )—प्रश्न—क्यों प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकते ?

उत्तर—"न हि" यह भाष्यका प्रतीक है अद्वैत ब्रह्ममें विषय-दृश्य पदार्थ विषयी-द्रष्टा यह भाव रहता नहीं, क्या इसकारण नहीं होसकता कि—उस समय कार्य नहीं रहता है, कार्य अर्थात् दृश्य विषय न होनेसे ही प्रमाणरूप इन्द्रिया भी नहीं होती हैं, यह कथन किया गया है—"**अप्रमातृकाणि च**" इस भाष्यके चकारसे ( इन्द्रिया भी प्रमाणरूप होती हैं, क्योंकि इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है )—**भामती ।**

*पुत्रदारादिमें आत्मज्ञान गौण-अमुख्य होता है अर्थात् अमुख्यरूपसे व्यवहार होता है, क्योंकि पुत्र पत्नी आदिके सुखी वा दुःखी होनेपर स्वयं भी सुखी दुःखी होकर सुख दुःखका अनुभव करते है, इसकारण पुत्रपत्नी आदि निजात्मा न होनेपर भी निजात्मवत् व्यवहार होता है, इसलिये यह व्यवहार अमुख्य है, वास्तविक नहीं, किन्तु देह और इन्द्रियादिमें जो आत्मज्ञान है वह मिथ्याज्ञान है, अर्थात् शरीरके कट जानेपर 'मैं कट गया' तथा नेत्र आदिकी शक्ति क्षीण होनेपर 'मैं काणा हूं, मैं बधिर हूं' इत्यादि व्यवहार किया है, क्योंकि कटजाना आदि शरीरका धर्म है आत्माका नहीं। इसप्रकार शास्त्रप्रमाणसे पुत्र पत्नी आदिका तथा देहेन्द्रियादि बाध होजानेके कारण आत्मा गौण तथा मिथ्या नहीं होता है. अर्थात् गौण आत्माके न होनेपर ममत्वका अभाव होजाता है, तथा मिथ्या आत्मा न होनेपर अन्धत्व बधिरत्वादिका अभाव होजाता है, तब तो न केवल लोकयात्राका उच्छेद होता है, अपितु 'मैं सद् ब्रह्म हूं' इसप्रकार ब्रह्मका साक्षात्कार भी हो जाता है, यह बोधरूप साक्षात्कार भी किसीप्रकार कार्य नहीं हो सकता है, क्यों नहीं हो सकता है इसका उत्तर अगले श्लोकमें दिया गया है—**अनुवादक ।**

प्रत्यर्थो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः। लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्' इति ॥ ४ ॥

इति चतुःसूत्री समाप्ता।

—:-०-:—

## ५ ईक्षत्यधिकरणम्। सू० ५–११।

एवं तावद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्रह्मात्मनि तात्पर्येण समन्वितानामन्तरेणापि कार्यानुप्रवेशं ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम्। ब्रह्म च सर्वज्ञं सर्वशक्तिजगदुत्पत्तिस्थिति-

रहित ब्रह्मात्मा होता है, (अर्थात् प्रमाता (जीवात्मा) के आत्मामे अन्वेषणीय ब्रह्मात्मा अन्य नहीं है, आप आप ही अन्विष्ट होजाता है).

(२) अब प्रमाणका अवधिको कहते हैं:—

जैसे देहमें आत्मज्ञान शास्त्र आदि प्रमाणमें कल्पित अर्थात् मिथ्या है (अर्थात् देहमे आत्मज्ञानरूप यह मिथ्याज्ञान प्रमाणमें ही तो विदित होता है यदि प्रमाणकी सत्ता न मानी जाय तो देहमें आत्मज्ञान की मिथ्याप्रतीति कैसे होसकती है?) उसी प्रकार ही ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कार होनेतक लौकिक प्रमाण प्रवृत्त होते हैं (अर्थात ब्रह्मात्माके साक्षात्कार हो चुकनेपर प्रमाता-प्रमा-प्रमाण-प्रमेयोंके विभाग नहीं रहते हैं)‡

यह चार सूत्रोंका भाष्य समाप्त होगया है।

### ईक्षत्यधिकरणम्।

एव ब्रह्मात्मज्ञानरूप प्रयोजनवाले, ब्रह्मात्मामे तात्पर्यमें समन्वित वेदान्तवाक्योका कार्यमें प्रवेश किये विना ही ब्रह्ममे पर्यवसान (अन्त) होता है यह कह दिया। ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और समस्तकी उत्पत्ति स्थिति तथा नाशका कारण है यह भी कह दिया है। साङ्ख्य आदि लोग तो

(*)—आत्माका प्रमाता होना उपलक्षण है (अर्थात् प्रमाता शब्द अन्योंको भी सकेत करता है), [अ] प्रमा-प्रमिति, प्रमेय और प्रमाणोंके विभागको भी देख लेना चाहिये, इस कथनका यह भाव होता है कि यह प्रमाण प्रमेय आदिका विभाग अद्वैत ब्रह्मके साक्षात्कार करनेमें कारण होते हैं, क्योकि साक्षात्कार होनेसे पहिले ये विद्यमान रहते हैं, इसकारण इन प्रमाणादियोके न होनेपर कार्य उत्पन्न नहीं होसकता (अर्थात् नेत्रादि न होनेपर कौन देख सुन सकती है?), प्रमाता (जीवात्मा) से अन्वेषणीय ब्रह्मात्मा अन्य नहीं, इस भावको यह श्लोकवाक्य कहता है— **अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव०—भामती।**

(‡)—जब प्रमाण न रहेंगे तब कैसे तात्त्विक अद्वैतानुभवकी उत्पत्ति होगी? इसकारण कहते हैं कि **देहात्म प्रत्यय०**, इस प्रमाणकी अवधिको कहते हैं—**"आ आत्मनिश्चयात्"** अर्थात् ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार होनेतक (प्रमाण आदियोकी प्रवृत्ति होती है), इस कथनका यह भाव होता है कि पारमार्थिकवादियों तथा प्रपञ्चवादियोको भी देहादियोमे आत्माका अभिमान होना मिथ्या है यह कहना चाहिये, क्योंकि (देहमें आत्माका अभिमान होना) प्रमाणों द्वारा बाधित होजाता है, और आत्मा समस्त प्रमाणोंका कारण होता है तथा होनेवाली लोकयात्राको वहन करता है, यह मानना पड़ेगा, तो यह प्रकार हमारे अद्वैतके साक्षात्कारमें होजावेगा। तथा यह अन्तःकरणके वृत्तिभेदरूप अद्वैत- साक्षात्कार भी सिद्धान्तरूपसे यथार्थ नहीं, जो तो साक्षात्कार होनेवाला है. वह कार्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार ही ब्रह्मस्वरूप होता है—भामती।

[अ]— 'प्रमा' आदि शब्दोंके अर्थ पृष्ठ २ के फुटनोटमें देखो—अनु०।

नाशकारणमित्युक्तम् । सांख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्ति । सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण कारणं लिलक्षयिषितम् । प्रधानपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते । काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते अणूंश्च समवायिकारणम् । एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते । तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासविप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते । तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः—यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दर्शयन्तीत्यवोचस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते । सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते । एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते ।

प्रश्नः—कथम् ।

उत्तरम्—यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' ( गी० १४ । १७ ) इति स्मृतेः । तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकारणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः । सत्त्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम् । न केवलस्याकार्यकारणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किंचिज्ज्ञत्वं वा कल्पयितुं शक्यम् । त्रिगुणत्वात्तु प्रधानस्य सर्वज्ञानकारणभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्व

सिद्ध वस्तु प्रमाणान्तरोंसे ही जानी जाती है इसप्रकार मानकर प्रधान आदि कारणान्तरोंका अनुमान करते हुए वेदान्तवाक्योंको प्रधानपरक ही मानते हैं। सब ही सृष्टिविषयक वेदान्तवाक्योंमें अनुमानसे ही कार्यद्वारा कारण दिखाना अभीष्ट है। सांख्यवादी प्रधान और पुरुषका संयोग नित्य तथा अनुमानगम्य है ऐसा मानते हैं। कणादमतानुयायी इन्हीं वाक्योंसे ईश्वरको निमित्तकारण अनुमान करते हैं और परमाणुओंको समवायिकारण मानते हैं। इसप्रकार अन्य तार्किक भी वाक्याभास और युक्त्याभासयुक्त पूर्वपक्षी यहाँ उपस्थित होते हैं। पदवाक्यप्रमाणज्ञ आचार्य वेदान्तवाक्योंको ब्रह्मज्ञानपरक दिखानेके लिए वाक्याभास और युक्त्याभास विप्रतिपत्तियों (विरोधों) को पूर्वपक्ष करके उनका खण्डन करेंगे।

सांख्यवादी प्रधानको त्रिगुण, अचेतन और जगत्का कारण मानते हुए कहते हैं कि जिन वेदान्तवाक्योंको तुम सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्मको जगत्का कारण दिखलाते हैं यह कहते थे, वे प्रधानपक्षमें भी लगाये जा सकते हैं। निज विकारविषयक सर्वशक्तिमानपना तो प्रधानका भी हो सकता है। एवं सर्वज्ञता भी बन सकती है।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—जिसको तुम ज्ञान मानते हो वह तो सत्त्वका धर्म है, क्योंकि—

"सत्त्वसे ज्ञान उत्पन्न होता है" ( गीता, १४ । १७ )

यह स्मृतिका वचन है, उस सत्त्वधर्मरूप ज्ञानसे कार्यरूप शरीर तथा इन्द्रियोंसे युक्त पुरुष सर्वज्ञ योगी प्रसिद्ध हैं, सत्त्वकी अत्यधिक उन्नति होनेपर सर्वज्ञता प्रसिद्ध होती है, शरीरेन्द्रियरहित, केवल, ज्ञानमात्रस्वरूप पुरुष सर्वज्ञ या स्वल्पज्ञ होता है यह कोई कल्पना नहीं कर सकता। तीनों गुणोंसे युक्त होनेसे प्रधानका सब ज्ञानोंका कारणभूत सत्त्व प्रधानावस्थामें भी होता है, इसकारण सत् अचेतन प्रधानका ही सर्वज्ञत्व होना उपचार ( अमुख्य व्यवहार ) होता है। तुमको भी वेदान्त-

मुपचर्यते। वेदान्तवाक्येष्ववश्यं च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमुपगन्तव्यम्। नहि सर्वविषयं ज्ञानं कुर्वदेव ब्रह्म वर्तते। तथाहि—ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयेत। अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति। अपिच प्रागुत्पत्तेः सर्वकारकशून्यं ब्रह्मेष्यते त्वया। न च ज्ञानसाधनानां शरीरेन्द्रियादीनामभावे ज्ञानोत्पत्तिः कस्यचिदुपपन्ना। अपिच प्रधानस्यानेकात्मकस्य परिणामसंभवात्कारणत्वोपपत्तिर्मृदादिवत्, नासंहतस्यैकात्मकस्य ब्रह्मण इति।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

## ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्। अशब्दं हि तत्।

प्रश्न :—कथमशब्दत्वम्?

प्रत्यु०—ईक्षतेः—ईक्षितृत्वश्रवणात्कारणस्य।

प्रश्नः—कथम्?

प्रत्यु०—एवं हि श्रूयते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० ६।२।१) इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति। तत्रेदं-

[illegible] ब्रह्म मानते ह[illegible] सर्वज्ञानशक्तियुक्त होनेसे ही [illegible] होना [illegible] [illegible] है सब [illegible] ज्ञान करता हुआ ही ब्रह्म [illegible] नहीं हो सकता है [illegible]—ज्ञान नित्य होनेपर ज्ञानकी क्रियाके प्रति ब्रह्मका स्वातन्त्र्य नष्ट हो जायगा। [illegible] ज्ञान नित्य होनेपर ब्रह्म ज्ञान [illegible] क्रियाको [illegible]। [illegible] ज्ञान [illegible] है [illegible] ब्रह्म ज्ञानक्रियासे [illegible]। इसलिये सर्वज्ञानशक्तियुक्त होनेसे [illegible] सिद्ध [illegible] है और [illegible] यह भी है कि उत्पत्तिसे पहिले ब्रह्म सब कर्ता आदि कारकशून्य [illegible] है [illegible] साधनभूत शरीर और इन्द्रिय आदिके न होनेसे किसीको ज्ञान। उत्पत्ति नहीं होती है। तथा यह भी बात है कि अनेकात्मक प्रधानके परिणाम सम्भव होनेसे [illegible] मिट्टी आदिके समान कारण हो सकता है, असङ्ग एकात्मक ब्रह्म कारण नहीं होसकता।

( यहांतक पूर्वपक्षीका कथन है। अब उत्तरपक्षी सिद्धान्तीका प्रत्युत्तर। )

प्रत्युत्तर—इसप्रकार प्राप्त होनेपर यह सूत्र प्रारम्भ किया जाता है।

## ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

सांख्यकल्पित अचेतन प्रधानको जगत्के कारणरूपमें वेदान्तोंमें आश्रय नहीं कर सकते, क्योंकि वह अशब्द अर्थात् वेदप्रमाणरहित है।

प्रश्न—वेदप्रमाणरहित क्यों है?

प्रत्युत्तर—"ईक्षतेः"—देखनेसे, अर्थात् कारणका ईक्षिता—देखनेवाला है इसप्रकार सुने जानेसे।

प्रश्न—कैसे?

प्रत्युत्तर—ऐसा सुना जाता है कि :—

"हे सौम्य! सृष्टिसे पहिले एक अद्वितीय सत था ( छा० ६। २। १ )"

इसप्रकार आरम्भ कर :—

**शब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत्प्रागुत्पत्तेः सदात्मनावधार्य तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्द-वाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजःप्रभृतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति । तथान्यत्र—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत' ( ऐत० १।१।१ ) इतीक्षापूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे । क्वचिच्च षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याह—'स ईक्षांचक्रे । स प्राणमसृजत' ( प्रश्न० ६।३ ) इति । ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः, यजतेरितिवत् । न धातुनिर्देशः । तेन 'यः सर्वज्ञः सर्व-**

"उस सत्ने देखा कि मैं प्रजायुक्त होऊं, इसप्रकार देखकर उसने अग्निको उत्पन्न किया।" ( छा० ६ । २ । ३ )

इस श्रुतिमें **इदं**शब्दवाच्य ( इस शब्दसे कहे जानेवाले ) नाम और रूपसे उत्पन्न हुये जगतको उत्पत्तिसे पहिले सत् रूपसे निश्चय करके उसी प्रकृत ( प्रकरणसे आये हुये ) सत् शब्दवाच्यका दर्शनपूर्वक अग्नि आदियोंका उत्पादक होना श्रुति दिखाती है, तथा अन्यत्र भी :—

"सृष्टिसे प्रथम एक यह आत्मा ही था, कोई अन्य नहीं था जिससे स्पर्द्धा हो, उसने देखा कि मैं लोकोंको उत्पन्न करूं, उसने इन लोकोंको उत्पन्न किया ( ऐत० १ । १ । १ )"

यह श्रुति भी दर्शनपूर्वक ही सृष्टिको कहती है। और कहीं सोलहकलायुक्त पुरुषको प्रस्तुत करके कहा है :—

"उसने देखा, तदनन्तर उसने प्राणको उत्पन्न किया ( प्रश्न० ६ । ३ )"

इत्यादि, सूत्रमें "**ईक्षतेः**" इस पदका 'देखना' इस धात्वर्थनिर्देशका अभिप्राय है, जैसा "**यजति**" पदका यज्ञकरना अर्थ होता है, धातुका निर्देश करना अभिप्राय नहीं। इसकारण :—

"जो परमेश्वर सर्वज्ञ है, जो सर्वव्यापक होनेसे सबको प्राप्त है, अथवा नित्य ज्ञानसे उसको सब बना रहता है, जिसका ज्ञानमय तप प्रकाश है, उस परमेश्वरसे ब्रह्म उत्पन्न होता

( १ )—पूर्वमीमांसाके प्रथम पादमें :—

"**इतिकर्तव्यतार्विधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम्** ( पू० मी० ३ । ४ । १ )"

इस सूत्रमें लक्षणा करके 'यजति' पदका अर्थ यज्ञकरना निश्चय किया है :—**अनुवादक।**

( २ )—संस्कृत व्याकरणमें यह नियम है कि :—

"**इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे**"—धातुका बतलानेमें धातुसे इक् और श्तिप् प्रत्यय होते हैं, इक् और श्तिपका इ और ति शेष रहते हैं, जैसे गम्—धातुको निर्देश करना हो तो गम् धातुसे इ प्रत्यय करके 'गम्+इ गमि, ईक्ष+ति ईक्षति' इसप्रकार धातुको निर्देश करनेमें ये दो प्रत्यय होते हैं, जैसे अङ्गरेजी व्याकरणमें इन्फिनिटिव मूडमें ( Infinitive Mood ) धातुको निर्देश करनेके लिये टु ( To ) शब्दको प्रथम जोड़ते हैं—"To go, to do" इत्यादि, इस प्रकार सूत्रके "**ईक्षतेः**" पदमें धातुको निर्देश करना अभिप्राय नहीं, किन्तु सूत्रकारका अभिप्राय 'ईक्ष-दर्शने' इस धातुके देखना अर्थमें है, इसी अभिप्रायसे भाष्यकारने कहा है कि—**ईक्षतेः** यह **यजतेः** के तुल्य **धात्वर्थ निर्देश**का अभिप्राय है, धातुनिर्देशका अभिप्राय नहीं—**अनुवादक।**

( ३ )—इस श्रुतिमें "**सर्वज्ञ,—सर्ववित्**" दो शब्द समानार्थक आये हैं, इसलिये भामतीकार वाचस्पति मिश्रजी समाधान करते हैं कि :—

"—'**जो सर्वज्ञ है**' यह सामान्यरूपसे कहा गया है, '**सर्ववित्**' यह विशेषरूपसे कहा गया है।"

हमारी समझमें भामतीकारका कहना उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि 'ज्ञा' और 'विद्' धातु

विद्यस्य ज्ञानमयं तप तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' ( मुण्ड० १।१।६ ) इत्येवमादीन्यपि सर्वेश्वरकारणपराणि वाक्यान्युदाहर्तव्यानि ।

यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति, तन्नोपपद्यते । नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात्सत्त्वधर्मो ज्ञानं संभवति । ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति । तदपि नोपपद्यते । यदि गुणसाम्ये सति सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किंचिज्ज्ञमुच्येत । अपिच नासाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते । न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति । तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम् योगिनां तु चेतनत्वात्सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदाहरणम् ।

अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्प्येत, यथाग्निनिमित्तमयःपिण्डादेर्दग्धृत्वम् । तथासति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञं मुख्यं ब्रह्म जगतः कारणमिति युक्तम् ।

बृहत् कार्यजगत, नाम —विष्णुमित्र आदि, रूप—हरित पीत आदि, अन्न—गोधूम यव आदि उत्पन्न होते हैं ।" ( मुण्ड० १ । १ । ६ )

इत्यादि सर्वज्ञ तथा ईश्वरकारणपरक वाक्योंको उदाहरण कर लेना चाहिये ।

यह जो कहा था कि सत्त्वधर्म ज्ञानसे प्रधान सर्वज्ञ होगा, यह ठीक नहीं, यदि ( सत्त्व-रजः-तम तीनोंके गुणोंकी समता होनेसे सत्त्वके आश्रित ज्ञानशक्तिको आश्रयण करके प्रधानको सर्वज्ञ कहा जाय तो रजोगुण और तमोगुणके आश्रित ज्ञानके बाधक शक्तिको आश्रयण करके प्रधानको परिमितरूपसे अल्पज्ञ भी कहा जाय, और दूसरी बात यह भी है कि न देखनेवाली सत्त्ववृत्ति 'जानती है' इसप्रकार नहीं कही जा सकती, अचेतन प्रधान देखनेवाला नहीं हो सकता, इसकारण प्रधानको सर्वज्ञत्व होना बनता नहीं । चेतन होनेसे योगियोंको तो सत्त्वातिशयनिमित्तक सर्वज्ञत्व होना बनता है, इसकारण योगियोंका उदाहरण ठीक नहीं ।

यदि फिर द्रष्टा—देखनेवालेके निमित्तसे प्रधानको **ईक्षिता**—देखनेवाला कल्पना किया जाय, जिस प्रकार अग्निके निमित्तसे लोहा दाहक हो जाता है, ऐसा होनेपर जिस निमित्तसे प्रधान द्रष्टा होता है वह मुख्य ब्रह्म ही सर्वज्ञ जगत्का कारण है यह कहना उचित है ।

---

का जानना अर्थ है, दोनो जगह सर्वशब्दका पाठ है,—फिर कैसे सामान्य और विशेषकी सङ्गति लग सकती है, मन्त्र और श्लोकोंमें शब्दोंका अन्वय आगे पीछे होता है, इस न्यायसे 'सर्ववित्' यह पद ही सामान्य क्यों नहीं माना जाय ?, एवं सर्वज्ञको ही विशेष क्यों न मानें ? भामतीकारके विशेषार्थमें यह अनिश्चय होता है, इसकारण हमने अपने अनुवादमें **"सर्ववित् अर्थात् यः सर्वव्यापकत्वेन सर्वं विन्दते लभते, यो वाऽत एव सर्वैर्विन्द्यते लभ्यते स सर्ववित्, यद्वा यो नित्यत्वेन सर्वकाले विद्यते भवतीति सर्ववित्, विद्लृलाभे विद् सत्तायाम् इति लाभार्थकात्तौदादिकविन्दतेः सत्त्वार्थकाद्दैवादिकविद्यतेर्वा क्विप् ।"** सर्ववित् शब्दका यह अर्थ किया है कि जो परमेश्वर व्यापकरूपसे सबको प्राप्त करता है वा जो इसीकारण सबको प्राप्त होता है, अथवा जो नित्यरूपसे सब कालोंमें विद्यमान रहता है वह सर्ववित् है, तुदादिगणपठित **विद्लृ लाभे** वा रुधादिगणपठित **विद् सत्तायाम्** इस धातुसे **क्विप्** प्रत्यय हुआ है, इन धातुओंके अर्थको लगानेसे वेदान्तियोंके मतमें भी कोई क्षति नहीं, तथा दोनों सामान्य और विशेष अर्थोंका ग्रहण भी सर्व शब्दसे होजाता है—**अनुवादक** ।

यत्पुनरुक्तं ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासंभवादिति ।

अत्रोच्यते—इदं तावद्भवान्प्रष्टव्यः, कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति । यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम् । अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्जानाति कदाचिन्न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात् । नासौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति ।

प्रश्नः—ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेत् ।

प्रत्यु०—न । प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात् ।

प्रश्नः—ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात्, नतु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्मसंयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः ।

प्रत्यु०—न । असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात् । एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षत' इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम् । कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः ।

प्रश्नः—किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति ।

प्रत्यु०—तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः । यत्प्रसा-

और जो यह कहा था कि—ब्रह्म भी मुख्य सर्वज्ञ नहीं होसकता, क्योंकि ज्ञानक्रिया नित्य होनेपर ज्ञानक्रियाके प्रति ब्रह्मकी स्वतन्त्रता नहीं होसकती ।

अब यहां कहा जाता है—आपसे यह पूछना है कि ज्ञानक्रियाके नित्य होनेपर कैसे सर्वज्ञत्वकी हानि होती है ? जिसको सब दृश्य विषयोंका प्रकाशन करनेमें समर्थ ज्ञान नित्य है वह असर्वज्ञ है यह परस्परविरुद्ध कथन है, ज्ञान अनित्य होनेपर कभी जानता है और कभी नहीं जानता है इसप्रकार ब्रह्म असर्वज्ञ भी होजावेगा सो यह ज्ञानके नित्यत्वमें दोष नहीं ।

प्रश्न—ज्ञान नित्य होनेपर ज्ञान विषयक स्वतन्त्रताका निर्देश नहीं होसकता ?

प्रत्युत्तर—यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिक्षण विस्तृत उष्णता—प्रकाशयुक्त सूर्यमें भी 'सूर्य जलाता है, प्रकाश करता है' इसप्रकार स्वतन्त्रताका निर्देश देखा जाता है ।

प्रश्न—सूर्यके दहन करने योग्य तथा प्रकाश करने योग्य पदार्थोंके सयोग होजानेपर 'सूर्य जलाता है, प्रकाश करता है' इस प्रकार निर्देश होजावेगा, उत्पत्तिसे पहिले ब्रह्मके ज्ञानका कर्मके साथ संयोग तो है नहीं, इसकारण सूर्यका दृष्टान्त विषम है ?

प्रत्युत्तर—विषम नहीं, क्योंकि प्रकाशनीय कर्म ( Object of Illumination ) न होनेपर भी 'सूर्य प्रकाशित होता है' इसप्रकार कर्त्ताका निर्देश देखा जाता है, एवं ज्ञानके ज्ञेयकर्म ( Object to be known ) न होनेपर भी 'तब उसने देखा' इसप्रकार ब्रह्मके कर्त्ता होना रूप निर्देश बन जानेसे विषमता नहीं होती । कर्मकी अपेक्षा होनेपर तो ब्रह्ममें ईक्षितृता-को बतानेवाली श्रुतियां बिलकुल सङ्गत होजाती हैं ।

प्रश्न—फिर वह ( ज्ञानका ज्ञेय ) कर्म क्या है जो उत्पत्तिसे पहिले ईश्वरके ज्ञानका विषय—(Object) —कर्म होता है ?

प्रत्युत्तर—'तत्त्व और अतत्त्वसे कहनेके अयोग्य, अव्याकृत—अनुत्पन्न अव्यक्त, व्याचिकीर्षित—स्थूलभावको

१ )—इस भाष्यकी पंक्तिपर 'भामती' आदि सब टीकाकारोंकी कलम रुक गई । इस पंक्तिमें शङ्कराचार्यजी-ने तत्त्वातत्त्वसे कहनेके अयोग्य अव्यक्त नाम रूपको मान लिया है, इस विषयक अधिक विवेचना 'वेदान्तरहस्य' में देखिये—अनुवादक ।

दाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति। यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादिसम्बन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यमवतरति, सवितृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। अपिचाऽविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यान्न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य। मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' ( श्वेता० ६ । ८ ) इति। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' ( श्वेता० ३ । १९ ) इति च।

प्रश्नः—ननु नास्ति तावज्ज्ञानप्रतिबन्धकारणवानीश्वरादन्यः संसारी, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' ( बृह० ३ । ७ । २३ ) इति श्रुतेः। तत्र किमिदमुच्यते संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्येति।

प्राप्त होनेवाले नाम और रूप थे, यह हम कहते हैं। जिस भगवान परमेश्वरके अनुग्रहसे योगियों के भी भूत-भविष्यद्विषयक प्रत्यक्ष ज्ञानको योगशास्त्रके जाननेवाले चाहते हैं, उस नित्यसिद्ध ईश्वरको उत्पत्ति, स्थिति और संहारविषयक नित्यज्ञान होता है उस ईश्वरके विषयमें क्या अधिक कहना योग्य है? ( अर्थात् कुछ अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है )

और यह भी जो कहा था कि शरीर आदि सम्बन्धके बिना ब्रह्म द्रष्टा नहीं होसकता, सो उस कथनका अवकाश नहीं है क्योंकि सूर्यके प्रकाशके तुल्य ज्ञानस्वरूपके नित्य होनेसे ब्रह्मको ज्ञानके साधनोंकी अपेक्षा नहीं होसकती।

और दूसरी बात यह भी है कि अविद्यादियुक्त संसारी जीवात्माओंको शरीरादिकी अपेक्षा करनेवाली ज्ञानोत्पत्ति होसकती, ज्ञानके बाधक कारणरहित ईश्वरको ( शरीरादिकी अपेक्षा ) नहीं रहती। ये दोनों मन्त्र ईश्वरकी शरीरादिकी अपेक्षारहित तथा उसके अप्रतिहत ज्ञानको दिखाते हैं:—

( अ )—"ईश्वरके शरीरादि कार्य तथा इन्द्रियादि साधन करण नहीं होते हैं उसके तुल्य और उससे अधिक और कोई नहीं देखा जाता है, उसकी अनेक प्रकारकी उत्कृष्ट शक्ति सुनी जाती है, तथा उसके स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया होती है ( श्वेताश्व० ६ । ८ )"

( आ )—"वह परमेश्वर हाथ पैरोंसे रहित होनेपर भी ग्रहणकरनेवाला तथा वेगवान् है, नेत्ररहित होनेपर भी देखता है, कान न होनेपर भी सुनता है, वह जानने योग्य को जानता है, उसको जाननेवाला कोई नहीं है. उस महान् परमेश्वरको विद्वान् लोग आदिपुरुष कहते हैं ( श्वेता० ३ । १९ )" इत्यादि।

प्रश्न—ईश्वरसे अन्य ज्ञानके बाधककारणवाले संसारी जीवात्मा नहीं है, कारण कि:—

"परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा वा विज्ञाता नहीं है ( बृह० ३ । ७ । २३ )"

यह श्रुतिका प्रमाण है, तो क्या यह कहा जाता है कि संसारी जीवात्माको शरीरादिकी अपेक्षासे ज्ञानोत्पत्ति होती है ईश्वरको नहीं?

प्रत्यु०—अत्रोच्यते—सत्यं, नेश्वरादन्यः संसारी। तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्योम्नः। तत्कृतश्च शब्दप्रत्ययव्यवहारो लोकस्य दृष्टो घटच्छिद्रं करकादिच्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि, तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेदमिथ्याबुद्धिर्दृष्टा। तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः। दृश्यते चात्मन एव सतो देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्याबुद्धिमात्रेण पूर्वेण। सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः।

यदप्युक्तं प्रधानस्यानेकात्मकत्वान्मृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्रधानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम्। यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते न प्रधानादीनां तथा प्रपञ्चयिष्यति—'न विलक्षणत्वादस्य—' ( ब्र० २।१।४ ) इत्येवमादिना ॥ ५ ॥

अत्राह—यदुक्तं नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणमीक्षितृत्वश्रवणादिति तदन्यथाप्युपपद्यते, अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात्। यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्यालक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वदचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्नसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति। यथा लोके कश्चिच्चेतनः स्नात्वा भुक्त्वा चापराह्णे ग्रामं रथेन गमिष्यामीतीक्षित्वानन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते। तस्माच्चेतनवदुपचर्यते।

प्रत्युत्तर—अब यहांपर कहा जाता है, यह सत्य है कि ईश्वरसे अन्य और कोई संसारी जीवात्मा नहीं है, तथापि देहादिसमूहको उपाधि ( आश्रय ) से सम्बन्ध इष्ट ही है, जैसे—आकाशका घड़े कमण्डलु—पर्वत गुफाओंकी उपाधि ( आश्रय ) से सम्बन्ध होता है. उस उपाधिसम्बन्धजन्य शब्दज्ञानका व्यवहार लोकका देखा गया है—जैसे आकाशसे पृथक् न होनेपर भी यह घड़ेका छेद है यह कमण्डलुका छेद है इत्यादि। तथा आकाशमें उपाधिरूप आश्रयजन्य घटाकाश आदि भेदकी मिथ्या बुद्धि देखी गई है, वैसे ही यहांपर भी देहादिसमूहोंके आश्रयका सम्बन्ध होनेसे अज्ञानजन्य ईश्वर-जीवभेद होना मिथ्याबुद्धि अर्थात् मिथ्याज्ञान है, तथा आत्मा होते हुवे भी पूर्व मिथ्याज्ञानमात्रसे अनात्मा देहादिसमूहमें आत्मज्ञानका मिथ्याभिमान देखा जाता है। इसप्रकार कल्पित-उपाधिका सम्बन्ध होनेसे संसारित्वावस्थामें देहादिकी अपेक्षासे जीवात्मा का द्रष्टा होना बन जाता है।

और यह भी जो कहा था कि अनेकात्मक प्रधान मिट्टी आदिके समान कारण होसकता है, असङ्ग ब्रह्म नहीं। इसका तो प्रधानके अशब्द अर्थात् शब्दप्रमाणरहित होनेसे ही खण्डन होगया। जिसप्रकार तर्कसे भी ब्रह्म ही जगत्का कारण होसकता है प्रधान आदि नहीं वैसा "**न विलक्षणत्वादस्य** ( ब्र० २।१।४ )" इत्यादि सूत्रोंमें विस्तारसे वर्णन करेंगे ॥ ५ ॥

सांख्य—जो यह कहा था कि द्रष्टा होना सुने जानेसे अचेतन प्रधान जगत्का कारण नहीं सो अचेतन प्रधानका द्रष्टा होना अन्य प्रकारसे भी बन सकता है, क्योंकि अचेतनमें भी चेतनके तुल्य अमुख्य व्यवहार देखा जाता है, जैसे नदीके पतनासन्न किनारेको देखकर किनारा गिरना चाहता है, इस प्रकार अचेतन किनारेमें भी चेतनके तरह गौण-अमुख्य व्यवहार देखा गया है. उसी प्रकार सर्गावस्थापन्न अचेतन प्रधानमें भी चेतनके तुल्य "उसने देखा" ऐसा अमुख्य व्यवहार होजावेगा, जैसे लोकमें कोई चेतन स्नानकर खानेके पश्चात् दुपहरमें रथसे गांवको जाऊँगा, इसप्रकार देखभाल करनेके अनन्तर उसी प्रकार नियमसे प्रवृत्त होता है, वैसे ही प्रधान भी महान्-अहङ्कार आदि आकाररूपसे नियमसे प्रवृत्त होता है, इसकारण चेतनके समान अमुख्य व्यवहार होता है।

प्र०—कस्मात्पुनः कारणाद्विहाय मुख्यमीक्षितृत्वमौपचारिकं कल्प्यते ।

उत्तरम्—'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त' ( छान्दो० ६ । २ । ३,४ ) इति चाचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात् । तस्मात्सत्कर्तृकमपीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते, 'उपचारप्राये वचनात्' इति ।

प्रत्यु०—एवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

## गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

यदुक्तं प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं तस्मिन्नौपचारिक ईक्षतिः, अप्तेजसोरिवेति, तदसत् । कस्मात्, आत्मशब्दात् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' ( छान्दो० ६ । २ । १,३ ) इति च तेजोऽबन्नानां सृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितृ, तानि च तेजोऽबन्नानि, देवताशब्देन परामृश्याह—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' ( छान्दो० ६ । ३ । २ ) इति । तत्र यदि प्रधानमचेतनं गुणवृत्त्येक्षितृ कल्प्येत तदेव प्रकृतत्वात्सेयं देवतेति परामृश्येत । न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाभिदध्यात् । जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता, तत्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च । स कथमचेतनस्याप्रधानस्यात्मा भवेत् । आत्मा हि नाम स्वरूपम् ।

---

प्रश्न—फिर किस कारणसे मुख्य द्रष्टृत्वको छोड़कर गौण द्रष्टृत्वकी कल्पना की जाती है ?

उत्तर—"उस अग्निने देखा, उस जलने देखा ( छा० ६ । २ । ३,४ )" इस प्रकार अचेतन जल और अग्निका भी चेतनके तुल्य अमुख्य व्यवहार देखा गया है, इसकारण सत् कर्ताके निमित्तसे "ईक्षण—देखना" भी गौण—अमुख्य प्रतीत होता है, क्योंकि प्रायः अमुख्य व्यवहारमें ऐसे शब्दोंका प्रयोग होता है ।

( यहातक सांख्योंका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीका प्रत्युत्तर )

प्रत्युत्तर—इसप्रकार प्राप्त होनेपर यह सूत्र आरम्भ किया जाता है :—

## गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

जो यह कहा था कि अचेतन प्रधान सत् शब्दसे कहा जाता है, उसमें ईक्षण औपचारिक—अमुख्य है, जैसे अग्नि और जलमें ( ईक्षण अमुख्य है ), यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें आत्मा शब्दका प्रयोग है :—

"हे सौम्य ! सृष्टिके आरम्भमें यह सत् ही था ।" इसप्रकार आरम्भ करके :—

"उसने देखा, तब उसने अग्निको उत्पन्न किया ( छा० ६ । २ । १,३ )" इसप्रकार अग्नि, जल और अन्नकी सृष्टि कहकर उसी प्रकृत सत् द्रष्टाको और उन अग्नि, जल और अन्नोंको देवता शब्दसे निर्देश कर कहा है :—

"उस सत्पदवाच्य देवताने देखा कि अब मैं इन तीनों देवताओंमें इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश कर नाम और रूपको उत्पन्न करूँ ( छा० ६ । ३ । २ )"

इत्यादि, यदि अचेतन प्रधानको अमुख्य रूपसे द्रष्टा होनेकी कल्पना की जाय तो प्रकृत ( पूर्वनिर्दिष्ट ) होनेसे उसी प्रधानको **'सेयं देवता'** यह श्रुति निर्देश करती, तब तो देवता जीवको आत्मशब्दसे न कहती । जीव नामक चेतन शरीरका स्वामी प्राणोंको धारण करनेवाला है, क्योंकि लोकमें जीवात्मा ऐसा ही प्रसिद्ध है तथा **'जीवति प्राणान्धारयतीति जीवः'** इसप्रकार निरुक्ति करनेसे जीनेवाला जीवात्मा होता है, वह जीव अचेतन प्रधानका आत्मा कैसे होसकता है । आत्मा नाम तो स्वरूपका है, अचेतन प्रधानका चेतन जीव स्वरूप नहीं हो

नाचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति । अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितृ परिगृह्यते तस्य जीवविषय आत्मशब्दप्रयोग उपपद्यते । तथा 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ( छान्दो० ६ । १४ । ३ ) इत्यत्र 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति, अप्तेजसोस्तु विषयत्वादचेतनत्वं, नामरूपव्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेनैव निर्देशात्, नचात्मशब्दवत्किंचिन्मुख्यत्वे कारणमस्तीति युक्तं कूलवद्गौणत्वमीक्षितृत्वस्य । तयोरपि च सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम् । सतस्त्वात्मशब्दान्न गौणमीक्षितृत्वमित्युक्तम् ॥ ६ ॥

अथोच्येताचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः, आत्मनः सर्वार्थकारित्वात्, यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति । प्रधानं हि पुरुषस्यात्मनो भोगापवर्गौ कुर्वदुपकरोति, राज्ञ इव भृत्यः संधिविग्रहादिषु वर्तमानः । अथवैक एवात्मशब्दश्चेतनाचेतनविषयो भविष्यति, भूतात्मेन्द्रियात्मेति च प्रयोगदर्शनात् । यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलनविषयः । तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणत्वमित्यत उत्तरं पठति--

---

सकता, यदि तो चेतन ब्रह्म मुख्य द्रष्टा ग्रहण किया जाता है तो उसका जीवविषयक आत्मशब्दका प्रयोग बनता है, तथा—

'यह ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है, और यह सब जगत उस आत्माका स्वरूप है, वह सत्य सदा वर्तमान रहनेवाला है, हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तुम हो ( छा० ६ । १४ । ३ )'

इस श्रुतिमें **'स आत्मा'** यह पद प्रकृत सत् परिणाम सूक्ष्म आत्माको आत्मा शब्दसे निर्देश करके 'हे श्वेतकेतो ! वह तुम हो' इसप्रकार चेतन श्वेतकेतुका आत्मरूपसे निर्देश करता है । जल और अग्नि तो विषय दृश्य होनेसे अचेतन हैं, क्योंकि नाम रूपकी उत्पत्ति आदिमें ( उन दोनों जल और अग्निको ) प्रयोज्यरूपसे प्रशास्यरूपसे ( Object to be governed ) निर्देश किया है । आत्मा शब्दके समान प्रधानके मुख्य होनेमें कुछ कारण है इसलिये द्रष्टा किनारेके समान गौण होता है यह कथन उचित नहीं, जल और अग्निका द्रष्टृत्व होना भी उनमें सत् ब्रह्मके विराजमान होनेकी अपेक्षासे है, सत् ब्रह्मका द्रष्टा होना तो आत्मा शब्द होनेसे गौण नहीं, यह कह दिया ॥ ६ ॥

यदि यह कहा जाय कि अचेतन प्रधानमें भी आत्मा शब्दका प्रयोग होता है, क्योंकि आत्मा सब प्रयोजनोंको सिद्ध करता है जैसे राजाके सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले नौकरमें आत्मा शब्दका प्रयोग होता है—"यह भद्रसेन मेरी आत्मा है" तथा जैसे सन्धि और युद्ध आदिमें विद्यमान होकर नौकर राजाके उपकार करते हैं वैसे प्रधान भी भोग और मोक्षको सिद्ध करता हुआ पुरुषात्माका उपकार करता है । अथवा एक ही आत्मा शब्द चेतन और अचेतन-विषयक हो जायगा, जैसे कि **'भूतात्मा इन्द्रियात्मा'** इसप्रकार प्रयोग देखा गया है, जैसे एक ही ज्योतिःशब्द यज्ञार्थक और अग्न्यर्थक है, इसलिये आत्मा शब्दके प्रयोग होनेसे ईक्षण गौण किस कारण नहीं ?

इस हेतु अब उत्तर पढ़ते हैं :—

## तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति. 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठामुपदिश्य 'आचार्यवान्पुरुषो वेद'. 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' ( छान्दो० ६।१४।२ ) इति मोक्षोपदेशात् । यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राहयेन्मुमुक्षुं चेतनं सन्तमचेतनोऽसीति तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्यानर्थायेत्यप्रमाणं स्यात् । न तु निर्दोषं शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम् । यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत्प्रमाणभूतं शास्त्रं स श्रद्दधानतयान्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत् . तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद्विहन्येतानर्थं च ऋच्छेत् । तस्माद्यथा स्वर्गाद्यर्थिनोऽग्निहोत्रादिसाधनं यथाभूतमुपदिशति तथा मुमुक्षोरपि 'स आत्मा तत्त्वमसि

## तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

अचेतन प्रधान आत्मशब्दको अवलम्बन करनेवाला नहीं होसकता, क्योंकि "वह आत्मा" इसमें प्रकरणागत सत् ब्रह्मको बताकर "हे श्वेतकेतो ! वह तू है" इसप्रकार मोक्ष होनेयोग्य चेतन श्वेतकेतुकी मोक्षनिष्ठाको उपदेश कर :—

"आचार्यवान् पुरुष ब्रह्मको जानता है. उस पुरुषको मोक्ष होनेमें तबतक विलम्ब होता है जबतक वह कर्मबन्धनसे [१]मुक्त नहीं होता है, देहपात होनेके अनन्तर मोक्ष होजाता है ( छा० ६ । १४ । २ )"

इसप्रकार मोक्षका उपदेश किया है। यदि अचेतन प्रधानको सत्शब्दवाच्य बताकर 'वह तू है' यहां तत्पदसे चेतन मुमुक्षुको यह अचेतन प्रधान तू है इसप्रकार ग्रहण करावे तो विपरीत कहनेवाला शास्त्र पुरुषके अनर्थके लिये होता है, इस हेतु शास्त्र अप्रमाणित होजायगा, किन्तु निर्दोष शास्त्रको अप्रमाणित कल्पना करना उचित नहीं। यदि प्रमाणित शास्त्र मूर्ख मुमुक्षुको अचेतन अनात्माको आत्मा बतलावे तथा वह अज्ञ पुरुष श्रद्धासे विश्वास करके [२]अन्धगोलाङ्गूलन्यायसे उस अचेतन अनात्मामें आत्मदृष्टिको न छोड़े यह अज्ञ पुरुष उस अचेतनसे पृथक् आत्माको प्राप्त नहीं होगा, प्राप्त न होनेपर मोक्षसे पृथक् होकर अनर्थको प्राप्त होजावेगा। इसकारण जैसे शास्त्र स्वर्ग आदि चाहनेवालोंको यथार्थ अग्निहोत्रादि साधनोंका उपदेश करता है वैसे मोक्षके

---

( १ )—श्रुतिके "**विमोक्ष्ये, सम्पत्स्ये**" शब्दोंमें प्रथमपुरुष "**विमोक्ष्यते, सम्पत्स्यते**" के स्थानमें उत्तम पुरुषका प्रयोग छान्दस है, यहां उत्तम पुरुषका व्यत्यय होता है, उत्तम पुरुषके प्रयोगको बदलकर प्रथम पुरुषका अर्थ किया जाता है—**अनु०**।

( २ )—कोई अन्धा किसी भयानक वनमें मार्गके मालूम न होनेसे इधर उधर भटक रहा था, उस समय कोई दुष्टात्मा मार्गमें मिला, उसने उस अन्धेसे कहा कि—'महाशय ! आप कैसे इधर उधर भटक रहे हैं !' अन्धेने उसको श्रेष्ठ पुरुष जानकर कहा कि—'विद्वन् ! मैं अपने ग्रामको जाना चाहता हूँ, परन्तु मार्ग विदित नहीं।' तब वह दुष्टात्मा एक बैल ढूँढ लाया और उस अन्धेसे कहा कि यह बैल तुमको स्वाभीष्ट देशमें पहुंचा देगा, इसकारण तुम बैलकी पूंछको अच्छी तरहसे पकड़ रखना।' वह अन्धा उस छलीके विश्वासमें आकर उसकी पूंछको न छोड़कर इधर उधर गढ्ढोंमें गिरता हुवा अत्यन्त दुःखको प्राप्त हुवा, और निजस्थानमें भी न पहुंचा। इसीका नाम **अन्धगोलाङ्गूलन्याय**' है—**अनु०**।

**श्वेतकेतो।' इति यथाभूतमेवात्मानमुपदिशतीति युक्तम्। एवंच सति तप्तपरशुग्रहणमोक्षदृष्टान्तेन सत्याभिसंधस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते। अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' (ऐ० आर० २।१।२।६) इतिवत्संपन्मात्रमिदमनित्यफलं स्यात्। तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत। तस्मान्न सदणिमन्यात्मशब्दस्य गौणत्वम्। भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। अपिच कचिद्‌गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्तूक्तं चेतनाचेतनयोः साधारण आत्मशब्दः क्रतुज्वलनयोरिव ज्योतिःशब्द इति, तन्न.**

बतलानेवालोंको भी "हे श्वेतकेतो! वह आत्मा तू है" इसप्रकार यथार्थ ही आत्माको उपदेश करता है ऐसा कहना उचित है। ऐसी अवस्थामें तप्तपरशुग्रहणमोक्षन्यायके दृष्टान्तसे सत्यप्रतिज्ञको मोक्षका उपदेश उचित है। अन्यथा अमुख्यमें सत् आत्मतत्त्वका उपदेश किये जानेपर,—

"मैं उक्थ हूँ इसप्रकार जानना चाहिये (ऐ० आ० २।१।२।६)"

इसप्रकार केवल सम्पत्मात्र अनित्यफल होगा, ऐसे सम्पद्रूप अनित्यफलमें मोक्षका उपदेश उचित नहीं, इसकारण सत् सूक्ष्म ब्रह्ममें आत्मशब्दका प्रयोग गौण अमुख्य नहीं।

नौकरमें तो मालिक और नौकरका भेद प्रत्यक्ष होनेसे आत्मशब्दका प्रयोग गौण होसकता है—यह मेरा आत्मा भद्रसेन है। और दूसरी बात यह भी है कि कहीं आत्मशब्दका प्रयोग देखा गया है इतनेमात्रसे शब्दप्रमाणयुक्त अर्थमें अमुख्य कल्पना करना अन्याय है, क्योंकि ऐसा करनेसे सब जगह अविश्वास होजावेगा।

और जो यह कहा था कि चेतन और अचेतनमें आत्मशब्दका प्रयोग साधारण है जैसे ज्योतिःशब्द यज्ञ और अग्निमें प्रयुक्त होता है, यह कथन अनुपपन्न (अनुचित) है, क्योंकि अनेकार्थक प्रचेतनपरक अनेकार्थ करना अन्याय है, इसकारण चेतनविषयक ही मुख्य आत्मशब्द चेतनाकी अमुख्यरूपसे भौतिक पदार्थोंमें प्रयुक्त होता है—यह भूतात्मा है, यह इन्द्रियात्मा है। तथा आत्मा शब्द (चेतन और अचेतनमें) साधारण होनेपर भी कोई

(१)—किसी आप्त पुरुषको किसी दुष्टात्माने चोरीका दोष लगाया, उसके पकड़े जानेपर न्यायाधीशने उसकी परीक्षाके लिये उस श्रेष्ठ पुरुषसे गर्म कुल्हाड़ीको पकड़नेके लिये कहा। उस दृढ़प्रतिज्ञ आप्तने निःशङ्क होकर उसे पकड़नेमें कुछ संकोच नहीं किया, तब न्यायाधीशने उसको निर्दोष समझकर छोड़ दिया। इसीका नाम **तप्तपरशुग्रहणमोक्षन्याय** है—अनु०।

इस भाष्यको थीबोने इसप्रकार अनुवाद किया है:—

Only on that condition release for him whose thoughts are true can be taught by means of the simile in which the person to be released is compared to the man grasping the heated axe (Kh. Up. VI, 16), (P. 56).

(२)—**उक्थ**—शरीरको उठानेवाला प्राणविशेष है, जो योगक्रियाविशेषसे प्राप्त होता है, योगीको सिद्धि प्राप्त होती है, योगीको सिद्धि प्राप्त होनेपर 'मैं उक्थ हूँ' इसप्रकार ज्ञान होता है, यही योगीका धन है, यह अनित्यफलवाला सम्पत्तिरूप मोक्ष नहीं, इसप्रकार "**तत्तु समन्वयात्** (ब्र० १।१।४)" इस सूत्रपर सम्पद्रूप मोक्षका विस्तारशः खण्डन किया जा चुका है—अनु०।

अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् । तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशब्दश्चेतनत्वोपचाराद् भूतादिषु प्रयुज्यते भूतात्मेन्द्रियात्मेति च । साधारणत्वेऽप्यात्मशब्दस्य न प्रकरणमुपपदं वा किंचिन्निश्चायकमन्तरेणान्यतरवृत्तिना निर्धारयितुं शक्यते । नचात्राचेतनस्य निश्चायकं किंचित्कारणमस्ति । प्रकृतं तु सदीक्षितृ, संनिहितश्चेतनः, श्वेतकेतुः, नहि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा सम्भवतीत्यवोचाम । तस्माच्चेतनविषय इहात्मशब्द इति निश्चीयते । ज्योतिःशब्दोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव रूढोऽर्थवादकल्पितेन तु ज्वलनसादृश्येन क्रतौ प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः । अथवा पूर्वसूत्र एवात्मशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्वशङ्कतया व्याख्याय ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिराकरणहेतुर्व्याख्येयः 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इति । तस्मान्नाचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ७ ॥

प्रश्न :—कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

प्रत्युत्तरम्—

## हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' इतीहोपदिष्टं स्यात्स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुस्तस्य हेयत्वं ब्रूयात् । यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराममुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति तद्वन्नायमात्मेति ब्रूयात् । नचैवमवोचत् । सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव

निश्चायक प्रकरण अथवा सन्निहितपदके बिना दोमेंसे किसी एकमें प्रवृत्त होनेका निश्चय नहीं किया जा सकता, यहां अचेतनका निश्चायक कोई कारण नहीं है, प्रकृत तो सत् द्रष्टा है, और सन्निहित ( समीपस्थ ) ही चेतन श्वेतकेतु है. चेतन श्वेतकेतुका अचेतन आत्मा नहीं होसकता यह हम कह चुके। इसकारण चेतनविषयक ही यहां आत्मशब्द है यह निश्चय होता है । ज्योतिःशब्द भी लौकिक प्रयोगमें अग्निमें ही प्रसिद्ध है, जो अर्थवाद ( प्रशंसा ) द्वारा कल्पित होनेसे तो अग्निकी समानतासे यज्ञमें प्रवृत्त हुआ है. इस हेतु ज्योतिःशब्दका दृष्टान्त नहीं होसकता । अथवा पूर्वसूत्रमें ही समस्त अमुख्यत्व और समानत्वकी शङ्कासे निवृत्त करके आत्मशब्दको व्याख्यान कर तदनन्तर प्रधानकारणवादको खण्डन करनेके लिये हेतुरूप यह सूत्र है—'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इसप्रकार व्याख्यान कर लेना चाहिये । इसकारण अचेतन प्रधान सच्छब्दवाच्य नहीं ॥ ७ ॥

प्रश्न—फिर कैसे प्रधान सत्शब्दवाच्य नहीं ?

प्रत्युत्तर—

## हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

यदि सत्पदवाच्य अचेतन प्रधानको ही 'स आत्मा तत्त्वमसि' यहां उपदेश किया होता तो वह श्वेतकेतु उस उपदेशके श्रवण करनेसे अनात्मज्ञ होकर अनात्मनिष्ठ न हो, इसकारण मुख्य आत्माको उपदेश करनेकी इच्छा करता हुआ उसके त्यागको कहना चाहिये था, जैसे कोई अरुन्धती ताराको दिखानेकी इच्छा करता हुवा पहिले उस अरुन्धती ताराके समीपस्थ अमुख्य स्थूल ताराको अरुन्धती बनाकर फिर उसको असत्य सिद्ध कर पश्चात् अरुन्धती ताराको ही ग्रहण कराता है वैसे ही यह अचेतन प्रधान आत्मा नहीं है इसप्रकार कहना चाहिये था,

हि षष्ठप्रपाठकपरिसमाप्तिर्दृश्यते । चशब्दः प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः । सत्यपि हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोधः प्रसज्येत । कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम् । 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। 'एवं सोम्य स आदेशो भवति' ( छा० ६ । १ । ३ ) इति वाक्योपक्रमे श्रवणात् । न च सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवति, अप्रधानविकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य । तस्मान्न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ८ ॥

प्रश्न :—कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

प्रत्युत्तरम्—

## स्वाप्ययात् ॥ ६ ॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' ( छा० ६ । ८ । १ ) इति । एषा श्रुतिः स्वपितीत्ये-

त्याज्य तो नहीं कहा । सन्मात्र आत्मज्ञानकी निष्ठा ही छान्दोग्योपनिषद्के छठे प्रपाठककी समाप्ति पर्यन्त देखी जाती है । सूत्रमें च शब्द प्रतिज्ञाविरोधकी अधिकताको दिखानेके लिये है । त्याज्य वचन होनेपर भी प्रतिज्ञाविरोधरूप दोष आयगा । यह प्रतिज्ञा की जा चुकी थी कि कारणके जाननेसे अन्य सबका ज्ञान होजाता है :—

"हे श्वेतकेतो ! तुमने उस आदेशको पूछा है जिससे न सुना हुवा सुना जाता है, मनन न किया हुवा मनन किया जाता है और न जाना हुवा जाना जाता है ।"

श्वेतकेतुने पूछा कि भगवन् ! वह आदेश कैसा है ? उसके पिताने उत्तर दिया कि—हे सौम्य ! जैसे एक मिट्टीके ढेलेको जान लेनेसे सब ही मिट्टीके विकार-कार्य जाने जाते हैं, घटपट आदि विकार वाणीसे आरम्भ किया हुवा नाममात्र है, केवल मिट्टी ही सत्य है अर्थात् अविकृत है । हे सौम्य ! यह आदेश है ( छा० ६ । १ । १,३ )"

इसप्रकार वाक्यारम्भमें सुना जाता है । सत्पदवाच्य, भोग्यसमुदायका कारण, प्रधानको त्याज्य-रूपमें अथवा अत्याज्यरूपमें जान लेनेपर भोक्ता-भोग करनेवालोंका समुदाय नहीं जाना जाता, क्योंकि भोक्ता समुदाय अचेतन प्रधानका विकार नहीं है, इसकारण प्रधान सत्पदवाच्य नहीं ॥ ८ ॥

प्रश्न—फिर क्यों प्रधान सत्पदवाच्य नहीं ?

प्रत्युत्तर—

## स्वाप्ययात् ॥ ६ ॥

उसी सत्पदवाच्य कारणको आरम्भ कर सुना जाता है कि :—

"जिस अवस्थामें इस पुरुषका नाम 'स्वपिति' होता है, तब हे सौम्य ! वह सत्से संयुक्त होजाता है, अपनेमें लय होजाता है, इसकारण इस पुरुषको 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं, क्योंकि वह अपनेमें लय होजाता है ( छा० ६ । ८ । १ )"

तत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति । स्वशब्देनेहात्मोच्यते । यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः । अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं, प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात । मनःप्रचारोपाधिविशेषसंबन्धादिन्द्रियार्थान्गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति । तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान्पश्यन्मनःशब्दवाच्यो भवति । स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति 'स्वं ह्यपीतो भवति' इत्युच्यते । यथा हृदयशब्दनिर्वचनं श्रुत्या दर्शितम्—'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमिति' ( छा० ८ । ३ । ३ ) इति । यथावाऽशनायोदन्याशब्दप्रवृत्तिमूलं दर्शयति श्रुतिः—'आप एव तदशितं नयन्ते, 'तेज एव तत्पीतं नयते' ( छा० ६ । ८ । ३,५ ) इति च, एवं स्वमात्मानं सच्छब्दवाच्यमपीतो भवतीतीममर्थं स्वपितिनामनिर्वचनेन दर्शयति । नच चेतन आत्माऽचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्यते । यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात्स्वशब्देनैवोच्येत. एवमपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत । श्रुत्यन्तरं च—'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' ( बृह० ४ । ३ । २१ )

यह श्रुति **'स्वपिति'** इस पदसे मनुष्यके लोकप्रसिद्ध 'शयन' को बताती है। **'स्व'** शब्दसे यहां आत्माका ग्रहण है, जो प्रकृत सत्पदवाच्य है उसमें जाता है अर्थात् लय हो जाता है। अपि उपसर्गपूर्वक इण् धातुका लय अर्थ प्रसिद्ध है, क्योंकि **"प्रभवाप्ययौ"** इसप्रकार उत्पत्ति और प्रलयमें उसका प्रयोग देखा जाता है। मनके सञ्चारके आश्रयविशेषसम्बन्धसे इन्द्रियोंसे अर्थोंको ग्रहण करता हुआ मनके आश्रयविशेषमें सम्बद्ध होकर जीवात्मा जागता है, जाग्रद्वासनाओंसे युक्त स्वप्नोंको देखता हुआ मनःपदवाच्य होता है। यह जीव और मन इन दोनों उपाधियोंके उपशान्त हो जानेपर सुषुप्तावस्थामें उपाधिकृत विशेषावस्थाओंके न होनेसे निजस्वरूपमें लीन हुआ जैसा होकर 'अपनेमें लय होता है' इसप्रकार कहा जाता है। जैसे हृदयशब्दके निर्वचनको श्रुतिने दिखाया है :—

"वह यह आत्मा हृदयमें रहता है उस हृदयका यही निर्वचन ( शब्दार्थ ) है कि **"हृदि अयम्**—हृदयमें यह आत्मा है इसकारण इस आत्माको हृदय कहते हैं ( छा० ८।३।३ )"

इत्यादि अथवा जैसे अशनाय-खानेकी इच्छा या उदन्या-पीनेकी इच्छा इन शब्दोंके प्रवृत्तिमूल श्रुतिको दिखाती है :—

"जल ही पुरुषके खाये हुये अन्नको रसादि बनाकर शरीरके सब अवयवोंमें पहुंचाता है, इसकारण जलको 'अशनाय-खाये हुवको लेजानेवाला' कहते हैं।"

"पुरुषके पिये हुये जलको अग्नि ही शरीरके सब अवयवोंमें पहुंचाता है ( विद्युद्रूप अग्नि न हो तो पानी ऊपर चढ नहीं सकता ), इसकारण अग्निको 'उदन्य वा उदनाय जलको लेजानेवाला' कहते हैं।" ( छा० ६ । ८ । ३,५ )

इत्यादि, वैसे यह पुरुष सत्पदवाच्य अपने आत्मामें लय होता है, इस अर्थको **'स्वपिति'** शब्दके निर्वचन-शब्दार्थ—करनेसे श्रुति दिखाती है। चेतन आत्मा अचेतन प्रधानको निजरूपसे प्राप्त नहीं करेगा, यदि स्वशब्दसे आत्मीय होनेसे प्रधान ही कहा जाय तो भी चेतन पदार्थ अचेतनमें लय होता है यह विरोधरूप दोष आजावेगा, अन्य श्रुति भी :—

"यह जीवात्मा प्राज्ञ—सर्वज्ञ ईश्वरसे संयुक्त होजानेपर न बाह्य किसी पदार्थको जानता है, और न भीतरके पदार्थोंको ( बृ० ४ । ३ । २१ )"

इति सुषुप्तावस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति । अतो यस्मिन्नप्ययः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं न प्रधानम् ॥ ६ ॥

प्रश्न :—कुतश्च न प्रधानं जगतः कारणम्—

प्रत्युत्तरम्—

## गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत्क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत् । नत्वेतदस्ति । समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः । यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' ( कौ० ३ । ३ ) इति । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' ( तै० २ । १ ) इति । 'आत्मन एवेदं सर्वम्' ( छा० ७।२६।१ ) इति । 'आत्मन एष प्राणो जायते' ( प्र० ३।३ ) इति चात्मनः कारणत्वं दर्शयन्ति सर्वे वेदान्ताः । आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम । महच्च प्रामाण्यकारणमेतद्यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वं, चक्षुरादीनामिव रूपादिषु । अतो गतिसामान्यात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ॥ १० ॥

इसप्रकार श्रुति सुषुप्तावस्थामें चेतनमें लय होना दिखाती है, इसकारण जिसमें सब कारणोंका लय होता है वह सत्पदवाच्य चेतन जगत्का कारण है, सांख्यविहित प्रधान नहीं ॥ ६ ॥

प्रश्न—फिर क्यों प्रधान जगत्का कारण नहीं ?

प्रत्युत्तर—

## गतिसामान्यात ॥ १० ॥

यदि तार्किकोंके सिद्धान्तोंके तुल्य वेदान्तोंमे भी भिन्न २ कारणवाद होते जैसे—कहीं चेतन ब्रह्म जगत्का कारण, कहीं अचेतन प्रधान जगत्का कारण और कहीं अन्य ही जगत्का कारण होता तो फिर कभी प्रधानकारणवादके अनुरोधसे भी ईक्षण आदिके श्रवणकी कल्पना की जाती, किन्तु ऐसी कल्पना नहीं कीगई है। सब वेदान्तोंमे चेतनकारणवादका नियम समान ही है :--

( १ )—"जैसे जलती हुई आगसे पतंगे सब दिशाओंमें फैल जाती हैं, वैसे इस आत्मासे सब प्राण यथास्थानमें स्थिर होजाते हैं, प्राणोंमे सूर्य आदि देव तथा देवोंसे पृथिवी आदि लोक स्थिर होते हैं ( कौ० ३ । ३ )"

( २ )—"उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुवा ( तै० २ । १ )"

( ३ )—"आत्मासे ही ये सब उत्पन्न हुवे ( छा० ७ । २६ । १ )"

( ४ )—"आत्मासे यह प्राण उत्पन्न होता है ( प्र० ३ । ३ )"

इसप्रकार सब वेदान्त आत्माको कारण दिखाते हैं, आत्मा शब्द चेतनवाचक है यह हमने कहा था। इस विषयमें अनेक प्रमाणरूप हेतु हैं कि वेदान्तवाक्योंका चेतनकारणत्व होना समान नियम है, जैसे नेत्र आदियोंका रूप आदि विषयोंमें समान गति-नियम होता है। इस कारण सर्वत्र समान नियम होनेसे सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है ॥ १० ॥

प्रश्नः—कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ?

प्रत्यु०—

## श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६ । ६ ) इति । तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणं, नाचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

## आनन्दमयाधिकरणम् । सू० १२--१६

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'श्रुतत्वाच्च' इत्येवमन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम् । गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणवादिन इति व्याख्यातम् अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति । उच्यते–द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम् । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' ( बृह० ४ । ५ । १५ )

---

प्रश्न—सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण कैसे है ?

प्रत्युत्तर—

## श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

स्वशब्दसे सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है इसप्रकार सुना जाता है—श्वेताश्वर उपनिषद्को मानने वालोंकी मन्त्रोपनिषद्में सर्वज्ञ ईश्वरको आरम्भ कर :—

"जो ब्रह्म इन्द्रियोंके अधिपति जीवात्माका भी स्वामी है वह सबका कारण है, इस ब्रह्मका कोई उत्पादक वा अधिपति–मालिक नहीं ( श्वेता० ६ । ६ )" ।

इत्यादि, इसकारण सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है, अचेतन प्रधान अथवा अन्य नहीं यह सिद्ध होगया ॥ ११ ॥

यह पांचवां ईक्षत्यधिकरण समाप्त होगया ।

## अथ आनन्दमयाधिकरणम् ।

"**जन्माद्यस्य यतः**" यहांसे आरम्भ कर "**श्रुतत्वाच्च**" यहांतकके सूत्रोंमें जो वेदान्त-वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे—सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण है—इसी अर्थको प्रतिपादन करते हैं, इसप्रकार न्यायपूर्वक बतला दिया, तथा समानगतिको निर्देश करनेसे सब वेदान्त चेतनकारणवादी हैं यह भी व्याख्यान कर दिया । इसलिये अब संदेह होता है कि परग्रन्थका उत्थान ( उठान ) क्या है ? इसकारण कहा जाता है—ब्रह्मके दो रूप प्रतीत होते हैं, नाम, रूप और विकार इन भेदरूप आश्रयोंसे युक्त एक, और दूसरा उससे विपरीत सब उपाधिरूप आश्रयोंसे रहित है, जैसे :—

( १ )—"जहां दोके तुल्य प्रतीत होने लगते हैं वहां अन्य अन्यको देखता है, जहां सब इसके आत्मा ही हैं वहां कौन किसको देखेगा ? ( बृ० ४ । ५ । १५ )"

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' ( छान्दो० ( ७।२४।१ ) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' ( तै० आ० ३ । १२ । ७ ) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' ( श्वे० ६ । १९ ) 'नेति नेति' ( बृ० २।३।६ ) इति 'अस्थूलमनणु' ( बृ० ३।८।८ ) 'न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' इति चैवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि। तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः। तत्र कानिचिद् ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित्क्रममुक्त्यर्थानि कानिचित्कर्मसमृद्ध्यर्थानि। तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः। एक एव तु परमात्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषैर्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः, 'यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' ( छा० ३ । १४ । १ ) इति च। स्मृतेश्च-'यं यं

( [illegible] ) [illegible] प्रपञ्च आत्मासे न देखता है, न सुनता है, और न जानता है वह भूमा—महान है और जहाँ आत्मासे अन्यको देखता, सुनता और जानता है वह अल्प-परिच्छिन्न है, जो महान है वही अमृत [illegible] ब्रह्म है और जो अल्प-परिच्छिन्न है वह मर्त्य मरणशील है ( छा० [illegible] )

( २ ) —"धीर परमेश्वर सब रूपोंको [illegible] नामोंको [illegible] ( तै० आ० [illegible] ७ )" ( [illegible] सगुण ब्रह्मको [illegible] )

( [illegible] ) [illegible] ब्रह्म [illegible] निष्क्रिय [illegible] पारमार्थिक रहित, निरवद्य [illegible] निरञ्जन [illegible] मोक्षका [illegible] इस प्रकार अग्नि [illegible] इसी प्रकार [illegible] दोषोंको नाशकर [illegible] ( श्वे० ६ । १९ )

( ५ ) [illegible] उपदेश 'नेति नेति' शब्दसे होता है क्योंकि इससे उत्तम और [illegible] अर्थात् [illegible] दृश्य पदार्थ ब्रह्म नहीं है, और सूक्ष्म अदृश्य पदार्थ भी ब्रह्म नहीं है ( बृ० २ । ३ । ६ )"

( ६ ) "वह ब्रह्म स्थूल नहीं है, तथा छोटा भी नहीं।" ( बृ० ३ । ८ । ८ )

( ७ ) [illegible] होनेसे सब पदार्थ न्यून है इससे अन्य ब्रह्म व्यापक होनेसे पूर्ण है।"

( ये श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्मको बताती हैं )

इत्यादि [illegible] विद्या [illegible] विषयभेदसे ब्रह्मके दो रूपोंको दिखाते हैं। ब्रह्मकी अविद्यावस्थामें [illegible] तथा उपासक आदि लक्षणयुक्त सब व्यवहार होते हैं। ऐसी स्थितिमें कोई उपासनायें अभ्युदय लौकिक [illegible] निमित्त होती हैं, कोई क्रममुक्त्यर्थ हैं, और कोई कर्मसमृद्धि [illegible] निमित्त हैं, गुणविशेषोंके आश्रयभेदसे उन उपासनाओंका भेद होता है। [illegible] आत्मा ईश्वर तो एक ही है, उन २ गुणविशेषोंसे युक्त होकर यद्यपि वह उपास्य होता है, तथापि उपासनाओंके गुणके अनुसार ही फल भिन्न २ होते हैं, क्योंकि :—

( १ ) "उस परमात्माकी जिस २ प्रकारसे उपासना करते हैं वैसा २ ही फल होता है।" तथा :—

( २ ) "इस लोकमें पुरुष जिसप्रकार संकल्प करता है वैसा ही यहांसे शरीरत्याग करनेपर होता है ( छा० ३ । १४ । १ )" ये श्रुतियोंके प्रमाण हैं, तथा स्मृति भी :—

वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥' ( गी० ८ । ६ ) इति । यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढस्तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते—'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' ( ऐ० आ० २ । ३ । २ । १ ) इत्यत्र । स्मृतावपि—'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥' ( गी० १० । ४१ ) इति । यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोद्यते । एवमिहाप्यादित्यमण्डले हिरण्मयः पुरुषः सर्वपाप्मोदयलिङ्गात्पर एवेति वक्ष्यति । एवं 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' ( ब्र० १ । १ । २२ ) इत्यादिषु द्रष्टव्यम् । एवं सद्यो मुक्तिकारणमप्यात्मज्ञानमुपाधिविशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविवक्षितोपाधिसंबन्धविशेषं परापरविषयत्वेन संदिह्यमानं वाक्यगतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति । यथेहैव तावत् 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति । एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते । यच्च 'गतिसामान्यात्' इत्यचेतनकारणनिराकरणमुक्तं तदपि वाक्यान्तराणि ब्रह्मविषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतकारणनिषेधेन प्रपञ्च्यते—

"मनुष्य जिस २ भावको स्मरण करके शरीरको त्यागता है, हे कौन्तेय ! उसी २ भावसे युक्त होकर उसी २ को प्राप्त हो जाता है ( गी० ८ । ६ )"

इत्यादि, यद्यपि एक ही आत्मा स्थावर जङ्गम सब भूतोंमें छिपा हुआ रहता है, तथापि चित्ताश्रयविशेषके सिलसिलेसे एकरूपवाले कूटस्थनित्य आत्माके भी ऐश्वर्यशक्तिविशेषोंसे आविष्कार किये हुवोंके उत्तरोत्तर सिलसिले सुने जाते हैं :—

"जो उसके आत्माको अधिक आविर्भूत-प्रकट जानता है।" (ऐ० आ० २ । ३ । २ । १)
—जैसे कि इस श्रुतिमें, तथा स्मृतिमें भी :—

"जो २ पदार्थ ऐश्वर्ययुक्त, शक्तियुक्त तथा शोभायुक्त है, हे अर्जुन ! वे सब पदार्थ मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुवे हैं ( गीता० अ० १० । ४१ )"

इत्यादि, जहां २ विभूत्यादि अतिशय है वह २ ईश्वर है, इसप्रकार उपासनीयरूपसे कहा जाता है । इसप्रकार यहां भी सूर्यमण्डलमें जो हिरण्मय-ज्योतियुक्त पुरुष है वह सब पापोदयके चिन्हसे परे है इसप्रकार आगे कहेंगे, एवं "**आकाशस्तल्लिङ्गात्** ( ब्र० सू० अ० १ । १ । २२ )" इत्यादि सूत्रोंमें देख लेना चाहिये । एवं तत्काल मुक्तिके कारण होनेवाले भी, उपाधिरूप आश्रयविशेष द्वारा उपदेश किये जानेवाले भी, तथा उपाधिरूप आश्रयके सम्बन्धविशेषसे न कहे जानेवाले, पर-ब्रह्म अपर-ब्रह्मविषय-रूपसे संदेह होनेवाले भी आत्मज्ञानके वाक्योंकी गतिकी परीक्षासे निर्णय कर लेना चाहिये । जैसे कि यहीं "**आनन्दमयोऽभ्यासात्** ( ब्र० १ । १ । १२ )" इस सूत्रमें, एवं एक भी उपाधिसंयुक्त और उपाधि सम्बन्धरहित ब्रह्म उपासनीयरूपसे और ज्ञेयरूपसे वेदान्तोंमें उपदेश किया जाता है, इस विषयको दिखानेके लिये आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । और जो "**गतिसामान्यात्** ( ब्र० १ । १ । १० )" इत्यादि सूत्रोंसे अचेतन कारणवादको निराकरण-खण्डन करना कहा था उसे भी ब्रह्मविषयक वाक्योंको व्याख्यान करनेवाले ब्रह्मसे विपरीतकारणको निषेध करने रूपसे विस्तार करेंगे ।

**( अब भाष्यकार प्रथम एकदेशी आचार्यके सिद्धान्तको इस आनन्दमयाधिकरणके "आनन्दमयोऽभ्यासात् ( ब्र० १ । १ । १२ )" सूत्रसे लेकर "अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ( ब्र० १ । १ । १९ )" इस सूत्र तक विस्तृतरूपसे दिखाते हैं ) ।**

तैत्तिरीयकेऽन्नमयं, प्राणमयं, मनोमयं, विज्ञानमयं, चानुक्रम्याम्नायते—'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' ( तै० २ । ५ ) इति । तत्र संशयः—किमिहानन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते यत्प्रकृतम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ( तै० २ । १ ) इति, किंवाऽन्नमयादिवद् ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति ।

प्र०—किं तावत्प्राप्तम् ?

उ०—ब्रह्मणोऽर्थान्तरममुख्य आत्मानन्दमयः स्यात् ।

प्र०—कस्मात् ?

उ०—अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वात् ।

प्र०—अथापि स्यात्सर्वान्तरत्वादानन्दमयो मुख्य एवात्मेति ।

उ०—न स्यात्प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्रवणाच्च । मुख्यश्चेदात्मानन्दमयः स्यान्न प्रियादिसंस्पर्शः स्यात् । इह तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रूयते । शारीरत्वं च श्रूयते—'तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य' इति । तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शारीर आत्मा य एष आनन्दमय इत्यर्थः । नच सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियसंस्पर्शो वारयितुं शक्यः । तस्मात्संसार्येवानन्दमय आत्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते—

तैत्तिरीय उपनिषद्में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमयका आरम्भ करके यह पढ़ा जाता है कि :—

"उस पूर्वोक्त विज्ञानमय शब्दसे कहे जानेवाले आत्मासे आनन्दमय आत्मा भिन्न है ( तै० २ । ५ )" इत्यादि । यहां संशय होता है कि—क्या आनन्दमय शब्दसे पर ही ब्रह्म कहा गया है जो—

"वह ब्रह्म सत्य अविनाशी ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त है ।" ( तै० २ । १ )

—इस श्रुतिमें कहा गया है ? अथवा अन्नमय आदिके तुल्य ब्रह्मसे अतिरिक्तका ग्रहण है ?

( प्रश्न )—तो यहां क्या प्राप्त होता है ?

( उत्तर )—ब्रह्मसे अन्य अमुख्य आत्मा आनन्दमय होगा ।

( प्रश्न )—कैसे ?

( उत्तर )—क्योंकि आनन्दमय शब्द अन्नमय आदि अमुख्य आत्माके प्रवाहमें आया हुवा है ।

( प्रश्न )—अथवा सब मयके भी व्यापक होनेसे मुख्य आत्मा ही यहां आनन्दमय होगा ?

( उत्तर )—नहीं होगा, क्योंकि यहां प्रिय आदि अवयवका संयोग शारीर-शरीरमें रहनेवाले जीवात्माका सुना जाता है, यदि मुख्य ही आत्मा आनन्दमय है तो प्रिय आदिका स्पर्श उसको न होता, यहां तो "उसका शिर ही प्रिय है" इत्यादि सुना जाता है, तथा शारीर-जीवात्माका होना भी सुना जाता है :—

"उस पूर्वकथित विज्ञानमयका ही यह शारीर आत्मा है ।" ( तै० २ । ३,४,५ )

अर्थात् पूर्वोक्त उस विज्ञानमयका ही यह शारीर-शरीरसम्बन्धी आत्मा है जो यह आनन्दमय है । शरीरसंयोग होनेवाले पुरुषके प्रिय और अप्रियोंका स्पर्श हटाया नहीं जासकता है, इस कारण यहां संसारी जीवात्मा ही आनन्दमय है ।

( अब एकदेशी आचार्य इस पूर्वपक्षको खण्डन करते हैं )

( उत्तर )—इसप्रकार प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है :—

## आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

उ०—पर एवात्माऽऽनन्दमयो भवितुमर्हति । कुतः । अभ्यासात् । परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते । आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै सः' इति तस्यैव रसत्वमुक्त्वोच्यते—रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति, 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति' (तै० २ । ७) 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति,' 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति,' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तै० २ । ८, ६) इति । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० ३ । ६) इति च । श्रुत्यन्तरे च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३ । ६ । २८) इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्टः । एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते ।

यत्तूक्तमन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याप्यमुख्यत्वमिति, नासौ दोषः । सर्वान्तरत्वात् । मुख्यमेव ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरत्, अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽ-

## आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

पर आत्मा परमेश्वर ही आनन्दमय हो सकता है।

प्र०—कैसे ?

उत्तर—बार २ अभ्यास किये जानेसे. पर आत्मामें ही आनन्द शब्द बहुधा अभ्यास किया जाता है, आनन्दमयकी स्तुतिकर—"वह रस है" इस उसीको रस कहकर कहा जाता है :—

( १ ) "वह रसको ही पाकर आनन्दी होता है इत्यादि ( तै० २ । ७ )"

( २ ) "कौन चेष्टा करता और कौन जीवित रहता यदि यह आनन्दस्वरूप प्रकाशमान परमेश्वर न होता ! यही सबको आनन्दित करता है ( तै० २ । ७ )"

( ३ ) "सो यह आनन्दकी विवेचना है।"

( ४ ) "इस आनन्दमय आत्माको त्याग देते हैं, अर्थात् मुक्तिकी अवस्थामें अन्नमयसे लेकर आनन्दमय तकके स्थूलशरीरसम्बन्धको योगी छोड देते हैं।

( ५ ) "विद्वान् पुरुष ब्रह्मके उस आनन्दस्वरूपको पाकर किसीसे भी डरते नहीं ( तै० २।८.६ )"

( ६ ) "आनन्दको ब्रह्म जानना चाहिये ( तैत्ति० ३ । ६ )"

तथा अन्य श्रुतियोमे भी :—

( ७ ) "वह ब्रह्म विशेषज्ञानयुक्त आनन्दस्वरूप है ( बृ० ३ । ६ । २८ )"

इसप्रकार ब्रह्ममें ही आनन्दशब्द देखा गया है, इसकारण आनन्दमय शब्द बहुधा ब्रह्ममें ही अभ्यास किये जानेसे आनन्दमय आत्मा ब्रह्म है यह प्रतीत होता है।

जो यह कहा था कि अन्नमयादि अमुख्य आत्माओंके प्रवाहमे आ गिरनेसे आनन्दमयपदवाच्य आत्मा भी अमुख्य ही है, सो यह दोष ठीक नहीं, क्योंकि आनन्दमय व्यापक होनेसे सर्वत्र ( अन्नमय आदिमें भी ) विद्यमान रहता है। शास्त्र मुख्य आत्माके ही बतानेकी इच्छासे लोकबुद्धिका अनुसरण करता हुवा, अत्यन्त मूर्खोंके मतमें आत्मरूपसे प्रसिद्ध अन्नमय अनात्मा शरीरको आत्मरूपसे निर्देशकर, [1]सांचामें ढालनेके लिये रखे

---

( १ )—मूषा—सांचाका नाम है, निषिक्तका अर्थ है—ढालनेके लिये सांचेमे रखा हुवा, द्रुत अर्थात् पिघला हुवा, जैसे सांचेमें ढालनेके लिये रखे हुवे गलित तांबेकी सब मूर्त्तियां एक दूसरेके समान सांचेके तुल्य ही प्रतीत होती हैं, एवं अन्नमय शरीरके समान प्राणमय है, प्राणमयके समान मनोमय है, मनोमयके समान विज्ञानमय है, तथा विज्ञानमयके समान आनन्दमय है।—अनुवादक।

न्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत्, प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरं मुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम् । यथारुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु यान्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारुन्धती भवति, एवमिहाप्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम् ।

यत्तु ब्रूषे, प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनानुपपन्ना मुख्यस्यात्मन इति, अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा न स्वाभाविकीत्यदोषः । शारीरत्वमप्यानन्दमयस्यान्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वात्, न पुनः साक्षादेव शारीरत्वं संसारिवत्, तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १२ ॥

हुवे गलित ताम्रादि प्रतिमा-मूर्तिके तुल्य उससे भिन्न उससे भिन्न इसप्रकार पूर्व २ के समान आगे २ के अनात्माको आत्मरूपसे ग्रहण कराता हुआ आसानीसे प्राप्त करानेकी अपेक्षासे ( विचारसे ) सर्वान्तर—सर्वव्यापक मुख्य आनन्दमय आत्माको उपदेश किया, इसप्रकारका कथन श्लिष्टतर अधिक सम्बन्धयुक्त-होता है । जिस प्रकार अरुन्धती ताराको दिखानेमें बहुतसी अमुख्य अरुन्धती ताराओंको दिखानेपर जो अन्तमें दिखाई जाती है वही मुख्य अरुन्धती होती है, इसप्रकार यहां भी आनन्दमयके सर्वान्तर होनेसे मुख्य आत्माका ग्रहण है ।

और जो यह तुम कहते हो कि—मुख्य आत्माका प्रिय आदि सिरकी कल्पना करना अयुक्त है, सो यह दोष अदोष है, कारण कि व्यतीत विज्ञानमय कोषके आश्रयसे उत्पन्न हुवे प्रिय सिर आदिकी कल्पनामात्र है स्वाभाविक नहीं । आनन्दमयका शारीरत्व-जीवात्मा होना भी अन्नमयादि शरीरकी परम्परासे दिखाया जाता है, संसारी जीवात्माके तुल्य साक्षात् ही शरीरधारी नहीं होता है, इसकारण पर आत्मा परमेश्वर ही आनन्दमय है ॥ १२ ॥

---

इस स्थानपर जार्ज थीबो इसप्रकार स्पष्ट करते हैं :—

"The shastra, wishing to convey information about the primary Self adapts itself to common notions, in so far as it at first refers to the body consisting of food, which, although not the Self, is very by the obtuse people identified with it ; it then proceeds from the body to another Self, which has the same shape with the proceding one, just as the statue possesses the form of the mould into which the molten brass had been poured ; then, again, to another one, always at first representing the Non-Self as the Self, for the purpose of easier comprehension, and it finally teaches that the innermost Self, which consists of bliss, is the real Self. Just as when, desirous of pointing out the star Arundhati to another man, at first points to several stars which are not Arundhati as being Arundhati, while only the star pointed out in the end is the real Arundhati, so here also the Self consisting of bliss is the real self on account of its being the innermost ( i.e the last )—( P. 66 ).

## विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

प्र०—अत्राह—आनन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति।

उ०—कस्मात्।

प्र०—विकारशब्दात्। प्रकृतिवचनादयमन्यः शब्दो विकारवचनः समधिगतः, आनन्दमय इति मयटो विकारार्थत्वात्। तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकारविषय एवानन्दमयशब्द इति चेत्।

उ०—न। प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा० ५।४।२१) इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते। यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यन्नप्रचुर उच्यते, एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमय उच्यते। आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्। तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट् ॥ १३ ॥

## विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

प्रश्न—यहां कहते हैं:—परमात्मा आनन्दमय नहीं होसकता है।

उत्तर—कैसे नहीं होसकता?

प्रश्न—विकारवाचकशब्द होनेसे, [1]प्रकृतिवचनसे यह और आनन्दमय शब्द विकारवाचक माना गया है, क्योंकि आनन्दमय शब्दमें 'मयट्' प्रत्ययका अर्थ विकार है इसकारण अन्नमयादि शब्दोंके समान आनन्दमय शब्द भी विकारविषयक ही है।

उत्तर—इसप्रकार मानो तो उचित नहीं है, क्योंकि अधिक अर्थमें भी 'मयट्' प्रत्ययका स्मरण किया जाता है:—"तत्प्रकृतवचने मयट् (अ० ५।४।२१)"

इस सूत्रसे प्रचुर-अधिक अर्थमें भी 'मयट्' स्मरण किया जाता है, जैसे—'यह यज्ञ अन्नमय है', ऐसा कहे जानेपर 'अधिक अन्नयुक्त यज्ञ है' इस प्रकार कहा जाता है, वैसे ही अधिक आनन्दयुक्त ब्रह्म आनन्दमय कहा जाता है, ब्रह्मका आनन्दाधिक्य होना ऐसा है कि मनुष्यत्वसे लेकर उत्तरोत्तर स्थानमें सौ गुणा आनन्द होता है यह कहकर ब्रह्मानन्दको अतिशय निश्चय किया है, इसकारण अधिक अर्थमें 'मयट्' प्रत्यय होता है ॥ १३ ॥

---

(१)—प्रकृतिवचनसे—प्रकृतिमात्रसे अर्थात् द्रव्यवाचक शब्दमात्रसे मयट् प्रत्यय होता है, जैसे:—

"मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः (अ० ४।३।१४३)"

अर्थ:—प्रकृतिमात्रसे विकार और अवयव अर्थमें भक्षण और आच्छादन अर्थको छोड़कर विकल्पसे मयट् प्रत्यय होता है। अश्मका विकार वा अवयव अश्ममय वा आश्मन, पक्षमें अण् प्रत्यय होता है। यहां 'अश्ममय' शब्दमें द्रव्यवाचक प्रकृति शब्द अश्मन्-पत्थरवाचक है। 'आनन्दमय' शब्दमें आनन्द शब्द द्रव्यवाचक प्रकृति नहीं, किन्तु गुणवाचक है, इसकारण भाष्यकारने कहा कि आनन्दमय शब्द प्रकृतिवचनसे अन्य है अर्थात् गुणवाचक है, मयट् प्रत्यय विकारार्थक होनेसे गुणवाचक शब्दसे भी मयट् प्रत्यय होता है—**अनुवादक।**

(२)—प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनं प्रतिपादनम्, भावेऽधिकरणे वा ल्युट्—**लघुकौमुदीप्रणेता वरदराजः।**

प्रकृतका अर्थ है—अधिक अर्थसे प्रस्तुत किया हुवा, वचनका अर्थ-प्रतिपादन करना, 'वचन' शब्दमें भाव वा अधिकरणमें ल्युट् प्रत्यय हुआ है, उदाहरण—प्रकृतं अन्नं अन्नमयम्, अन्नमयो यज्ञः।

## तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट् । यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः—'एष ह्येवानन्दयाति' इति । आनन्दयतीत्यर्थः । यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति । यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत् । तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः संभवादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १४ ॥

## मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा । यस्मात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युपक्रम्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ( तै० २ । १ ) इत्यस्मिन्मन्त्रे यत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारितं, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं, सर्वान्तरं, यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्माऽन्योऽन्तर आत्मा' इति 'प्रक्रान्तं' तन्मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' ( तै० २ । ५ ) इति । मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तं 'अविरोधात् । अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम् । न चान्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्माभिधीयते । एतन्निष्ठैव च

## तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

यहांसे आगे भी अधिकार्थमें मयट् प्रत्यय होता है, जिसकारण श्रुति ब्रह्मको आनन्दका हेतु बनाती है :—

"यह ब्रह्म ही सबको आनन्दित करता है ( तै० २ । ७ )"

जो अन्योंको आनन्दित करता है वह अधिकानन्द है ऐसा प्रसिद्ध होता है, जैसे लोकमें जो दूसरोंको धनी कर देता है वह अधिक धनवान् प्रतीत होता है, उसप्रकार ( ब्रह्म भी अधिक आनन्दयुक्त है ), इसकारण अधिकार्थमें भी मयट् प्रत्यय सम्भव होनेसे आनन्दमय पर ही आत्मा है ॥ १४ ॥

## मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

यहांसे आगे भी पर ही आत्मा परमेश्वर आनन्दमय है. जिसकारण "ब्रह्मज्ञानी पुरुष पर–उत्कृष्ट सुख अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है" इसप्रकार आरम्भ करके :—

"ब्रह्म सत्य–अविनाशी, ज्ञानी तथा अनन्त है ( तै० २ । १ )"

इस ऋग्वेदके मन्त्रमें जो पूर्वप्रकृत सत्य–ज्ञान–अनन्त विशेषणोंसे युक्त ब्रह्म है उसको निश्चित किया है, जिस ब्रह्मसे आकाश आदि क्रमसे स्थावर और जङ्गम भूत उत्पन्न हुवे, जो भूतोंको उत्पन्नकर उन्हींमें प्रवेश कर हृदयरूप गुहामें स्थित रहता है, जो सर्वान्तर सर्वव्यापक है, और जिसके ज्ञानके लिये "उससे अन्य और भिन्न आत्मा है" इसप्रकार आरम्भ किया है, मन्त्रमें वर्णित ही वह ब्रह्म यहां ब्राह्मणग्रन्थमें गान किया जाता है :—

जीवसे अन्य तथा भिन्न आत्मा आनन्दमय है ( तै० २ । ५ )

मन्त्र और [1]ब्राह्मणग्रन्थोंकी एकार्थकता होना उचित है, क्योंकि इनमें विरोध नहीं होता है, अन्यथा ( यदि दोनोंकी एकार्थकता न होती तो ) पूर्वप्रकृतका त्याग और अप्रकृतका ग्रहण करना पड़ता, अन्नमय आदियोंके तुल्य आनन्दमयसे अन्य भिन्न आत्माका कथन नहीं किया गया है, तथा यह आत्मनिष्ठा ही—

( १ )—सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म यो वेद निहित गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥ ऋग्वेद.

यह ऋग्वेदका मन्त्र है, उपनिषद् प्रायः शतपथादि ब्राह्मणोंका एक भाग है, जैसे बृहदारण्यकोपनिषदके बहुतसे भाग शतपथ ब्राह्मणमें मिलते हैं, इसकारण भाष्यकारने तैत्तिरीयोपनिषद्को ब्राह्मणग्रन्थ लिखा है—अनुवादक ।

'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या' ( तै० ३ । ६ ) तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १५ ॥

## नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा । नेतरः । इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः । न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते ।

प्र०—कस्मात् ।

उ०—अनुपपत्तेः । आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—'सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदꣳसर्वमसृजत । यदिदं किंच' ( तै० २ । ६ ) इति । तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते ॥ १६ ॥

## भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

इतश्च नानन्दमयः संसारी । यस्मादानन्दमयाधिकारे—रसो वै सः । रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति' ( तै० २ । ७ ) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति । नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति ।

प्र०—कथं तर्हि 'आत्मान्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतिस्मृती,

---

"वह यह भार्गवी वारुणी विद्या है, अर्थात् वरुणने अपने पुत्र भृगुके लिये इस आत्मविद्याका उपदेश किया ( तै० ३ । ६ )"

## नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

यहांसे आगे भी पर ही आत्मा आनन्दमय है, इतर नहीं अर्थात् ईश्वरसे अन्य संसारी जीव इतर है । जीवात्मा आनन्दमय शब्दसे नहीं कहा जाता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—युक्तिरहित होनेसे, आनन्दमयको आरम्भ कर सुना जाता है :—

"उसने इच्छा की कि मैं बहुत प्रजायुक्त होजाऊँ अर्थात् मैं स्थावर जङ्गम भूतोंको उत्पन्न करूँ, उसने तप किया, तप करके उसने इन सब दृश्य पदार्थोंको उत्पन्न किया ( तै० २ । ६ )"

इत्यादि । इस मन्त्रमें शरीरादिकी उत्पत्तिसे पहिले ध्यान करना, बनाये जानेवाले विकारोंका स्रष्टा—बनानेवालेसे अभेद होना तथा सब विकारोंको सृष्टि होना ये सब परमात्मासे अन्यत्र जीवादिमें हो नहीं सकते ॥ १६ ॥

## भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

यहांसे आगे भी संसारी जीवात्मा आनन्दमय नहीं, जिसकारण आनन्दमयके अधिकारमें :—

"निश्चय ही वह परमात्मा रस—सारभूत पदार्थ है, उस रसको पाकर ही यह जीवात्मा आनन्दित होता है ( तै० २ । ७ )"

इस मन्त्रमें जीव और आनन्दमयका भेद बताया है, कारण कि प्राप्त करनेवाला ही प्राप्यवस्तु नहीं होता है ।

प्रश्न—कैसे तो :—

( १ ) 'आत्मा अन्वेषण-खोज करने योग्य है ।'

( २ ) 'आत्मलाभसे उत्कृष्ट अन्य लाभ नहीं है ।'

ये श्रुति और स्मृतिके ( लब्धृ-लब्धव्यभावयुक्त ) वचन सङ्गत होसकते हैं, जब कि प्राप्त

यावता न लब्धैव लब्धव्यां भवतीत्युक्तम् ।

उ०—बाढम् ; तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सतस्तत्त्वानवबोधनिमित्तो देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः । तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽप्यात्मानन्विष्टोऽन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्योऽविज्ञातो विज्ञातव्य इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते । प्रतिषिध्यत एव तु परमार्थतः सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' ( बृ० ३ । ७ । २३ ) इत्यादिना । परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः । यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः । यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः । ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य 'नेतरोऽनुपपत्तेः,' 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

## कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

आनन्दमयाधिकारे च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' ( तै० २ । ६ ) इति कामयितृत्वनिर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वापेक्षितव्यम् । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' ( ब्र० १ । १ । ५ ) इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात्पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय ॥ १८ ॥

करनेवाला प्राप्त नहीं हो सकता है यह आपने कहा था ?

उत्तर—हां ( यह लब्धृ-लब्धव्यभावयुक्त अभेद वचन ठीक है ), तथापि अप्रच्युतात्मक—अपरिणामी सत् आत्माका भी देहादि अनात्माओंमें यथार्थतत्त्वके अविवेकनिमित्तक-मिथ्या ही लौकिक आत्मत्व निश्चय देखा गया है. उस अविवेकनिमित्तसे शरीरादिभावको प्राप्त हुवे आत्माके अन्वेषण न किया हुवा आत्मा भी अन्वेषण करने योग्य है, प्राप्त न किया हुवा भी प्राप्त करने योग्य है, श्रवण न किया हुवा भी श्रवण करने योग्य है, मनन न किया हुवा भी मनन करने योग्य है और न जाना हुवा भी जानने योग्य है, इसप्रकार भेदका निर्देश होता है, किन्तु :—

"परमात्मासे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है ( बृ० ३ । ७ । २३ )"

इत्यादि वचनोंसे यथार्थतः सर्वज्ञ परमेश्वरसे अन्य द्रष्टा वा श्रोताका निषेध किया ही जाता है । परमेश्वर तो अविद्यासे कल्पना किये हुवे कर्त्ता भोक्ता जीवात्मासे अन्य है, जैसे—चर्म और खड्ग लिये हुवे, तागेसे आकाशमें चढते हुवे. छली बाजीगरसे अन्य वही वास्तविक मायावी बाजीगर जमीनपर स्थिर रहता है ( अर्थात् एक भी अभिन्नरूपसे अनेक प्रतीत होता है ), अथवा जैसे उपाधिपरिच्छिन्न घटाकाशसे उपाधिरहित आकाश अन्य होता है, वैसे ही जीवात्मा और परमात्माके भेदको आश्रयण करके **"नेतरोऽनुपपत्तेः, भेदव्यपदेशाच्च"** यह कह दिया है ॥ १७ ॥

## कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

आनन्दमयाधिकारमें :—

"उसने कामना की कि मैं अनेक प्रजायुक्त होजाऊँ ( तै० २ । ६ )"

इस मन्त्रमें कामना करनेवालेको निर्देश करनेसे अनुमानगम्य सांख्यकल्पित अचेतन प्रधान भी आनन्दमयरूपसे तथा जगत्के कारणरूपसे अपेक्षित नहीं है । **"ईक्षतेर्नाशब्दम् ( ब्र० १ । १ । ५ )"** इत्यादि सूत्रोंमें पूर्व खण्डन किया हुआ भी प्रधानवाद पूर्वसूत्रसे उद्धृत की हुई **'सोऽकामयत'** श्रुतिको आश्रयण कर प्रसङ्गवशसे गतिसामान्यको विस्तृत करनेके लिये खण्डन किया जाता है ॥ १८ ॥

## अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १६ ॥

इतश्च न प्रधाने जीवे वाऽऽनन्दमयशब्दः । यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य तद्योगं शास्ति । तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः । मुक्तिरित्यर्थः । तद्योगं शास्ति शास्त्रम्—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति' ( तै० २।७। ) इति । 'एतदुक्तं भवति—यदैतस्मिन्नानन्दमयेऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति तदा संसारभयान्न निवर्तते । यदा त्वेतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतितिष्ठति तदा संसारभयान्निवर्तत इति । तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा । तस्मादानन्दमयः परमात्मेति स्थितम् ।

प्रत्युत्तरम्—इदं त्विह वक्तव्यम्—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' । 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' तस्मात् 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' तस्मात् 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' ( तै० २।१, २, ३, ४, ) इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति ।

## अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १६ ॥

यहांसे आगे भी आनन्दमय शब्द प्रधान और जीवमें नहीं है, जिसकारण इस प्रकृत आनन्दमय आत्मामे ज्ञानको प्राप्त हुए जीवके योगका शासन करता है । उस परमात्मामें जीवात्माका योग होना तद्योग है, ब्रह्मत्वको प्राप्त होना है अर्थात् मोक्ष होजाना है, शास्त्र उस परमात्मामें जीवात्माके योग्य-सम्बन्धका निर्देश करता है :—

"जब ही यह जीवात्मा इस अदृश्य, शरीरसम्बन्धी लिङ्गशरीररहित, शब्दोंसे न कहे जानेवाले, निराधार ब्रह्ममें निर्भयताके साथ स्थितिको प्राप्त कर लेता है तब यह भयरहित होजाता है, और जब यह जीवात्मा स्वल्प भी भेदभाव करता है तब उसको भय होता है" ( तै० २ । ७ )"

इत्यादि, अभिप्राय यह है कि—जब यह जीवात्मा इस आनन्दमय परमात्मामें थोड़ा असमानात्मक भेदभावको देखता है तब संसारभयसे निवृत्त नहीं होता है, किन्तु जब इस आनन्दमय परमात्मामें निरन्तर अभेदरूपसे स्थित रहता है, तब सांसारिक भयसे निवृत्त होजाता है, यह तो परमात्माके ग्रहण करनेमें घट सकता है, प्रधानके ग्रहण करनेमें अथवा जीवके ग्रहण करनेमें घट नहीं सकता, इसकारण आनन्दमय परमात्मा है यह स्थिर होगया ।

( यहांतक एकदेशी आचार्यका प्रश्नोत्तररूप सिद्धान्त है, अब भाष्यकार इस सिद्धान्तको खण्डन करते है ) ।

प्रत्युत्तर—यह तो यहां कहना चाहिये कि :—

"वह आत्मा अन्नरसमय है ।"

उस इस अन्नरसमय आत्मासे प्राणमय आत्मा अन्य-भिन्न है, उससे अन्य-भिन्न आत्मा मनोमय है, उससे अन्य-भिन्न आत्मा विज्ञानमय है ( तै० २ । १-४ )

इसप्रकार विकारार्थक मयट्प्रत्ययके प्रवाह होनेपर आनन्दमयमें ही अकस्मात् [1] अर्द्धजरतीयन्यायसे कैसे मयट् प्रत्ययका अविकारार्थक और ब्रह्मविषयक होना आश्रयण किया जाता है ?

( १ )—यहां दूसरोंकी व्याख्यामें विकारार्थक मयट् प्रत्यय बुद्धिस्थ होनेपर अकस्मात् बिना कारण एक प्रकरणमें स्थित मयट् प्रत्ययका पहिले विकारार्थक होना, और अन्तमें ( आनन्दमयमें ) प्राचुर्यार्थक होना अर्धजरतीय है, सो यह अर्धजरतीय न्याय किसके समान किस दृष्टान्तमें आश्रयण किया जाता है यह कहना चाहिये यह अन्वय है—रत्नप्रभाव्याख्या ।

**प्रश्न :—मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत् ।**

**प्रत्युत्तरम्—न । अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः ।**

**प्रश्न :—अत्राह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वं, तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वात् आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्य आन्तर आत्मोच्यते, तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति ।**

**प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं, यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते—'तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ( तै० २ । ५ ) इति । तत्र यद्ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तदिह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते । तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्च कोशाः कल्प्यन्ते । तत्र कुतः प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गः ।**

**प्रश्न :—नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते, अन्नमयादीनामिव 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि । तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम् ।**

**प्रत्युत्तरम्—प्रकृतत्वादिति ब्रूमः ।**

---

प्रश्न—मन्त्रमें वर्णन किये हुये ब्रह्मका अधिकार होनेसे ( हम इसप्रकार आश्रयण करते हैं )

प्रत्युत्तर—ऐसा मानो तो ठीक नहीं, क्योंकि ( यदि मन्त्रवर्णित ब्रह्मके अधिकार होनेसे मयट्प्रत्ययका अधिकार्थक और ब्रह्मविषयक होना आश्रयण किया जाय तो ) अन्नमय आदियोंका भी तो ब्रह्मत्व प्रसङ्ग हो जावेगा ( अर्थात् अन्नमय आदि सब ब्रह्मविषयक होजावेंगे )

प्रश्न—यहां कहते हैं कि—अन्नमय आदि ब्रह्मविषयक नहीं यह युक्त ही है, क्योंकि उस २ से भिन्न २ अन्य आत्मा कहा गया है, किन्तु आनन्दमयसे अन्य भिन्न आत्मा तो नहीं कहा जाता है, इसकारण आनन्दमय ब्रह्मविषयक है, अन्यथा ( यदि आनन्दमय ब्रह्मविषयक न माना जाय तो ) प्रकृत आनन्दमय का त्याग और अप्रकृत अन्यके ग्रहणका प्रसङ्ग होजावेगा ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—यद्यपि जैसे अन्नमय आदियोंसे अन्य भिन्न आत्मा सुना जाता है वैसे आनन्दमय से अन्य भिन्न आत्मा नहीं सुना जाता है, तथापि आनन्दमय ब्रह्मविषयक नहीं, क्योंकि आनन्दमयको आरम्भकर सुना जाता है :—

"उस आनन्दमयका सिर ही प्रिय है अर्थात् मुख्य अङ्ग है, हर्ष दक्षिण भाग है, अधिकतर हर्ष उत्तर भाग है, आनन्द आत्मा मध्यभाग है उस आनन्दमय आत्माका पुच्छ स्थितिका हेतु आधार तथा प्रतिष्ठाका आश्रय नितम्बभाग है ( तै० २ । ५ )"

इत्यादि, जो ब्रह्म **"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म"** इस मन्त्रमें कहा गया था, वह यहां **"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"** इस मन्त्रमें कहा जाता है, उस प्रकृत ब्रह्मको बतानेकी इच्छासे ही अन्नमयसे लेकर आनन्दमय तक पांच कोषोंकी कल्पना की जाती है, फिर कैसे प्रकृतका त्याग और अप्रकृतका त्याग और अप्रकृतके ग्रहणका प्रसङ्ग होजावेगा ?

प्रश्न—आनन्दमयके अवयवरूपसे **"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"** यह कहा जाता है, जैसे अन्नमय आदियोंका **"इदं पुच्छं प्रतिष्ठा"** ऐसा कहा गया था, फिर कैसे मन्त्रमें ब्रह्मका अपना प्रधान-मुख्य होना जाना जा सकता है ?

प्रत्युत्तर—ब्रह्म पूर्वप्रकृत होनेसे ( मन्त्रमें अपना प्रधान-मुख्य होना जाना जा सकता है )

प्रश्न :—नन्वानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति ।

प्रत्यु०—अत्रोच्यते—तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्मावयवी, तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात् । अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुं, ब्रह्मशब्दसंयोगात् । नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति । अपिच 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वेदमुच्यते—'तदप्येष श्लोको भवति । असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति' ( तै० २ । ६ ) अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं, ब्रह्मण एव भावाभावयोर्गुणदोषाभिधानाद्गम्यते 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति । न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता, प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् ।

प्र०—कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म, आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति ।

प्रत्यु०—नैष दोषः । पुच्छवत्पुच्छं, प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वं, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामु-

प्रश्न—आनन्दमयके अवयवरूपसे भी जान लिये जानेपर प्रकृतका त्याग नहीं होता है, क्योंकि आनन्दमय ब्रह्म है ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—ऐसी स्थितिमें ( अर्थात् आनन्दमयके अवयवरूपसे ब्रह्म जान लिये जानेपर ) वही ब्रह्म आनन्दमय आत्मा अवयवी अवयववाला अंगी है, और वही ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठारूप अवयव—अङ्ग है यह युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता है ( अर्थात् कैसे वही अवयवी अवयव होसकता है और वही अवयव अवयवी होसकेगा ? न देवदत्त हाथ होसकता है और न हाथ देवदत्त ), अन्यके ग्रहण करनेपर तो "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" यहींपर ब्रह्मनिर्देशको आश्रयण करना उचित है, क्योंकि यहां इस मन्त्रमें ब्रह्मशब्दका संयोग है, आनन्दमयवाक्यमें ब्रह्मनिर्देशका आश्रयण करना ठीक नहीं, क्योंकि ( आनन्दमयवाक्यमें ) ब्रह्मशब्दका संयोग नहीं है ।

और दूसरी बात यह भी है कि "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" ऐसा कह कर यह कहा जाता है:—

"यह भी एक श्लोक है—यदि कोई पुरुष ब्रह्म नहीं है इस प्रकार जानता है वह मनुष्य असत्-अश्रेष्ठ निकृष्ट होता है, अथवा उसका संसारमें विद्यमान होना न होनेके समान है, और जो पुरुष ब्रह्म है ऐसा जानता है उस ब्रह्मज्ञानी पुरुषको श्रेष्ठ जानकर 'सन्त' शब्दसे सब लोग पुकारते हैं ( तै० २ । ६ )"

इस श्लोकमें आनन्दमयको अनुकर्षण ( ग्रहण ) न कर ब्रह्मके ही भाव-अभाव ज्ञानके गुण तथा दोषके कहे जानेसे प्रतीत होता है कि "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस मन्त्रमें ब्रह्मका ही अपना मुख्य वर्णन है । आनन्दमय आत्माके होने और न होनेकी शङ्का होनी उचित नहीं, क्योंकि आनन्दमय आत्माका प्रिय तथा हर्ष आदि-विशेषोंसे युक्त होना सब लोकमें प्रसिद्ध है ।

प्रश्न—कैसे फिर अपना मुख्य वर्णनवाले सत् ब्रह्म आनन्दमयके अवयव-अङ्गरूपसे "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इसप्रकार निर्देश किया जाता है ?

प्रत्युत्तर—यह दोष नहीं, मन्त्रका अर्थ—पुच्छके समान पुच्छ है, ( जैसे पशुओंकी पूँछ स्थितिका हेतु होती है एवं ) लौकिक आनन्दसमुदायका ब्रह्मानन्द प्रतिष्ठा स्थितिका हेतु है, परायण एकनीड-उत्कृष्ट एक आधारस्थान है, इस वर्णनसे विवक्षा की जाती है, ब्रह्मके अवयवकी विवक्षा नहीं, तथा :—

पजीवन्ति' ( बृह० ४ । ३ । ३२ ) इति श्रुत्यन्तरात् । अपिच आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम् । निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते, वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्—'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति' ( तै० २ । ९ ) । अपिच आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात् । तथाच सति, 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' ( छा० ७ । २४ । १ ) इति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत । प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्यापि भिन्नत्वम् । ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ( तैत्ति० २ । १ ) इत्यानन्त्यश्रुतेः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' ( श्वे० ६ । ११ ) इति च श्रुत्यन्तरात् । नचानन्दमयस्याभ्यासः श्रूयते । प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि

"इसी आनन्द परमेश्वरकी आनन्दमात्राका अन्य प्राणी भोग करते हैं ( बृ० ४ । ३ । ३२ )" इसप्रकार अन्य श्रुतिसे ( ब्रह्मको जीवनका आधार बताया है )

और दूसरी बात यह भी है कि आनन्दमयके ब्रह्म होनेपर प्रिय आदि अवयवयुक्त होनेसे सविशेष ब्रह्मको स्वीकार करना पड़ेगा, वहां तो वाक्यशेषमें निर्विशेष विशेषतासेरहित सुना जाता है, क्योंकि ब्रह्मको वाणी और मनका अगोचर अविषय कहा है, जैसे :-

'जहांसे वाणी मनके साथ ब्रह्मको प्राप्त न होकर लौट जाती है, ऐसे ब्रह्मके आनन्दस्वरूपको जानकर विद्वान् पुरुष कहीं किसीसे डरता नहीं ( तै० २ । ९ )'

इत्यादि, तथा दूसरी बात यह भी है कि आनन्दातिशय कहनेपर दुःखका अस्तित्व भी प्रतीत होता है, क्योंकि लोकमें अधिक शब्द विरोधीके न्यूनत्वकी अपेक्षा करता है ऐसी अवस्थामें ( अर्थात् आनन्दमयका अर्थ आनन्दातिशय माने जानेपर ) —

"जहां किसीको देखता है न सुनता है और न किसीको जानता है वह भूमा-महान् है ( छा० ७ । २४ । १ )

इसप्रकार भूमा ब्रह्ममें ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुको अभाव बतानेवाली श्रुतिका विरोध होता, तथा प्रत्येक शरीरमें प्रिय सिर आदि अवयवके भेदसे आनन्दमय भी भिन्न २ होजाता है, ब्रह्म तो प्रत्येक शरीरमें भिन्न २ नहीं होता है, क्योंकि :—

( अ ) "वह ब्रह्म, सत्य–अविनाशी, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है ( तै० २ । १ )"

इस श्रुतिमें ब्रह्मको अनन्त कहा है तथा :—

( आ ) "वह एक देव परमात्मा सब भूतोंमें छिपा हुवा है, सर्वव्यापक है, तथा सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है ( श्वे० ६ । ११ )"

इसप्रकार अन्य श्रुतिमें भी कहा है। तथा आनन्दमयका अभ्यास—बार २ पढा जाना भी नहीं सुना जाता है, [२]प्रातिपदिकार्थमात्र ही बहुधा पढा जाता है :—

---

( १ )—जैसे 'यह अधिक सुखी है' इसप्रकार कहनेपर कुछ दुःखलेशका होना भी सिद्ध होता है—अनु० ।

( २ )—प्रातिपदिक शब्द संस्कृत व्याकरणका पारिभाषिक ( Technical ) शब्द है। महर्षि पाणिनिजी ने प्रातिपदिकका लक्षण पाणिनीय अष्टाध्यायीमें निम्नलिखित दो सूत्रोंसे इसप्रकार किया है :—

( १ ) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ( अ० १ । २ । ४५ )

( २ ) कृत्तद्धितसमासाश्च ( अ० १ । २ । ४६ )

**सर्वत्राभ्यस्यते—'रसो वै सः, रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'। 'सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति'। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २।७।८।६) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ६।६) इति च। यदि च आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत। न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम। तस्मा-**

(अ) "निश्चय ही वह ब्रह्म रस है, उसे रसको ही पाकर जीवात्मा आनन्दित होता है। कौन चेष्टा करते और कौन जीवित रहते यदि वह आनन्दस्वरूप प्रकाशमान परमेश्वर न होता ?, सो यह आनन्दकी विवेचना है। विद्वान् पुरुष उस आनन्दस्वरूपको पाकर किसीसे भी डरते नहीं।" (तै० २।७-६)"

(आ) ब्रह्मको आनन्द जानना चाहिये (तै० ३।६)

इत्यादि, यदि आनन्दमय शब्द ब्रह्मविषयक निश्चित होता तो आगेके आनन्दमात्र प्रयोगवालोंमें आनन्दमयके बहुधा पाठकी कल्पना करनी पड़ती, आनन्दमय तो ब्रह्म नहीं है, क्योंकि आनन्दमयके प्रिय सिर आदि अवयव होते हैं (ब्रह्मके अवयव नहीं होते हैं), इत्यादि अनेक हेतुओंसे (ब्रह्म आनन्दमय सिद्ध नहीं होता है) यह हमने कहा था, इसकारण अन्य श्रुतिमें :—

---

अर्थ :—जो शब्द 'भू-सत्तायाम्, एध-वृद्धौ' इत्यादि धातु न हो, जो अण् घञ् आदि प्रत्यय न हो, तथा जिस शब्दके अन्तमें प्रत्यय मिला न हो, तथा जो अर्थवाला सार्थक शब्द हो वह प्रातिपदिक कहा जाता है, जैसे :—धन, वन, फल आदि शब्द हैं, ये शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक होते हैं, ये शब्द किसी प्रकृति-प्रत्यय (Original word with suffixes) से बने हुये नहीं होते हैं, पहिलेसे ही स्वतःसिद्ध होते हैं, ये धन आदि शब्द धातु नहीं, प्रत्यय भी नहीं तथा प्रत्यय अन्तवाले भी नहीं, किन्तु इन शब्दोंका कोई अर्थ अवश्य है; इसलिये इन शब्दोंकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है, ऐसा कोई आचार्य मानते हैं। किन्तु निरुक्तकार महर्षि यास्क आदि तथा अन्य आचार्य सब ही शब्द धातुज मानते हैं अर्थात् धातुओंसे बनाये जाते हैं, इसकारण सब शब्द व्युत्पन्न हैं यह दूसरा पक्ष है।

प्रथम अव्युत्पन्न पक्षमें धन वनादि शब्दोंकी तो प्रातिपदिक संज्ञा होजाती है, किन्तु 'वेदः, रामः' आदि शब्दोंमें कृदन्त घञ् आदि प्रत्यय स्पष्ट प्रतीत होते हैं, इन प्रत्ययान्त अर्थवान् शब्दोंकी प्रातिपदिक संज्ञा पूर्व सूत्रसे प्राप्त नहीं होती थी इसकारण महर्षि पाणिनीजी दूसरा सूत्र बनाते हैं—"**कृत्तद्धितसमासाश्च**।"

घञ् अच् आदि कृत्प्रत्ययान्त, अण् ठक् आदि तद्धितप्रत्ययान्त तथा समास (Compound word) इन शब्दोंकी भी प्रातिपदिक संज्ञा होजाती है।

प्रातिपदिकका संक्षिप्त अर्थ है—"**नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः**" अर्थात् जिस शब्दके उच्चारण करनेपर उसका नियत अर्थ उपस्थित होजाय, यह प्रातिपदिकका अर्थ है।

**प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा** (अ० २।३।४६)

प्रातिपदिकार्थमात्रमें, लिङ्गमात्रमें, परिमाणमात्रमें तथा वचनमात्रमें प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे प्रातिपदिकार्थमात्रमें—उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्। लिङ्गमात्रमें—तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्रमें द्रोणो व्रीहिः, द्रोण परिमाणवाचक है। वचनमात्रमें अर्थात् संख्यामात्रमें—एकः द्वौ बहवः। इन सब शब्दोंमें प्रथमा विभक्ति है।

इसकारण भाष्यकार कहते हैं कि 'आनन्द' शब्द घञन्त प्रातिपदिक है, उपर्युक्त सब श्रुतियोंमें प्रातिपदिकार्थमात्रमें प्रथमा विभक्तियुक्त आनन्द शब्द कहा गया है—**अनुवादक**।

श्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ( बृ० ३ । ६ । २८ ) इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात् । 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम् । यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः —'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' ( तै० २ । ८ ) इति, न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति, विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पठितत्वात् ।

प्रश्न :—नन्वानन्दमयस्योपसंक्रमितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिफलं निर्दिष्टं भवेत् ।

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः । आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात् । 'तदप्येष श्लोको भवति । यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना च प्रपञ्च्यमानत्वात् । या त्वानन्दमयसंनिधाने 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' इयं श्रुतिरुदाहृता सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यनेन संनिहिततरेण ब्रह्मणा संबध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति । तदपेक्षत्वाच्चोत्तरस्य ग्रन्थस्य 'रसो वै सः' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता ।

प्रश्न :—ननु 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते ।

"ब्रह्म विज्ञान तथा आनन्द है ( बृ० ३ । ९ । २८ )" इसप्रकार आनन्द प्रातिपदिकका ब्रह्ममें प्रयोग देखा गया है ।

"यदि यह आकाश आनन्द न होता ( तै० २ । ७ )"

इत्यादि ब्रह्मविषयक ( आनन्दशब्दका ) प्रयोग है आनन्दमयका तो बहुधा पाठ नहीं है यह जान लेना चाहिये ।

और जो यह मयट्प्रत्ययान्तवाले आनन्दमयका ही अनेकबार पाठ मिलता है :—

"इस आनन्दमय आत्माको त्याग देते हैं, अर्थात् योगी लोग मुक्तिकी अवस्थामें अन्नमयसे लेकर आनन्दमयतकके स्थूलशरीरके सम्बन्धको त्याग देते हैं ( तै० २ । ८ )"

सो वह आनन्दमय ब्रह्मविषयक नहीं, क्योंकि यह आनन्दमय शब्द त्यागने योग्य विकारात्मक अनात्मा अन्नमयादियोंके प्रवाहमें पढ़ा गया है ।

प्रश्न—त्यागने योग्य आनन्दमय अन्नमयादिके समान ब्रह्मविषयक न होनेपर विद्वान्को ब्रह्मप्राप्तिका फल निर्देश न किया जाता ?

प्रत्युत्तर—यह दोष अदोष है, क्योंकि आनन्दमयको त्याग करनेके निर्देशसे ही आधार और स्थितिका हेतुरूप ब्रह्मप्राप्तिके फलको दिखाया है, तथा :—

"वह भी एक श्लोक है, जहाँ वाणी लौट जाती है अर्थात् वाणी ब्रह्मतक नहीं पहुँच सकती है ( तै० २ । ९ )"

इत्यादिसे ब्रह्मप्राप्तिका फल विस्तृत किया जाता है । और जो आनन्दमयके समीपमें उसने इच्छा की कि मैं बहुत प्रजायुक्त होजाऊँ" इस श्रुतिको उद्धृत किया था, वह **"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"** इस श्रुतिविहित समीपतर ब्रह्मसे सम्बद्ध होती हुई आनन्दमयको ब्रह्मविषयक होना बताती नहीं, उस समीपतर ब्रह्मकी अपेक्षा करनेवाले होनेसे **"रसो वै सः"** इत्यादि उत्तर—आगेका ग्रन्थ आनन्दमयविषयक नहीं ।

प्रश्न—"सः-उसने, अकामयत-कामना की" इस श्रुतिमें 'सः' यह पुल्लिङ्गका निर्देश नपुंसक लिङ्गवाले ब्रह्ममें बनता नहीं ?

प्रत्युत्तरम्—नायं दोषः । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्र पुंलिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात । या तु भार्गवी वारुणी विद्या 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति तस्यां मयडश्रवणात् , प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वम् । तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते । नचेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं, वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः । तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयडविज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः । सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि—

'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र किमानन्दमयावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यत उत स्वप्रधानत्वेनेति । पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्त उच्यते ।

प्रत्युत्तर—यह दोष उचित नहीं, क्योंकि:—

"उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुवा ।"

इस श्रुतिमें पुल्लिङ्गवाले आत्मा शब्दसे भी ब्रह्मको निर्देश किया है। और वरुणद्वारा भृगुकी कही हुई भार्गवी वारुणी विद्या है :—

"आनन्द ब्रह्म है ऐसा जानना चाहिये ( तै० ३ । ६ )"

उस श्रुतिमें 'आनन्द' केवल है, मयट् प्रत्ययका श्रवण नहीं, तथा प्रिय सिर आदि अवयवोंके श्रवण न होनेसे भी आनन्दका ब्रह्मविषयक होना उचित है, इसकारण अणुमात्र भी विशेषको आश्रय न कर ब्रह्मके स्वतः ही प्रिय सिर आदि अवयव नहीं होसकते । न यहां सविशेष ब्रह्मको प्रतिपादन करनेका अभिप्राय है, क्योंकि श्रुति ब्रह्मको वाणी और मनका अगोचर बताती है, इसकारण अन्नमयादिके समान आनन्दमयमें भी विकार अर्थमें ही मयट् प्रत्यय जानना चाहिये, अधिकार्थक नहीं ।

*सूत्रोंको तो इसप्रकार व्याख्यान कर लेना चाहिये :—

"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ( तै० २ । ५ )" यहां इस मन्त्रमें जो ब्रह्मशब्द है क्या वह आनन्दमयके अवयव-अङ्गरूपसे विवक्षित है अथवा ब्रह्मकी अपनी प्रधान-मुख्य विवक्षा है ? पुच्छ शब्द शब्द अवयव-अङ्गवाची होनेसे ( पुच्छशब्दके सन्निकर्षसे मन्त्रमें आनन्दमयके ) अवयवरूपसे ब्रह्म विवक्षित है । इसप्रकार प्राप्त होनेपर कहा जाता है :—

---

*हमारे लिखे अनुवादके अनुसार ही यहां इस भाष्यको थीबोने इसप्रकार अङ्ग्रेजी भाषामें अनुवाद किया है :—

The Sutras are therefore to be explained as follows. There arises the question whether the passage, 'Brahman is the tail, the support', is to be understood as intimating that Brahman is a mere member of the Self consisting of bliss, or that it is the principal matter. If it is said that it must be considered as a mere member, the reply is 'The Self consisting of bliss on account of the repetition'. That means: Brahman, which in the passage 'the Self consisting of bliss', etc., is spoken of as the tail the support, is designated as the principal matter (not as the something subordinate). (P. 76).

'आनन्दमयोऽभ्यासात् ।'

आनन्दमय आत्मेत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते, अभ्यासात्। 'असन्नेव स भवति' इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात् ।

'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ।'

विकारशब्देनावयवशब्दोऽभिप्रेतः। पुच्छमित्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्मण इतियदुक्तं, तस्य परिहारो वक्तव्यः। अत्रोच्यते—नायं दोषः, प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः। प्राचुर्यं प्रायापत्तिः, अवयवप्राये वचनमित्यर्थः। अन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वावयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्याह, नावयवविवक्षया। यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम्।

'तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।'

सर्वस्य विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते—'इद्ँ सर्वमसृजत। यदिदं किंच' ( तै० २ । ६ ) इति। नच कारणं सत् ब्रह्म स्वविकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्यावयव उपपद्यते। अपराण्यपि सूत्राणि यथासंभवं पुच्छ-

## आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

'आनन्दमय आत्मा' यहां 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' है, इसमें ब्रह्मके निज मुख्यस्वरूपका उपदेश किया जाता है, क्योंकि बार २ ब्रह्मकी आवृत्ति की जाती है, तथा :—

"जो पुरुष ब्रह्म नहीं है इसप्रकार जानता है वह असत्–अश्रेष्ठ ही होता है ( तै० २ । ६ )"

इसप्रकार इस श्रुतिके श्लोकमें केवल ब्रह्मकी ही आवृत्ति की जाती है अर्थात् अनेकबार ब्रह्मका ही अभ्यास किया जाता है ॥ १२ ॥

## विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

जो यह कहा था कि विकारशब्दमें अवयवका अभिप्राय है, क्योंकि पुच्छशब्द अवयववाचक होनेसे श्रुतिमें ब्रह्मका अपना मुख्य वर्णन नहीं है, इसलिये उसका समाधान करना चाहिये।

यहां कहा जाता है—यह दोष आता नहीं, क्योंकि प्राचुर्य-अधिकतामें भी अवयव अर्थ निकलता है, प्राचुर्य-प्रायः अधिक प्राप्त होना, प्रायः अधिक अवयवोंकी प्राप्ति होनेपर इस प्राचुर्य शब्दका प्रयोग हुआ है। अन्नमय आदियोंके सिर आदिमें लेकर पुच्छ पर्यन्त अवयवोंके कहे जानेपर आनन्दमयके भी सिर आदि अन्य अवयवोंको कहकर अवयवप्रायकी प्राप्ति होनेमें "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" ऐसा कहा है, ब्रह्मके अवयवकी विवक्षासे नहीं, इसमें हेतु-दर्शन यही है कि बार २ ब्रह्मके अभ्यास किये जानेसे ब्रह्मका अपना मुख्य वर्णन है इसका समर्थन कर दिया ॥ १३ ॥

## तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

आनन्दमयके सहित सब विकारसमुदायके कारणरूपसे ब्रह्म उपदेश किया जाता है :—

"इन सबको उसने उत्पन्न किया, जो ये सब पदार्थ हैं ( तै० २ । ६ )"

इत्यादि, कारण सत् ब्रह्म अपने विकाररूप आनन्दमयका मुख्यरूपसे अवयव हो सकता है ॥ १४ ॥

अन्य सूत्र भी सम्भवके अनुसार पुच्छवाक्यसे निर्देश किये हुवे ब्रह्मको ही प्रतिपादन करनेवाले हैं इसप्रकार

( १ )— मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

"सत्यंज्ञान मनन्तं ब्रह्म" इस मन्त्रमें जो वर्णन किया गया है उसीका "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"

वाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि ॥ १६ ॥

## ७ अन्तरधिकरणम् । २०-२१

### अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

इदमाम्नायते—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः' 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद' 'इत्यधिदैवतम्' (छा० १।६।७।८)। 'अथाध्यात्मम्' 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १।७।१।५) इत्यादि। तत्र संशयः—किं विद्याकर्मातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्यत्वेन श्रूयते किंवा नित्यसिद्धः परमेश्वर इति।

प्रश्न :—किं तावत्प्राप्तम्।

---

देख लेना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

यह छटा आनन्दमयाधिकरण समाप्त होगया।

## अन्तरधिकरणम्।

### अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

यह पढ़ा जाता है कि :—

"अब जो यह सूर्यमें ज्योतिमय पुरुष दीखता है, जिसकी ज्योति श्मश्रु डाढ़ीके समान है, ज्योति जिसके केशके तुल्य है, जो नखसे लेकर शिखा पर्यन्त सुवर्णके समान सब ही ज्योतिःस्वरूप है।"

उस ज्योतिर्मय पुरुषकी कपि-आस अर्थात् बन्दरके पुच्छ-भागके समान अत्यन्त तेजस्वी तथा पुण्डरीक-कमलके सदृश ही आंखें हैं, उस पुरुषका नाम 'उत्' है, इसलिये कि वह सम्पूर्ण पापोंको नाश करके उदित हुआ है, (पापेभ्यः में ल्यप् प्रत्ययका लोप होकर पञ्चमी विभक्ति हुई है)। जो उस ज्योतिर्मय पुरुषको इस प्रकार जानता है वह पापोंसे रहित होकर स्वयं प्रकाशित होता है, यह देवता पक्षमें अर्थ है (छा० १।६।७।८)"

"अब आत्मपक्षमें"......"अब जो नेत्रमें व्यापक पुरुष दीखता है (छा० १।७।१, ५)"

इत्यादि, यहां संशय होता है—क्या विद्या और कर्मके आधिक्यवशसे श्रेष्ठताको प्राप्त हुवा कोई संसारी जीवात्मा सूर्यमण्डलमें और नेत्रमें उपासनीयरूपसे सुना जाता है अथवा नित्य-सिद्ध परमेश्वर?

प्रश्न—तो क्या प्राप्त होता है?

---

इसमें गान किया जाता है, क्योंकि इसमें ब्रह्मशब्दका संयोग है। आनन्दमय वाक्यके साथ सम्बन्ध नहीं, क्योंकि उस वाक्यमें ब्रह्मशब्दका संयोग नहीं है।—अनु०।

**नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥**

यहां "**इतश्चानन्दमय**" इस भाष्यके स्थानमें "**इतश्च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा**" ऐसा पढ़ना चाहिये।

**भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥**

यहां भी "**इतश्चानन्दमय**" इसके और "**आनन्दमयाधिकारे**" इस भाष्यके स्थानमें "**ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा**" तथा **ब्रह्मपुच्छाधिकारे**" ऐसा पढ़ना चाहिये।

**कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥ अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥**

इन दोनों सूत्रोंके भाष्यमें आनन्दमयके स्थानमें "**ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा**" इस पाठको देख लेना चाहिये।—**भामती**।

उत्तरम्—संसारीति ।

प्रश्नः—कुतः !

उत्तरम्—रूपवत्त्वश्रवणात् । आदित्यपुरुषे तावत् 'हिरण्यश्मश्रुः' इत्यादि रूपमुदाहृतम् । अक्षिपुरुषेऽपि तदेवातिदेशेन प्राप्यते—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इति । नच परमेश्वरस्य रूपवत्त्वं युक्तम्, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' ( का० १ । ३ । १५ ) इति श्रुतेः, आधारश्रवणाच्च—'य एषोऽन्तरादित्ये,' 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति । नह्यनाधारस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याधार उपदिश्येत । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' ( छा० ७ । २४ । १ ) इति । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च श्रुती भवतः । ऐश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च । 'स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' ( छा० १ । ६ । ८ ) इत्यादित्यपुरुषस्यैश्वर्यमर्यादा । 'स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' ( छा० १ । ७ । ६ ) इत्यक्षिपुरुषस्य । नच परमेश्वरस्य मर्यादावदैश्वर्यं युक्तम्, 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' ( बृ० ४ । ४ । २२ ) इत्यविशेषश्रुतेः । तस्मान्नाक्ष्यादित्ययोरन्तः परमेश्वरः ।

उत्तर—संसारी जीवात्मा प्राप्त होता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—रूपवाला सुने जानेसे, सूर्यपुरुषमें तो 'जिसकी ज्योति श्मश्रु-डाढ़ीके समान है' इसप्रकार रूप को दिखाया है । नेत्र-पुरुषमें भी वही रूप अतिदेशसे—विशेष आदेशसे प्राप्त होता है—"उस नेत्रपुरुषका वही रूप है जैसा सूर्यमें व्यापक पुरुषका है ।" परमेश्वरका रूप होना उचित नहीं है, क्योंकि :—

"वह परमेश्वर शब्द स्पर्श और रूपरहित है तथा वह अविनाशी है ( काठ० १ । ३ । १५ )"

इसप्रकार श्रुति कहती है । तथा श्रुतिमें आधार सुने जानेसे भी ( जीवात्माका ग्रहण प्रतीत होता है )—"जो यह सूर्यमें", "जो यह नेत्रमें" इत्यादि—( सूर्य और नेत्रका आधार सुना जाता है ) ।

निराधार, अपनी महिमामें स्थिर होनेवाले, सर्वव्यापी परमेश्वरके आधारका उपदेश नहीं होसकता, क्योंकि :—

( १ ) "भगवन् ! वह परमेश्वर किसमें स्थिर होता है ? उत्तर यह है कि—अपनी महिमामें ( छा० ७ । २४ । १ )"

( २ ) "वह परमात्मा आकाशके समान सर्वव्यापक और नित्य है ।"

ये दोनों श्रुति हैं ( जो परमेश्वरके निराधारत्वको सिद्ध करती हैं ), तथा ऐश्वर्यकी मर्यादा ( हद ) विषयक श्रुतिके प्रमाणसे भी ( जीवात्माका ग्रहण सिद्ध होता है ) :—

"वह सूर्यमें रहनेवाला पुरुष जो इस लोकसे ऊपरके लोक हैं उनका और देवोंकी कामनाओंका भी स्वामी है ( छा० १ । ६ । ८ )"

यह सूर्यमें रहनेवाले पुरुषके ऐश्वर्यकी मर्यादा है । परमेश्वरके परिमित ऐश्वर्यका होना उचित नहीं, क्योंकि :—

"वह परमात्मा सबका ईश्वर है, सब भूतोंका स्वामी है, सब प्राणियोंको पालन करनेवाला है, वह परमात्मा सेतु—पुलरूप होकर इन लोकोंका धारण करनेवाला है जिससे इन लोकोंका नाश न हो ( बृ० ४ । ४ । २२ )"

यह श्रुति ( परमेश्वरके ऐश्वर्यको मर्यादारूप ) विशेषतासे रहित बताती है ( अर्थात् परमात्माका ऐश्वर्य निर्मर्याद है ), इसकारण नेत्र और सूर्यके भीतर जो पुरुष है वह परमेश्वर नहीं ।

( यहांतक पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तररूप प्रश्न-परिहार है, अब सिद्धान्तपक्षीका प्रत्युत्तररूप प्रतिपरिहार ) ।

**प्रत्युत्तरम्**—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इति, 'य एषोऽन्तरादित्ये,' 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति च श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव, न संसारी ।

**प्रश्न**ः—कुतः ।

**प्रत्युत्तरम्**—तद्धर्मोपदेशात् । तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः । तद्यथा–'तस्योदिति नाम' इति श्रावयित्वा अस्यादित्यपुरुषस्य नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति सर्वपाप्मापगमेन निर्वक्ति । तदेव च कृतनिर्वचनं नामाक्षिपुरुषस्याप्यतिदिशति—'यन्नाम तन्नाम' इति । सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते—'य आत्माऽपहतपाप्मा' ( छा० ८ । ७ । १ ) इत्यादौ । तथा चाक्षुषे पुरुषे 'सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म' इत्यृक्सामाद्यात्मकतां निर्धारयति । सा च परमेश्वरस्योपपद्यते, सर्वकारणत्वात्सर्वात्मकत्वोपपत्तेः । पृथिव्यग्न्याद्यात्मके चाधिदैवतं ऋक्सामे, वाक्प्राणाद्यात्मके चाध्यात्ममनुक्रम्याह–'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ' इत्यधिदैवतम् । तथाध्यात्ममपि—'यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ' इति । तच्च सर्वा-

प्रत्युत्तर—इसप्रकार प्राप्त होनेपर कहते हैं—"**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्** ।" 'जो यह सूर्यके भीतर' तथा 'जो यह नेत्रके भीतर' इसप्रकार सुने जानेवाला जो पुरुष है वह परमेश्वर ही है, संसारी जीवात्मा नहीं ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—क्योंकि परमेश्वरके धर्मोंका उपदेश किया गया है, उस परमेश्वरके धर्मोंको यहां उपदेश किया है, जैसे कि—उस परमेश्वरका नाम 'उत्' है, इसप्रकार सुनाकर इस सूर्यके पुरुषके नामको—

"यह सब पापोंको नाश करके उदित अर्थात् उदय हुआ है ।"—इसप्रकार सब पापोंसे पृथक् होने रूपसे निर्वचन ( शब्दोंकी निरुक्ति ) करती है, उसी सूर्यस्थ परमेश्वरके निरुक्त नामको नेत्रस्थ पुरुषका भी नाम है यह अतिदेश—विशेष आदेश करती है 'जो सूर्यस्थ पुरुषका नाम है वह नेत्रस्थ पुरुषका नाम है ।' इत्यादि । सब पापोंसे पृथक् होना परमात्माका ही सुना जाता है :—

"जो परमात्मा पाप आदि दोषोंसे रहित है ( छा० ८ । ७ । १ ) इत्यादि श्रुतिमें, तथा नेत्रस्थ पुरुषमें :—

"जो नेत्रमें पुरुष है वही ऋग्वेद है अर्थात् ऋग्वेदका प्रतिपादनीय विषय है, वही सामवेद है, वही स्तोत्ररूप उक्थ है, वही यजुर्वेद है, वही ब्रह्म है ( छा० १ । ७ । ५ )"

इसप्रकार श्रुति परमेश्वरका ऋग्वेद-सामवेद आदि रूप होना निश्चय करती है, यह ऋग्वेदादिरूप होना परमेश्वरका घट सकता है क्योंकि सबके कारण होनेसे परमात्मा सर्वात्मक होता है । तथा अधिदैवत अर्थात् देवतापक्षमें ऋग्वेद और सामवेद पृथिवी और अग्नि आदि रूप हैं, तथा आत्मपक्षमें ऋग्वेद और सामवेद वाणी और प्राण आदि रूप हैं इसप्रकार [1] आरम्भ कर कहा जाता है :—

"उसके अर्थात् आदित्य पुरुषके ऋग्वेद और सामवेद गानेवाले हैं ( छा० १ । ६ । ८ )" यह **अधिदैवतपक्ष** है, तथा अध्यात्मपक्षमें भी :—

"जो आदित्यस्थ पुरुषके गायक हैं वे ही इस नेत्रस्थ पुरुषके गायक–गानेवाले हैं ( छा० १।७।५ )"

---

( १ )—"**इयमेव ऋक्, अग्निः साम**·········( छा० १ । ६ । १–६ )"

**अर्थ**ः—यह पृथिवी ही ऋग्वेद है और अग्नि सामवेद है इसप्रकार देवतापक्षमें ऋग्वेदको पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, नक्षत्र और आदित्यगत शुक्ल तेजरूप पांच प्रकारसे कहा है । तथा सामवेदको अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र और आदित्यगत कृष्णरूप यह पांच प्रकारसे कहा है ( छा० १ । ६ । १–६ )"—**अनु**० ।

त्मन एवोपपद्यते । 'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः' ( १ । ७ । ६ ) इति च लौकिकेष्वपि गानेष्वस्यैव गीयमानत्वं दर्शयति । तच्च परमेश्वरपरिग्रहे घटते, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्' ( १० । ४१ ) इति भगवद्गीतादर्शनात् । लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं गमयति । यत्तूक्तं हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत इति, अत्र ब्रूमः—स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम् । 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि' इति स्मरणात् । अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि । सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' ( छा० ३ । १४ । २ ) इत्यादिना । तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति । यदप्याधारश्रवणान्न परमेश्वर इति, अत्रोच्यते—स्वमहिमप्रतिष्ठस्याप्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद्ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरत्वोपपत्तेः ।

इसप्रकार ( ऋग्वेदादि द्वारा सर्वात्मरूपका गाया जाना ) सर्वात्मा परमेश्वरका होसकता है, तथा :—

"इसकारण जो ये ब्रह्मज्ञ लोग वीणामें गान करते हैं वे इसी विभूतिवाले परमेश्वरको गाते हैं, इस कारण वे धनी ऐश्वर्यवाले होते हैं ( छा० १ । ७ । ६ )"

इसप्रकार लौकिक गानोंमें भी इसी परमात्माका गाया जाना दिखाती है, इसप्रकारका गान तो परमेश्वरके ग्रहण करनेमें घटता है, तथा :—

"हे अर्जुन ! जो २ ऐश्वर्ययुक्त, तेजयुक्त, शोभायुक्त अथवा बलयुक्त हैं उन सबको मेरे तेजके एक एक भागसे उत्पन्न हुए जानो ( भग० १० । ४१ )"

इसप्रकार भगवद्गीतामें ( सर्वात्मस्वरूप परमेश्वरकी विभूतिमत्ता ) देखी गई है । लौकिक कामनाओंका सर्वाध्यक्ष होना सुना जाना भी परमेश्वर को बताते हैं ।

जो यह कहा था कि ज्योतिर्मय दाढ़ी आदिरूपका श्रवण परमेश्वरमें घटता नहीं, यहां हम कहते हैं—साधक योगियोंके अनुग्रहके लिये परमात्माके भी इच्छावशसे मायामय रूप होजावेगा, क्योंकि :—

"हे नारद ! जो तुम मुझे देखते हो वह रूप आदि मेरी बनाई हुई माया है, इसलिये तुम मुझे सब भूतोंके गुणोंसे युक्त न जानो ।"

इस प्रकार स्मरण किया जाता है । तथा दूसरी बात यह भी है कि जहां तो समस्त विशेषताओंसे रहित परमेश्वरके रूपका उपदेश दिया जाता है, वहांपर जैसा कि यह शास्त्र है—

'वह परमात्मा शब्द स्पर्श-रूपसे रहित है तथा वह अविनाशी है ।"

इत्यादि, सबके धारण-बीजरूप होने से तो किन्हीं विकारधर्मोंसे युक्त भी परमेश्वर—उपासनीय रूप से निर्देश किया जाता है :—

"वह सब कर्मोंको करनेवाला है, सब कामना करनेवाला, सब गन्ध तथा सब रसोंसे युक्त है ( छा० ३ । १४ । २ )"

—इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे, वैसे हिरण्यश्मश्रु आदि निर्देश भी ( उपासनीयरूपसे ) होगा ।

और जो यह कहा था कि आधारश्रवण होनेसे भी परमेश्वरका ग्रहण नहीं, यहां कहा जाता है—अपनी मर्यादामें प्रतिष्ठित होनेवाले परमात्माका आधारविशेषका उपदेश उपासनाके निमित्त होजावेगा, क्योंकि ब्रह्म आकाशके समान सर्वव्यापक होनेसे सबके भीतर विद्यमान होता है । तथा ऐश्वर्यकी मर्यादाका श्रवण भी अध्यात्म

ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थमेव । तस्मात्परमेश्वर एवादप्यादित्ययोरन्तरुपदिश्यते ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

अस्ति चादित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योऽन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी, 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' ( बृ० ३। ७। ९ ) इति श्रुत्यन्तरे भेदव्यपदेशात्। तत्र हि 'आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद' इति वेदितुरादित्याद्विज्ञानात्मनोऽन्योऽन्तर्यामी स्पष्टं निर्दिश्यते। स एवेहाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति, श्रुतिसामान्यात्। तस्मात्परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

८ आकाशाधिकरणम् । सू० २२

आकाशस्तल्लिंङ्गात् ॥ २२ ॥

इदमामनन्ति—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूता-

और अधिदैवत विभागकी अपेक्षासे उपासनार्थ ही है, इसकारण परमेश्वर ही नेत्र और सूर्यमें उपदेश किया जाता है ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

आदित्य आदि शरीरोंके अभिमानी जीवात्माओंसे अन्य भिन्न ईश्वर अन्तर्यामी है, क्योंकि :—

' जो परमेश्वर सूर्यमें रहता हुआ सूर्यसे (१)अन्तर अर्थात् भिन्न है अथवा बाहर भी है, जिसे सूर्य जानता नहीं, जिसका सूर्य शरीर है, जो सूर्यको बाहर भीतर व्यापक होकर, शासन करता है, वह तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत आत्मा है ( बृ० ३ । ७ । ९ )"

इसप्रकार अन्य श्रुतिमें भेदका निर्देश किया है, श्रुतिमें—"सूर्यसे भिन्न है जिसे सूर्य जानता नहीं" इस प्रकार जाननेवाले सूर्यरूप जीवात्मासे अन्य अन्तर्यामी स्पष्टरूपसे निर्देश किया जाता है, श्रुतियोंका समानतासे प्रामाण्य होनेके कारण वही परमात्मा पुरुष यहां सूर्यमें होना चाहिये, इसकारण यहां परमेश्वरका ही उपदेश किया जाता है यह सिद्ध होगया ॥ २१ ॥

यह सातवां अन्तराधिकरण समाप्त होगया ।

आकाशाधिकरणम् ।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

वेदोंमें यह पढ़ा जाता है कि :—

"शालावत्य ब्राह्मण प्रवाहण जैवलि राजासे पूछते हैं कि इस लोककी क्या गति अर्थात् आधार है ?

---

( १ )—अन्तर शब्दके भेद, बाहर तथा भीतर आदि अनेक अर्थ होते हैं, इस विषयमें अमरकोशका प्रमाण है :—

"अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये ।

छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि ( अमर० नानार्थवर्ग ३ । १८७ )"

अर्थ :—अन्तरशब्द—अवकाश, अवधि-हद, पहननेके वस्त्र आदि, अन्तर्धान-अदृश्य होना, भेद, तादर्थ्य-किसी निमित्त, छिद्र-छेद, आत्मसम्बन्धी अथवा निजवस्तु, विना, बाहर, अवसर, बीच, भीतर, आत्मा अथवा अन्तरात्मा—इन अर्थोंका वाचक है ।

तथा महर्षि पाणिनिजी भी अन्तर शब्दका बहिर्योग अर्थात् बाह्य-परिधानीय—बाहर पहिरनेके वस्त्र आदि अर्थ करते हैं :—"अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ( अ० १ । १ । ३६ )—अनुवादक ।

**न्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' ( छान्दो० १ । ९ । १ ) इति । तत्र संशयः—किमाकाशशब्देन परं ब्रह्माभिधीयत उत भूताकाशमिति ।**

**प्रश्न :—कुतः संशयः ।**

**उत्तरम्—उभयत्र प्रयोगदर्शनात् । भूतविशेषे तावत्सुप्रसिद्धो लोकवेदयोराकाशशब्दः ब्रह्मण्यपि क्वचित्प्रयुज्यमानो दृश्यते । यत्र वाक्यशेषवशादसाधारणगुणश्रवणाद्वा निर्धारितं ब्रह्म भवति, यथा—'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' ( तै० २ । ७ ) इति, 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' ( छा० ८ । १४ । १ ) इति चैवमादौ । अतः संशयः ।**

**प्रश्न :—किं पुनरत्र युक्तम् ।**

**उत्तरम्—भूताकाशमिति । कुतः, तद्धि प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शीघ्रं बुद्धिमारोहति । नचायमाकाशशब्द उभयोः साधारणः शक्यो विज्ञातुम्, अनेकार्थत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् ब्रह्मणि गौण आकाशशब्दो भवितुमर्हति । विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति । मुख्यसंभवे गौणोऽर्थोऽग्रहणमर्हति । संभवति चेह मुख्यस्यैवाकाशस्य ग्रहणम् ।**

**प्रश्न :—ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्यशेषो नोपपद्यते— 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादिः ।**

राजा जैवलि उत्तर देते हैं कि—आकाश है, क्योंकि ये सब भूत-वायु अग्नि आदि आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही अस्त अर्थात् लय होजाते हैं, तथा आकाश इन सब भूतोंसे बड़ा है, इसकारण आकाश परायण—पर उत्कृष्ट अयनगति अर्थात् आधार है ( छा० १ । ९ । १ )"

अब यहां सन्देह होता है कि क्या आकाश शब्दसे पर ब्रह्म कहा जाता है अथवा भूत-आकाश ?

प्रश्न—सन्देह क्यों होता है ?

उत्तर—क्योंकि दोनोंमें प्रयोग देखा जाता है, भूत विशेषमें तो लोक और वेदमें आकाश शब्द प्रसिद्ध है, ब्रह्म में भी कहीं प्रयोग किया हुआ देखा जाता है । जहांपर वाक्यशेषवशसे अथवा असाधारण-विशेष गुण श्रवण होनेसे ब्रह्म निश्चित किया जाता है, जैसे :—

( १ ) "यदि यह आकाश आनन्द न होगा ( तै० २ । ७ )"

( २ ) "निश्चय ही आकाश जगत्के देवदत्त आदि नाम और शुक्लकृष्ण आदि रूपोंका निर्वहिता—वहन करनेवाला अर्थात् धारण करनेवाला है, वे नाम और रूप जिसमें विद्यमान रहते हैं वह ब्रह्म है ( छा० ८ । १४ । १ )" इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें, इसकारण संशय होता है ।

प्रश्न—अब यहांपर क्या उचित है ?

उत्तर—भूताकाशका ग्रहण समुचित है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—भूताकाशमें अधिक प्रसिद्ध प्रयोग होनेसे आकाशशब्द बुद्धिमें शीघ्र चढ़ता है ( अर्थात् भूताकाशविषयक शीघ्र ज्ञान होजाता है । यह आकाश शब्द दोनोंमें ( ब्रह्म और भूताकाशमें ) साधारण है ऐसा जान नहीं सकते, क्योंकि ( दोनोंमें साधारण माननेमें ) आकाश शब्द अनेकार्थक होजावेगा, इसकारण ब्रह्ममें आकाश शब्द गौण—अमुख्य होना चाहिये, विभुत्व आदि बहुतसे धर्मोंसे भूत-आकाशके समान ब्रह्म होता है, मुख्यके सम्भव होनेपर गौण—अमुख्य अर्थका ग्रहण नहीं होसकता है, और यहां मुख्य ही आकाशका ग्रहण सम्भव होता है ।

प्रश्न—भूताकाशके ग्रहण करनेमें वाक्यशेष बनता नहीं:—"ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं ।" इत्यादि ?

उत्तरम्—नैष दोषः। भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः। विज्ञायते हि—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' ( तै० २ । १ ) इत्यादि। ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्षयोपपद्येते भूताकाशस्यापि। तस्मादाकाशशब्देन भूताकाशस्य ग्रहणम्।

प्रत्युत्तरम्—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम्।

प्रश्नः—कुतः।

प्रत्युत्तरम्—तल्लिङ्गात्। परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति। परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा।

प्रश्नः—ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम्।

प्रत्युत्तरम्—सत्यं दर्शितम्। तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहादाकाशादेवेत्यवधारणं, सर्वाणीति च भूतविशेषणं नानुकूलं स्यात्। तथा 'आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इति ब्रह्मलिङ्गं 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे। ज्यायस्त्वं ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नातम्—'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' ( छा० ३ । १४ । ३ ) इति। तथा परायणत्वमपि परमकारणत्वात्परमात्मन्येवोपपन्नतरम्। श्रुतिश्च भवति—

उत्तर—यह दोष दोष नहीं, क्योंकि भूताकाशका भी वायु आदि क्रमसे कारण होना बनता है, जैसे—यह जाना जाता है :—

"उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुवा, आकाशसे वायु उत्पन्न हुवा, और वायुसे अग्नि (तै० २।१)"

इत्यादि, तथा भूताकाशका भी महान् होना और उत्कृष्ट आधार होना अन्य भूतोंकी अपेक्षासे होसकते हैं, इसकारण आकाश शब्दसे भूताकाशका ग्रहण होता है।

( यहांतक पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब प्रत्युत्तररूप सिद्धान्तीका समाधान )।

प्रत्युत्तर—इसप्रकार प्राप्त होनेपर कहते हैं—"आकाशस्तल्लिङ्गात्।" यहां आकाश शब्दसे परब्रह्मका ग्रहण होना उचित है।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—ब्रह्मके लिङ्ग–चिन्ह पाये जानेसे, परब्रह्मका यह लिङ्ग है :—

"निश्चय ही ये सब भूत–पञ्चतत्त्व आकाशपदवाच्य परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं।"

इत्यादि, परब्रह्मसे ही पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति होती है यह वेदान्तोंमें मर्यादा है।

प्रश्न—वायु आदि क्रमसे भूताकाशको भी कारण दिखाया था ?

प्रत्युत्तर—हां, दिखाया था, तथापि मूलकारण ब्रह्मके त्यागसे 'आकाशसे ही' यह एकाकाररूप निश्चय तथा 'सब·········उत्पन्न हुवे' यह इत्यादि भूताकाशका विशेषण होना अनुकूल न होगा। तथा "आकाश में लय होते हैं" यह कथन ब्रह्मका लिङ्ग है, जैसा कि :—

"आकाश इन भूतोंसे बड़ा है तथा आकाश सबका आधार है।"

यह श्रुति आकाशको महान् और उत्कृष्ट आधार बताती है। परमात्मामें महत्तां अपेक्षारहित है यह एक शास्त्रमें पढ़ा गया है :—

"वह परमात्मा पृथिवीसे महान् है, अन्तरिक्षसे बड़ा है, द्यौसे तथा इन लोकोंसे बड़ा है ( छा० ३ । १४ । ३ )" इत्यादि, तथा उत्कृष्ट आधारका होना भी परम कारण होनेसे परमात्मामें ही अधिक उचित है, इसमें श्रुतिका प्रमाण है :—

**'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' ( बृ० ३ । ६ । २८ ) इति । अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वा, अनन्तं किंचिद्वक्तुकामेन जैवलिना आकाशः परिगृहीतः, तं चाकाशमुद्गीथे संपाद्योपसंहरति—'सएष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' ( १ । ६ । २ ) इति । तच्चानन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम् । यत्पुनरुक्तं भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतरं प्रतीयत इति, अत्र ब्रूमः—प्रथमतरं प्रतीतमपि सत् वाक्यशेषगतान्ब्रह्मगुणान्दृष्ट्वा न परिगृह्यते । दर्शितश्च ब्रह्मण्याकाशशब्दः—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादौ । तथाकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः' ( ऋ० सं० १ । १६४ । ३९ ) 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता' ( तै० ३ । ६ ) 'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' ( छा० ४ । १० । ५ ) 'खं पुराणम्' ( बृ० ५ । १ ) इति चैवमादौ । वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्याकाश-**

"वह ब्रह्म विशेष ज्ञानयुक्त है, वह आनन्दस्वरूप है, तथा वह [१]धनके देनेवालेका अर्थात् कर्मकर्त्ताका उत्कृष्ट आश्रय आधार है ( बृ० ३ । ६ । २८ )" इत्यादि और दूसरी बात यह भी है कि—अन्तवत्त्व—नाश होने रूप दोषसे शालावत्यके पक्षकी निन्दा कर किसी अनन्तको—नाश न होनेवालेको कहनेकी कामना कर जैवलिने आकाशको ग्रहण किया था, उस आकाशको उद्गीथ ओंकारमें प्राप्त कराकर उपसंहार—समाप्त करते हैं :—

"वह आकाश पर—महान् उत्कृष्टोंसे भी परोयान—श्रेष्ठ है, वही उद्गीथ है, वही अनन्त है ( छा० १ । ६ । २ )"

इत्यादि, वह अनन्तत्व ( दिक्कृत या कालकृत अन्तसे रहित होना ) ब्रह्मका लिङ्ग है ।

और जो फिर कहा था कि प्रसिद्धिबलसे भूताकाश ही प्रथमतर प्रतीत होता है, यहां हम कहते हैं—प्रथमतर प्रतीत होता हुआ भी वाक्यशेषगत ब्रह्मके गुणोंको देखकर नहीं लिया जाता है । तथा ब्रह्ममें भी आकाश शब्दको दिखा दिया है, जैसे:—

"निश्चय ही नाम और रूपोंको वहन करनेवाला अर्थात् धारण करनेवाला आकाश है ।"

इत्यादि श्रुतिमें, तथा आकाशके पर्यायवाचियोंका ब्रह्ममें प्रयोग देखा जाता है :—

( १ ) "जिस अविनाशी उत्कृष्ट आकाशवत् व्यापक परमात्मामें ऋचः ऋग्वेद आदि चारों वेद तथा समस्त सूर्य आदि देव स्थिर होते हैं ( ऋ० सं० १ । १६४ । ३९ )"

( २ ) "पुत्र भृगुके लिये पिता वरुण द्वारा कही हुई यह भार्गवी वारुणी विद्या उत्कृष्ट आकाशके तुल्य व्यापक परमात्मामें प्रतिष्ठित है ( तै० ३ । ६ )"

( ३ ) "क तथा ख ब्रह्मवाचक हैं ( छा० ४ । १० । ५ )"

( ४ ) "खं आकाश पुराण अर्थात् सनातन प्राचीन है ( बृ० ५ । १ )"

इत्यादि श्रुतियोंमें, तथा वाक्यके आरम्भमें भी विद्यमान होनेवाले आकाश शब्दका वाक्यशेष वशसे ब्रह्मविषयक निश्चय होना ठीक है, जैसा कि—

"अग्नि वेदके अनुवादको पढ़ता है :"

---

( १ )—रातिः—धनवाचक शब्द है किसी पुस्तकमें 'रातेः' इस षष्ठ्यन्त पदके स्थानमें 'रातिः' ऐसा प्रथमान्त पाठ है, इस प्रथमान्त पदको षष्ठीके अर्थमें प्रथमा विभक्ति समझ लेनी चाहिये—**अनुवादक ।**

ब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा । 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' इति हि वाक्योपक्रमगतोऽप्यग्निशब्दो माणवकविषयो दृश्यते । तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ २२ ॥

## ६ प्राणाधिकरणम् । सू० २३

## अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

उद्गीथे—प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' ( छा० १ । ११ । ४ , ५ ) इति । तत्र संशयनिर्णयौ पूर्ववदेव द्रष्टव्यौ । 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः, ( छा० ६ । ८ । २ ) 'प्राणस्य प्राणम्' ( बृ० ४ । ४ । १८ ) इति चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, वायुविकारे तु प्रसिद्धतरो लोकवेदयोः, अत इह प्राणशब्देन कतरस्योपादानं युक्तमिति भवति संशयः ।

प्रश्नः—किं पुनरत्र युक्तम् ।

उत्तरम्—वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तम् । तत्र हि प्रसिद्धतरः प्राणशब्द इत्यवोचाम ।

प्रश्नः—ननु पूर्ववदिहापि तल्लिङ्गाद् ब्रह्मण एव ग्रहणं युक्तम् । इहापि वाक्यशेषे

इस प्रकार वाक्यके प्रारम्भमें पठित हुआ अग्नि शब्द बालकविषयक देखा जाता है, इस कारण आकाश शब्द ब्रह्मका वाचक है यह सिद्ध होगया ॥ २२ ॥

यह आठवां आकाशाधिकरण समाप्त होगया ।

## प्राणाधिकरणम् ।

## अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

उद्गीथमें—"हे प्रस्ताव करनेवाले प्रस्तोता ऋत्विक् ! जो देवता प्रस्तावसे सम्बन्ध रखता है—" इस प्रकार आरम्भ कर सुना जाता है:—

"—वह देवता कौन है ? उपस्ति ऋषि इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि वह प्रस्तावित देवता प्राणपद वाच्य है । ये सब प्राणी प्राणमें ही प्रवेश करते हैं और प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं, वह यह प्राण देवता प्रस्तावित विषयसे सम्बन्ध रखता है ( छा० १ । ११ । ४,५ )"

इत्यादि, वहां संशय और समाधान पहिलेके समान देख लेना चाहिये ।

( १ ) हे सौम्य ! यह मन प्राणमें बधा रहनेवाला है ( छा० ६ । ८ । २ )

( २ ) "वह प्राणका प्राण है ( बृ० ४ । ४ । १८ )"

इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मविषयक प्राण शब्द देखा जाता है, वायुके विकारमें तो लोक और वेदमें अधिक प्रसिद्ध है, इसकारण यहां श्रुति वाक्योंमें प्राण शब्दसे इन दोनोंमें किसका ग्रहण करना उचित है यह संशय होता है ।

प्रश्न—यहां फिर क्या उचित है ?

उत्तर—वायुके विकार प्राण–अपान–उदान–समान–व्यान इन पांच वृत्तियोंसे युक्त प्राणका ग्रहण करना उचित है, उस वायुविकारमें प्राण शब्द अधिक प्रसिद्ध है यह हमने कहा था ।

प्रश्न—पूर्व आकाशविषयक श्रुतिवाक्यके तुल्य यहां भी ब्रह्मके लिङ्ग पाये जानेसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना उचित है, यहां भी वाक्यशेषमें प्राणियोंका प्रवेश होना और उत्पन्न होना यह परमेश्वर सम्बन्धी कर्म

भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म प्रतीयते ।

उत्तरम्—न । मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनस्य दर्शनात् । एवं ह्याम्नायते—'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' ( श० ब्रा० १० । ३ । ३ । ६ ) इति । 'प्रत्यक्षं चैतत्स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानायामिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते प्रबोधकाले च प्रादुर्भवन्तीति । इन्द्रियसारत्वाच्च भूतानामविरुद्धो मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेशनोद्गमनवादी वाक्यशेषः । अपिचादित्योऽन्नं चोद्गीथप्रतिहारयोर्देवते प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्यानन्तरं निर्दिश्येते । नच तयोर्ब्रह्मत्वमस्ति, तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वम् ।

प्रत्युत्तरम्—इत्येवं प्राप्ते सूत्रकार आह—'अतएव प्राणः' इति । 'तल्लिङ्गात्' इति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम् । अतएव तल्लिङ्गात्प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवितुमर्हति । प्राणस्यापि हि ब्रह्मलिङ्गसंबन्धः श्रूयते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' ( छा० १ । ११ । ५ ) इति । प्राणनिमित्तौ सर्वेषां भूतानामुत्पत्तिप्रलयावुच्यमानौ प्राणस्य ब्रह्मतां गमयतः ।

प्रश्न :—ननूक्तं मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेशनोद्गमनदर्शनमविरुद्धं, स्वापप्रबोधयोर्दर्शनादिति ।

प्रतीत होता है ?

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि मुख्य प्राणमें भी प्राणियोंका प्रवेश और उद्गमन—उत्पन्न होना देखा जाता है, श्रुतियोंमें इसप्रकार पढ़ा जाता है कि :—

"जब पुरुष सोता है तब प्राणमें वाणी लीन हो जाती है, एवं नेत्र, कान और मन प्राणमें लीन हो जाते हैं । और जब पुरुष जागता है तब प्राणसे ही फिर उत्पन्न होते हैं ( श० ब्रा० १० । ३ । ३ । ६ )"

इत्यादि, यह प्रत्यक्ष भी है कि शयन समयमें प्राणवृत्तियोंका लोप न होनेपर इन्द्रियोंकी वृत्तियां लुप्त हो जाती हैं, तथा जागरण समय में उत्पन्न हो जाती है । तथा प्राण प्राणियोंकी इन्द्रियोंका सार—मुख्य आधार है इस कारण भी मुख्य प्राणमें भी प्राणियोंके प्रवेश और प्रादुर्भावको कहने वाला वाक्यशेष विरुद्ध नहीं होता है । और दूसरी बात यह भी है कि प्रस्तावित प्राण देवताके पश्चात् गाये जानेवाले उद्गीथ और ग्रहण किये जानेवाले प्रतिहारके सूर्य और अन्न देवताओंको निर्देश किया है, वह सूर्य और अन्न ब्रह्म नहीं हैं, सूर्य और अन्नकी समानतामें ( अर्थात उनके साहचर्यमें ) प्राण भी ब्रह्म नहीं हैं ।

( यहांतक पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब प्रत्युत्तररूप सिद्धान्तीका समाधान ) ।

प्रत्युत्तर—इसप्रकार प्राप्त होनेपर सूत्रकार कहते हैं :—

**"अतएव प्राणः ।" "तल्लिङ्गात** ब्र० सू० १ । १ । २२ )"

इस पूर्वसूत्रमें ब्रह्मका लिङ्ग—चिन्ह बता दिया गया है, इसी कारण उस ब्रह्मके लिङ्ग पाये जानेसे प्राण शब्द भी परब्रह्म होसकता हैं, प्राणका भी ब्रह्म लिङ्गके साथ सम्बन्ध सुना जाता है :—

"ये सब प्राणी प्राणशब्दवाच्य ब्रह्ममें प्रवेश करते हैं ।" और उसी "प्राणस्वरूप ब्रह्मसे फिर उत्पन्न होते हैं ( छा० १ । ११ । ५ )"

इत्यादि, प्राणनिमित्त ही सब प्राणियोंका प्रभव और प्रलय कहा जाना प्राणको ब्रह्मत्वबोध कराते हैं ।

प्रश्न—यह कह दिया गया था कि-मुख्य प्राणके ग्रहण करने पर भी प्रवेश और पुनरावृत्ति का दर्शन विरुद्ध नहीं होता, क्योंकि शयन और जागरणकालमें ( सब इन्द्रियोंका प्राणमें प्रवेश और प्राणोंमे फिर उत्पन्न होना ) देखा गया है ?

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते, न सर्वेषां भूतानाम्। इह तु सेन्द्रियाणां सशरीराणां च जीवाविष्टानां भूतानां, 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इति श्रुतेः। यदापि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिगृह्यते तदापि ब्रह्मलिङ्गत्वमविरुद्धम्।

प्रश्नः—ननु सहापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबोधयोः प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' ( कौ० ३ । ३ ) इति।

प्रत्युत्तरम्—तत्रापि तल्लिङ्गात्प्राणशब्दं ब्रह्मैव। यत्पुनरन्नादित्यसंनिधानात्प्राणस्याब्रह्मत्वमिति, तदयुक्तम्। वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां संनिधानस्याकिंचित्करत्वात्। यत्पुनः प्राणशब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्धतरत्वं, तदाकाशशब्दस्येव प्रतिविधेयम्। तस्मात्सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम्। अत्र केचिदुदाहरन्ति—'प्राणस्य प्राणम्,' 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति च। तदयुक्तम्। शब्दभेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तेः। यथा पितुः पितेति प्रयोगेऽन्यः पिता षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्यः प्रथमानिर्दिष्टः पितुः पितेति गम्यते, तद्वत् 'प्राणस्य प्राणम्' इति शब्दभेदात्प्रसिद्धात्प्राणादन्यः प्राणस्य प्राण इति निश्चीयते। नहि स एव तस्येति भेदनिर्देशार्हो भवति। यस्य च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामान्तरेणापि स एव तत्र

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—शयन और जागरणकालमें केवल इन्द्रियोंका ही प्राणाश्रित प्रवेश और प्रादुर्भाव देखा जाता है, सब प्राणियोंका नहीं। यहां तो इन्द्रियोंके सहित सशरीर तथा जीवोंसे युक्त प्राणियोंका ( प्रवेश और प्रादुर्भाव सुना जाता है— ), क्योंकि :—

"ये सब ही प्राणी प्राणमें··· ··· ···( छा० १ । ११ । ५ )"

इस प्रकार श्रुति बतलाती है। जब भी श्रुतिके भूतशब्द पञ्चमहाभूत विषयक लिया जाता है, तब ब्रह्मलिङ्ग होना विरुद्ध नहीं।

प्रश्न—विषयोंके सहित भी इन्द्रियोंका शयन और जागरणकालमें प्राणोंमें लय और प्राणोंसे उत्पत्ति सुनते हैं:—

"जब यह सोता हुवा पुरुष कुछ स्वप्नको नहीं देखता है, तब इस प्राणमें ही वह जीवात्मा एक रूप हो जाता है, तब इस प्राणमें वाणी सब नामोंके साथ लीन हो जाती है ( कौषी० ३ । ३ )"

इत्यादि ?

प्रत्युत्तर—वहांपर भी ब्रह्मके लिङ्गसे प्राण शब्द ब्रह्मका ही वाचक है।

फिर जो यह कहा था कि अन्न और सूर्यके साहचर्यसे प्राणशब्द ब्रह्मवाचक नहीं, सो वह अनुचित है, क्योंकि वाक्यशेष बलसे प्राणशब्द ब्रह्मविषयक निश्चत हो जानेपर साहचर्य दुर्बल होता है। फिर जो कहा था कि प्राणशब्द पञ्चवृत्त्यात्मक प्राणायामादिमें अधिक प्रसिद्ध है, उसका समाधान आकाश शब्दके समान करना चाहिये, इसकारण प्रस्तावित प्राणदेवताका ब्रह्म होना सिद्ध होगया।

यहां कोई यह उदाहरण देते हैं कि—"वह प्राणका प्राण है, मन प्राणमें बद्ध होता है अर्थात् मन प्राणके आधार रहता है" ( इससे मुख्य प्राणको ग्रहण करते हैं ), सो अनुचित है, क्योंकि शब्दभेदसे और प्रकरणसे संशय होता नहीं, जैसे—"पिताका पिता" इस प्रयोगमें षष्ठी विभक्तिसे निर्देश किया हुवा पिता अन्य है, और प्रथमविभक्तिसे निर्देश किया हुवा पिता अन्य भिन्न है यह बोध होता है, उस प्रकार "वह प्राण का प्राण है" इस शब्दभेदसे प्रसिद्ध प्राणसे अन्य भिन्न प्राणका प्राण है यह निश्चय होता है। 'वह ही उसका है' यह कथन भेदनिर्देशके योग्य नहीं होता है। जिस प्रकरणमें जो निर्देश किया जाता है, अन्य नामसे भी वही प्रकरणवाला वहां निर्देश किया गया यह प्रतीत होता है, जैसे ज्योतिष्टोम यज्ञके अधिकारमें :—

प्रकरणी निर्दिष्ट इति गम्यते । यथा ज्योतिष्टोमाधिकारे—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति श्रुतेः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत् । अतःसंशयविषयत्वान्नैतदुदाहरणं युक्तम् । प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संशयपूर्वपक्षनिर्णया उपपादिताः ॥ २३ ॥

## १० ज्योतिश्चरणाधिकरणम् । सू० २४-२७

### ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

इदमामनन्ति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' ( छा० ३ । १३ । ७ ) इति । तत्र संशयः—किमिह ज्योतिःशब्देनादित्यादि ज्योतिरभिधीयते किंवा परमात्मेति । अर्थान्तरविषयस्यापि शब्दस्य तल्लिङ्गाद्ब्रह्मविषयत्वमुक्तम् । इह तु तल्लिङ्गमेवास्ति नास्तीति विचार्यते ।

प्रश्नः—किं तावत्प्राप्तम् ।

उत्तरम्—आदित्यादिकमेव ज्योतिःशब्देन परिगृह्यत इति ।

प्रश्नः—कुतः ।

उत्तरम्—प्रसिद्धेः । तमो ज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्विविषयौ प्रसिद्धौ । चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं शार्वरादिकं तम उच्यते । तस्या एवानुग्राहकमादित्यादिकं ज्योतिः । तथा

"वसन्त २ में ज्योतिसे यज्ञ करे ।"

इस वाक्यमें ज्योतिःशब्द ज्योतिष्टोम यज्ञविषयक होता है, वैसे ही परब्रह्मके प्रकरणमें 'मन प्राण बन्धन होता है' इसप्रकार सुना हुवा प्राणशब्द वायुविकारमात्रको कैसे बोध करावेगा ? इसकारण संशयका विषय न होनेसे यह उदाहरण उचित नहीं । प्रस्तावकी देवतामें तो संशय, पूर्वपक्ष और निर्णय बताये गये हैं ॥२३॥

यह नौवां प्राणाधिकरण समाप्त होगया ।

## ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ।

### ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

यह पढ़ते हैं कि :—

"इस द्युलोकसे परे जो ज्योति प्रकाशमान होती है, तथा जो सबके ऊपर और सब उत्तम तथा सबसे उत्तम लोकोंके ऊपर तथा इस पुरुषके भीतर जो प्रकाशित होता है ( छा० ३ । १३ । ७ )"

इत्यादि, यहां संशय होता है कि—क्या यह ज्योतिः शब्दसे सूर्य आदिकी ज्योति कही जाती है अथवा परमात्मा ? किसी विषयक शब्द ब्रह्मलिङ्गके पाने जानेसे ब्रह्मविषयक होता है यह कह दिया । यहांपर तो ब्रह्मका लिङ्ग-चिन्ह है या नहीं यह विचार किया जाता है ।

प्रश्न—( आक्षेप्ता ) तो क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर—( समाधाता पूर्वपक्षी ) ज्योतिः शब्दसे सूर्यसम्बन्धी ज्योति ली जाती है ।

प्रश्न—( आक्षेप्ता ) कैसे ?

उत्तर—( समाधाता पूर्वपक्षी ) प्रसिद्ध होनेसे, तमः-अन्धकार, ज्योतिः-प्रकाश ये दो शब्द परस्पर विरोधी विषयवाले प्रसिद्ध हैं । नेत्रकी वृत्तिको रोकनेवाला अन्धकार आदि तमः कहा जाता है, उसी आंखकी वृत्तिका ही अनुग्राहक सूर्यप्रकाश आदि ज्योति कही जाती है तथा 'प्रकाशमान होता है' यह श्रवण भी सूर्य-

'दीप्यते' इतीयमपि श्रुतिरादित्यादिविषया प्रसिद्धा। नहि रूपादिहीनं ब्रह्म 'दीप्यते' इति मुख्यां श्रुतिमर्हति। द्युमर्यादत्वश्रुतेश्च। नहि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा युक्ता। कार्यस्य तु ज्योतिषः परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा स्यात। 'परो दिवो ज्योतिः' इति च ब्राह्मणम्।

प्रश्नः—ननु कार्यस्यापि ज्योतिषः सर्वत्र गम्यमानत्वाद्द्युमर्यादावत्त्वमसमञ्जसम्।

उत्तरम्—अस्तु तर्ह्यत्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम्।

प्रश्नः—न। अत्रिवृत्कृतस्य तेजसः प्रयोजनाभावादिति।

उत्तरम्—इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति चेत्।

प्रश्नः—न। प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरुपास्यत्वदर्शनात। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' ( छा० ६। ३। ३ ) इति चाविशेषश्रुतेः। नचात्रिवृत्कृतस्यापि तेजसो द्युमर्यादत्वं प्रसिद्धम्।

उत्तरम्—अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योतिःशब्दम्।

विषयक प्रसिद्ध है, रूप आदिसे रहित ब्रह्म 'प्रकाशमान होता है' इसप्रकार मुख्य श्रवणके योग्य नहीं होता है। तथा द्युलोककी मर्यादाका श्रवण होनेसे भी ( यहां सूर्यके प्रकाश आदिका ग्रहण होता है ), चर अचर जगत्के बीजरूप सर्वात्मा ब्रह्मके द्युलोककी मर्यादा-हद होना ठीक नहीं, परिच्छिन्न कार्य ज्योतिके तो द्युलोककी मर्यादा होजावेगी, तथा "इस द्युलोकसे परे ज्योतिः है" यह ब्राह्मणग्रन्थका भी वचन मिलता है।

प्रश्न—( आक्षेप्ता ) कार्य-ज्योतिके भी सर्वत्र गमन होनेसे द्युलोककी मर्यादाका होना सङ्गत नहीं होता है ?

उत्तर—( समाधाता एकदेशी पूर्वपक्षी ) अच्छा, तो त्रिवृत न किया हुवा ( प्रथमोत्पन्न तेज ही ज्योति है ( अर्थात् हमारा ज्योतिः पदसे अभिप्राय यह है कि जो अग्नि, जल और अन्नसे मिला हुवा न हो त्रिवृत न किया हुवा अग्नि कहा जाता है, इसलिये अत्रिवृत्—तीन २ भाग न किया हुवा अग्नि सर्वत्र गमन न करनेसे उसकी मर्यादा-हद होना उचित ही है )।

प्रश्न—( आक्षेप्ता ) यह कथन सङ्गत नहीं होता है, क्योंकि त्रिवृत् न किये हुवे अग्निका प्रयोजन नहीं होता है ( अर्थात् त्रिवृत् न किये हुवे अग्निसे किसीका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।)

उत्तर—( समाधान एकदेशी पूर्वपक्षी ) प्रयोजन यही है कि वह अत्रिवृत्कृत अग्नि उपासनीय होती है।

प्रश्न—( आक्षेप्ता ) यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि किसी अन्य प्रयोजनसे प्रयुक्त ही आदित्यादिकी ज्योति उपासनीय देखी गई है, तथा:—

"उन अग्नि, जल और अन्न अर्थात पृथिवी देवताओंमेंसे एक २ के त्रिवृत् अर्थात् त्रिगुण करूं" ( छा० ६। ३। ३ )"

इसप्रकार सामान्यरूपसे तीनों देवताओंका त्रिवृत्करण सुना जाता है ( अग्निमात्रका त्रिवृत् न किया जाना विशेषरूपसे नहीं सुना जाता है ), अत्रिवृत् अग्निके द्युलोककी मर्यादा होना प्रसिद्ध भी नहीं।

( इसप्रकार प्रश्नकर्त्ता आक्षेप्ता द्वारा एकदेशी पूर्वपक्षीका पक्ष दूषित किये जानेपर परम समाधाता पूर्वपक्षी अपना समर्थन करते हैं )।

उत्तर—( परम समाधाता पूर्वपक्षी ) अच्छा, तो त्रिवृत् किया हुवा ही तेज-अग्नि ज्योतिःशब्द है।

प्रश्न :—ननूक्तमर्वागपि दिवोऽवगम्यतेऽग्न्यादिकं ज्योतिरिति ।

उत्तरम्—नैष दोषः । सर्वत्रापि गम्यमानस्य ज्योतिषः 'परो दिवः' इत्युपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते । ननु निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना भागिनी । 'सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु' इति चाधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्योतिष्युपपद्यतेतराम् । 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' ( छा० ३ । १३ । ७ ) इति च कौक्षेये ज्योतिषि परं ज्योतिरध्यस्यमानं दृश्यते । सारूप्यनिमित्ताश्चाध्यासा भवन्ति । यथा—'तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरम्' ( बृ० ५ । ५ । ३ ) इति कौक्षेयस्य तु ज्योतिषः प्रसिद्धमब्रह्मत्वम् । 'तस्यैषा दृष्टिः' ( छा० ३ । १३ । ७ ) 'तस्यैषा श्रुतिः' इति चौष्ण्यघोषविशिष्टत्वस्य श्रवणात् । 'तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति च श्रुतेः । 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद' ( छा० ३ । १३ । ८ ) इति चाल्पफलश्रवणादब्रह्मत्वम् । महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते । नचान्यदपि किंचित्स्ववाक्ये प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मलिङ्गम् । नच पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्ट-

प्रश्न—[1]( आक्षेता ) हमने कहा था कि द्युलोकसे नीचे भी अग्नि आदि ज्योति है ( इससे इस अग्निका सर्वत्र गमन प्रसिद्ध है इसलिये इसका द्युलोकमात्र मर्यादा-हद होना सिद्ध नहीं होता है ) ?

उत्तर—( परम समाधाता पूर्वपक्षी ) यह दोष दोष नहीं, सर्वत्र गमन करनेवाली ज्योतिका भी 'द्युलोकसे परे ज्योति है' यह उपासनार्थक प्रदेश विशेषका ग्रहण विरुद्ध नहीं, किन्तु प्रदेशरहित ब्रह्मके प्रदेश विशेषकी कल्पना उचित नहीं । "सबके ऊपर और उत्तम और सबसे उत्तम लोकोंमें" इसप्रकार अनेक आधार का श्रवण कार्य अग्निमें अधिक घटता है, तथा "यह जो पुरुषके भीतर ज्योति है" इसप्रकार कुक्षिस्थ अग्निमें अर्थात् जाठराग्निमें पर ज्योति—ब्रह्मका अध्यास किया हुवा देखा जाता है । समानरूप निमित्तसे अध्यास होते हैं जैसे —

"इस मण्डलमें जो पुरुष है उसका भू—भूर्लोक सिर है, सिर एक होता है यह भूः व्याहृति अक्षर भी एक है ( बृ० ५ । ५ । ३ )"

इत्यादि, जाठर अग्नि तो ब्रह्म नहीं यह प्रसिद्ध है, क्योंकि :—

"जिस अग्निके स्पर्शसे गरम मालूम होता है उस जाठराग्निकी यह दृष्टि है ( छा० ३ । १३ । ७ )" तथा "कानको बन्द करनेपर शब्द श्रवण होता है, यह जाठराग्निकी श्रुति है ( छा० ३ । १३ । ८ )"

इसप्रकार जाठराग्निका गरम और शब्दयुक्त होना सुना जाता है ( अर्थात् इस जाठराग्निके शब्द और गरम स्पर्श होनेसे यह पुरुषके अन्दरकी ज्योति ब्रह्म नहीं ), क्योंकि—

"त्वचासे गरम देखे जानेवाले तथा कानसे सुने जानेवाले जाठराग्निको उपासन करे ( छा० ३ । १३ । ८ )"

इसप्रकार श्रुतिसे जाठराग्निका ग्रहण सिद्ध होता है, तथा :—

"जो जाठराग्निको इसप्रकार त्वक् इन्द्रियद्वारा दृष्ट तथा कर्ण इन्द्रियद्वारा श्रुत जानता है वह पुरुष दर्शनीय और श्रवणीय होता है ( छा० ३ । १३ । ८ )"

इसप्रकार अल्प फल सुने जानेसे यह ज्योति ब्रह्म नहीं, महान् फलके लिये ब्रह्मोपासनकी कामना की जाती है । और न अपने वाक्यमें प्राण और आकाशके समान ज्योतिका ब्रह्मलिङ्ग है, न पूर्ववाक्यमें भी ब्रह्मको निर्देश किया है, क्योंकि :—

( १ )—यह सर्वत्र स्मरण रखना चाहिये कि सब अधिकरणोंमें प्रश्नकर्त्ता सिद्धान्ती होता है और उत्तरदाता पूर्वपक्षी होता है, पूर्वपक्षीका समर्थन समाप्त हो जानेपर सिद्धान्तीका फिर प्रत्युत्तररूप प्रतिपरिहार होता है, यह नियम पूर्वपक्षवाले प्रायः सब अधिकरणोंमें समझ लेना चाहिये—**अनुवादक ।**

मस्ति, 'गायत्री वा इद९ सर्वं भूतम्' इति छन्दोनिर्देशात्। अथापि कथंचित्पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टं स्यादेवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति। तत्र हि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (३।१२।१.६) इति द्यौरधिकरणत्वेन श्रूयते। अत्र पुनः 'परो दिवो ज्योतिः' इति द्यौर्मर्यादात्वेन। तस्मात्प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्यमिति।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम्।

प्रश्नः—कुतः।

प्रत्युत्तरम्—चरणाभिधानात्। पादाभिधानादित्यर्थः। पूर्वस्मिन्हि वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम्—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्यनेन मन्त्रेण। तत्र यच्चतुष्पदो ब्रह्मणस्त्रिपादमृतं द्युसंबन्धिरूपं निर्दिष्टं तदेवेह द्युसंबन्धान्निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञायते। तत्परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम्। न केवलं पूर्ववाक्याज्ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म। तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्। यत्तूक्तम्—'ज्योतिर्दीप्यते' इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योतिषि प्रसिद्धाविति। नायं दोषः। प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्यनयोः

"यह सब भूत गायत्री है (छा० ३।१२।१)"

इस पूर्व श्रुतिमें गायत्री छन्दका निर्देश किया है, (ब्रह्मको निर्देश नहीं,) यदि किसीप्रकार पूर्ववाक्यमें ब्रह्म निर्देश किया गया हो, तथापि इसकी यहां प्रत्यभिज्ञा—(फिर उसीका ज्ञान वा स्मरण) होती नहीं है, क्योंकि वहांपर :—

"शेष तीन भाग—पाद अपने द्योतनात्मक अमृतस्वरूपमें रहते हैं (छा० ३।१२।६)"

इसप्रकार द्युलोक आधारकरण से वाक्य सुना जाता है, फिर यहांपर "द्युलोकसे परे ज्योति है" इस प्रकार द्युलोक मर्यादा सीमा रूपसे स्पष्ट सुना जाता है, इसकारण यहां लौकिक ज्योति—प्रकाशको ग्रहण करना चाहिये।

(यहांतक परमसमाधाता पूर्वपक्षीका समाधान है, अब आगेसे सिद्धान्तीका प्रत्युत्तररूप पाठ है)।

प्रत्युत्तर—इसप्रकार प्राप्त होनेपर कहते हैं—यहां ज्योतिः शब्दसे ब्रह्मको ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—चरणको कहनेसे, अर्थात् यहां पादका कथन है, पूर्ववाक्यमें चतुष्पाद चार चरणवाले ब्रह्मको निर्देश किया है :—

"इतना विस्तृत यह संसार ब्रह्मकी महिमा है, पुरुष ब्रह्म इससे भी अधिक महान् है, यह सब भूत ब्रह्मके एक भागके बराबर है और शेष तीन भाग अपने द्योतनात्मक अमृतस्वरूपमें रहते हैं (छा० ३।१२।६)"

—इस मन्त्रसे, श्रुतिमें चतुष्पाद् ब्रह्मके द्यौसे सम्बन्ध रखनेवाले द्योतनात्मक अमृतरूप तीन पादको निर्देश किया है, द्यौके सम्बन्धसे उसीको यहां निर्देश किया है इसप्रकार प्रत्यभिज्ञा की जाती है, उस ब्रह्मको छोड़कर लौकिक ज्योतिकी कल्पना करनेवालेको प्रकृतका पूर्वनिर्दिष्टका त्याग और अप्रकृतका-पूर्व अनिर्दिष्टका ग्रहण हो जावेगा। न केवल ज्योतिःवाक्यमें ही ब्रह्मकी अनुवृत्ति होती है आगे शाण्डिल्य विद्यामें भी ब्रह्मकी अनुवृत्ति कर लेंगे, इसकारण यहां ज्योतिसे ब्रह्मको जान लेना चाहिये।

यह जो कहा था कि 'ज्योति-प्रकाश, दीप्यते-प्रकाशित होता है' ये दो शब्द कार्य-उत्पन्न हुवे अग्निमें प्रसिद्ध हैं, सो यह दोष आता नहीं, क्योंकि प्रकरणसे ब्रह्मका निश्चय हो जानेपर ये दोनों

शब्दस्यार्थविशेषकत्वात् । दीप्यमानकार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसंभवात् । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' ( तै० ब्रा० ३ । १२ । ६ । ७ ) इति च मन्त्रवर्णात् । यद्वा नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते, अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनात् । 'वाचैवायं ज्योतिषास्ते' ( बृ० ४ । ३ । ५ ), 'मनो ज्योतिर्जुषताम्' ( तै० ब्रा० १ । ६ । ३ । ३ ) इति च, तस्माद्यद्यत्कस्यचिदवभासकं तत्तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयते । तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदवभासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' ( कौ० २ । ५ । १५ ) 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' ( बृ० ४।४।१६ ) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । यदप्युक्तं द्युमर्यादत्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत इति । अत्रोच्यते—सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते ।

प्रश्नः—ननूक्तं निःप्रदेशस्य ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यत इति ।

प्रत्युत्तरम्—नायं दोषः । निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसंबन्धात्प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः ।

शब्द ( लौकिक ज्योतिको ) विशेषरूपसे प्रतिपादक नहीं होसकते, तथा प्रकाशित होनेवाली ज्योतिसे उपलक्षित—संकेत किये हुवे ब्रह्ममें भी इस ज्योतिशब्दका प्रयोग सम्भव होता है, जैसा :—

"जिस ब्रह्मके तेजसे प्रदीप्त होकर सूर्य सबको प्रकाशित करता है वह ब्रह्म उस सूर्यसे भी महान है ( तै० ब्रा० ३ । १२ । ६ । ७ )"

इसप्रकार मन्त्रमें वर्णन किया जाता है । अथवा—यह ज्योतिःशब्द नेत्रवृत्तिका ही अनुग्राहक-सहायक प्रकाशरूप तेजमें प्रवृत्त नहीं होता है, क्योंकि अन्यत्र भी प्रयोग देखा गया है :—

( १ ) "सम्राट जनक याज्ञवल्क्य ऋषिसे प्रश्न करते हैं कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके अस्त हो जानेपर कौनसी ज्योति रह जाती है ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि—ऐसे अन्धकारके समय मनुष्य लोग वाणीरूप ज्योतिसे ही बैठने उठने आदिका व्यवहार करते हैं ( बृ० ४ । ३ । ५ )"

( २ ) "मन भी प्रकाशक होनेसे ज्योति है, वह आत्मरूप है उसकी सेवा करनी चाहिये, यह आत्मको स्तुति है ( तै० ब्रा० १ । ६ । ३ । ३ )"

इत्यादि, इसप्रकार जो २ जिस किसीका प्रकाशक है वह २ ज्योतिशब्दसे कहा जाता है, इस प्रकार सिद्ध होनेपर चैतन्यरूप ब्रह्म भी सम्पूर्ण जगत्के प्रकाशित होनेमें कारण होनेसे ज्योतिःशब्द-वाच्य है, क्योंकि :—

( १ ) "ब्रह्मके प्रकाशमान होनेपर ही सूर्य आदि सब पीछे प्रकाशमान होते हैं, उस ब्रह्मके प्रकाशसे यह सब सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं ( कौ० २ । ५ । १५ )"

( २ ) "जो ज्योतियोंकी भी ज्योति, आयु और अमृत ब्रह्म है उसको योगी लोग उपासना करते हैं ( बृ० ४ । ४ । १६ )"

इत्यादि श्रुतियोंका प्रमाण है ।

और यह भी जो कहा था कि—सर्वव्यापक ब्रह्मका द्युलोक मर्यादा-हद होना बनता नहीं, यहां कहा जाता है—सर्वव्यापक ब्रह्मका भी उपासनाके निमित्त प्रदेशविशेषका ग्रहण विरुद्ध नहीं होता है ।

प्रश्न—यह कह दिया गया था कि प्रदेशरहित ब्रह्मके प्रदेशविशेषकी कल्पना हो नहीं सकती ?

प्रत्युत्तर—यह दोष आता नहीं, क्योंकि प्रदेशरहित ब्रह्मके भी उपाधि—( आश्रय ) विशेषके सम्बन्धसे प्रदेश-

तथाहि—आदित्ये, चक्षुषि, हृदये, इति प्रदेशविशेषसंबन्धानि ब्रह्मण उपासनानि श्रूयन्ते । एतेन 'विश्वतःपृष्ठेषु' इत्याधारबहुत्वमुपपादितम् । यदप्येतदुक्तं, औष्ण्यघोषानुमिते कौक्षेये कार्ये ज्योतिष्यध्यस्यमानत्वात्परमपि दिवः कार्यं ज्योतिरेवेति । तदप्ययुक्तम् । परस्यापिब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्ववत्कौक्षेयज्योतिष्प्रतीकत्वोपपत्तेः । 'दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति तु प्रतीकद्वारकं दृष्टत्वं श्रुतत्वं च भविष्यति । यदप्यल्पफलश्रवणान्न ब्रह्मेति, तदप्यनुपपन्नम् । नहीयते फलाय ब्रह्माश्रयणीयं, इयते नेति नियमहेतुरस्ति । यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसंबन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते, तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते । यत्र तु गुणविशेषसंबन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येवोच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते—'अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद' ( बृ० ४ । ४ । २४ ) इत्याद्यासु श्रुतिषु । यद्यपि न स्ववाक्ये किंचिज्ज्योतिषो ब्रह्मलिङ्गमस्ति तथापि पूर्वस्मिन्वाक्ये दृश्यमानं ग्रहीतव्यं भवति । तदुक्तं सूत्रकारेण—'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति ।

प्रश्नः—कथं पुनर्वाक्यान्तरगतेन ब्रह्मसंनिधानेन ज्योतिःश्रुतिः स्वविषयाच्छक्या प्रच्यावयितुम् ।

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः । 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति प्रथमतरपठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमाने पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे सत्यर्था-

विशेषकी कल्पना की जाती है, जैसे कि सूर्य, नेत्र और हृदयमें प्रदेशविशेषमें सम्बन्ध रखनेवाले ब्रह्म के उपासन सुने जाते हैं, इस उपाधिरूप आश्रयसे 'सबके ऊपर ज्योति है' इत्यादि अनेक आधारको बताया है।

और यह भी जो कहा था कि—गरमी पनेसे और घोषरूप शब्दसे अनुमान किये हुये कार्य जाठर अग्निमें अध्यास किये जानेवाले होनेसे द्युलोकसे परे जो ज्योति है वह भी कार्य ज्योति ही है, वह भी हेतुरहित अयुक्त ही है, क्योंकि पर ब्रह्मका भी नाम आदि प्रतीकके समान जाठराग्नि प्रतीक हो सकता है, तथा :—

"दृष्ट श्रुत जाठराग्निको उपासन करना चाहिये ( छा० ३ । १३ । ८ )".

इस श्रुतिविहित दृष्ट और श्रुत होना तो प्रतीक द्वारा ब्रह्मका भी हो जावेगा।

और जो यह भी कहा था कि—थोड़े फलके सुने जानेसे ब्रह्म ज्योतिःपदवाच्य नहीं, यह कथन भी अनुचित ही है, क्योंकि इतने फलके लिये ब्रह्मको आश्रयण करना चाहिये इतने फलके लिये नहीं इस नियममें हेतु-युक्ति नहीं है। जहां सब विशेष सम्बन्धोंसे रहित परब्रह्म आत्मरूपसे उपदेश किया जाता है, वहां एकरूपवाला ही फल मोक्ष होना है यह निश्चय है। और जहां तो गुणविशेषके सम्बन्धसे युक्त ब्रह्म उपदेश किया जाता है, वहां संसारमें देखे जानेवाले ही ऊँच नीच फल देखे जाते हैं, जैसे :—

"जो परमेश्वरको अन्नाद–संसाररूप अन्नको खानेवाला तथा वसुदान–धनको देनेवाला जानता है वह धनका लाभ करता है ( बृ० ४ । ४ । २४ )"

—इत्यादि श्रुतियोंमें। यद्यपि अपने वाक्यमें ज्योतिका कोई ब्रह्मलिङ्ग नहीं है, तथापि पूर्ववाक्यमें दीखनेवाला ब्रह्मलिङ्ग ग्रहण करने योग्य होता है, उस ब्रह्मलिङ्गको सूत्रकारने—"ज्योतिश्चरणाभिधानात्" इस सूत्रसे कहा है।

प्रश्न—कैसे फिर अन्य वाक्यगत ब्रह्मकी सन्निधिसे ज्योतिःशब्दका श्रवण अपने विषयसे हटाया जा सकता है ?

प्रत्युत्तर—यह दोष आता नहीं, क्योंकि "इस द्युलोकसे परे जो ज्योति है" इसप्रकार सबसे प्रथम पढ़े हुवे सर्वनामवाचक यत् शब्द द्वारा द्युलोकके सम्बन्धसे प्रत्यभिज्ञा–पुनःस्मरण होनेवाले पूर्ववाक्यनिर्दिष्ट

ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ॥ २४ ॥

## छन्दोभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

प्रश्न :—अथ यदुक्तं पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माभिहितमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच' ( छा० ३ । १२ । १ ) इति गायत्र्याख्यस्य छन्दसोऽभिहितत्वादिति, तत्परिहर्तव्यम् ।

प्रत्युत्तरम्—कथं पुनश्छन्दोभिधानान्न ब्रह्माभिहितमिति शक्यते वक्तुं, यावता 'तावानस्य महिमा' इत्येतस्यामृचि चतुष्पाद्ब्रह्म दर्शितम् ।

प्रश्न :—नैतदस्ति । 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तं तावानस्य महिमा' इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद्ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात् योऽपि तत्र 'यद्वै तद्ब्रह्म' ( छा० ३ । १२ । ५, ६ ) इति ब्रह्मशब्दः सोऽपि छन्दसः प्रकृतत्वाच्छन्दोविषय एव 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' ( छा० ३ । ११ । ३ ) इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते, तस्माच्छन्दोभिधानान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्वमितिचेत् ।

प्रत्युत्तरम—नैष दोषः । 'तथा चेतोर्पणनिगदात्' तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि

वहां अपने सामर्थ्यसे निर्देश किये जानेपर अर्थतः ज्योतिःशब्द भी ब्रह्मविषयक हो जाता है, इसकारण यहां इस मन्त्रमें ज्योतिःशब्दसे ब्रह्मको जानना चाहिये ॥ २४ ॥

## छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथाहि दर्शनम् ॥ २५ ॥

प्रश्न—तुमने फिर जो कहा था कि—पूर्ववाक्यमें भी ब्रह्मको नहीं कहा है, क्योंकि :—

"यह सब भूत और जो कुछ है सब गायत्री है ( छा० ३ । १२ । १ )"

इसप्रकार गायत्री नामक छन्दको कहा है, इसका परिहार—खण्डन होना चाहिये ?

प्रत्युत्तर—कैसे फिर छन्दके कहनेसे ब्रह्मका कथन नहीं यह कहा जा सकता है जब कि "इतनी इस ब्रह्मकी महिमा है" इस ऋचामें चतुष्पाद ब्रह्मको दिखाया है ?

प्रश्न—यह बात नहीं है, "यह सब गायत्री है" इसप्रकार गायत्रीको आरम्भ करके उसीको भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय, वाणी और प्राण इन भेदोंसे व्याख्या कर "सो यह चार चरणोंवाली ६ प्रकारकी गायत्री है, यह बात इस ऋचा द्वारा कही गई है— **तावानस्य महिमा**" इसप्रकार व्याख्यान की हुई उसी गायत्रीमें उदाहरण दिया हुआ मन्त्र कैसे अकस्मात् ब्रह्मको चतुष्पाद् कहेगा ? और जो भी :—

"जो गायत्री द्वारा वर्णन किया गया है वह ब्रह्म है ( छा० ३ । १२ । ५,६ )"

—इस श्रुतिमें ब्रह्मशब्द है वह भी छन्दके प्रकृत—( पूर्वनिर्दिष्ट प्रकरण ) होनेसे छन्दोविषयक ही है, तथा :—

"जो इस ब्रह्मोपनिषद्को इसप्रकार जानता है ( छा० ३ । ११ । ३ )"

इस मन्त्रमें ( जो ब्रह्मोपनिषद शब्द है उसमें ब्रह्मका वेद अर्थ करके ) वेदोपनिषद् इसप्रकार व्याख्यान करते हैं, इसकारण छन्दको कहनेसे ब्रह्म प्रकृत—पूर्वनिर्दिष्ट नहीं है ।

प्रत्युत्तर—ऐसा मानते हो तो यह दोष दोष नहीं, क्योंकि **"तथा चेतोर्पणनिगदात्"** उस प्रकार गायत्री नामक छन्दके द्वारा उस गायत्रीमें युक्त ब्रह्ममें चित्तको अर्पण—अर्थात् चित्तको विषयोंसे रोककर

चेतसोऽर्पणं चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते—'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति । नह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं संभवति । तस्माद्यद्गायत्र्याख्यविकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म तदिह सर्वमित्युच्यते । यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ( छा० ३ । १४ । १ ) इति । कार्यं च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' ( ब्र० २ । १ । १४ ) इत्यत्र । तथान्यत्रापि विकारद्वारेण ब्रह्मण उपासनं दृश्यते—'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' ( ऐ० ३ । २ । ३ । १२ ) इति । तस्मादस्ति छन्दोभिधानेऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये चतुष्पाद् ब्रह्म निर्दिष्टम् । तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यत उपासनान्तरविधानाय । अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते, संख्यासामान्यात् । यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैस्तथा ब्रह्म चतुष्पात् । तथान्यत्रापि छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे संख्यासामान्यात्प्रयुज्यमानो दृश्यते । तद्यथा—'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' इत्युपक्रम्याह 'सैषा विराडन्नादी' ( छा० ४ । ३ । ८ ) इति । अस्मिन्पक्षे ब्रह्मैवाभिहितमिति न छन्दोभिधानम् । सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म ॥ २५ ॥

समाधान करना इस ब्राह्मणवाक्यसे कहा जाता है—"**गायत्री वा इदं सर्वम्**" इत्यादि । अक्षर विन्याससमान्ययुक्त गायत्री सर्वात्मक नहीं हो सकती, इसकारण जो गायत्री नामक विकारमें संयुक्त जगत्‌का कारण ब्रह्म है वह यहां 'सर्व' कहा जाता है, जैसे :—

"निश्चय ही यह सब ब्रह्म है ( छा० ३ । १४ । १ )"

—इस सूत्रमें कार्य कारणसे अभिन्न है यह कहेंगे, "**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ( सू० २ । १ । १४ )" इस स्थानमें । तथा अन्यत्र भी विकारद्वारा ब्रह्मका उपासन देखा जाता है :

"इसी महदुक्थमें ऋग्वेदी लोग महान् उक्थ नामक शस्त्रमें प्राणका विचार करते हैं, इसीको अध्वर्यु—यजुर्वेदी लोग अग्निमें और इसीको छन्दोग सामवेदी लोग महाव्रत नामक यज्ञमें उपासन करते हैं ( ऐ० आ० ३ । २ । ३ । १२ )'

इत्यादि, इसकारण छन्दको कहे जानेपर भी पूर्ववाक्यमें चतुष्पाद ब्रह्मका निर्देश किया है, उसी ब्रह्म अन्य उपासनको विधान करनेके लिये ज्योतिर्वाक्यमें भी निर्देश किया जाता है । दूसरे लोग कहते हैं कि—

साक्षात् ही गायत्री शब्दसे संख्याकी समानतासे ब्रह्म प्रतिपादन किया जाता है जैसे—६ अक्षर वाले चार पादोंसे गायत्री छन्द चार चरणवाला होता है वैसे ब्रह्म चतुष्पात्—चार चरणोंसे युक्त है । तथा अन्यत्र भी छन्दोवाचक शब्द संख्याकी समानतासे अन्य अर्थमें प्रयुक्त किया हुआ देखा जाता है, जैसे कि :—

"वे ये अन्य पांच—अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल, और वायु, तथा अन्य पांच—वाणी, चक्षु, कर्ण, मन और प्राणसे मिलकर दस होते हैं, ये कृत कहाते हैं ( छा० ४ । ३ । ८ )"

इसप्रकार आरम्भ कर :—

"वह यह [1] विराट् कहाता है, तथा वह अन्नादी भी होता है ( छा० ४ । ३ । ८ )"

इत्यादि, इस पक्षमें ब्रह्म ही कहा गया है, छन्द नहीं । सर्वथा पूर्ववाक्यमें ही ब्रह्म प्रकृत है ॥२५॥

---

( १ )—छान्दोग्यके चतुर्थ प्रपाठकके तृतीय खण्डमें संवर्गविद्याका अर्थात् अन्नका प्रकरण है । इस तृतीय खण्डमें वायु और प्राणको संवर्ग बताया है, संवर्गका अर्थ है अपनेमें अन्योंको लय करनेवाला ।

## भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति । यतो भूतादीन्पादान्व्यपदिशति । भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्याह—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति । नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते । अपिच ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक्संबध्येत 'तावानस्य' इति । अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभिधीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' ( छा० ३ । १२ । ५ ) इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः । पुरुषसूक्तेऽपीयमृग्ब्रह्मपर-

## भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

यहांसे आगे भी इसप्रकार जानना चाहिये कि पूर्ववाक्यमें ब्रह्मको निर्देश किया है, जिसकारण श्रुति भूत आदि पादोंका व्यपदेश करती है । श्रुति भूत, पृथिवी, शरीर और हृदयका निर्देश करके कहती है—'सो यह चार चरणवाली छः प्रकारकी गायत्री है ।' इत्यादि, ब्रह्मको आश्रयण न करनेपर केवल अक्षर समुदायात्मक छन्दके भूत आदि पाद नहीं हो सकते । और दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्मको आश्रयण न करनेपर "**तावानस्य महिमा०** यह ऋचा सम्बद्ध नहीं होगी । इस ऋचा द्वारा स्वाभाविकरूपसे ब्रह्म ही कहा जाता है, क्योंकि :—

"ये सब भूत इस ब्रह्मके पादस्थानी हैं अर्थात् ब्रह्मके चतुर्थांशमें स्थित रहते हैं, और तीन पाद—अंश ब्रह्मके [illegible] अमृतरूपसे रहते हैं ( छा० ३ । १४ । १ )"

इसप्रकार ब्रह्म सर्वात्मक होता है । '**सहस्रशीर्षा पुरुष०**' आदि मन्त्रवाले पुरुषसूक्तमें भी यह

---

आधिदैविकपक्षमें वायु संवर्ग है, क्योंकि सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा जब अस्त या नष्ट होजाते हैं तब वायुमें लीन [illegible] हैं, और [illegible] जाता [illegible] तब वायुमें लीन होता है, वायु सबको अपनी शक्तिसे संहारकर अपनेमें लय करता है इसकारण [illegible] वायु संवर्ग है अर्थात् भोक्ता है और सूर्य आदि चारों भोग्य हैं ।

अध्यात्मपक्षमें प्राण संवर्ग है, क्योंकि जब पुरुष सोता है तब प्राणमें वाणी, नेत्र, कर्ण और मन लय होजाते हैं इसकारण प्राण संवर्ग है अर्थात् भोक्ता है और वाणी आदि भोज्य हैं ।

जो खाया जाता है तथा जो खानेवाला है दोनों अन्न कहे जाते हैं, इसी कारण तैत्तिरीय उपनिषदमें कहा है . '**अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते** ( तै० ब्रह्म० अ० [illegible] )'

यहां सब आदि [illegible] खाये जानेवाले होनेसे अन्न हैं, जैसे खाये जानेसे लौकिक चावल आदि अन्न कहे [illegible] भी खानेवाला होनेसे अन्न है, एवं वाणी आदि प्राणद्वारा खाये जानेवाले होनेसे अन्न हैं । प्राण भी खानेवाला होनेसे अन्न कहाता है, इसकारण देवतपक्षके सूर्य आदि पांच और अध्यात्मपक्षके वाणी आदि पांच ये दस ही अन्न कहे जाते हैं । अन्नका नाम कृत इसलिये है कि यह अन्न खानेरूपसे विधान किया जाता है । दिशाएं भी दस होती हैं, वेदोंमें विराट् एक छन्दोविशेष भी है, वह दस अक्षरोंका होता है । दिशा और छन्दकी समतासे अन्न भी दस हैं । अन्नका नाम विराट् इसलिये है कि वह दसों दिशाओंमें विराजमान होता है । इस संवर्गविद्यामें वायु और प्राणको संहारकर्त्ता होनेसे संवर्ग कहा है, वायु और प्राण ब्रह्मवाचक हैं, ब्रह्म सबको संहार करता है इसलिये ब्रह्म अन्न वा अन्नादी है, इसीलिये '**अत्ता चराचरग्रहणात्** ( ब्र० १ । २ । ९ )" इस वेदान्तसूत्रमें ब्रह्मको अत्ता—खानेवाला कहा है ।

इसी तृतीय खण्डमें एक ब्रह्मचारीने शौनकसे अन्नकी भिक्षा मांगी थी, उसने ब्रह्मचारीको अन्नकी भिक्षा दे दी । इस अन्नके मिषसे ब्रह्मका उपदेश किया गया है, यह उपनिषदोंकी शैली है—**अनुवादक** ।

तथैव समाम्नायते । स्मृतिश्च ब्रह्मण एवंरूपतां दर्शयति—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' ( भग० १० । ४२ ) इति । 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३ । १२ । ७ ) इति च निर्देश एवं सति मुख्यार्थ उपपद्यते । 'पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' ( छा० ३ । १३ । ६ ) इति च हृदयसुषिषु ब्रह्मपुरुषश्रुतिर्ब्रह्मसंबन्धितायां विवक्षितायां संभवति । तस्मादस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म प्रकृतम् । तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्ये द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यत इति स्थितम् ॥ २६ ॥

## उपदेशभेदान्नेतिचेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

प्रश्न :—यदप्येतदुक्तं पूर्वत्र— त्रिपादस्यामृतं दिवि इति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा इति. पुनः 'अथ यदतः परो दिवः' इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति, तत्परिहर्तव्यम् ।

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते नायं दोषः, उभयस्मिन्नप्यविरोधात् । उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशे न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते । यथा लोके वृक्षाग्रसंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च । एवं दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते । अपर आह—यथा लोके वृक्षाग्रेणासंबद्धोऽपि

[illegible] ब्रह्म [illegible] पड़ी जाती है। स्मृति भी ब्रह्मको [illegible] दिखाती है —

'[illegible] इस [illegible] प्रकाश [illegible] स्थित हो [illegible]' ( भग० १० । ४२ )

[illegible] तथा —

'[illegible] ब्रह्म [illegible]' ( [illegible] । १२ । ७ )

[illegible] प्रयोग [illegible] ठीक होता है तथा —

[illegible] छिद्रमें [illegible] पश्चिम [illegible] छिद्रमें [illegible], उत्तर दिशाके छिद्रमें समान और [illegible] दिशाके छिद्रमें उदान [illegible] ब्रह्मपुरुष [illegible] अर्थात् [illegible] इन पाँच [illegible] ब्रह्मका चिन्तन होता है ( [illegible] ३ । १३ । ६ )

इत्यादि, हृदयके छिद्रोंमें ब्रह्मपुरुषकी श्रुति भी ब्रह्मके सम्बन्धकी विवक्षा होनेपर सम्भव हो सकती है, इस कारण पूर्ववाक्यमें ब्रह्म प्रकृत [illegible] है। [illegible] द्युसम्बन्ध [illegible] प्रत्यभिज्ञा—पुनः स्मरण होनेवाला ब्रह्म निर्देश किया जाता है यह स्थिर हो गया ॥ २६ ॥

## उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

प्रश्न—हमने और जो यह भी कहा था कि—पहले 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस मन्त्रमें सप्तमी विभक्तिसे द्युको आधार—अधिकरणरूपसे निर्देश किया है कि फिर "अथ यदतः परो दिवः" इसमें पञ्चमी विभक्तिसे मर्यादा—हद रूपसे ज्योतिका निर्देश किया है, इस कारण उपदेश भेद होनेसे [illegible] इस पदकी यहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है, इसका समाधान करना चाहिये।

प्रत्युत्तर—यहाँ कहा जाता है—यह दोष आता नहीं, क्योंकि दोनों ही [illegible] विरोध नहीं होता है, सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त दोनों ही उपदेशमें प्रत्यभिज्ञा विरुद्ध नहीं होती है [illegible] वृक्षके अग्र भागमें सम्बद्ध हुआ भी बाज पक्षी दोनों प्रकारसे उपदेश किया हुआ देखा जाता है [illegible] वृक्षके अग्र भागमें बाज है, वृक्षके अग्र भागसे परे बाज है, एवं 'द्युलोकमें ही होनेवाला ब्रह्म 'द्युलोकसे परे' ऐसा उपदेश किया जाता है।

दूसरे लोग कहते हैं कि—जैसे लोकमें वृक्षके अग्र भागसे सम्बद्ध न हुआ भी बाजपक्षी—दोनों प्रकारसे उपदेश किया हुआ देखा जाता है—वृक्षके अग्रभागमें श्येन है तथा वृक्षके अग्रभागसे परे

श्येन उभयथापदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च । एवंच दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीत्युपदिश्यते । तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम् । अतः परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

## ११ प्रतर्दनाधिकरणम् । सू० २८-३१

## प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता । तस्यां श्रूयते— स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति । तथोत्तरत्रापि 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति ( कौ० ३ । १,२,३ ) इति । तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि । अन्ते च 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः ( कौ० ३ । ८ ) इत्यादि । तत्र संशयः—किमिह प्राणशब्देन वायुमात्रमभिधीयत उत देवतात्मेति, जीवोऽथवा परं ब्रह्मेति ।

प्रश्नः—ननु 'अतएव प्राणः' इत्यत्र वर्णितं प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वम् । इहापि च ब्रह्मलिङ्गमस्ति —'आनन्दोऽजरोऽमृतः इत्यादि । कथमिह पुनः संशयः संभवति ।

उत्तरम्—अनेकलिङ्गदर्शनादिति ब्रूमः । न केवलमिह ब्रह्मलिङ्गमेवोपलभ्यते । सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि । 'मामेव विजानीहि ( कौ० ३ । १ ) इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम् । इदं शरीरं

श्येन है । एवं 'द्युलोकसे परे' होनेपर भी वहां 'द्युलोकमें' इसप्रकार उपदेश किया जाता है, इस कारण पूर्वनिर्देश किये हुए ब्रह्मकी यहां प्रत्यभिज्ञा—पुनःस्मरण है इसलिए परब्रह्म ही ज्योतिःशब्दवाच्य है यह सिद्ध होगया ॥ २७ ॥

यह दशवां ज्योतिरधिकरण समाप्त होगया ।

## प्रतर्दनाधिकरणम् ।

## प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्में इन्द्र और प्रतर्दन नामक राजाकी कथा है जो :—"दिवोदासका पुत्र दैवोदासि प्रतर्दन नामक राजा युद्धसे और पुरुषार्थसे इन्द्रके प्रिय निवास स्थानपर पहुँचे ।"—इसप्रकार आरम्भ की गई है । उस कथामें सुना जाता है :—

"इन्द्रने प्रतर्दनसे कहा कि मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूं तथा मैं ही आयु और अमृत हूँ इत्यादि रूपसे तुम मेरी उपासना करो ।" तथा आगे भी :—

"प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीरको ग्रहण करके उठाता है ( कौ० ३ । १,२,३ )" तथा :—

"वाणीको जिज्ञासा न करो किन्तु वक्ताको जानो ।" इत्यादि तथा अन्तमें :—

"वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द तथा जरामरणरहित है ( कौ० ३ । ८ )"

इत्यादि, अब यहां संशय होता है कि—क्या यहां प्राणशब्दसे भौतिक वायुमात्र कहा जाता है ? अथवा देवतात्मा इन्द्र अथवा जीव वा परब्रह्म परमात्मा कहा जाता है ?

प्रश्न—"**अतएव प्राणः** ( ब्र० १ । १ । २३ )" इस सूत्रमें वर्णित प्राणशब्द ब्रह्मपरक है, यहांपर भी ब्रह्मलिङ्ग है :—

"वह ब्रह्म आनन्द, अजर अमर है ।" इत्यादि, फिर कैसे यहां संशय हो सकता है ?

उत्तर—हम कहते हैं कि अनेक लिङ्ग देखे जानेसे संशय होता है । केवल यहां ब्रह्मलिङ्ग ही उपलब्ध नहीं होता है, अन्योंके लिङ्ग भी पाये जाते हैं :—"मुझ ही को जानो ( कौ० ३ । १ )"

इत्यादि वचन देवतात्माके लिङ्ग हैं । इस शरीरको ग्रहण कर उठाता है यह प्राणका लिङ्ग है, तथा

परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्गम्। 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गम्। अत उपपन्नः संशयः। तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राणः।

प्रत्युत्तरम्—इति प्राप्त उच्यते—प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम्।

प्रश्नः—कुतः

प्रत्युत्तरम्—तथानुगमात्। तथाहि—पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते। उपक्रमे तावत् 'वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति। तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात्। नह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्धिततमप्राप्तिरस्ति। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया' (कौ० ३।१) इत्यादि च ब्रह्मपरिग्रहे घटते। ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २।२।८) इत्याद्यासु श्रुतिषु। प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यते। नह्यचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वं संभवति। तथोपसंहारेऽपि—

'वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, वक्ताको जाने' इत्यादि जीवका लिङ्ग है, इसकारण संशय होना उचित है।

प्रश्न—यहां प्रसिद्ध होनेसे भौतिक वायु प्राण है।

प्रत्युत्तर—इसप्रकार प्राप्त होनेपर कहा जाता है—ब्रह्मको प्राणशब्दवाच्य जानना चाहिये।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—'तथानुगमात्', पूर्वापरवाक्यकी पर्यालोचना करनेपर पदार्थोंका ब्रह्मप्रतिपादनपर समन्वय (वाक्योंका सम्बन्ध) उपलब्ध होता है, उपक्रममें "वर मांगो" इसप्रकार इन्द्रका कहना सुनकर प्रतर्दनने [illegible] "जिसे तुम मनुष्यके लिये अत्यन्त हितकारक मानते हो।"

इत्यादि, उस प्रतर्दनके लिये अत्यन्त हितकारक रूपसे उपदेश किया हुआ प्राण क्या परमात्मा न होगा? अन्यत्र उपनिषदोंमें परमात्माके ज्ञानसे अन्य अत्यन्त हितकारककी प्राप्ति होती नहीं, जैसे :—

"उसी परमात्माको जानकर विद्वान् लोग मृत्युको पार जाते हैं, मोक्षप्राप्तिके लिये अन्य मार्ग नहीं है (श्वे० ३।८)" इत्यादि श्रुतियोंसे (मोक्षप्राप्त्यर्थ अन्य मार्ग न होना सिद्ध होता है)। तथा :—

"जो मुझको जानता है उसका स्वर्ग आदि लोक किसी निन्दित कर्मसे नष्ट नहीं होता है, न चोरीसे और न भ्रूणहत्यासे, अर्थात् वह ब्रह्मज्ञाता पुरुष किसी निन्दित कर्मसे बद्ध नहीं होता है (कौ० ३।१)"

इत्यादि कथन ब्रह्मके ग्रहण करनेमें घटता है। ब्रह्मज्ञानसे सब कर्मोंका क्षय होना प्रसिद्ध है :—

"उस पर अवर—निर्गुण सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर इस ब्रह्मज्ञाता पुरुषकी हृदयस्थ वासनारूप गांठ भिन्न होकर खुल जाती है·············और इसके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं (मु० २।२।८)"

—इत्यादि श्रुतियोंमें। प्रज्ञात्माका होना भी ब्रह्मपक्षमें ठीक होता है, अचेतन-जड भौतिक वायु प्रज्ञात्मा—ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता, तथा उपसंहार—समाप्तिमें भी :—

'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यानन्दत्वादीनि न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्यक् संभवन्ति । 'स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' इति, एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः' ( कौ० ३ । ८ ) इति च । सर्वमेतत्परस्मिन्ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते न मुख्ये प्राणे । तस्मात्प्राणो ब्रह्म ॥ २८ ॥

## न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते । न परं ब्रह्म प्राणशब्दम् ।

प्रश्न :—कस्मात् ?

उत्तरम्—वक्तुरात्मोपदेशात् । वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान्देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायाचचक्षे—'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहंकारवादेन । स एष वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं ब्रह्म स्यात् । नहि ब्रह्मणो वक्तृत्वं संभवति 'अवागमनाः' ( बृह० ३ । ८ । ८ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा विग्रहसंबन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसंभवद्भिर्धर्मैरात्मानं तुष्टाव—'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन्शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्येवमादिभिः । प्राणत्वं

"वह परमात्मा आनन्द, अजर, अमर है । इसप्रकार आनन्द आदि ब्रह्मसे अन्यत्र नहीं हो सकते । तथा :—

"वह परमात्मा पुण्यकर्मसे बड़ा नहीं होता है और न नीच कर्मसे छोटा. वह ही उत्तम कर्मको कराता है, उत्तम कर्म करनेवालेको यमलोकोंसे ऊपर लेजानेकी कामना करता है, वह ही नीचकर्म कराता है, उस नीच कर्म करनेवाले पुरुषको नीचे लेजानेकी कामना करता है यह परमात्मा सब लोकोंका स्वामी है, यह सब लोकोंका मालिक है ( कौ० ३ । ८ )"

इत्यादि, यह सब परब्रह्मको आश्रयण करनेपर सङ्गत हो सकता है, मुख्य भौतिक प्राणमें नहीं. इसकारण प्राण ब्रह्म है ॥ २८ ॥

## न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९

—( अब पूर्वपक्षीका कथन )—

जो प्राणको ब्रह्म कहा था उसका आक्षेप किया जाता है, परब्रह्म प्राण शब्दवाच्य नहीं है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—वक्ताके आत्माका उपदेश होनेसे, इन्द्र नामक किसी शरीरधारी देवता विशेषने अपने आत्माको प्रतर्दनके लिये कहा—"मुझे ही जानो" इसप्रकार आरम्भ करके :—

"मैं प्राण हूँ मै प्रज्ञात्मा हूँ ।"—इसप्रकार अभिमानपूर्वक कहा. वक्ता इन्द्रके आत्मरूपसे उपदेश किया हुआ यह यह प्राण कैसे ब्रह्म हो सकेगा ? ब्रह्म वक्ता नहीं हो सकता है, क्योंकि :—

"परमात्मा अवाग्-वाणीरहित, अमनाः—मनरहित है ( बृ० ३ । ८ । ८ )"

इत्यादि श्रुतियोंसे कहा जाता है, तथा ब्रह्ममे सम्भव न होनेवाले शरीरसम्बन्धी धर्मोंसे इन्द्रने अपनी आत्माकी स्तुति की :—

"त्वाष्ट्र—त्वष्टाके तीन सिरवाले पुत्रको मैंने मारा था, तथा अरुन्मुख-वेदान्तज्ञानशून्य[१] यतिको मैंने वनके कुत्तोंको अर्पण किया था ।"

( १ )—रौति यथार्थं शब्दयति इति रुद्—वेदान्तवाक्यं तत्र मुखं येषां ते रुन्मुखाः तेभ्योऽन्ये

चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते । 'प्राणो वै बलम्' इति हि विज्ञायते । बलस्य चेन्द्रो देवता प्रसिद्धा । 'या च काचिद्बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तद्' इति हि वदन्ति । प्रज्ञात्मत्वमप्यप्रतिहतज्ञानत्वाद्देवतात्मनः सम्भवति । अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति । निश्चिते चैवं देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासम्भवं तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि । तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशान्न प्राणो ब्रह्मेत्याक्षिप्य ।

प्रत्युत्तरम्—प्रतिसमाधीयते 'अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्' इति । अध्यात्मसम्बन्धः प्रत्यगात्मसम्बन्धस्तस्य भूमा बाहुल्यमस्मिन्नध्याय उपलभ्यते । 'यावद्ध्यस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्यायुःप्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति न देवताविशेषस्य पराचीनस्य । तथास्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति । तथा 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' ( कौ० ३ । ३ ) इति । 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इति चोपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणे

[illegible]

[illegible] **अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्** । [illegible]

[illegible] **'प्राणानां निःश्रेयसम्'** [illegible]

( अ ) [illegible]

( आ ) [illegible]

आरम्भ कर

[illegible]

---

अरुन्मुखाः, शालावृकेभ्यः—आरण्यश्वभ्यः—इति वेदान्तकल्पतरु ।

भावार्थ —जो यथार्थ [illegible] जिनका प्रवर्तन है व अरुन्मुख [illegible] इनसे विरुद्ध अन्य अरुन्मुख अर्थात् [illegible]

( १ )—भाष्यमें "तथास्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसम् इति [illegible] उपनिषद्में इसप्रकार पाठ है :—

"अस्तित्येव प्राणानां निःश्रेयसादानमिति ( कौ० [illegible] )

'अस्तीत्येव' के स्थानमें 'अस्तित्वे च' यह पाठभेद हो गया जैसा प्रतीत होता है—अनु० ।

ऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इति विषयेन्द्रियव्यवहारानभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरन्ति । 'स म आत्मेति विद्यात्' इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुर्न पराचीनपरिग्रहे । 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' ( बृह० २ । ५ । १९ ) इति च श्रुत्यन्तरम् । तस्मादध्यात्मसंबन्धबाहुल्याद्ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः ॥ २९ ॥

प्रश्न :—कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेशः ?

प्रत्युत्तरम्—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

इन्द्रो नाम देवतात्मा स्वमात्मानं परमात्मत्वेनाहमेव परं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्रं पश्यन्नुपदिशति स्म मामेव विजानीहि इति । यथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति तद्वत् । 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' ( बृ० १ । ४ । १० ) इति श्रुतेः ।

प्रश्न :—यत्पुनरुक्तं 'मामेव विजानीहि' इत्युक्त्वा विग्रहधर्मैरिन्द्र आत्मानं तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति, तत्परिहर्तव्यम् ।

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—न त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थत्वेनोपन्यासो यस्मादेवंकर्माहं तस्मान्मां विजानीहीति ।

प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द अजर, अमृत है ( कौ० ३ । ८ )"

इत्यादि श्रुति विषय और इन्द्रिय व्यवहारोंसे परे और अनभिभूत प्रत्यगात्माका ही उपसंहार ( आत्म समाप्त ) करती है, तथा :—

"वह मेरा आत्मा है ऐसा जाने ( कौ० ३ । ८ )"

यह उपसंहारकी समाप्ति भी व्यापक आत्माको ग्रहण करनेमें ही संगत होती है, परन्तु देवताविशेषको ग्रहण करनेमें नहीं । तथा :—

"यह आत्मा ब्रह्म है जो सबको अनुभव करनेवाला है ( बृ० २ । ५ । १९ )"

यह अन्य श्रुति भी ( इसी विषयका समर्थन करती ) है, इसकारण व्यापक आत्माके सम्बन्धकी बहुलता होनेके कारण ब्रह्मका उपदेश ही है, देवतात्माका उपदेश नहीं ॥ २९ ॥

प्रश्न—तो वक्ताका आत्मोपदेश कैसा होता है ?

प्रत्युत्तर—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

इन्द्र नामक देवात्माने अपने आपको ( अर्थात् अपने आपको ) परमात्मारूपसे 'मैं ही परब्रह्म हूं' इसप्रकार आर्ष दर्शनसे शास्त्रके अनुसार देखकर उपदेश दिया था कि—'मुझे ही जानो' इत्यादि, जैसे :—

"यही देखकर ऋषि वामदेव इस भावको प्राप्त हुवे कि मैं मनु और सूर्य होगया हूँ ।" इसप्रकार ( इन्द्र परब्रह्मरूपको प्राप्त हुआ ), क्योंकि :—

"—देवोंमें जिस २ ने जिस २ को देखा वे तत्तत्स्वरूपवाले होगये ।" ( बृ० १ । ४ । १० )

यह श्रुतिका प्रमाण है ।

प्रश्न—फिर जो कहा था कि 'मुझे ही जानो' यह कहकर त्वष्टाके पुत्रको मारने आदि शरीरधर्मोंसे इन्द्रने आत्माकी स्तुति की, उसका समाधान होना चाहिये ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—त्वाष्ट्र-त्वष्टाके पुत्रको हनन करने आदिका—जानने योग्य इन्द्रकी स्तुतिके उद्देश्यसे—निर्देश नहीं हुवा है—जिसकारण मैं इन्द्र ऐसा करनेवाला हूं, अतः तुम मुझे जानो इत्यादि।

प्रश्न :—कथं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—विज्ञानस्तुत्यर्थत्वेन यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनि साहसान्युपन्यस्य परेण विज्ञानस्तुतिमनुसंदधाति—'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' इत्यादिना । एतदुक्तं भवति—यस्मादीदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, स योऽन्योऽपि मां वेद न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यत इति । विज्ञेयं तु ब्रह्मैव 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति वक्ष्यमाणम् । तस्माद् ब्रह्मवाक्यमेतत ॥ ३०॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

यद्यप्यध्यात्मसंबन्धभूमदर्शनान्न पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः तथापि न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति ।

प्रश्न :—कुतः ?

उत्तरम्—जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च । जीवस्य तावदस्मिन्वाक्ये विस्पष्टं लिङ्गमुपलभ्यते 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात' इत्यादि । अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते । तथा मुख्यप्राणलिङ्गमपि—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति । शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य धर्मः, प्राणसंवादे वागादीन्प्राणा-

---

प्रश्न—तो किस उद्देश्यसे निर्देश है ?

प्रत्युत्तर—विज्ञानकी ( विशेष ज्ञानवाले ब्रह्मात्माकी ) स्तुतिके उद्देश्यसे ( त्वाष्ट्रवधादिका निर्देश है ), कारण कि त्वाष्ट्रवध आदि साहसके कर्मोंका निर्देश करके आगेके वाक्यसे विज्ञान-ब्रह्मात्माकी स्तुतिका अनुसन्धान करता है :—

"मेरा लोम भी नष्ट नहीं होता है, और जो मुझे जानता है उसका स्वर्ग आदि लोक किसी कर्मसे नष्ट नहीं होता ।"

—इत्यादि वाक्यसे, इस कथनका अभिप्राय यह है कि जिस कारण इसप्रकारके क्रूर कर्मोंको करते हुये ब्रह्मात्मत्वको प्राप्त हुये मेरे लोम भी नष्ट नहीं होते हैं, वह जो अन्य भी मुझे जानता है उसका स्वर्ग आदि लोक किसी कर्मसे भी नष्ट न होगा इत्यादि । विज्ञेय—जानने योग्य तो ब्रह्म ही है, क्योंकि "मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ" इसप्रकार आगे कहा जावेगा, इसकारण यह ब्रह्मवाक्य है ॥ ३० ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

—( अब पूर्वपक्षीका समाधान )—

यद्यपि आत्माके सम्बन्धकी बहुलता देखे जानेसे परिच्छिन्न देवतात्माका उपदेश नहीं है, तथापि यह ब्रह्मवाक्य नहीं हो सकता ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—जीवलिङ्ग और मुख्यप्राणलिङ्ग होनेसे, जीवका तो इस वाक्यमें स्पष्ट ही लिङ्ग उपलब्ध होता है :—

'वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, वक्ताको जाने' इत्यादि—यहां वाणी आदि इन्द्रियोंसे युक्त शरीर तथा इन्द्रियोंका स्वामी जीवात्मा जानने योग्य रूपसे पढ़ा जाता है, तथा मुख्य प्राणलिङ्ग भी यह है :—

"प्राण ही प्रज्ञात्मा इस शरीरको ग्रहण कर उठाता है ।" इत्यादि, शरीरको धारण करना मुख्य प्राणका धर्म है, प्राणके संवादमें वाणी आदि इन्द्रियोंको आरम्भ कर :—

न्प्रकृत्य—'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' ( प्र० २ । ३ ) इति श्रवणात् । ये तु 'इमं शरीरं परिगृह्य' इति पठन्ति तेषामिमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम् । प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम् । मुख्येऽपि प्राणो प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्नमेव । जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देशः स्वरूपेण च भेदनिर्देश इत्युभयथा निर्देश उपपद्यते—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति । ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद्भिद्येत । तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयातां न ब्रह्मेति चेत् ।

प्रत्युत्तरम्—नैतदेवं, उपासात्रैविध्यात् । एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत—जीवोपासनं मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति । न चैतदेकस्मिन्वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम् । उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते । 'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इत्युक्त्वान्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येकरूपावुपक्रमोपसंहारौ दृश्येते । तत्रार्थैकत्वं युक्तमाश्रयितुम् । न च ब्रह्मलिङ्गमन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्यम् । दशानां भूतमात्राणां प्रज्ञामात्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानुपपत्तेः । आश्रितत्वाच्चान्यत्रापि ब्रह्मलिङ्गवशात्प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तेः । इहापि च हित-

"इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ प्राणने सब इन्द्रियोंसे कहा कि—तुम लोग मोहको प्राप्त न होवो, मैं ही प्राण अपान आदि पांच प्रकारसे विभक्त होकर इस बाणको—( वाति गच्छतीति बाणम्—चलायमान शरीरको )—स्तम्भन धारण करता हूँ ( प्र० २ । ३ )"

इस प्रकार सुना जाता है । जो तो "**इमं शरीरं परिगृह्य**" इस प्रकार पाठभेद पढ़ते हैं, उनके पक्षमे इमम्—इस जीवको अथवा इन्द्रिय समुदायको ग्रहण कर शरीरको उठाता है, इस प्रकार व्याख्या कर लेनी चाहिये । जीवमें प्रज्ञात्माका होना भी तो चेतन होनेसे ठीक ही है, तथा मुख्य प्राणमें भी प्रज्ञात्माका होना बनता है, क्योंकि मुख्य ज्ञानके साधन अन्य वागादि इन्द्रियोंका आश्रय—आधार है । जीवको और मुख्य प्राण को ग्रहण करनेमें प्राण और प्रज्ञात्माका सहयोग होनेसे अभेद का निर्देश तथा स्वरूपतः भेदका निर्देश होता है:—

"जो ही प्राण है वह प्रज्ञा है और जो ही प्रज्ञा है वह प्राण है, ये दोनों साथ २ इस शरीरमें निवास करते हैं और साथ २ निकल जाते हैं ।" इत्यादि, ब्रह्मको ग्रहण करनेमें तो कौन किससे भिन्न होगा ? इस कारण यहां जीव और मुख्य प्राण इन दोनोंमें एक अथवा दोनों प्रतीत होने चाहियें, ब्रह्म नहीं ।

प्रत्युत्तर—इस प्रकार मानना ठीक नहीं, क्योंकि तीन प्रकारकी उपासना मिलती है. ऐसी स्थिति होने पर तीन प्रकारकी उपासनायें हो जावेंगी—एक जीवोपासना, द्वितीय मुख्य प्राणकी उपासना और तीसरी ब्रह्म की उपासना । एक ही वाक्यमे इस तीन प्रकारकी उपासनाको स्वीकार करना उचित नहीं, उपक्रम—आरम्भ और उपसंहार—समाप्ति इन दोनोंसे एक वाक्यता प्रतीत होती है । "मुझको ही जानो" इस प्रकार आरम्भ करके "मै प्राण प्रज्ञात्मा हूँ, इस आयु तथा अमृतरूप मुझे उपासन करो" यह कह कर अन्तमें "वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमर है"—इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार एकरूप दीखते हैं, श्रुतिमें एक ही अर्थको आश्रयण करना युक्त है । ब्रह्मलिङ्गको अन्य परक लगाकर बदल नही सकते । पांच शब्द स्पर्श आदि और पांच पृथिवी जल आदि इन दश भूत मात्राओंकी तथा पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय जनितज्ञान इन दस प्रज्ञामात्राओंका ब्रह्मसे अन्यत्र अर्पण हो नहीं सकता, तथा अन्यत्र उपनिषदों में भी (प्राण ब्रह्मपरक) आश्रित होनेसे

तमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गयोगाद्ब्रह्मोपदेश एवायमिति गम्यते । यत्तु मुख्यप्राणलिङ्गं दर्शितम्—'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, तदसत् । प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात्परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात् । 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥' ( काठ० २ । ५ । ५ ) इति श्रुतेः । यदपि 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गं दर्शितं तदपि न ब्रह्मपक्षं निवारयति । नहि जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्यः । बुद्ध्याद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सञ्जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते । तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुं 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादिना प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थमुपदेशो न विरुध्यते । 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥' ( के० १ । ४ ) इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यैवात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शयति । यत्पुनरेतदुक्तम्—'सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति प्राणप्रज्ञात्मनोर्भेददर्शनं ब्रह्मवादे नोपपद्यत इति । नैष दोषः । ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रययोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्भेदनिर्देशोपपत्तेः उपाधिद्वयोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद इत्यतः प्राण

ब्रह्मलिङ्गवशासे प्राण शब्दकी ब्रह्ममें प्रवृत्ति होती है, और यहां हिततम—अतिशय हितकारक का निर्देश आदि ब्रह्मलिङ्गके योग से यह ब्रह्मका ही उपदेश प्रतीत होता है।

और जो प्राणलिङ्गको दिखाया था कि—"इस शरीरको ग्रहण कर उठाता है" इत्यादि, यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्राणकी क्रिया परमात्माधीन होती है, इस कारण इस प्राणन क्रियाका परमात्मा मे उपचार —( अमुख्य व्यवहार ) हो सकता है:—

"मनुष्य न प्राणसे और न अपान से जीता है, इतर जो ब्रह्म है जिसमे ये दोनों आश्रित हैं उससे सब प्राणी जीते हैं ( कठ० २।५।५ )"

यह श्रुति प्रमाण है।

और भी जो—"वाणी को जानने की इच्छा करे, वक्ताको जाने" इत्यादि जीवलिङ्गको दिखाया था, वह भी ब्रह्मपक्षको हटाता नहीं, जीव नामक ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न कोई नहीं है, क्योंकि—तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतिवाक्य ( ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न जीवात्मा के होनेको निषेध करती ) हैं। बुद्धि आदि उपाधिकृत विशेषताको ही तो आश्रयण कर ब्रह्म ही जीवात्मा होता हुआ कर्त्ता भोक्ता कहा जाता है। जीवात्माकी उपाधिकृत विशेषताको त्याग करनेसे ब्रह्म स्वरूपको दिखानेके लिये "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" इत्यादि श्रुतिवाक्यसे व्यापक आत्मा को प्रत्यक्ष करनेके लिये यह उपदेश विरुद्ध नहीं होता है, तथा:—

"जो ब्रह्म वाणी द्वारा नहीं कहा जाता है, जिससे वाणी बोली जाती है—उसे ही तुम ब्रह्मको जानो,—और जो साधारण बुद्धिके पुरुष वाणीसे गम्य शब्दादि कार्यको उपासन करते हैं वह ब्रह्म नहीं ( केन० १।४ )"

—इत्यादि अन्य श्रुति भी वचनादि क्रियायुक्त ही आत्माको ब्रह्मरूपसे दिखाती है।

और जो यह कहा कि—"प्राण प्रज्ञात्मा इस शरीरमें साथ २ रहते हैं और साथ ही निकलते हैं" इस प्रकार प्राण और प्रज्ञात्माका भेददर्शन ब्रह्मपादमे बनता नहीं, सो यह दोष ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ये दो आश्रय वाले व्यापक आत्माका उपाधिकृत बुद्धि और प्राणका भेद निर्देश हो सकता है, उपाधिरूपयुक्त व्यापक आत्माका तो स्वरूपसे अभेद होता है, इस कारण "प्राण ही प्रज्ञात्मा है" इत्यादि एकीकरण–विरुद्ध एकत्व निर्देश नहीं।

एव प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम् । अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इत्यस्यायमन्योऽर्थः—न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते ।

प्रश्न :—कथम् ।

प्रत्युत्तरम्—उपासात्रैविध्यात । त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितं प्राणधर्मेण प्रज्ञाधर्मेण स्वधर्मेण च । तत्र 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' इति,'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, 'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' इति च प्राणधर्मः । 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादिः प्रज्ञाधर्मः । 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम् । यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः । यद्धि प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः । नह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्ध्येत् । नो एतन्नाना । 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण

अथवा—"**नोपासात्रैविध्या दाश्रितत्वादिह तद्योगात्**" इस सूत्र भागका यह दूसरा अर्थ है ब्रह्मवाक्यमे भी जीवलिङ्ग और मुख्य प्राणलिङ्ग विरुद्ध नही ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—"**उपासा त्रैविध्यात**", यहां तीन प्रकारका ब्रह्मोपासन विवक्षित है—प्राण धर्मसे, प्रज्ञा धर्मसे और निजधर्मसे, वहां:—

(अ) "आयु और अमृतको उपासन करो, आयु प्राण है ।"

(आ) "इस शरीरको ग्रहण कर उठाता है ।"

(इ) "इस कारण इसी प्राणरूप उक्थ को उपासन करे ।"

इत्यादि प्राण धर्म है ।

"यहां '**अस्यै प्रज्ञायै**' षष्ठीके अर्थमें चतुर्थी है, प्रज्ञा शब्दसे जीवात्मा का ग्रहण है, जिस जीवात्माके सब भूत एकरूप होते हैं उसकी व्याख्या करेंगे ।" इस प्रकार आरम्भ कर—

"वाणीने ही इस जीवरूप प्रज्ञाके एक अङ्गको दोहन[1] किया, उस जीवरूप प्रज्ञाके ऊपर शब्द स्पर्श आदि विषयरूपसे भूतमात्राको विधान किया, फिर वह प्रज्ञा-ज्ञानवान् जीव वाणी आदिको प्राप्त होकर सब वाणी आदि इन्द्रियोंके नामों को प्राप्त करता है ।

यह प्रज्ञाधर्म जीवधर्म है ।

"ये रूप रस आदि ग्राह्य दस भूतमात्रा -( पांच सूक्ष्म भूत और पांच स्थूल भूत ये दस ) नेत्र आदि इन्द्रियोंके अधीन हैं, और दस प्रज्ञामात्रा—(पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय जन्य ज्ञान) भूतमात्रा के अधीन हैं । यदि भूतमात्रायें न हों तो प्रज्ञामात्रायें न होतीं, यदि प्रज्ञामात्रा न हों तो भूतमात्रायें न होतीं, ( अर्थात् ये दोनो भूतमात्रा और प्रज्ञामात्रा ग्राह्य ग्राहक रूपसे सापेक्ष हैं ) एक दूसरेके विना अन्य किसी प्रकारसे दोनों सिद्ध नहीं होते हैं जैसे रूपके विना नेत्र और नेत्रके विना रूप सिद्ध नहीं होता है, सापेक्ष होनेसे ये दोनों नाना अनेक नहीं हैं, जैसे—रथके आराओंमें नेमि अर्पित होते हैं, और रथनाभिमें आरायें अर्पित हैं, एवं ये भूतमात्रायें प्रज्ञामात्राओंमें अर्पित हैं, वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है ।

---

( १ )—वक्तारूपसे कर्मन्द्रियों की प्रवृत्ति भी चैतन्याधीन है इस प्रकार प्रज्ञादोह कहा गया है—

वेदान्त कल्पतरु

**एव प्रज्ञात्मा' इत्यादिर्ब्रह्मधर्मः। तस्माद्ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितम्। अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा०३।१४।२) इत्यदावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनमाश्रितम्। इहापि तद्युज्यते वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात्प्राणप्रज्ञाब्रह्मलिङ्गावगमाच्च। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतदिति सिद्धम्॥ ३१॥ इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीशंकरभगवत्पादकृतौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः॥ १॥**

इत्यादि ब्रह्मधर्म है, इस कारण ब्रह्मके ही उपाधिरूपधर्मसे और निज धर्मसे तीन प्रकारके उपासन विवक्षित हैं। अन्यत्र श्रुतिमें भीः—

"वह परमात्मा मनोमय प्राण शरीर वाला है ( छा० ३।१४।२ )"

इत्यादि वाक्यमें उपाधिधर्मसे ब्रह्मके उपासनको आश्रयण किया, यहां पर भी वह उपाधि का आश्रय युक्तियुक्त होता है, क्योंकि वाक्यके आरम्भ और समाप्तिसे तथा प्राणलिंग और ब्रह्मलिङ्ग के निश्चयसे भी एक अर्थका निश्चय होता है, इस कारण यह ब्रह्मवाक्य है यह सिद्ध होगया॥३१॥ यह ग्यारहवां प्रतर्दनाधिकरण समाप्त होगया"



## प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्युक्तम् । तस्य समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं, नित्यत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं, सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति । अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषांचिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि । पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यन्ते—किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किंचिदिति । तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते ।

### सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

इदमाम्नायते—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत', 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३ । १४ । १,२ ) इत्यादि । तत्र संशयः—किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शारीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यत आहोस्वित्परं ब्रह्मेति ।

प्रश्न :—किं तावत्प्राप्तम् ।

प्रथम पादमें "**जन्माद्यस्य यतः**" इस सूत्रमें आकाश आदि समस्त जगत्के जन्म आदिका कारण ब्रह्म है यह कह दिया । उस समस्त जगत्का कारण ब्रह्म व्यापी नित्य है, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा है, इस प्रकारके धर्म कहे गये हैं । हैं अन्य अर्थोंमें प्रसिद्ध हुए किन्हीं शब्दोंके ब्रह्मविषयक हेतुओंको प्रतिपादन करनेसे किन्हीं स्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग वाले संदिग्ध वाक्योंको ब्रह्मपरक निर्णय कर दिया है । फिर भी अन्य अस्पष्ट ब्रह्मलिंगवाले वाक्य संदिग्ध हैं—क्या ये वाक्य परब्रह्मको प्रतिपादन करते है अथवा अन्य किसी पदार्थान्तरको ? उनवाक्योंको निर्णय करनेके लिये दूसरे और तीसरे पाद आरम्भ किये जाते हैं:—

### सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥

यह पढ़ा जाता है कि:—

"यह सब ब्रह्म है, वह तज्जलान् हैं, ब्रह्म तज्ज—इसलिये है कि इसमें यह समस्त संसार उत्पन्न होता है, वह तल्ल—इसलिये है कि प्रलयावस्थामें समस्त जगत् उसीमें लीन होता है और वह तदन्—इसलिये है कि सृष्टिसमयमें सब प्राणी उसीमें जीवित रहते है । इस कारण ब्रह्मको 'तज्जलान्' जानकर शान्त होकर उसकी उपासना करे । [1] पुरुष कर्म करने वाला होता है, इस लोकमें जैसा संकल्पवाला पुरुष होता है वैसे इस लोकमें शरीरत्याग कर होता है, इस कारण वह पुरुष कर्म करे ।" "वह मनोमयमनसे युक्त अथवा मनन करनेवाला है, प्राण—प्रज्ञा[2] ही उसका शरीर है, वह ज्योतिःस्वरूप है ( छा० ३ । १४ । १, २ )

( प्रश्न )—तो क्या प्राप्त होता है ?

इत्यादि वहां संशय होता है कि—क्या यहां मनोमयत्व आदि धर्मोंमें शरीरमें रहने वाला जीवात्मा उपासनीयरूपसे उपदेश किया जाता है अथवा परब्रह्म ?

---

( १ )—क्रतु-कर्मका नाम है ( निघण्टु १२ । १ ). तथा क्रतु—प्रज्ञाका भी नाम है ( निघण्टु ३ । ६ ) प्रकर्षेण ज्ञायते तत्त्वनिश्चयो यया सा प्रज्ञा अध्यवसायरूपा संकल्पविशेषः । जिसके द्वारा भलीभांति तत्त्वका निश्चय होता है वह प्रज्ञा स्थिरनिश्चय रूप संकल्पविशेष है—अनु०

( २ )—" स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा ( कौषी० ३ । ८ )" वह प्राण ही प्रज्ञात्मा परमेश्वर है—अनु० ।

उत्तरम्—शारीर इति।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—तस्य हि कार्यकरणाधिपतेः प्रसिद्धो मनआदिभिः संबन्धो न परस्य ब्रह्मणः, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' ( मु० २। १। २ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

प्रश्नः—ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति स्वशब्देनैव ब्रह्मोपात्तं, कथमिह शारीर आत्मोपास्य आशंक्यते।

उत्तरम्—नैष दोषः। नेदं वाक्यं ब्रह्मोपासनाविधिपरम्।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

उत्तरम्—शमविधिपरम्। यत्कारणं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्याह। एतदुक्तं भवति—यस्मात्सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मैव, तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्च। न च सर्वस्यैकात्मत्वे रागादयः संभवन्ति, तस्माच्छान्त उपासीतेति। न च शमविधिपरत्वे सत्यनेन वाक्येन ब्रह्मोपासनं नियन्तुं शक्यते। उपासनं तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इत्यनेन विधीयते। क्रतुः संकल्पो ध्यानमित्यर्थः। तस्य च विषयत्वेन श्रूयते—'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गम्। अतो ब्रूमो जीवविषयमेतदुपासनमिति। 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्याद्यपि श्रूयमाणं पर्यायेण जीवविषयमुपपद्यते। 'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इति च हृदयायतनत्वमणीयस्त्वं चाराग्रमात्रस्य जीवस्यावकल्पते नापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः।

( उत्तर )—शरीरमें रहने वाला जीवात्मा।

( प्रश्न )—कैसे ?

( उत्तर )—उस शरीर और इन्द्रियोंके अध्यक्ष जीवात्मा का मन आदियोंसे सम्बन्ध होना प्रसिद्ध है, पर ब्रह्मका नहीं, क्योंकि—

"वह परमात्मा प्राणरहित, मनरहित तथा निर्मल है।" ( मु० २।१।२ )

इत्यादि श्रुतियोंसे (ब्रह्मका मन आदियों से सम्बन्ध होना प्रसिद्ध नहीं होता है )

( प्रश्न )—'यह सब ब्रह्म है' इस श्रुतिमें स्वशब्द से—निज ब्रह्म शब्दसे ही ब्रह्मका ग्रहण किया है, कैसे यहां जीवात्मा उपासनीय है यह शंका की जाती है ?

( उत्तर )—यह दोष ठीक नहीं, यह वाक्य ब्रह्मोपासनाविधिपरक नहीं।

( प्रश्न )—तो किस परक यह वाक्य है ?

( उत्तर )—शमविधिपरक है, जिस कारण—"यह सब ब्रह्म है, वह ब्रह्म '**तज्जलान**' है, इस कारण शान्त होकर उसकी उपासना करनी चाहिये" इस प्रकार श्रुति कहती है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि—जिस कारण यह सब विकारसमुदाय ब्रह्म ही है क्योंकि विकारसमुदाय उससे उत्पन्न होता है, उसमें लीन होता है और उसमें प्राणन—जीवन धारण करता है। सब एकात्मरूप होने पर राग आदि नहीं हो सकते, इस कारण शान्त होकर उपासन करे इत्यादि। यह वाक्य शमविधिपरक होने पर इस वाक्यसे ब्रह्मोपासन को नियमित नहीं कर सकते, उपासन तो "वह कर्म करे" इस वाक्यसे विधान किया जाता है, क्रतु—अर्थात संकल्प ध्यान, वह ध्यान विषयरूपसे सुना जाता है—"**मनोमयः प्राणशरीरः**" यह जीवलिङ्ग है, इस कारण हम कहते हैं कि यह जीवविषयक उपासन है। तथा सर्वकर्मा—सब कर्म करने वाला, सर्वकाम—सब कामना करने वाला इत्यादि सुने जाने वाले शब्द भी पर्याय से—क्रम से जीवविषयक होते हैं, तथा:—

"यह मेरा आत्मा हृदयके अन्दर, वह धान अथवा जौसे भी बहुत सूक्ष्म है।"

इस प्रकार हृदयस्थानका होना तथा सूक्ष्म होना आराके अग्रभागके समान परिमाणवाले जीव का हो सकता है, अपरिच्छिन्न—सर्वव्यापक ब्रह्मका नहीं।

प्रश्नः—ननु 'ज्यायान्पृथिव्या' इत्याद्यपि न परिच्छिन्नेऽवकल्पत इति ।

उत्तरम्—अत्र ब्रूमः—न तावदणीयस्त्वं ज्यायस्त्वं चोभयमेकस्मिन्समाश्रयितुं शक्यं, विरोधात् । अन्यतराश्रयणे च प्रथमश्रुतत्वादणीयस्त्वं युक्तमाश्रयितुं, ज्यायस्त्वं तु ब्रह्मभावापेक्षया भविष्यतीति । निश्चिते च जीवविषयत्वे यदन्ते ब्रह्मसंकीर्तनं 'एतद्ब्रह्म' ( छा० ३ । १४ । ४ ) इति, तदपि प्रकृतपरामर्शार्थत्वाज्जीवविषयमेव । तस्मान्मनोमयत्वादिभिर्धर्मैर्जीव उपास्यः ।

प्रत्युत्तरम्—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः । परमेव ब्रह्म मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यम् ।

प्रश्नः—कुतः ?

प्रत्युत्तरम्—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । यत्सर्वेषु प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दस्यालम्बनं जगत्कारणं, इह च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रुतं, तदेव मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टमुपदिश्यत इति युक्तम् । एवंच प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये न भविष्यतः ।

प्रश्नः—ननु वाक्योपक्रमे शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं न स्वविवक्षयेत्युक्तम् ।

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—यद्यपि शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं तथापि मनोमयत्वादिषूपदिश्यमानेषु तदेव ब्रह्म संनिहितं भवति । जीवस्तु न संनिहितः । नच स्वशब्देनोपात्त इति वैषम्यम् ॥ १ ॥

---

प्रश्न—'यह पृथिवीसे महान है' इत्यादि कथन भी परिच्छिन्न—एकदेशी जीवमें बन नहीं सकता ?

उत्तर—ना, हम कहते हैं—अणुत्व और महत्त्व दोनोंका एकमें आश्रयण नहीं हो सकता, क्योंकि अणुत्व और महत्त्वमें परस्पर विरोध है. ( अर्थात् अणु महान नहीं हो सकता और महान् अणु नहीं ) इन दोनोंमेंसे किसी एकका आश्रयण करना हो तो प्रथम श्रुत होनेसे अणुत्वको आश्रयण करना उचित है। जीवात्मा का महान होना तो ब्रह्मभावकी अपेक्षासे हो सकेगा। इस प्रकार जीवविषयक वाक्य निश्चित हो जाने पर जो अन्तमें ब्रह्मका कीर्तन है कि—

"यह ब्रह्म है ( छा० ३ । १४ । ४ )"

इत्यादि, वह कीर्तन भी प्रकृतका—पूर्वनिर्दिष्ट को निर्देश करने वाला होनेसे जीवविषयक ही है, इस कारण 'मनोमय' आदि धर्मोंसे जीवात्मा उपासनीय है।

( यहां तक पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्ती उत्तरपक्षीका प्रत्युत्तररूप प्रतिपरिहार। )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—परब्रह्म ही मनोमय आदि धर्मोंसे उपासनीय है।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—सर्वत्र प्रसिद्ध उपदेश होनेसे, सब वेदान्तोंमें प्रसिद्ध जगत्का कारण जिस ब्रह्मको अवलम्बन—ग्रहण किया है, और यहां भी जो ब्रह्म "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस वाक्यके आरम्भमें सुना गया है, वही मनोमय आदि धर्मोंसे युक्त उपदेश किया जाता है यह कथन उचित है, इसप्रकारसे प्रकृतका त्याग और अप्रकृतका आरम्भ न होंगे।

प्रश्न—वाक्यके आरम्भमें शमविधिकी विवक्षासे ब्रह्मको निर्देश किया है, निज ब्रह्मकी विवक्षासे नहीं यह जो कहा था ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—यद्यपि शमविधिकी विवक्षासे—( कहनेके अभिप्रायसे )—ब्रह्मको निर्देश किया है, तथापि उपदेश दिये जाने वाले मनोमय आदियों में वही ब्रह्म समीप होता है, जीव तो न नजदीक है और न जीव शब्दसे ग्रहण किया गया है, यह जीवविषयमें विषमता है ॥ १ ॥

---

## विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

वक्तुमिष्टा विवक्षिताः । यद्यप्यपौरुषेये वेदे वक्तुरभावान्नेच्छार्थः संभवति तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते । लोके हि यच्छब्दाभिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तदविवक्षितमिति । तद्वद्वेदेऽप्युपादेयत्वेनाभिहितं विवक्षितं भवति, इतरदविवक्षितम् । उपादानानुपादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते । तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसंकल्पप्रभृतयस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते । परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्मापहतपाप्मा' ( छा० ८ । ७ । १ ) इत्यत्र 'सत्यकामः सत्यसंकल्प' इति श्रुतम् । आकाशात्मेत्यादिनाकाशवदात्मास्येत्यर्थः । सर्वगतत्वादिभिर्धर्मैः संभवत्याकाशेन साम्यं ब्रह्मणः । 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादिना चैतदेव दर्शयति । यदाप्याकाश आत्मा यस्येति व्याख्यायते, तदापि संभवति सर्वजगत्कारणस्य सर्वात्मनो ब्रह्मण आकाशात्मत्वम् । अत एव 'सर्वकर्मा' इत्यादि । एवमिहोपास्यतया विवक्षिता गुणा ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । यदुक्तं 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गं न तद्ब्रह्मण्युपपद्यत इति, तदपि ब्रह्मण्युपपद्यत इति ब्रूमः । सर्वात्मत्वाद्धि ब्रह्मणो जीवसंबन्धीनि मनोमयत्वादीनि ब्रह्मसंबन्धीनि भवन्ति । तथा च ब्रह्मविषये श्रुतिस्मृती भवतः - त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा

## विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

[illegible] ग्रहण [illegible] इच्छा [illegible] प्रमाण [illegible] आत्मा [illegible] इस प्रकार [illegible] दूसरा [illegible] प्रयोग है। [illegible] वेदवाक्योंके तात्पर्य और अतात्पर्यसे जाना जाता है, इस कारण [illegible] विवक्षित गुण सत्यसंकल्प आदि उपासनाके लिये ग्रहण करने योग्य रूपसे उपदेश किये गये हैं, वे परब्रह्ममें होते हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार करनेमें अप्रतिबद्धशक्ति होनेसे परमात्मामें ही सत्यसंकल्पता सिद्ध होती है. परमात्माके गुण होनेरूपसे ही:—

"जो आत्मा पापादि दोषोंसे रहित है ( छा० ८ । ७ । १ )"

इत्यादि श्रुतिवाक्यमें 'सत्यकाम सत्यसंकल्प' ऐसा सुना गया है। 'आकाशात्मा' इत्यादिसे आकाशके तुल्य आत्मा इस परमेश्वरका है यह अर्थ होता है, सर्वगत होना आदि धर्मोंसे आकाशसे ब्रह्मकी समता हो सकती है. 'वह परमेश्वर पृथिवीसे बड़ा है' यह वाक्य इसीको दिखाता है। यद्यपि 'आकाशात्मा' इस पदमें 'आकाश आत्मा जिसका' ऐसा व्याख्यान किया जाता है, तब भी सब जगत्का कारण सर्वात्मा ब्रह्मका आकाशात्मा होना सम्भव होता है, इसी कारण 'सर्वकर्मा' इत्यादि कथन है, एवं यहां उपासनीय रूपसे विवक्षित गुण ब्रह्ममें हो सकते हैं।

"जो यह कहा था कि 'मनोमय प्राणशरीर' इत्यादि जीवका लिङ्ग है, वह ब्रह्ममें हो नहीं सकता। वह भी ब्रह्ममें हो सकता है यह हम कहते हैं, क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मा होनेसे जीवसम्बन्धी मनोमय आदि ब्रह्मसम्बन्धी होते हैं, तथा ब्रह्म विषयमें ये श्रुति और स्मृति हैं:—

१—"तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, कुमार और कुमारी भी तुम हो, तुम ही वृद्ध होकर दण्डके

कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' ( श्वे० ४ । ३ ) इति, 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' ( गी० १३ । १३ ) इति च । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति श्रुतिः शुद्धब्रह्मविषया, इयं तु 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति सगुणब्रह्मविषयेति विशेषः । अतो विवक्षितगुणोपपत्तेः परमेव ब्रह्मेहोपास्यत्वेनोपदिष्टमिति गम्यते ॥ २ ॥

## अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता । अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते । तुशब्दोऽवधारणार्थः । ब्रह्मैवोक्तेन न्यायेन मनोमयत्वादिगुणं नतु शारीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः । यत्कारणं 'सत्यसंकल्पः, आकाशात्मा, अवाकी, अनादरः, ज्यायान्पृथिव्या' इति चैवंजातीयका गुणा न शारीर आञ्जस्येनोपपद्यन्ते । शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः ।

प्रश्नः—नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति ।

प्रत्युत्तरम्—सत्यम् । शरीरे भवति नतु शरीर एव भवति, 'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्', 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च व्यापित्वश्रवणात् । जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ॥ ३ ॥

—:०:—

सहारे चलते हो, तुम ही उत्पन्न होने वाला बालक हो, और सब ओर तुम ही हो अर्थात् सब कुछ तुम ही तुम हो ( श्वे० ४ । ३ )"

२—"सब ओर तुम्हारे हाथ पैर हैं, सब ओर आंख, सिर, मुख हैं, सब ओर कान हैं, और तुम ही सबमें व्यापक होकर रहते हो ( गी० १३ । १३ )"

इत्यादि, 'अप्राण अमनाः शुभ्र' इत्यादि श्रुतिवाक्य शुद्धब्रह्मविषयक है, इतना विशेष है, इस कारण विवक्षित गुण होनेसे परब्रह्म ही उपासनीयरूपसे यहां उपदेश किया जाता है यह प्रतीत होता है ॥ २ ॥

## अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ।

पूर्वसूत्रसे ब्रह्ममें विवक्षित गुणोंकी उपपत्ति—हेतु कह दिये गये हैं, इस सूत्रसे तो शरीरमें रहने वाले जीवात्मामें इन गुणोंकी अनुपपत्ति—न होना कहा जाता है । तु शब्द निश्चयार्थक है । उक्त न्यायसे ब्रह्म ही मनोमय आदि गुणोंसे युक्त है, शारीर जीवात्मा तो मनोमय आदि गुणोंसे युक्त नहीं, कारण कि सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, अवाक्, अनादर—आदर सम्मानकी कामनासे रहित तथा पृथिवी से बड़ा इत्यादि प्रकारके गुण जीवात्मामें तत्वतः हो नहीं सकते । शारीर का अर्थ है—शरीर में होने वाला अर्थात् रहने वाला ।

प्रश्न—ईश्वर भी शरीर में है ?

प्रत्युत्तर—हां ठीक है, शरीरमें है । शरीरमें ही तो नहीं है, क्योंकि 'वह ब्रह्म पृथिवीसे महान् है, आकाशसे भी महान्', आकाशके समान सर्वगत तथा नित्य है' इस प्रकार व्यापक भी सुना जाता है । जीव तो शरीरमें ही होता है, क्योंकि उसके भोगके आधार शरीरसे अन्यत्र स्थानमें—वृत्ति (निवास) होती नहीं ॥३॥

—:०:—

## कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः, यस्मात्कर्मकर्तृव्यपदेशो भवति 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' ( छा० ३। १४। ४ ) इति। एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यमात्मानं कर्मत्वेन प्राप्यत्वेन व्यपदिशति। अभिसंभवितास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन प्रापकत्वेन। अभिसंभवितास्मीति। प्राप्तास्मीत्यर्थः। न च सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्यपदेशो युक्तः। तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव। तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादिविशिष्टः ॥ ४ ॥

## शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

इतश्च शारीरादन्यो मनोमयत्वादिगुणः, यस्माच्छब्दविशेषो भवति समानप्रकरणे श्रुत्यन्तरे—'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्मयः' ( शत० ब्रा० १०। ६। ३। २ ) इति। शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः। तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते ॥ ५ ॥

## स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

## कर्मकर्त्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

यहांसे आगे भी जीवात्मा मनोमय आदि गुणयुक्त नहीं, कारण कि श्रुतिमें कर्म और कर्त्ताका उपदेश होता है:-

'यहांसे मर कर 'एतम्' इसको प्राप्त होनेवाला हूं।' ( छा० ३। १४। ४ )

इस श्रुतिमें "एतम्—इसको" यह श्रुति प्रकृत—पूर्वनिर्दिष्ट मनोमय आदि गुणयुक्त उपासनीय आत्माको कर्मतया प्रापणीयरूप से 'मैं प्राप्त होने वाला' इस प्रकार उपदेश करती है, तथा शारीर जीवात्मा को कर्त्तारूप में—प्रापकरूप में प्राप्त होने वाला हूं यह उपदेश करती है।—दो का होना रूप निश्चय होने पर एक व्यक्तिके कर्म तथा कर्त्ताका उपदेश उचित नहीं। श्रुतिमें उपास्य-उपासकभाव भी भेदके आधार ही होता है, इस कारण भी जीवात्मा मनोमय आदि गुणयुक्त नहीं ॥ ४ ॥

## शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

यहांसे आगे भी जीवसे अन्य ब्रह्म मनोमय आदि गुणयुक्त है, कारण कि समानप्रकरणवाली अन्य श्रुतिमें विशेषशब्द मिलता है:—

"यह जैसे धान अथवा जौ, अथवा श्यामाक—तृणधान्यविशेष, अथवा श्यामाक धानका चावल सूक्ष्म होते हैं, एवं इस आत्माके अन्दर ज्योतिर्मय पुरुष है ( शत० ब्रा० १०।६।३।२ )

—इत्यादि जीवात्माको कहनेवाला जो 'अन्तरात्मन' यह शब्द सप्तम्यन्त है उससे विशेष अन्य प्रथमान्त पुरुषशब्द मनोमय आदि गुणयुक्त आत्माको कहनेवाला है, इस कारण उनका—जीवात्मा परमात्माका भेद प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

## स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

स्मृति भी जीवात्मा और परमात्माके भेदको दिखाती है:—

"हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदय-स्थानमें रहता है, अपनी मायाशक्तिसे नियमरूप यन्त्र में

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' ( गी० १८ । ६१ ) इत्याद्या । अत्राह—

प्रश्न :—कः पुनरयं शारीरो नाम परमात्मनोऽन्यः, यः प्रतिषिध्यते 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादिना । श्रुतिस्तु— 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' ( बृह० ३ । ७ । २३ ) इत्येवंजातीयका परमात्मनोऽन्यमात्मानं वारयति । तथा स्मृतिरपि—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' ( गी० १३ । २ ) इत्येवंजातीयकैव ।

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—सत्यमेवैतत् । पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते तद्वत् । तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुध्यते प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात् । गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात् ॥ ६ ॥

## अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

प्रश्न :—अर्भकमल्पमोको नीडं, 'एष म आत्मान्तर्हृदये' इति परिच्छिन्नायतनत्वात्, स्वशब्देन च 'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यणीयस्त्वव्यपदेशात् , शारीर एवाराग्रमात्रो जीव इहोपदिश्यते, न सर्वगतः परमात्मेति यदुक्तं तत्परिहर्तव्यम् ।

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—नायं दोषः । न तावत्परिच्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमप्युपपद्यते । सर्वगतस्य तु सर्वदेशेषु विद्यमानत्वात्परिच्छिन्नदेशव्यपदेशोऽपि कयाचिदपे-

भ्रमित सब भूतोंको घुमाता है । ( गी० १८ । ६१) इत्यादि"

प्रश्न—शारीर नामक जीवात्मा परमात्मासे अन्य फिर कौन है ? जो "अनुपपत्तेश्च न शारीरः(ब्र० १।२।३)" इत्यादि से निषेध किया जाता है । श्रुति तो:—

"इस परमात्मासे अन्य द्रष्टा तथा श्रोता नहीं है ( बृ० ३।७।२३ )"

इस प्रकारकी श्रुति—परमात्मासे अन्य आत्मा को निवारण करती है. तथा स्मृति भी:—

"हे भारत ! सब क्षेत्रोंमें—प्राकृतिक शरीरोंमें क्षेत्रज्ञ जीवात्मा भी मुझे ही जानो (गी० १३।२)"

—इस प्रकार की है ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—यह सत्य ही है, परमात्मा ही देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी उपाधियों से—आश्रयोंसे परिच्छिन्न—एकदेशी होने वालेको बालक लोग जीवात्मा है ऐसा उपचार—अमुख्य व्यवहार करते हैं, जैसे घड़े और लोटे आदिके आश्रयवश से एकदेशी न होने वाला भी आकाश एकदेशीके समान भासित ( प्रतीत ) होता है, इस प्रकार ( परमात्मा भी एकदेशीके समान भासित होता है ) 'तत्वमसि' इत्यादि एकात्मत्वके उपदेश-ग्रहणसे पहले उस उपाधिरूप आश्रयमें कर्म और कर्त्ता आदि भेदका व्यवहार विरुद्ध नहीं होता है । आत्मैकत्वको ग्रहण कर लेने पर तो बन्ध मोक्ष आदि सब व्यवहारों को समाप्ति हो जायगी ॥ ६ ॥

## अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥

प्रश्न—"यह मेरी आत्मा हृदयके अन्दर" इस श्रुतिमें अर्भकं—थोड़ा, ओक—स्थान इस प्रकार परिमित स्थान होनेसे तथा 'धान अथवा जौसे भी सूक्ष्म है' निज सूक्ष्म शब्दसे सूक्ष्मत्व को उपदेश करने से आराग्रमात्र—शस्त्रके अग्र भागके समान सूक्ष्म शरीर जीवात्मा ही यहां मन्त्रमें उपदेश किया जाता है जो सर्वगत परमात्मा है उसका नहीं, इस प्रकार जो कहा था उसका परिहार—समाधान होना चाहिये ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—यह दोष ठीक नहीं, कारण कि परिमित स्थानमें रहने वाले का सर्वगत होनेका उपदेश किसी प्रकार भी बनता नहीं, सर्वगतका तो सब देशमें विद्यमान होनेसे परिमित देशका

तथा संभवति। यथा समस्तवसुधाधिपतिरपि हि सन्नयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते।

प्रश्न :—कया पुनरपेक्षया सर्वगतः सन्नीश्वरोऽर्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यत इति।

प्रत्युत्तरम्—निचाय्यत्वादेवमिति ब्रूमः। एवमणीयस्त्वादिगुणगणोपेत ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते। यथा शालग्रामे हरिः। तत्रास्य बुद्धिविज्ञानं ग्राहकम्। सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति। व्योमवच्चैतद्द्रष्टव्यम्। यथा सर्वगतमपि सद्व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयार्भकौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते एवं ब्रह्मापि। तदेवं निचाय्यत्वापेक्षं ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च न पारमार्थिकम्। तत्र यदाशंक्यते हृदायतनत्वाद्ब्रह्मणो हृदयायतनानां च प्रतिशरीरं भिन्नत्वाद्भिन्नायतनानां च शुकादीनामनेकत्वसावयवत्वानित्यत्वादिदोषदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति, तदपि परिहृतं भवति ॥ ७ ॥

## संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

प्रश्न—व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसंबन्धात् चिद्रूपतया च शारीरादविशिष्टत्वात् सुखदुःखादिसंभोगोऽप्यविशिष्टः प्रसज्येत। एकत्वाच्च। नहि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३। ७। २३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परस्यैव संसारसंभोगप्राप्तिरिति चेत्।

[illegible]

[illegible]

[illegible] का भी समाधान हो जाता है ॥ ७ ॥

## संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

प्रश्न—आकाशके समान सर्वव्यापक ब्रह्मका [illegible] जीवात्मासे विशेष न होनेसे [illegible] सुख दुःख आदि [illegible] प्राप्त हो जायगा (अर्थात् ब्रह्म भी जीवके समान सुखदुःखभोगी [illegible] दोनों एक ही हैं, परमात्मासे अन्य कोई आत्मा संसारी नहीं है, क्योंकि—

"परमात्मासे अन्य जाननेवाला नहीं है (बृ० ३। ७। २३)"

इत्यादि प्रमाणभूत श्रुतियां हैं, इस कारण परमात्माको ही संसारके भोगकी प्राप्ति होती है।

प्रत्युत्तरम्-न, वैशेष्यात्। न तावत्सर्वप्राणिहृदयसंबन्धाच्छारीरवद्ब्रह्मणः संभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य। यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसंबन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः। सर्वगतानेकात्मवादिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ। यदप्येकत्वाद्ब्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीरस्य भोगेन ब्रह्मणो भोगप्रसङ्ग इति। अत्र वदामः—इदं तावद् देवानांप्रियः प्रष्टव्यः। कथमयं त्वयात्मान्तराभावोऽध्यवसित इति। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिशास्त्रेभ्य इति चेत्, यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोऽर्थः प्रतिपत्तव्यो न तत्रार्धजरतीयं लभ्यम्। शास्त्रं च 'तत्त्वमसि' इत्यपहतपाप्मत्वादिविशेषणं ब्रह्म शारीरस्यात्मत्वेनोपदिशच्छारीरस्यैव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति। कुतस्तदुपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः। नहि बालैस्तलमलिनतादिमिर्व्योम्नि विकल्प्यमाने तलमलिनतादिविशिष्टमेव परमार्थतो व्योम भवति। तदाह—न वैशेष्यादिति। नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभो-

प्रत्युत्तर—ऐसा मानो तो ठीक नहीं, क्योंकि विशेषता होती है, सब प्राणियोंके हृदयोंके साथ सम्बन्ध होनेसे जीवके तुल्य ब्रह्मको भोगकी प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि विशेषता होती है। जीवात्मा और परमात्मामें विशेष है ( अर्थात् विशेष धर्म होनेमें दोनों भिन्न २ हैं ), एक जीवात्मा कर्त्ता, भोक्ता, धर्म तथा अधर्म साधनवाला सुख दुःख आदि युक्त होता है और एक जीवसे विरुद्ध पाप आदि गुणोंसे रहित है, इन दोनोंमें इस विशेष ( धर्म भेद होने ) से एक जीवका भोग होता है, इतर परमात्माका नहीं। यदि सन्निधिमात्र होनेसे वस्तुशक्ति को आश्रयण न कर कार्यका सम्बन्ध मान लिया जाय तो आकाश आदियोंको भी दाह आदिकी प्राप्ति हो जावेगी। आत्मा को विभु और अनेक मानने वालोंके पक्षमें भी ये दोनों प्रश्न और परिहार समान ही हैं ( अर्थात् जो आत्माको विभु और अनेक मानते हैं उनके मतमें एक देहमें ही सब आत्माओंकी भोगकी प्राप्ति होना यह प्रश्न तथा स्वकर्मकृत ही भोग देहमें हैं अन्यका नहीं इत्यादि परिहारसमाधान दोनों तुल्य हैं )

यह और जो कहा था कि ब्रह्मके अन्य आत्मा न होनेसे जीवात्माके भोगसे ब्रह्मका भोगप्रसङ्ग होगा। यहां पर हम कहते हैं— तुम जैसे—( **देवानां[1] प्रियः** )—मूर्खसे हम यह पूछते हैं कि—परमात्मासे अन्य और कोई आत्मा नहीं है यह तुमने कैसे निश्चय किया है? यदि "**तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता**" इत्यादि शास्त्रोंसे निश्चय हुवा है ऐसा मानते हो तो शास्त्रके अनुसार ही शास्त्रीय अर्थको मानना चाहिये, कहीं कुछ मानना और न मानना यह अर्धजरतीय न्यायावलम्बन प्राप्त नहीं होता है। '**तत्त्वमसि**' इत्यादि शास्त्र अपहतपाप्मत्वादि विशेषणयुक्त ब्रह्मको जीवके आत्मरूपसे उपदेश करता हुवा जीवात्माका ही भोक्तृत्व हटाता है। कैसे जीवके भोगसे ब्रह्मका भोगप्रसङ्ग होगा? यदि जीवात्माकी ब्रह्मके साथ एकताको ग्रहण न किया जाय तब मिथ्याज्ञानके कारण जीवात्माका भोग है, उस भोगसे तत्त्वरूप ब्रह्मका स्पर्श नहीं होता है, पार्थिव मालिन्यादियोंसे आकाशमें बालकों द्वारा संदेह किये जाने पर पार्थिव मालिन्यादियुक्त ही

---

१—देव शब्द प्रायः राजा तथा धनी आदिके लिये भी प्रयुक्त होता है, राजाओंके लिये तो संस्कृत नाटकोंमें अधिकतया प्रयोग होता है। मूर्ख लोग राजाओंके प्रिय होते हैं, विद्वान् नहीं, क्योंकि विद्वान् पुरुष तो राजाओं को भी डांट सकते हैं, ऐसा डांटा जाना धनी राजाओंको सह्य नहीं होता, इस कारण सम्भव है कि इसीलिये मूर्खोंका नाम 'देवानां प्रियः' पड़ गया हो—अनुवादक।

येन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात् । विशेषो हि भवति मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः । मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम् । न च मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते । तस्मान्नोपभोगगन्धोऽपि शक्य ईश्वरस्य कल्पयितुम् ॥८॥

## २ अत्त्रधिकरणम् । सू० ९—१०

### अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

कठवल्लीषु पठ्यते—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' ( १ । २ । २४ ) इति । अत्र कश्चिदोदनोपसेचनसूचितोऽत्ता प्रतीयते । तत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मेति संशयः । विशेषानवधारणात् । त्रयाणां चाग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे प्रश्नोपन्यासोपलब्धेः ।

प्रश्नः—किं तावत्प्राप्तम् ?

उत्तरम्—अग्निरत्तेति ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—'अग्निरन्नादः' ( बृ० १ । ४ ।६ ) इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम् । जीवो वात्ता स्यात्,

आकाश तत्त्वतः नहीं होता है, इस कारण सूत्रकारने कहा है—"न वैशेष्यात" इति, एक होने पर भी जीवात्माके भोगसे ब्रह्मका भोग प्रसङ्ग होता नहीं, क्योंकि दोनोंमें विशेषता होती है, मिथ्याज्ञान और तत्त्वज्ञानमें विशेष अर्थात् भेद होता है, भोग मिथ्याज्ञान द्वारा कल्पित (खयाली भाव) है, और जीवात्मा परमात्माकी एकता तत्त्वज्ञान द्वारा देखी हुई होती है । मिथ्याज्ञान-कल्पित भोग तत्त्वज्ञानसे देखी हुई वस्तुको छूता नहीं, इस कारण ईश्वरके भोगके गन्धकी भी कल्पना नहीं कर सकते ॥ ८ ॥ यह पहिला सर्वत्रप्रसिध्याधिकरण समाप्त होगया ।

## अत्त्रधिकरणम्

### अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

कठोपनिषद्की वल्लियोंमें पढ़ा जाता हैः—

"जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों भातरूप भक्ष्य हो जाते हैं, और जिसके मृत्यु भी भात पर घृतके समान भक्ष्य हो जाती है, वह परमात्मा जिस अवस्थामें ऐसा है इस प्रकार कौन जानता है ( कठ० २ । २५ )"

इत्यादि, यहां कोई ओदन तथा उपसेचन शब्दोंसे सूचित किया हुवा अत्ता—खाने वाला प्रतीत होता है । वहां क्या अग्नि अत्ता है, अथवा जीव है, अथवा परमात्मा है ? यह संशय होता है, क्योंकि यहां विशेषका निश्चय नहीं होता है, तथा अग्नि । जीवात्मा और परमात्माके प्रश्नका निर्देश इस ग्रन्थमें उपलब्ध होता है ।

प्रश्न—तो यहां क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर—अग्नि अत्ता प्रतीत होता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—"अग्नि अन्नको खानेवाला है ( बृ० १।४।६ )"

इस प्रकार श्रुतिप्रमाणसे तथा प्रसिद्धिसे अग्नि भक्षक प्रतीत होता है । अथवा जीवात्मा भक्षक हो जावेगा, क्योंकिः—

"उन दोनों जीवात्मा और परमात्मामें अन्य जीवात्मा पिप्पलरूप स्वादिष्ट कर्मफलको खाता है ( मुण्ड० ३ । १ )"

'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति दर्शनात् । न परमात्मा, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' ( मुण्ड० ३ । १ । १ ) इति दर्शनात् ।

प्रत्युत्तरम्—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—अत्तात्र परमात्मा भवितुमर्हति ।

प्रश्नः—कुतः ?

प्रत्युत्तरम्—चराचरग्रहणात् । चराचरं हि स्थावरजङ्गमं मृत्यूपसेचनमिहाद्यत्वेन प्रतीयते, तादृशस्य चाद्यस्य न परमात्मनोऽन्यः कार्त्स्न्येनात्ता संभवति । परमात्मा तु विकारजातं संहरन्सर्वमत्तीत्युपपद्यते ।

प्रश्नः—नन्विह चराचरग्रहणं नोपलभ्यते, कथं सिद्धवच्चराचरग्रहणं हेतुत्वेनोपादीयते ?

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः । मृत्यूपसेचनत्वेन,सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वात् , ब्रह्मक्षत्रयोश्च प्राधान्यात्प्रदर्शनार्थत्वोपपत्तेः । यत्तु परमात्मनोऽपि नात्तृत्वं संभवति, 'अनश्नन्न्योऽभिचाकशीति' इति दर्शनादिति । अत्रोच्यते—कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेतद्दर्शनं, तस्य संनिहितत्वात् । न विकारसंहारस्य प्रतिषेधकं, सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात् । तस्मात्परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति ॥ ९ ॥

## प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

इतश्च परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति, यत्कारणं प्रकरणमिदं परमात्मनः, 'न जायते

इस प्रकार देखा जाता है, परमात्मा भक्षक नहीं, क्योंकि :—

"अन्य परमात्मा कर्मफलको न खाता हुआ जीवोंके पाप पुण्यों का देखता है ( मुण्ड० ३।१)"

इस प्रकार देखा जाता है ।

( यहां तक पूर्वपक्षीका कथन है, अब सिद्धान्तीका समाधान । )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—यहां परमात्मा अत्ता खानेवाला हो सकता है :

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—चर—मनुष्यादि जङ्गम तथा अचर—स्थावर वृक्षादिको ग्रहण करनेसे, चराचर स्थावरजङ्गम ही मृत्युरूप उपसेचन—भोजनमें घृतके तुल्य यहां भक्ष्यरूपसे प्रतीत होता है, उस प्रकारके भक्ष्यको समस्तरूपसे खानेवाला परमात्मासे अन्य और अत्ता नहीं हो सकता , परमात्मा तो विकार-समुदाय को संहार करता हुआ सबको खाता है यह कथन घटता है ।

प्रश्न—यहां मन्त्रमें चराचर ग्रहण उपलब्ध नहीं होता है ( क्योंकि मन्त्रमें तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और मृत्यूपसेचन मात्र देखे जाते हैं चराचर नहीं इस कारण ) क्यों सिद्धवस्तुके समान चराचरग्रहण हेतुरूपसे ( युक्तिरूपसे ) ग्रहण किया जाता है ?

प्रत्युत्तर—यह दोष ठीक नहीं, क्योंकि मृत्यूपसेचनरूपसे सब प्राणिसमुदायका ग्रहण हो जाता है, ब्रह्म और क्षत्र मुख्य होनेसे हेतुरूपसे दिखाये गये हैं ।

यह जो कहा था कि—परमात्मा अत्ता नहीं हो सकता, क्योंकि—"अन्य परमात्मा कर्मफलको न खाता हुआ जीवोंके पाप पुण्यको देखता है" इस प्रकार देखा जाता है ।

यहां कहा जाता है—इस प्रकारका दर्शन कर्मफल भोगका निषेधक है, क्योंकि कर्मफल भोगका संनिधान—सामीप्य होता है, विकारसंहारका निषेधक नहीं, क्योंकि सब वेदान्तोंमें सृष्टि, स्थिति और संहारके कारणरूपसे ब्रह्म प्रसिद्ध होता है, इस कारण यहां परमात्मा ही अत्ता हो सकता है ॥९॥

## प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

यहां से आगे भी परमात्मा ही अत्ता हो सकता है, कारण कि यह परमात्माका प्रकरण है, जैसे:—

"जो सर्वज्ञ परमात्मा जन्मता मरता नहीं ( का० १।२।१८ )"

म्रियते वा विपश्चित्' ( काठ० १ । २ । १८ ) इत्यादि, प्रकृतग्रहणं च न्याय्यम् । 'क इत्था वेद यत्र सः' इति च दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम् ॥ १० ॥

## ३ गुहाप्रविष्टाधिकरणम् । सू० ११—१२

### गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

कठवल्लीष्वेव पठ्यते—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' ( काठ० १ । ३ । १ ) इति । तत्र संशयः, किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टावुत जीवपरमात्मानाविति । यदि बुद्धिजीवौ, ततो बुद्धिप्रधानात्कार्यकरणसंघाताद्विलक्षणो जीवः प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यं, 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥' ( काठ० १ । १ । २० ) इति पृष्टत्वात् । अथ जीवपरमात्मानौ ततो जीवाद्विलक्षणः परमात्मा प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यं, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च

इत्यादि, प्रकृतका ग्रहण करना न्यायानुकूल है, तथा वह परमात्मा जिस अवस्थामें ऐसा होता है यह कौन जानता है' इस प्रकार दुर्ज्ञेय होना परमात्मा का लिङ्ग है ॥ १ ॥ यह दूसरा अवान्तराधिकरण समाप्त होगया ।

## गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ।

### गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

कठोपनिषद्की वल्लियोंमें ही पढ़ा जाता है कि :—

"श्रेष्ठ गामयुक्त हृदयाकाशरूप गुहामें प्रविष्ट हुए, दर्शनीय संसार अथवा शरीरमें शुभाशुभ कर्मके फल—परिणामको भोगते हुए जीवात्मा और परमात्मा विद्यमान रहते हैं, जीवात्मा शुभाशुभ कर्मफलको भोगता है, परमात्मा जीवात्माको भुगाता है। ब्रह्मको जानने वाले ब्रह्मज्ञ पुरुष पञ्च अग्नियोंको तपने वाले वानप्रस्थी ऋषि लोग तथा तीन बार नाचिकेत नामक अग्निका चयन—यज्ञ करने वाले विद्वान् पुरुष अन्धकार और प्रकाशके तुल्य जीवात्मा और परमात्माको भिन्न २ कहते हैं ( काठ० ३ । १ )

इत्यादि, यहां संशय होता है कि—क्या यहां बुद्धि और जीवात्माका निर्देश किया है अथवा जीवात्मा और परमात्मा का ? यदि बुद्धि और जीवात्माका ( निर्देश किया है ), तब तो बुद्धिमुख्यवाले शरीर और इन्द्रियसमुदायसे विलक्षण अत्यन्त भिन्न जीवात्मा प्रतिपादित होता है, इसलिये इस जीवात्माको भी यहां प्रतिपादन—( निर्देश ) करना चाहिये, क्योंकि:—

( यमाचार्यने प्रसन्न होकर नचिकेताको तीन वरदान देनेकी प्रतिज्ञा की थी, नचिकेताने तीन वरदानोंमेंसे प्रथम वर यह मांगा है )—

"हे यमाचार्य ! मनुष्यके मरने पर जो यह सन्देह होता है कि शरीरसे भिन्न यह आत्मा है इस प्रकार कोई कहते हैं, और कोई कहते हैं कि शरीरसे भिन्न आत्मा नहीं है, इसलिये आप मुझे इस आत्मविद्याका उपदेश कीजिये, तीन वरोंमें यह तीसरा वर है।" ( काठ० १ । २० )

इस प्रकार नचिकेताने यमाचार्यसे पूछा है।

यदि जीवात्मा और परमात्माको ( निर्देश किया है ), तब तो जीवात्मासे विलक्षण—(अत्यन्त भिन्न) —परमात्मा प्रतिपादित होता है, परमात्माको भी यहां प्रतिपादन—( निर्देश )—करना चाहिये, क्योंकि :—

"जो परमात्मा कर्त्तव्यरूप धर्मसे पृथक् है, अकर्त्तव्यरूप अधर्मसे पृथक् है। जो कृत—कार्य, अकृत—कारण स्थूल सूक्ष्मरूप संसारसे पृथक् है, तथा जो भूत-भविष्यत् और वर्त्तमानकालकी भी अवस्थासे पृथक् है,

यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' ( काठ० १ । २ । १४ ) इति पृष्टवान् ।

आक्षेप्ता—अत्राहाक्षेप्ता—उभावप्येतौ पक्षौ न संभवतः ।

संशयवादी—कस्मात् ?

आक्षेप्ता—ऋतपानं कर्मफलोपभोगः, 'सुकृतस्य लोके' इति लिङ्गात् । तच्चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य संभवति, नाचेतनाया बुद्धेः । 'पिबन्तौ' इति च द्विवचनेन द्वयोः पानं दर्शयति श्रुतिः । अतो बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्षस्तावन्न संभवति । अत एव क्षेत्रज्ञपरमात्मपक्षोऽपि न संभवति, चेतनेऽपि परमात्मनि ऋतपानासंभवात् । अनश्नन्नन्योऽअभिचाकशीति' इति मन्त्रवर्णादिति ।

संशयवादी—अत्रोच्यते—नैष दोषः । छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचारदर्शनात् । एवमेकेनापि पिबता द्वौ पिबन्तावुच्येते । यद्वा जीवस्तावत्पिबति, ईश्वरस्तु पाययति । पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते । पाचयितर्यपि पक्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात् । बुद्धिक्षेत्रज्ञपरिग्रहोऽपि संभवति, करणे कर्तृत्वोपचारात् । एधांसि पचन्तीति प्रयोगदर्शनात् । नचाध्यात्माधिकारेऽन्यौ कौचिद्द्वावृतं पिबन्तौ संभवतः । तस्माद्बुद्धिजीवौ स्यातां जीवपरमात्मानौ वेति संशयः ।

प्रश्नः— किं तावत्प्राप्तम् ?

उत्तरम्—बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति ।

प्रश्नः—कुतः ?

इस प्रकार जिसे आप देखते हैं उसे मुझे उपदेश कीजिये ।" (काठ० २।१४)

इस प्रकार पूछा है । (इस कारण मन्त्रमें बुद्धि और जीवात्माको प्रतिपादन किया है अथवा जीवात्मा परमात्मा को, यह संशय बना रहता है, यह संशयवादीका कथन है । अब आक्षेप्ता इन संशयोंके कारणों का खण्डन करते हैं । )

आक्षेप्ता—ये दोनों पक्ष सम्भव नहीं हैं ।

संशयवादी—कैसे ?

आक्षेप्ता— ऋतुपान का अर्थ है—कर्मफलका भोग करना, क्योंकि "सुकृतस्य लोके शुभाशुभ कर्मके फलको शरीरमें" यह कर्मफल-भोगका लिङ्ग पाया जाता है, यह कर्मफल-भोग चेतन क्षेत्रज्ञ ( जीवात्मा ) का सम्भव होता है, अचेतन बुद्धिका नहीं, तथा श्रुतिमें "पिबन्तौ—पीते हुये" इस प्रकार द्विवचन परसे दोनोंके पान-भोगको श्रुति दिखाती है, इस कारण बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्ष तो सम्भव नहीं होता है । इसी कारण जीवात्मा और परमात्माका पक्ष भी सम्भव होता नहीं, क्योंकि चेतन परमात्मामें भी ऋतपान—कर्मफल-भोग सम्भव नहीं होता है, तथा " अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति—अन्य परमात्मा कर्मफलको न भोगता हुआ जीवोंके पाप-पुण्योंको देखता है" इस प्रकार मन्त्रमें वर्णन किया जाता है ।

संशयवादी—यह दोष दोष नहीं, क्योंकि—'छाता वाले जाते हैं' इस कथनमें एक छातावालेसे बहुतोंका छातायुक्त होना उपचार—अमुख्य व्यवहार—देखा जाता है, एवं एकके पीने हुये भी दोनों पीते हुये कहे जाते हैं । अथवा जीव पीता है, और ईश्वर तो पिलाता है अर्थात् भुगाता है, पिलाता हुआ भी पीता है ऐसा कहा जाता है. क्योंकि पकवाने वाले में भी पक्ता की—पकानेवाले की—प्रसिद्धि देखी जाती है । बुद्धि और जीव का ग्रहण भी सम्भव होता है, क्योंकि इन्द्रिय आदि साधनमें कर्त्ताका उपचार होता है, 'लकड़ियां पकाती हैं' ऐसा प्रयोग देखा जाता है । आत्माके अधिकारमें ( जीवात्मा-परमात्मामें ) अन्य कोई दो कर्मफलको पीते हुये सम्भव नहीं होते हैं, इस कारण बुद्धि और जीव हों, अथवा जीवात्मा परमात्मा हों यह संशय होता है ।

( यहां आक्षेप्ताका पक्ष गिर गया और संशयवादीका पक्ष प्रबल रहा, अब पूर्वपक्षीका कथन )—

प्रश्न—तो क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर—बुद्धि और जीवात्मा ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तरम्—'गुहां प्रविष्टौ' इति विशेषणात् । यदि शरीरं गुहा, यदि वा हृदयं, उभयथापि बुद्धिक्षेत्रज्ञौ गुहां प्रविष्टावुपपद्येते । नच सति संभवे सर्वगतस्य ब्रह्मणो विशिष्टदेशत्वं युक्तं कल्पयितुम् । सुकृतस्य लोके' इति च कर्मगोचरानतिक्रमं दर्शयति । परमात्मा तु न सुकृतस्य वा दुष्कृतस्य वा गोचरे वर्तते, 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति श्रुतेः । 'छायातपौ' इति च चेतनाचेतनयोर्निर्देश उपपद्यते । छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात् । तस्माद्बुद्धिक्षेत्रज्ञाविहोच्येयातामिति ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम् ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—आत्मानौ हि तावुभावपि चेतनौ समानस्वभावौ । संख्याश्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते । अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते नाश्वः पुरुषो वा । तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्वितीयान्वेषणायां समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव प्रतीयते ।

प्रश्नः—ननूक्तं गुहाहितत्वदर्शनान्न परमात्मा प्रत्येतव्य इति ?

प्रत्युत्तरम्— गुहाहितत्वदर्शनादेव परमात्मा प्रत्येतव्य इति वदामः । गुहाहितत्वं तु श्रुतिस्मृतिष्वसकृत्परमात्मन एव दृश्यते—'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' ( काठ० १ । २ । १२ ) 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' ( तै० २ । १ ) 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रवि-

उत्तर—क्योंकि "गुहां प्रविष्टौ—गुहामें प्रविष्ट हुये" इस प्रकार श्रुतिमें विशेषण है, यदि शरीर गुहा—गुफा हो अथवा यदि हृदय, दोनों प्रकारसे भी बुद्धि और जीवात्मा गुहामें प्रविष्ट हुये ऐसा घटता है, सम्भव होने पर सर्वव्यापक ब्रह्मके विशेष देशयुक्त होनेकी कल्पना करना उचित नहीं, तथा "**सुकृतस्य लोके**" यह कथन भी कर्मविषयका अतिक्रम—उल्लंघन न होना दिखाता है, परमात्मा तो सुकृत वा दुष्कृत कर्मके विषयमें नहीं होता है, क्योंकि "वह परमात्मा न कर्मसे बढ़ता है और न छोटा होता है" इस प्रकार श्रुति कहती है, तथा "**छायातपौ**" यह चेतन और अचेतनका निर्देश भी घटता है, क्योंकि अन्धकार और प्रकाशके तुल्य चेतन और अचेतन परस्पर विलक्षण होते हैं, इस कारण यहां बुद्धि और क्षेत्रज्ञ—जीवात्मा कहे जाने चाहिये ।

( यहां तक पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर समाप्त हुआ, अब सिद्धान्तीका प्रतिसमाधान )—

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—यहां जीवात्मा और परमात्मा कहे जाने चाहिये ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—वे दोनों ही आत्मा चेतन समानस्वभाव वाले हैं, तथा संख्याका श्रवण होने पर समान स्वभाववालों में ही लोकमें प्रतीति देखी जाती है, जैसे—'इस बैल के द्वितीय जोड़ी को अन्वेषण करना चाहिये' इसप्रकार कहे जानेपर द्वितीय बैलको ही अन्वेषण–खोज करते हैं. घोड़े वा पुरुषको नहीं, इस कारण यहां ऋतुपान—कर्मफलभोगके लिङ्गसे जीवात्माका निश्चय हो जाने पर तथा द्वितीयके अन्वेषण होने पर समान स्वभाववाला चेतन परमात्मा ही प्रतीत होता है ।

प्रश्न—यह जो कहा था कि—गुहा में प्रविष्ट होना देखे जानेसे ( इस कारण परिमित स्थानमें बद्ध होनेसे ) मन्त्रमें परमात्माकी प्रतीति न होनी चाहिये ?

प्रत्युत्तर—गुहामें प्रविष्ट होनेसे ही परमात्माकी प्रतीति होनी चाहिये यह हम कहते हैं । गुहामें प्रविष्ट होना तो श्रुति और स्मृतियोंमें बार २ ही देखा जाता है:—

१—"गुहामें प्रविष्ट हुये गह्वर दुर्गम अत्यन्त कठिनतासे प्रवेश होने योग्य शरीर आदि स्थानमें स्थित पुराण—सनातन अविनाशी नित्य परमात्माको जानकर···( कठ० २ । १२ )"

२—"जो गुहामें प्रविष्ट हुए उत्कृष्ट शुद्ध हृदयरूप आकाशमें व्याप्त ब्रह्मको जानता है······ ( तै० २ । १ )"

ष्टम्' इत्याद्यासु। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थो देशविशेषोपदेशो न विरुध्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सुकृतलोकवर्तित्वं तु छत्रित्ववदेकस्मिन्नपि वर्तमानमुभयोरविरुद्धम्। छायातपावित्यप्यविरुद्धम्। छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्संसारित्वासंसारित्वयोः। अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य। पारमार्थिकत्वाच्चासंसारित्वस्य। तस्माद्विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते ॥ ११ ॥

प्रश्नः—कुतश्च विज्ञानात्मपरमात्मानौ गृह्येते—

प्रत्युत्तरम्—

## विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (का० १।३।३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (का० १।३।९) इति च परमात्मानं गन्तव्यम्। तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (का० १।२।१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तृमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ। प्रकरणं चेदं परमात्मनः। 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते। तस्मादिह जीव-

३—"बुद्धिरूप गुहामें प्रविष्ट हुये आत्माकी कामना करो।"

—इत्यादि श्रुतियोंमें। सर्वव्यापक ब्रह्मके भी प्राप्तिनिमित्त स्थानविशेषका उपदेश विरुद्ध नहीं होता यह भी हमने कह दिया है। कर्म तथा शरीरमें प्रविष्ट होना तो "छातेवाले जाते हैं" इस न्यायके अनुसार एक जीवात्मामें होनेपर भी दोनोंमें होना अविरुद्ध है, "छायातपौ" यह विशेषण भी विरुद्ध नहीं, क्योंकि अन्धकार और प्रकाशके समान संसारी—जीवात्मा और असंसारी—परमात्मामें परस्पर विलक्षणता होती है, जीवात्माका होना अज्ञानसे है। असंसारी परमात्मा तात्त्विक यथार्थ है, इस कारण बुद्धिरूप गुहामें प्रविष्ट हुये जीवात्मा परमात्मा लिये जाते हैं ॥ ११ ॥

प्रश्न—फिर कैसे जीवात्मा-परमात्मा लिये जाते हैं?

प्रत्युत्तर—

## विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

विशेषण भी जीवात्मा और परमात्माका ही होता है, जैसेः—

"आत्माको रथी जानो, और शरीरको ही तो रथ मानो (कठ० ३।३)"

इत्यादि आगेके ग्रन्थमें रथि-रथ आदि रूपककी कल्पनासे जीवात्माको रथी संसार और मोक्षमें जानेवाला कल्पना करता है, तथाः—

"वह ब्रह्मज्ञ पुरुष जन्म-मरणरूप मार्गसे पार हुये व्यापक ब्रह्मके उस प्राप्त होने योग्य उत्कृष्ट स्वरूपको प्राप्त हो जाता है (क० ३।९)"

इस प्रकार परमात्माको गन्तव्य—प्राप्त होने योग्य कल्पना की है, तथाः—

"उस दुष्प्राप्य, छिपे हुए, सबमें घुसे हुवे, बुद्धिरूप गुहामें प्रविष्ट हुये, दुर्गम प्रदेशमें स्थित, सनातन, देव परमेश्वरको अध्यात्म योगकी प्राप्तिसे जानकर धीर वीर ब्रह्मज्ञ पुरुष हर्ष और शोकको छोड़ देते हैं।" (कठ० २।१२)

इस प्रकार पूर्व ग्रन्थमें भी मन्ता—मनन करनेवाला ज्ञाता और मन्तव्य—मनन करने योग्य ज्ञेय रूपसे इन्हीं दोनोंको विशेषण किया है, तथा यह प्रकरण परमात्माका है। "ब्रह्मज्ञ लोग कहते हैं" इस प्रकार वक्ताविशेषका ग्रहण भी परमात्माको ग्रहण करनेमें घटता है, इस कारण यहां जीवात्मा परमात्माको कहना चाहिये, यह ही न्याय है, तथाः—

परमात्मानावुच्येयाताम् । एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' ( मुण्ड० ३।१।१ ) इत्येवमादिष्वपि । तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति । 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा । अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि— 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' ( मुण्ड० ३।१।२ ) इति । अपर आह—'द्वा सुपर्णा, इति नेयमृगस्याधिकरणस्य सिद्धान्तं भजते, पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात् । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति । सत्त्वशब्दो जीवः क्षेत्रज्ञशब्दः परमात्मेति यदुच्यते, तन्न, सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोरन्तःकरणशारीरपरतया प्रसिद्धत्वात् । तत्रैव च व्याख्यातत्वात्— 'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति' अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति । नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षं भजते । नह्यत्र शारीरः क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वभो-

"दोनों शोभन पालनादि कर्मवाले, व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्धसे युक्त तथा समानख्याति वाले मित्रके समान वर्तमान जीवात्मा और परमात्मा ( मुण्ड० ३ । १ )"
इत्यादि श्रुतियोंमें भी ( जीवात्मा-परमात्माका ग्रहण है ), तथा वहां भी आत्माका अधिकार होनेसे लौकिक पक्षी सुपर्ण नहीं कहे जाते हैं, तथाः—

"उन दोनोंमें अन्य एक जीवात्मा स्वादिष्ठ कर्मफलको भोगता है ( मुण्ड० ३।१ )"
इस श्रुतिवाक्यमें भोगके लिङ्ग पाये जानेसे जीवात्मा होता है, तथा —

"कर्मफल भोग करता हुआ अन्य एक परमात्मा साक्षी रूपसे देखता है ( मुण्ड० ३।१ )
इस श्रुतिवाक्यमें अभोग और चेतन लिङ्गसे परमात्मा प्रतिपादित होता है । तथा समीपके मन्त्रमें उन्हीं दोनोंको द्रष्टा और द्रष्टव्य भावसे विशेषण देते हैंः—

"समान ही एक शरीरादि जगत्में डूबकर तथा अनीशतासे शोक करता है, जब अन्य ईश्वरको अपनेसे युक्त देखता है और इस देवकी महिमाको जब जान लेता है तब शोकरहित हो जाता है ।" ( मुण्ड० ३ । १ । २ )
इत्यादि । ( अब अन्य आचार्य "द्वा सुपर्णा ( मुण्ड० ३ । १ । १ )" इस मन्त्र द्वारा सिद्धान्तीके दिये प्रत्युत्तरसे सन्तुष्ट न होकर अपने मतसे पूर्वपक्षीका खण्डन करते हैं । )
**अन्य [1] आचार्य कहते हैं—'द्वा सुपर्णा"** यह ऋचा इस अधिकरणके सिद्धान्तको प्राप्त नहीं करती क्योंकि पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणने अन्य प्रकारसे व्याख्यान किया है, जैसेः—

**"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति"** इस वाक्यमें सत्त्व बुद्धि, **"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"** इस वाक्यमें जो भोग न करता हुआ सब ओर देखता है वह ज्ञः—जीवात्मा है, ये ये दोनों बुद्धि और जीवात्मा हैं" इत्यादि ।

जो यह कहा जाता है कि सत्त्वशब्द जीव है और क्षेत्रज्ञ शब्द परमात्मा है, यह ठीक नहीं, क्योंकि सत्त्व और क्षेत्रज्ञ शब्द अन्तःकरण और जीवात्मपरक होनेसे प्रसिद्ध हैं, तथा वहां पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणमें ही वह व्याख्यान किया हैः—

"वह यह सत्त्व-बुद्धि है जिससे स्वप्न देखता है, और जो द्रष्टा साक्षी है वह क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा है" इत्यादि ।

---

[1]—मुख्य कर्त्ता सम्भव होने पर करण-साधनरूप बुद्धिमें कर्त्ता का उपचार करना उचित नहीं, इस विचारको प्रकट करते हैं—**अपर आह इत्यादि—भामती ।**

कृत्वादिना संसारधर्मेणोपेतो विवक्ष्यते ।

प्रश्नः—कथं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—सर्वसंसारधर्मातीतो ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः 'अनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति' 'अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः' इति वचनात् । 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' ( गी० १।३।२ ) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च । तावता च विद्योपसंहारदर्शनमेवमेवाव-कल्पते' 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवंविदि किंचन रज आध्वंसते' इत्यादि ।

प्रश्नः—कथं पुनरस्मिन्पक्षे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' इत्यचेतने सत्त्वे भोक्तृत्व-वचनमिति ?

प्रत्युत्तरम्—उच्यते—नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता ।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति । तदर्थं सुखादिविक्रिया-वति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति । इदं हि कर्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावा-विवेककृतं कल्प्यते । परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि संभवति, अचेतनत्वात्सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य । अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न

और न यह '**द्वा सुपर्णा**' श्रुति इस अधिकरणके पूर्वपक्षको प्राप्त होती है, यहां शरीरमें रहने वाला जीवात्मा कर्ता भोक्ता आदि संसारधर्मसे युक्त विवक्षित नहीं होता है ।

प्रश्न—तो क्या विवक्षित होता है ?

प्रत्युत्तर—सब संसारधर्मसे रहित, ब्रह्मस्वभाव, चैतन्यमात्र स्वरूपवाला विवक्षित होता है, क्योंकि:—

"**अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**"—इस वाक्यसे जो ज्ञः—जीवात्मा न भोगता हुआ देखता है ।" इस प्रकार पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणमें कहा है, तथा "**तत्त्वमसि**" और "क्षेत्रज्ञ जीवात्मा भी मुझको ही जानो ( गी० १३ । २ )" इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे भी यह सिद्ध होता है । इस पैङ्गिरहस्य—मन्त्रव्याख्यामें भी विद्याका उपसंहारदर्शन होता है:—

"इस प्रकार सत्त्व और क्षेत्रज्ञको जो जानता है ऐसे पुरुषमें रजरूप अविद्या आती नहीं ।" इत्यादि

प्रश्न—कैसे फिर इस पक्षमें:—

"उन दोनोंमें एक अन्य सत्त्व-बुद्धि स्वादिष्ट पिप्पलरूप कर्मफलको भोगती है ।"

यह पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणका अचेतन बुद्धिमें भोक्तृत्व अनुकूल वचन सङ्गत होगा ?

प्रत्युत्तर—यह "**द्वा सुपर्णा**" श्रुति अचेतन—जड़ बुद्धिके भोक्तृत्वको कहूँगी इसलिये प्रवृत्त नहीं हुई है ।

प्रश्न—तो क्या कहने को प्रवृत्त हुई है ?

प्रत्युत्तर—चेतन जीवात्माके अभोक्तृत्वको और ब्रह्मस्वभावत्वको कहूँगी इसलिये प्रवृत्त हुई है, उसके निमित्त सुखादिसे विकार होनेवाली बुद्धिमें भोक्तृत्वको आरोप ( कल्पना ) कराती है । यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि और जीवात्माके [१] एक दूसरेके स्वभावके अज्ञानसे कल्पना की जाती है, वस्तुतः तो इन दोनोंमेंसे एकका भी कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है, क्योंकि बुद्धि अचेतन है और जीवात्मा सुखादिसे विकार होनेवाला नहीं है, तथा बुद्धिका कर्ता और भोक्ता होना कदापि सम्भव नहीं, क्योंकि बुद्धि का स्वभाव अविद्या से स्थापित किया गया है, जैसे यह श्रुतिका प्रमाण है:—

"जहां अन्यके समान होता हो, वहां अन्य अन्यको देखता है ।"

१—इस कथनका अभिप्राय यह है कि—जीवात्मा वस्तुतः भोक्ता नहीं है, किन्तु बुद्धिरूप सत्त्व सुखादिरूपमें परिणाम—बदलना—हुआ चेतनकी छाया आजानेसे मानो चेतन जैसा भोग करता है । यथार्थ, तो जीव—परमात्मा स्वामी नहीं, यह हमने अध्यास भाष्यमें व्याख्या करदी है , यहां पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणके वचनसे यह विचार प्रगट किया गया है—**भामती** ।

संभवति । तथाच श्रुतिः—'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' इत्यादिना स्वप्नदृष्टहस्त्यादिव्यवहारवदविद्याविषय एव कर्तृत्वादिव्यवहारं दर्शयति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत' ( बृ० ४।५।१५ ) इत्यादिना च विवेकिनः कर्तृत्वादिव्यवहाराभावं दर्शयति ॥ १२ ॥

## ४ अन्तराधिकरणम् । सू० १३-१७

### अन्तर उपपत्तेः ॥१३ ॥

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' ( छा० ४।१५।१ ) इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः । किमयं प्रतिबिम्बात्माक्ष्यधिकरणो निर्दिश्यतेऽथवा विज्ञानात्मा उत देवतात्मेन्द्रियस्याधिष्ठाताथवेश्वर इति ।

प्रश्नः—किं तावत्प्राप्तम् ?

उत्तरम्— छायात्मा पुरुषप्रतिरूप इति ।

प्रश्नः— कुतः ?

उत्तरम्— तस्य दृश्यमानत्वप्रसिद्धेः । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति च प्रसिद्धवदुपदेशात् । विज्ञानात्मनो वायं निर्देश इति युक्तम् । स हि चक्षुषा रूपं पश्यंश्चक्षुषि संनिहितो भवति । आत्मशब्दश्चास्मिन्पक्षेऽनुकूलो भवति । आदित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहकः

इत्यादि श्रुतिवाक्यसे स्वप्नमें देखे हुये हाथी आदियोंके व्यवहारके समान अविद्या विषयमें ही कर्तृत्व आदि व्यवहारको दिखाते हैं, तथाः—

"जहां तो इस आत्माका सब आत्मा ही है वहां कौन किससे किसको देखे ? (बृ० ४।५।१५)"

इत्यादि श्रुतिवाक्य से विवेकी पुरुष के कर्तृत्व आदि व्यवहार का न होना दिखाते हैं ॥१२॥

यह तीसरा गुहाधिकरण समाप्त हो गया ।—

## अन्तराधिकरणम्

### अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

जो यह नेत्र में पुरुष दीखता है वह आत्मा है ' इस प्रकार सत्यकामने उपकोशल से कहा कि — हे उपकोशल ! यह आत्मा अमृत है , अभय है , यह आत्मा ब्रह्म—सबसे महान् है । इस नेत्रपुरुष को हानि पहुंचाने के लिये इस नेत्र में कोई घी अथवा जल को सींचता है तब पलक के किनारे से ही चला जाता है ( छा० ४।१५।।१ )

इत्यादि सुना जाता है । यहां संशय होता है —क्या यह प्रतिबिम्ब रूप —छायात्मा नेत्र के आधार मेरहने वाला निर्देश किया जाता है , अथवा जीवात्मा अथवा इन्द्रियों का अधिष्ठाता देवतात्मा , अथवा ईश्वर ( निर्देश किया जाता है ) ?

प्रश्न—तो क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर—पुरुषाकार छायात्मा ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्योंकि वह नेत्रस्थ छायात्मा पुरुष दृश्यरूपमें प्रसिद्ध होता है, तथा "जो यह नेत्रमें पुरुष दीखता है" इस प्रकार प्रसिद्ध के समान उपदेश दिया जाता है । अथवा जीवात्माका यह निर्देश उचित है, जीवात्मा नेत्रसे रूपको देखता हुआ नेत्रमें समीप होता है, इस जीवात्मपक्ष में यह आत्मा शब्द अनुकूल भी होता है । अथवा आदित्य पुरुष नेत्रको अनुग्रह करनेवाला प्रतीत होता है, क्योंकिः—

प्रतीयते, 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' ( बृ० ५।५।२ ) इति श्रुतेः । अमृतत्वादीनां च देवतात्मन्यपि कथंचित्संभवात् । नेश्वरः, स्थानविशेषनिर्देशादिति ।

प्रत्युत्तरम्—प्राप्तेब्रूमः । परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—उपपत्तेः । उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम् । आत्मत्वं तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वर उपपद्यते । 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः । अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्नसकृच्छ्रूयेते तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम् । यथा हि परमेश्वरः सर्वदोषैरलिप्तः, अपहतपाप्मत्वादिश्रवणात् । तथाक्षिस्थानं सर्वलेपरहितमुपदिष्टं, 'तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' इति श्रुतेः । संयद्वामत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन्नवकल्पते । 'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति' । 'एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति' । 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति ( छा० ४ । १५ । २,३,४ ) इति च । अत उपपत्तेरन्तरः परमेश्वरः ॥ १३ ॥

## स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

प्रश्नः—कथं पुनराकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽक्ष्यल्पस्थानमुपपद्यत इति ?

---

"यह सूर्य किरणोंसे नेत्रमें प्रतिष्ठित होता है ( बृ० ५ । ५ । २ )"

यह श्रुतिवचन है, तथा अमृत आदि वचन देवतात्मामें किसी प्रकार सम्भव भी होता है, ईश्वर सम्भव होता नहीं, क्योंकि यहां नेत्ररूप स्थानविशेषको निर्देश किया है ।

( यह पूर्वपक्षीका प्रश्न—प्रतिवचन है, अब सिद्धान्ती का प्रतिसमाधान )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—यहां नेत्रके भीतर पुरुष परमेश्वर ही उपदेश दिया गया है ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—युक्तिसे, यहां उपदेश किये जाने वाले गुणसमुदाय परमेश्वर में घटते हैं । आत्मत्व तो मुख्यवृत्तिसे परमेश्वरमें होता है, क्योंकि "वह आत्मा तू है" इस प्रकार श्रुति कहती है । मरणरहित तथा भयरहित होना उस परमेश्वरमें बार बार श्रुतिमें सुने जाते हैं । तथा यह नेत्रस्थान परमेश्वरके तुल्य ही है जिस प्रकार परमेश्वर सब दोषोंसे लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह परमेश्वर पापादि सब दोषोंसे रहित सुना जाता है, उस प्रकार नेत्रस्थान सब लेपसे रहित है ऐसा उपदेश किया गया है जैसे:—

"यद्यपि इस नेत्रमें घृत अथवा जलको सींचता है तब वह पलकके किनारे होकर चला जाता है ।"

इस प्रकार श्रुतिमें लेपरहित होना सुना जाता है, तथा संयद्वामत्व-पुण्यफलरूप शोभायुक्त होना इत्यादि गुणोंका उपदेश भी उसमें घटता है, जैसे:—

१—"इस परमेश्वरको 'संयद्वाम' कहते हैं, इसीको सब शोभायें प्राप्त होती हैं ।"

२—"यह परमेश्वर ही 'वामिनी' है इसलिये कि वह ही सब शोभाको अर्थात् सब सुन्दर वस्तुओंको ले जानेवाला नेता है ।"

३—यह परमेश्वर ही 'भामिनी' है, इसलिये कि वह सब लोकोंमें प्रकाशित होता है ( छा० ४ । १५ । २—४ )"

इत्यादि, इस कारण युक्तिसे नेत्रके भीतर परमेश्वर है ॥ १३ ॥

## स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

प्रश्न—कैसे फिर आकाशके समान सर्वव्यापक ब्रह्मका नेत्र जैसा न्यूनस्थान ठीक हो सकता है ?

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते-भवेदेषाऽनवक्लृप्तिः, यद्येतदेवैकं स्थानमस्य निर्दिष्टं भवेत्। सन्ति ह्यन्यान्यपि पृथिव्यादीनि स्थानान्यस्य निर्दिष्टानि—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृ० ३।७।३) इत्यादिना। तेषु हि चक्षुरपि निर्दिष्टम्—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इति। 'स्थानादिव्यपदेशात्' इत्यादिग्रहणेनैतद्दर्शयति--न केवलं स्थानमेवैकमनुचितं ब्रह्मणो निर्दिश्यमानं दृश्यते।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—नामरूपमित्येवंजातीयकमप्यनामरूपस्य ब्रह्मणोऽनुचितं निर्दिश्यमानं दृश्यते-'तस्योदिति नाम' 'हिरण्यश्मश्रुः' ( छा० १।६।७, ६ ) इत्यादि। निर्गुणमपि सद्ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, शालग्राम इव विष्णोरित्येतदप्युक्तमेव ॥ १४ ॥

## सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं, किं ब्रह्मास्मिन्वाक्येऽभिधीयते न वेति। सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं सिद्धम्। सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रकान्तं 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, तदेवेहाभिहितं, प्रकृतपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात्। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' ( छा० ४। १४। १ ) इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात्।

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—व्यापक ब्रह्मका यह नेत्रस्थान ठीक तब न होता जब इस ब्रह्मके एक ही नेत्ररूप स्थानको निर्देश किया होता, इस परमात्माके अन्य भी पृथिवी आदि स्थान निर्देश किये गये हैं:—

"जो पृथिवीमें रहता हुआ······( बृ० ३ । ७ । ३ )"

--इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें, उन स्थानोंमें नेत्रका भी निर्देश किया है "जो नेत्रमें रहता हुआ" इत्यादि, "स्थानादिव्यपदेशात्' इस सूत्रमें आदि शब्दको ग्रहण करनेसे यह दिखाते हैं कि— न केवल ब्रह्मका एक अनुचित निर्देश किया जानेवाला ( नेत्र ) स्थान दीखता है।

प्रश्न--तो और क्या दीखता है ?

प्रत्युत्तर—नाम नामरहित ब्रह्मके ये नाम नाम हैं इस प्रकार अनुचित नामरूप निर्देश किये जाने वाले दीखते हैं:--

"उसका 'उत्' यह नाम है, और वह ज्योतिरूप डाढीवाला है ( छा० १।६।७, ६ )"

इत्यादि, निर्गुण होता हुआ भी ब्रह्म नामरूपगत गुणोंमें सगुण है इस प्रकार वहां उपासनाके लिये उपदेश किया जाता है, यह भी कह ही दिया। सर्वव्यापक भी ब्रह्मका प्राप्तिनिमित्त स्थानविशेष होना विरुद्ध नहीं होता है जैसा शालग्राममें विष्णु ( प्राप्त होता है), यह भी कह ही दिया गया है ॥१४॥

## सुखविशिष्टाभिधानादेव ॥ १५ ॥

दूसरी बात यह भी है कि—यहां यह विवाद नहीं करना चाहिये कि इस वाक्यमें ब्रह्म कहा जाता है अथवा नहीं, क्योंकि सुखविशिष्टको कहनेसे ही ब्रह्म सिद्ध हो जाता है, जो सुखयुक्त ब्रह्मवाक्यके शुरूमें आरम्भ किया गया है:—

"वह ब्रह्म प्राण है, कं—सुखयुक्त है, खं—आकाशके तुल्य सर्वव्यापक है।"

इत्यादि, वही यहां कहा गया है, क्योंकि प्रकृत—पूर्व निर्दिष्टका ग्रहण करना न्यायानुकूल होता है, तथा :—

"आचार्य तो तुम्हें गति—ब्रह्मज्ञानके उपायको कहेंगे ( छा० ४ । १४ । १ )"

इस श्रुतिमें ब्रह्मज्ञान मात्रको कहने की प्रतिज्ञा की है ( अन्य किसीको कहने की प्रतिज्ञा नहीं की गई, इससे भी ब्रह्मका ही ग्रहण होना सिद्ध होता है )

प्रश्नः—कथं पुनर्वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विज्ञायत इति ?

प्रत्युत्तरम्—उच्यते—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्येदग्नीनां वचनं श्रुत्वोपकोसल उवाच—'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामि' इति। तत्रेदं प्रतिवचनम्—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' (छा० ४।१०।५) इति। तत्र खंशब्दो भूताकाशे निरूढो लोके। यदि तस्य विशेषणत्वेन कंशब्दः सुखवाची नोपादीयेत, तथा सति केवले भूताकाशे ब्रह्मशब्दो नामादिष्विव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्त इति प्रतीतिः स्यात्। तथा कंशब्दस्य विषयेन्द्रियसंपर्कजनिते सामये सुखे प्रसिद्धत्वात्, यदि तस्य खंशब्दो विशेषणत्वेन नोपादीयेत, लौकिकं सुखं ब्रह्मेति प्रतीतिः स्यात्। इतरेतरविशेषितौ तु कंखंशब्दौ सुखात्मकं ब्रह्म गमयतः। तत्र द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने कं खं ब्रह्मेत्येवोच्यमाने कंशब्दस्य विशेषणत्वेनैवोपयुक्तत्वात्सुखस्य गुणस्याध्येयत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्युभयोः कंखंशब्दयोर्ब्रह्मशब्दशिरस्त्वं, 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति। इष्टं हि सुखस्यापि गुणस्य गुणिवद्ध्येयत्वम्। तदेवं वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्मोपदिष्टम्। प्रत्येकं च गार्हपत्यादयोऽग्नयः स्वं स्वं महिमानमुपदिश्य 'एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या च' इत्युपसंहरन्तः पूर्वत्र ब्रह्म निर्दिष्टमिति ज्ञापयन्ति। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानमर्थान्तर

प्रश्न—कैसे फिर वाक्यके आरम्भमें सुखविशिष्ट ब्रह्म जाना जाता है ?

प्रत्युत्तर—"प्राण ब्रह्म है, क—ब्रह्म है, खं—ब्रह्म है" इस प्रकार अग्नियोंके वचन को सुनकर उपकोसलने कहा :—

"मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है, किन्तु कं और खं को तो नहीं जानता हूँ।"

इत्यादि, वहां पर यह प्रतिवचन—उत्तर दिया गया है:—

"जो ही क है वही खं है, और जो ही ख है वही क है ( छा० ४ । १० । ५ )"

इत्यादि, खं शब्द भूताकाश में लोकमें प्रसिद्ध है, यदि उस खंके विशेषणरूपसे सुखवाची कं शब्द ग्रहण न किया जाता, तथा ग्रहण न किये जाने पर केवल भूताकाशमें ब्रह्मशब्द नाम आदियोंमें जैसा प्रतीकके अभिप्रायसे प्रयुक्त किया गया है यह प्रतीति होती। तथा कं शब्द रूपरसादि विषय और नेत्र जिह्वा आदि इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुये व्याधियुक्त सुखमें प्रसिद्ध होता है, यदि उस कं शब्द विशेषणरूपसे खशब्द ग्रहण न किया जाता तब लौकिक सुख ब्रह्म है यह प्रतीति होती। एक दूसरे को विशेषण दिये हुये क और खं शब्द तो सुखात्मक ब्रह्मको बोध कराते हैं। श्रुतिमें द्वितीय ब्रह्म शब्द ग्रहण न किये जाने पर "क ख ब्रह्म" इतना ही कहे जाने में कं शब्द विशेषणरूपसे ही प्रयुक्त न होनेके कारण सुख गुण ध्येय न होता ( अर्थात् ध्यान न किया जाता ), वह अध्येय न हो इस कारण दोनों कं खं शब्दोंके ऊपर ब्रह्मशब्दरूप सिर रक्खा गया है—'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्यादि, कारण कि सुख गुण भी सुखी गुणीके समान ही ध्यान किया जाना इष्ट ही है, इस प्रकार वाक्यके आरम्भमें सुखविशिष्ट ब्रह्म उपदेश किया जाता है। प्रत्येक गार्हपत्य आदि अग्नि अपनी २ महिमाको उपदेश करके :—

"हे प्रिय उपकोसल ! यह तुमको दी हुई अस्मद्विद्या—हमारी आग्नेय विद्या है, यह आत्मविद्या भी कही जाती है।"

इस प्रकार समाप्ति करते हुये पहिले भी ब्रह्म निर्देश किया गया है यह ज्ञापन कराते हैं। तथा "आचार्य तो तुम्हें गति—ब्रह्मज्ञानको कहेंगे।" यह ब्रह्मज्ञान मात्रको कहने की प्रतिज्ञा वस्त्वन्तरकी विवक्षाको हटाती है। जैसे:—

विवक्षां वारयति । 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४ । १४ । ३ ) इति चाक्षिस्थानं पुरुषं विजानतः पापेनानुपघातं ब्रुवन्नक्षिस्थानस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्वं दर्शयति । तस्मात्प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्षिस्थानतां संयद्वामत्वादिगुणतां चोक्त्वार्चिरादिकां तद्विदो गतिं वक्ष्यामीत्युपक्रमते- 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' ( छा० ४ । १५ । १ ) इति ॥ १५ ॥

## श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमेश्वरः, यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्य श्रुतरहस्यविज्ञानस्य ब्रह्मविदो या गतिर्देवयानाख्या प्रसिद्धा श्रुतौ—'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' ( प्रश्न० १।१० ) इति । स्मृतावपि—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' ( गी० ८ । २४ ) इति । सैवेहाक्षिपुरुषविदोऽभिधीयमाना दृश्यते । 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति' इत्युपक्रम्य 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं

---

"कमलपत्रमें जल स्पर्श नहीं करता है, वैसे इस ब्रह्मज्ञ पुरुषमें पाप कर्म स्पर्श नहीं करते हैं ( छा० ४ । १४ । ३ )"

यह श्रुतिवाक्य नेत्रस्थ ब्रह्म पुरुषको जानने वाले विद्वानोंको पापसे आघात स्पर्शरहित कहता हुआ नेत्रस्थ पुरुषका ब्रह्मत्व होना दिखाता है, इस कारण प्रकृत ब्रह्म ही नेत्रस्थान और संयद्वामत्व—शोभायमान वस्तुको प्राप्त होना आदि गुण कहकर ब्रह्मको जाननेवालों की अर्चिरादि गतिको कहूंगा इस प्रकार प्रारम्भ किया जाता है:—

"जो यह नेत्रमें पुरुष दीखता है यह आत्मा है, इस प्रकार सत्यकामने अपने शिष्य उपकोसलसे कहा ( छा० ४ । १५ । १ )" इत्यादि ॥ १५ ॥

## श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

यहांसे आगे भी नेत्रस्थ पुरुष परमेश्वर है, कारण कि उपनिषदको सुने हुये श्रुतिके रहस्यको जाने हुये ब्रह्मवेत्ता पुरुषकी जो देवयान नामक गति—( मार्ग )—श्रुतिमें प्रसिद्ध है:—

[1]"मृत्युके अनन्तर उत्तरायण पक्षसे तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्याके साथ आत्माको अन्वेषण कर सूर्य नामक ब्रह्मात्माको प्राप्त होते हैं, यह सूर्य नामक ब्रह्मात्मा व्यष्टिभूत प्राणोंका स्थान है, यह अमर अभय है, यह आधारस्थान है, इस सूर्यनामक ब्रह्मलोकसे फिर लौटते नहीं, ( प्रश्न० १।१० )" तथा स्मृतिमें भी :—

"अग्नि, ज्योति, शुक्लपक्ष, ६ उत्तरायणके महीने इनमें जो शरीर त्याग कर जाते हैं वे ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ( गीता० ८ । २४ )"

इत्यादि, वही देवयान मार्ग यहां नेत्रपुरुषको जाननेवालोंका कहा जाना दीखता है:—

"इस ब्रह्मवेत्ता पुरुषके दाहकर्म को करें वा न करें, वे ब्रह्मज्ञ पुरुष अर्चि देवताको प्राप्त होते हैं इस प्रकार आरम्भ करके:—

---

१—कोई टीकाकार 'आदित्यका' अर्थ जीवात्मा करते हैं, यही सब प्राणोंका आधार है, यही अजर अमर परायण है, ऐसे जाननेवाले ऋषि लोग फिर जन्म-मरण को नहीं प्राप्त होते हैं, जीवात्म ज्ञान ही परमात्मज्ञानका कारण है—अनु० ।

तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' ( छा० ४ । १५ । ५ ) इति । तदिह ब्रह्मविद्विषयया प्रसिद्धया गत्याक्षिस्थानस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते ॥ १६ ॥

## अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

प्रश्नः—यत्पुनरुक्तं छायात्मा, विज्ञानात्मा, देवतात्मा वा स्यादक्षिस्थान इति ?

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—न छायात्मादिरितर इह ग्रहणमर्हति ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—अनवस्थितेः । न तावच्छायात्मनश्चक्षुषि नित्यमवस्थानं संभवति । यदैव हि कश्चित्पुरुषश्चक्षुरासीदति तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यते, अपगते तस्मिन्न दृश्यते । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' इति च श्रुतिः संनिधानात्स्वचक्षुषि दृश्यमानं पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति । न चोपासनाकाले छायाकरं कंचित्पुरुषं चक्षुःसमीपे संनिधाप्योपास्त इति युक्तं कल्पयितुम् । 'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति' ( छा० ८ । ९ । १ ) इति श्रुतिश्छायात्मनोऽप्यनवस्थितत्वं दर्शयति । असंभवाच्च तस्मिन्नमृतत्वादीनां गुणानां न छायात्मनि प्रतीतिः । तथा विज्ञानात्मनोऽपि साधारणे कृत्स्नशरीरेन्द्रियसंबन्धे सति चक्षुष्येवावस्थितत्वं वक्तुं न शक्यम् । ब्रह्मणस्तु व्यापिनोऽपि दृष्ट उपलब्ध्यर्थो हृदयादिदेशविशेषसंबन्धः । समानश्च विज्ञानात्मन्यप्यमृतत्वादीनां गुणा-

"सूर्यसे चन्द्रमाको, चन्द्रमासे विद्युत् लोकको प्राप्त होते हैं, विद्युत्लोकमें पहुँचे हुए इन ब्रह्मज्ञों को ब्रह्मलोकमें होनेवाला अमानव-देव पुरुष ब्रह्मलोकको प्राप्त कराता है । यह देवयान मार्ग है, यह प्राप्त होनेवाला मार्ग है, इस मार्गसे चलनेवाले पुरुष इस मानव संसारको प्राप्त नहीं होते हैं ( छा० ४ । १५ । ५ )"

इत्यादि, इस कारण यहां पर ब्रह्मज्ञ विषयक प्रसिद्ध देवयान नामक गतिसे नेत्रस्थ पुरुष ब्रह्म निश्चय होता है ॥ १६ ॥

## अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

प्रश्न—फिर जो यह हमने कहा था कि छायात्मा, जीवात्मा अथवा देवतात्मा नेत्रस्थ पुरुष हो ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—छायात्मा आदि अन्य यहां ग्रहण नहीं हो सकता ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—स्थिर न रहनेसे, छायात्मा नेत्रमें नित्य स्थिर नहीं हो सकता है, जब कोई पुरुष आंखके समीप आ बैठता है, तब नेत्रमें पुरुषकी छाया दीखती है, पुरुषके चले जाने पर छाया दीखती नहीं । "य एषोऽक्षिणि पुरुषः" यह श्रुति समीप होनेसे अपने नेत्रमें दीखने वाले पुरुषको उपासनीय रूपसे उपदेश करती है । उपासनासमयमें छाया करनेवाले किसी पुरुषको नेत्रके समीपमें रखकर उपासना करना है यह कल्पना करना उचित नहीं, क्योंकि:—

"इसी शरीरके नाशके पश्चात् यह छायात्मा पुरुष नष्ट हो जाता है ( छा० ८।९।१ )"

यह श्रुति छायात्मा पुरुषकी अस्थिरताको दिखाती है । तथा असम्भव होनेसे भी उस छायात्मा पुरुषमें अमृतत्व आदि गुणोंकी प्रतीति होती नहीं । जीवात्माके भी समस्त शरीरका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होना साधारण होनेपर नेत्रमें ही उसकी स्थितिको कह नहीं सकते, किन्तु व्यापक ब्रह्मका भी प्राप्ति-निमित्त हृदयादि स्थानविशेषसे सम्बन्ध देखा गया है । जीवात्मामें भी अमृतत्व आदि गुणोंका सम्बन्ध न होना ( छायात्माके ) समान ही है । यद्यपि जीवात्मा परमात्मासे अभिन्न ही है, तथापि अविद्या

ना संबन्धः। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते। संयद्वामत्वादयश्चैतस्मिन्नैश्वर्यादनुपपन्ना एव। देवतात्मनस्तु 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' इति श्रुतेर्यद्यपि चक्षुष्यवस्थानं स्यात्तथाप्यात्मत्वं तावन्न संभवति, पराग्रूपत्वात्। अमृतत्वादयोऽपि न संभवन्ति, उत्पत्तिप्रलयश्रवणात्। अमरत्वमपि देवानां चिरकालावस्थानापेक्षम्। ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायत्तं न स्वाभाविकम्। 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' (तै० २।८।) इति मन्त्रवर्णात्। तस्मात्परमेश्वर एवायमक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः। अस्मिंश्च पक्षे दृश्यत इति प्रसिद्धवदुपादानं शास्त्राद्यपेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थमिति व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

---

## ५ अन्तर्याम्यधिकरणम्। सू० १८—२०

### अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं

कामना और कर्मद्वारा उसमें मरण-धर्म और भय आरोप किये गये हैं, और उसमें अमृतत्व और अभयत्व होते नहीं, तथा उसमें ऐश्वर्य न होनेसे संयद्वामत्व—शोभायमान सुन्दर वस्तुओंका प्राप्त होना आदि गुण हो ही नहीं सकते। देवतात्मा तोः—

'किरणोंसे यह देवतात्मा इस नेत्रमें प्रतिष्ठित होता है।'

—इस श्रुतिके प्रमाणसे यद्यपि नेत्रमें स्थिर हो सकता है, तथापि उसमें आत्मत्व—व्यापकत्व गुण नहीं हो सकता, क्योंकि देवतात्मा परिच्छिन्न होता है। अमृतत्व आदि गुण भी नहीं हो सकते, क्योंकि देवतात्मा की उत्पत्ति और प्रलय सुने जाते हैं। देवोंका अमर होना भी चिरकाल तक रहनेकी अपेक्षा से है, ऐश्वर्य भी परमात्माधीन है, स्वाभाविक नहीं, क्योंकिः—

"परमात्माके डरसे यह वायु चलता है, डरसे सूर्य उदय होता है, भयसे ही अग्नि और इन्द्र अपने २ काममें हैं, तथा पांचवीं मृत्युभी मरनेवालोंके पास भागती फिरती है (तै० २।८)"

इस प्रकार मन्त्रमें वर्णन मिलता है, इस कारण परमेश्वरको ही यह नेत्रस्थ पुरुष निश्चय कर लेना चाहिये। इस पक्षमें "दीखता है" यह श्रुत्युक्त क्रियापद प्रसिद्धके समान ग्रहण किया गया है, यह शास्त्र आदिकी अपेक्षा करता है तथा विद्वद्विषयक रुचिके लिये है. इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये ॥१७॥ यह चौथा अन्तराधिकरणम् समाप्त होगया है।

---

## ५—अन्तर्याम्यधिकरणम्।

### अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

"जो इस लोक परलोक और सब भूतोंके अन्दर तथा बाहर व्याप्त होकर सबको नियममें रखता है" इस प्रकार आरम्भ कर सुना जाता हैः—

"जो पृथिवीमें रहता हुवा पृथिवीसे भिन्न है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवीसे भिन्न होता हुवा पृथिवीको नियममें रखता है, वह तुम्हारा आत्मा है, वह अन्तर्यामी

यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' ( बृह० ३ । ७ । १, २ ) इत्यादि । अत्राधिदैवतमधिलोकमधिवेदमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयितान्तर्यामीति श्रूयते । स किमधिदैवाद्यभिमानी देवतात्मा कश्चित्किंवा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी किंवा परमात्मा किंवार्थान्तरं किंचिदित्यपूर्वसंज्ञादर्शनात्संशयः ।

प्रश्नः—किं तावत्तः प्रतिभाति ?

उत्तरम्—संज्ञाया अप्रसिद्धत्वात्संज्ञिनाऽप्यप्रसिद्धेनार्थान्तरेण केनचिद्भवितव्यमिति । अथवा नानिरूपितरूपमर्थान्तरं शक्यमस्त्यभ्युपगन्तुम् । अन्तर्यामिशब्दश्चान्तर्यमनयोगेन प्रवृत्तो नात्यन्तमप्रसिद्धः । तस्मात्पृथिव्याद्यभिमानी कश्चिद्देवोऽन्तर्यामी स्यात् । तथाच श्रूयते— 'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः (बृ० ३ । ९ । १० ) इत्यादि । स च कार्यकरणवत्त्वात्पृथिव्यादीनन्तस्तिष्ठन्यमयतीति युक्तं देवतात्मनो यमयितृत्वम् । योगिनो वा कस्यचित्सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं स्यात्. नतु परमात्मा प्रतीयेत, अकार्यकरणत्वादिति । प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्त इदमुच्यते-योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते स परमात्मैव स्यान्नान्य इति ।

सबके भीतर प्रवेश करनेवाला अमृत—अविनाशी है ( बृह० ३ । ७ । १. २ )"

इत्यादि, यहां देवता, लोक, वेद, यज्ञ, भूत और आत्माके[१] भीतर रहनेवाला कोई शासक अन्तर्यामी सुना जाता है । क्या यह देव आदिमें रहनेवाला कोई अभिमानी अधिष्ठाता देवतात्मा है, अथवा क्या अणिमा आदि ऐश्वर्यको प्राप्त हुआ कोई योगी है, अथवा क्या वह परमात्मा है, अथवा अन्य कोई है ? क्योंकि अपूर्व नाम देखनेसे संशय होता है ।

प्रश्न—तो तुम्हें क्या प्रतीत होता है ?

उत्तर—नाम अप्रसिद्ध होनेसे नामी—नामवाला भी कोई अन्य अप्रसिद्ध होना चाहिये । अथवा अन्तर्यामी कोई अनिरूपितरूप है यह माना नहीं जा सकता, क्योंकि अन्तर्यामी शब्द अन्तरपूर्वक यमधातुके योगसे बना हुआ अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है, इस कारण पृथिवी आदिका अभिमानी—अधिष्ठाता कोई देव अन्तर्यामी होगा, जैसा कि सुना जाता है:—

"पृथिवी ही जिसका स्थान है, अग्नि जिसका लोक है और मन जिसकी ज्योति है ( बृ० ३ । ९ । १० ) ।

इत्यादि, वह अभिमानी अधिष्ठाता देव शरीर और इन्द्रिययुक्त होनेसे पृथिवी आदियोंके अन्दर रहता हुआ उन्हें नियममें रखता है, इस कारण देवतात्माका यमयिता—शासक होना उचित है अथवा सबमें फिर प्रवेश करनेसे कोई सिद्ध योगी यमयिता शासक होगा, परन्तु परमात्मा तो प्रतीत होता नहीं, क्योंकि वह शरीर और इन्द्रियोंसे रहित है ।

( यह पूर्वपक्षीका कथन है, अब सिद्धान्तीका समाधान । )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होने पर यह कहा जाता है—जो देव आदियोंमें अन्तर्यामी सुना जाता है वह परमात्मा ही है अन्य नहीं ।

१—आजकलकी छपी हुई बृहदारण्यकोपनिषद् में इस अन्तर्यामी प्रकरणमें आत्मा वेद आदिका पाठ नहीं है, किन्तु भाष्यकारने काण्व और माध्यन्दिन शाखाके पाठ भेदसे यह लिखा है । जैसे कि अगले **"शारीरश्चोभयेऽपि० ( ब्र० १ । २ । २० )"** इस सूत्र पर भाष्यकारने स्वयं दोनोंके पाठभेदको निर्देश किया है कि—काण्व शाखावाले **"यो विज्ञाने तिष्ठन्"** ऐसा पढ़ते हैं, और माध्यन्दिनी शाखावाले **"य आत्मनि तिष्ठन्"** ऐसा पढ़ते हैं । विज्ञान और आत्मा यहां दोनों ही जीवात्मवाचक हैं—**अनु०** ।

प्रश्नः—कुतः ?

प्रत्युत्तरम्—तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य हि परमात्मनो धर्मा इह निर्दिश्यमाना दृश्यन्ते । पृथिव्यादि तावदधिदैवादिभेदभिन्नं समस्तं विकारजातमन्तस्तिष्ठन्यमयतीति परमात्मनो यमयितृत्वं धर्म उपपद्यते । सर्वविकारकारणत्वे सति सर्वशक्त्युपपत्तेः । 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति चात्मत्वामृतत्वे मुख्ये परमात्मन उपपद्येते । 'यं पृथिवी न वेद' इति च पृथिवीदेवताया अविज्ञेयमन्तर्यामिणं ब्रुवन्देवतात्मनोऽन्यमन्तर्यामिणं दर्शयति । 'पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मानं विजानीयात्' । तथा 'अदृष्टोऽश्रुतः' इत्यादिव्यपदेशो रूपादिविहीनत्वात्परमात्मन उपपद्यत इति ।

प्रश्नः—यत्त्वकार्यकरणस्य परमात्मनो यमयितृत्वं नोपपद्यत इति ।

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः । यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव, तस्य कार्यकरणवत्त्वोपपत्तेः । तस्याप्यन्यो नियन्तेत्यनवस्थादोषश्च न संभवति, भेदाभावात् । भेदे हि सत्यनवस्थादोषोपपत्तिः । तस्मात्परमात्मैवान्तर्यामी ॥ १८ ॥

## न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

प्रश्नः—स्यादेतत् । अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याप्युपपद्यन्ते, रूपादिहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात् । 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' ( मनु० १।५ )

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—क्योंकि परमात्माके धर्मोंका उपदेश किया गया है, उस परमात्माके धर्म यहां निर्देश किये हुये देखे जाते हैं ।

देव आदि भेदोंसे भिन्न पृथिवी आदि समस्त विकार समुदायोंके भीतर रहता हुआ शासन करता है, इस प्रकार परमात्माका शासन करना धर्म ठीक होता है, क्योंकि सब विकारोंके कारण होनेपर परमात्मा का सर्वशक्तिमान होना धर्म ठीक हो जाता है, तथा वह "यह तुम्हारा आत्मा है, यह अन्तर्यामी अमृत है" इस प्रकार आत्मत्व—व्यापक होना और अमृतत्व—अविनाशी होना ये मुख्य परमात्मामें होते हैं । तथा "जिसको पृथिवी जानती नहीं" यह श्रुतिवाक्य भी पृथिवीदेवताके अज्ञेय अन्तर्यामीको कहता हुआ देवतात्मासे अन्य अन्तर्यामीको दिखाता है । तथाः—

"पृथिवी देवता ही मैं हूं इस कारण पृथिवीमें आत्माको समझना चाहिये ।" "तथा वह अदृष्ट—न दीखनेवाला, अश्रुत—न सुने जानेवाला है ।"

इत्यादि निर्देश भी रूप आदिरहित परमात्माका हो सकता है ।

प्रश्न—यह जो कहा था कि शरीर और इन्द्रियरहित परमात्मा यमयिता—शासक नहीं हो सकता ?

प्रत्युत्तर—यह दोष आता नहीं, क्योंकि जिनको नियममें रखता है उनके शरीर और इन्द्रियोंसे ही उसका ( परमात्माका ) शरीर और इन्द्रिययुक्त होना सिद्ध होता है ( कारण कि परमात्मा सब देव आदियों का कारण है देव आदिरूप कार्यसे परमात्मारूप कारण अभिन्न होता है । ) उस परमात्माका भी अन्य शासक हो यह अनवस्थादोष सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि परमात्माका भेद नहीं होता है, भेद होने पर ही अनवस्थादोष आता है, इस कारण परमात्मा ही अन्तर्यामी है ॥ १८ ॥

## न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात ॥ १९ ॥

प्रश्न—अच्छा—अदृष्टत्व आदि धर्म सांख्यस्मृति-कल्पित प्रधानके भी हो सकते हैं, क्योंकि प्रधानके रूप आदि नहीं होते हैं ऐसा सांख्यस्मृतिवाले मानते हैं, तथाः—

"तर्क करने योग्य नहीं, जानने योग्य नहीं, मानों चारों ओर सोये हुयेके समान है, ( मनु० १।५ )"

इति हि स्मरन्ति, तस्यापि नियन्तृत्वं सर्वविकारकारणत्वादुपपद्यते। तस्मात्प्रधानमन्तर्यामिशब्दं स्यात् । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' ( ब्र० १ । १ । ५ ) इत्यत्र निराकृतमपि सत्प्रधानमिहादृष्टत्वादिव्यपदेशसंभवेन पुनराशङ्क्यते ।

प्रत्युत्तरम्—अत उत्तरमुच्यते—नच स्मार्तं प्रधानमन्तर्यामिशब्दं भवितुमर्हति ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—अतद्धर्माभिलापात् । यद्यप्यदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्य संभवति, तथापि न द्रष्टृत्वादिव्यपदेशः संभवति, प्रधानस्याचेतनत्वेन तैरभ्युपगमात् । 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' ( बृह० ३ । ७ । २३ ) इति हि वाक्यशेष इह भवति । आत्मत्वमपि न प्रधानस्योपपद्यते ॥ १६ ॥

प्रश्नः—यदि प्रधानमात्मत्वद्रष्टृत्वाद्यसंभवान्नान्तर्याम्यभ्युपगम्यते, शारीरस्तर्ह्यन्तर्यामी भवतु । शारीरो हि चेतनत्वाद्द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता च भवति, आत्मा च प्रत्यक्त्वात् । अमृतश्च, धर्माधर्मफलोपभोगोपपत्तेः । अदृष्टत्वादयश्च धर्माः शारीरे प्रसिद्धाः दर्शनादिक्रियायाः कर्तरि प्रवृत्तिविरोधात् । 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' ( बृ० ३ । ४ । २ ) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । तस्य च कार्यकरणसंघातमन्तर्यमयितुं शीलं, भोक्तृत्वात् । तस्माच्छारीरोऽन्तर्यामीति ।

---

इस प्रकार स्मरण करते है, वह प्रधान भी सब विकारोंका कारण होनेसे नियन्ता—शासक हो सकता है इस कारण अन्तर्यामी—शब्दवाच्य प्रधान है । 'ईक्षतेर्नाशब्दम् ( बृ० १।१।५ )' यहां पर प्रधान को निराकरण—खण्डन करने पर भी अदृष्टत्व आदि निर्देशके सम्भव होनेसे फिर यहा शंका की जाती है ।

प्रत्युत्तर—इस कारण यहा उत्तर दिया जाता है— स्मृति-प्रसिद्ध प्रधान यहा अन्तर्यामिशब्दवाच्य नहीं हो सकता ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—प्रधानके धर्म न कहे जाने से, यद्यपि अदृष्टत्व आदिका निर्देश प्रधानका सम्भव हो सकता है, तथापि द्रष्टृत्व आदिका निर्देश सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधानको अचेतनरूपसे वे मानते हैं, तथाः—

"वह परमात्मा अदृष्ट होता हुवा द्रष्टा है, अश्रुत होता हुवा श्रोता है, मनन करने योग्य न होता हुआ मन्ता—मनन करनेवाला होता है, अविज्ञेय होता हुआ विज्ञाता—जाननेवाला है ( बृ० ३ । ७ । २३ )"

यह वाक्यशेष यहा अन्तर्यामी प्रकरणमें होता है, तथा आत्मत्व—व्यापक होना भी प्रधानका बनता नहीं ॥ १६ ॥

प्रश्न—यदि प्रधान आत्मत्व और द्रष्टृत्व आदि धर्मोंके सम्भव न होनेसे अन्तर्यामी नहीं माना जाता है तो शरीरमें रहनेवाला जीवात्मा अन्तर्यामी हो जाय । जीवात्मा चेतन होनेसे द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता होता है, वह आत्मा भी है, क्योंकि वह सर्वतः गमनशील होता है, वह अमृत–अविनाशी भी है, क्योंकि अविनाशी होनेसे ही धर्माधर्म-फलोंका भोग होता है । अद्रष्टृत्व आदि धर्म भी जीवात्मामें प्रसिद्ध हैं, क्योंकि देखना आदि क्रियाकी कर्तामें—आत्मामें प्रवृत्तिका विरोध होता हैं ( अर्थात् आत्मा देखना आदि क्रियाका गोचर नहीं होता है ), क्योंकिः—

"नेत्रको देखनेवाले द्रष्टाको नेत्रसे न देखो ( बृ० ३ । ४ । २ )"

इत्यादि श्रुति प्रमाणोंसे ( आत्मा नेत्रका अविषय सिद्ध होता है ), कार्य–कारणरूप पृथिवी आदिके भीतर उसका ( जीवात्माका ) शासन करनेका शील है अर्थात् स्वभाव है, क्योंकि वह भोक्ता है इस कारण जीवात्मा अन्तर्यामी है ।

प्रत्युत्तरम्—अत उत्तरं पठति ।

**शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥**

नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—यद्यपि द्रष्टृत्वादयो धर्मास्तस्य संभवन्ति तथापि घटाकाशवदुपाधिपरिच्छिन्नत्वान्न कार्त्स्न्येन पृथिव्यादिष्वन्तरवस्थातुं नियन्तुं च शक्नोति । अपिचोभयेपि हि शाखिनः काण्वा माध्यंदिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते—'यो विज्ञाने तिष्ठन्' ( बृ० ३ । ७ । २२ ) इति काण्वाः । 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति माध्यंदिनाः । 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यस्मिंस्तावत्पाठे भवत्यात्मशब्दः शारीरस्य वाचकः । 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यस्मिन्नपि पाठे विज्ञानशब्देन शारीर उच्यते । विज्ञानमयो हि शारीरः । तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम् ।

प्रश्नः—कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्येते, यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी, यश्चायमितरः शारीरः ?

प्रत्युत्तरम्—का पुनरिहानुपपत्तिः ।

प्रश्नः—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुध्येत । अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं

---

प्रत्युत्तर—इस कारण उत्तर पढते हैं :—

**शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥**

पूर्वसूत्रमें 'नहीं' की अनुवृत्ति है, जीवात्माका अन्तर्यामी होना इष्ट नहीं ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—यद्यपि द्रष्टा आदि धर्म उसके सम्भव होते हैं, तथापि घटाकाशके समान उपाधि—( आश्रय )—से परिच्छिन्न—एकदेशी होनेके कारण सम्पूर्णरूपसे पृथिवी आदियोंके भीतर रहना और शासन नहीं कर सकता । और दूसरी बात यह भी है कि दोनों ही काण्व और माध्यन्दिनी शाखावाले अन्तर्यामी से भिन्न इस जीवात्माको पृथिवी आदिके समान अधिष्ठेय—(रहनेका स्थान)—रूपसे तथा शास्यरूपसे पढ़ते हैं:—

"जो विज्ञानमें रहता हुवा ( बृ० ३ । ७ । २२ )

इस प्रकार काण्व शाखावाले पढ़ते हैं और:—

"जो आत्मामें रहता हुवा ( बृ० ३ । ७ । २२ )"

इस प्रकार माध्यन्दिनी शाखावाले पढ़ते हैं । "**य आत्मनि तिष्ठन्**" इस पाठमें तो आत्मा शब्द जीवात्माका वाचक होता ही है, तथा "**यो विज्ञाने तिष्ठन्**" इस पाठमें भी विज्ञानशब्दसे जीवात्मा कहा जाता है, क्योंकि जीवात्मा ज्ञानयुक्त होता है । इस कारण जीवात्मासे अन्य ईश्वर अन्तर्यामी है यह सिद्ध हो गया ।

प्रश्न—कैसे फिर एक शरीरमें दो द्रष्टा हो सकते हैं, जो यह ईश्वर अन्तर्यामी है वह और दूसरा जो जीवात्मा है ?

प्रत्युत्तर—फिर यहां क्या युक्तियुक्त नहीं ।

प्रश्न—"परमात्मासे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है" इत्यादि श्रुतिवचन विरुद्ध होता है, यहां प्रकृत—पूर्वनिर्दिष्ट अन्तर्यामीसे अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आत्माको निषेध करता है ?

द्रष्टारं, श्रोतारं, मन्तारं, विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति ?

प्रत्युत्तरम्—नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमितिचेत।

प्रश्नः—न, नियन्त्रन्तराप्रसङ्गादविशेषश्रवणाच्च।

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणो-र्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ सम्भवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतो यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रति-षेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते। तथाच श्रुतिः—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवा-भूत्तत्केन कं पश्येत्' इतिविद्याविषये सर्वं व्यवहारं वारयति ॥ २० ॥

## ६ अदृश्यत्वाधिकरणम्। सू० २१—२३

### अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते', 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि-पादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' ( मुण्ड० १।१।५-६ )

प्रत्युत्तर—अन्य शासकोंको निषेध करनेके लिये "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादि यह श्रुतिवचन होगा।

प्रश्न—ऐसा मानो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि श्रुतिमें अन्य शासकका प्रसङ्ग नहीं है तथा ( अन्य शासक है ) इस प्रकार विशेष श्रवण भी होता नहीं।

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—अविद्यासे स्थापित किये हुये शरीर और इन्द्रियोंके उपाधि निमित्तक यह जीवात्मा और अन्तर्यामीका भेदनिर्देश है वास्तविक नहीं। व्यापक आत्मा एक ही होता है। दो व्यापक आत्मा नहीं होते हैं। एकका ही तो भेद-व्यवहार उपाधिसे हुआ है, जैसे घटाकाश महाकाश इत्यादि, तत्पश्चात् ज्ञाता ज्ञेय आदि भेदको बतानेवाली श्रुतियां, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, संसारका अनुभव तथा विधि और निषेध शास्त्र ये सब ( उपाधि द्वारा ) होते हैं, तथा यह श्रुति प्रमाण है:—

"जहां दो के तुल्य होता है वहां अन्य अन्यको देखता है।"

यह श्रुति अविद्याविषयमें सब व्यवहारको दिखाती है तथाः—

"जहां तो इसके सब आत्मा ही हैं वहां कौन किससे किसको देखे ?"

इत्यादि श्रुति विद्याविषयमें सब व्यवहार को हटाती है ॥ २० ॥ यह पांचवां अन्तर्याम्यधिकरण समाप्त होगया।

## ६ अदृश्यत्वाधिकरणम

### अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

"अब परा विद्या वह है जिससे वह अक्षर प्राप्त किया जाता है।" "जो अद्रेश्य—ज्ञानेन्द्रियोंका अविषय है, अग्राह्य—कर्मेन्द्रियोंका अगोचर अर्थात् कर्मेन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य नहीं है, अवर्ण—ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णोंसे अथवा हरित पीतादि वर्णोंसे रूपोंसे हीन है, वह केवल इन्द्रियोंका अविषय नहीं, किन्तु नेत्र, कर्ण, हस्त, पादरूप इन्द्रियोंसे रहित भी है, विभु सब पदार्थोंमें सत्तारूपसे रहनेवाला, सर्वगत—सब सूक्ष्म वस्तुओंमें भीतर और बाहर व्यापक होकर रहनेवाला, अव्यय-प्रकृतिके तुल्य वह परिणामी नित्य नहीं किन्तु सदा अविनाशी कूटस्थनित्य है, भूतयोनि—उत्पन्न हुये पृथिवी आदि जगत्का अथवा प्राणियोंका कारण है इस विशेषणयुक्त परमात्माको धीर-वीर योगी लोग ध्यानसे साक्षात्कार करते हैं ( मुण्ड० १।१।५-६ )"

इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमयमद्रेश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यादुत शारीर आहोस्वित्परमेश्वर इति । तत्र प्रधानमचेतनं भूतयोनिरिति युक्तं, अचेतनानामेव तद्दृष्टान्तत्वेनोपादानात् । 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्' ( मुण्ड० १ । १ । ७ ) इति ।

प्रश्नः—ननूर्णनाभिः पुरुषश्च चेतनाविह दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ ?

उत्तरम्—नेति ब्रूमः । नहि केवलस्य चेतनस्य तत्र सूत्रयोनित्वं केशलोमयोनित्वं चास्ति चेतनाधिष्ठितं ह्यचेतनमूर्णनाभिशरीरं सूत्रस्य योनिः, पुरुषशरीरं च केशलोम्नामिति प्रसिद्धम् । अपि च पूर्वत्राद्रष्टृत्वाद्यभिलापसंभवेऽपि द्रष्टृत्वाद्यभिलापासंभवान्न प्रधानमभ्युपगतम् । इह त्वदृश्यत्वादयो धर्माः प्रधाने संभवन्ति । नचात्र विरुध्यमानो धर्मः कश्चिदभिलप्यते ।

प्रश्नः—ननु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' ( मुण्ड० १ । १ । ६ ) इत्ययं वाक्यशेषोऽचेतने प्रधाने न संभवति, कथं प्रधानं भूतयोनिः प्रतिज्ञायत इति ।

उत्तरम्—अत्रोच्यते—'यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यक्षरशब्देनादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोनिं श्रावयित्वा पुनरन्ते श्रावयिष्यति—'अक्षरात्परतः परः' ( मुण्ड० २ । १ । २ )

---

यहां संशय होता है कि—क्या अद्रेश्यत्व आदि गुणवाला भूतयोनि प्रधान है, अथवा जीवात्मा है, अथवा परमेश्वर है ? उचित यह है कि श्रुतिमें अचेतन प्रधान भूतयोनि है, क्योंकि अचेतनोंको ही भूतयोनिके दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया है—

"जैसे मकड़ी नामक कीड़ा जालरूप सूत्रोंको उत्पन्न करता और अपनेमें ग्रहण कर लय करता है जैसे पृथिवीमें अन्नरूप औषध उत्पन्न होते हैं, तथा जैसे विद्यमान हुये पुरुषसे दाढ़ी मूँछ आदि केश और लोम—रोम उत्पन्न होते हैं, वैसे अक्षरसे इस लोकमें सब उत्पन्न होते हैं।"

( मुण्ड० १ । १ । ७ ) इत्यादि ।

प्रश्न—मकड़ी नामक कीड़ा और पुरुष यहां यह दोनों चेतनोंको दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया है ( अचेतन प्रधान नहीं ) ?

उत्तर—हम कहते हैं कि—यह बात नहीं, श्रुतिमें केवल चेतनका सूत्रयोनि और केशलोमयोनि होना नहीं है, चेतनसे युक्त अचेतन मकड़ीका शरीर सूतका योनि—कारण है, तथा चेतन पुरुषका शरीर केशलोमोंका कारण प्रसिद्ध है ।

दूसरी बात यह भी है कि पूर्वत्र अधिकरणोंमें अदृष्टत्व आदि कथन सम्भव होने पर भी द्रष्टृत्व आदि कथन सम्भव न होनेसे प्रधानको नहीं माना है, यहां तो अदृश्यत्व आदि धर्म प्रधानमें सम्भव होते हैं, यहां कोई विरुद्ध धर्म नहीं कहा जाता है ।

प्रश्न—जो सर्वज्ञ[१]—सबको जाननेवाला, सर्ववित्—अपनी व्याप्तिसे सबको लाभ या प्राप्त करनेवाला है ( मुण्ड० १ । १ । ६ )

यह वाक्यशेष अचेतन प्रधानमें सम्भव नहीं होता है, कैसे प्रधान भूतयोनि है यह प्रतिज्ञा की जाती है।

उत्तर—यहां कहा जाता है—"जिससे वह अक्षर प्राप्त किया जाता है", "जो वह ज्ञानेन्द्रियों का अविषय है" इत्यादि श्रुतिवाक्यके अक्षर शब्दसे अदृश्यत्व आदि गुणवाले भूतयोनिको सुनाकर फिर अन्तमें सुनाते हैं:—

"वह परमात्मा सूक्ष्म अक्षरसे नहीं है ( मुण्ड० २ । १ । २ )"

---

१—'सर्वज्ञ' और—'सर्ववित्' शब्दोंके ऊपर—"ईक्षतेर्नाशब्दम् ( ब्र० १ । १ । ५ )" इस सूत्रमें आये हुये "यः सर्वज्ञः सर्ववित् ( मुण्ड० १ । १ । ६ )" मन्त्रकी टिप्पणीको देखो ।

—अनुवादक ।

इति । तत्र यः परोऽक्षराच्छ्रुतः स सर्वज्ञः सर्ववित्संभविष्यति । प्रधानमेव त्वक्षरशब्दनिर्दिष्टं भूतयोनिः । यदा तु योनिशब्दो निमित्तवाची तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्, धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनादिति ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स परमेश्वर एव स्यान्नान्य इति ।

प्रश्नः—कथमेतदवगम्यते ?

प्रत्युत्तरम्—धर्मोक्तेः । परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति । नहि प्रधानस्याचेतनस्य शारीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं वा संभवति ।

प्रश्नः—नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद्भूतयोनेः परस्यैव तत्सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च न भूतयोनिविषयमित्युक्तम् ?

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—नैवं सम्भवति । यत्कारणं 'अक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इति प्रकृतं भूतयोनिमिह जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्यानन्तरमपि जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञं निर्दिशति—'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' इति । तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च धर्म उच्यत इति गम्यते । 'अक्षरात्परतः परः' इत्यत्रापि न प्रकृताद्भू-

इत्यादि, यहां श्रुतिमें जो अक्षरसे परे सुना गया है वह सर्वज्ञ सर्ववित् परमात्मा होगा, इस प्रकार प्रधानको ही तो अक्षर शब्दसे निर्देश किया है कि प्रधान भूतयोनि है । जब तो योनि शब्द निमित्तवाचक है, तब जीवात्मा भी भूतयोनि होगा, क्योंकि जीवात्माके धर्म और अधर्मोंसे ही भूतसमुदायकी सृष्टि होती है ।

( यहां तक पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीका समाधान । )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहा जाता है—जो यह अदृश्यत्व आदि गुणयुक्त भूतयोनि है वह परमेश्वर ही है ।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ?

प्रत्युत्तर—"धर्मोक्तेः", क्योंकि परमात्माका ही धर्म यहां कहा हुवा दीखता है—"**जो सर्वज्ञ तथा सर्ववित् है**", अचेतन प्रधान अथवा उपाधिरूप आश्रयसे परिच्छिन्न दृष्टिवाला जीवात्मा सर्वज्ञ अथवा सर्ववित् नहीं हो सकता ।

प्रश्न—अक्षर शब्दसे निर्देश किये हुये भूतयोनिसे परे परमात्मा ही सर्वज्ञ और सर्ववित् है, यह ( सर्वज्ञत्व और सर्ववित्त्व ) भूतयोनि-विषयक नहीं, यह कह दिया था ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—ऐसा सम्भव नहीं होता, कारण कि—

"यहां लोकमें यह सब अक्षरसे उत्पन्न होते हैं" यह श्रुतिवाक्य प्रकृत—पूर्वनिर्दिष्ट भूतयोनिको यहां उत्पन्न होनेवालोंके कारणरूपसे निर्देश करके पश्चात् भी उत्पन्न होनेवालोंके कारणरूपसे ही सर्वज्ञ परमात्माको निर्देश करता है—

"वह परमेश्वर सर्वज्ञ है, वह सर्वव्यापक होनेसे सबको प्राप्त है, अथवा नित्य होनेसे उसकी सत्ता सदा बनी रहती है, जिसका ज्ञानमयतप—प्रकाश है, उस परमेश्वरसे ब्रह्म—वेद अथवा बृहत् कार्य जगत्, नाम—विष्णुमित्र आदि, रूप—हरित पीत आदि, अन्न—गोधूम यव आदि उत्पन्न होते हैं ( मुण्ड० १ । १ । ९ )"

इत्यादि, इस कारण निर्देशकी समतासे प्रत्यभिज्ञा—( पुनः स्मृति )—होनेवाला होनेसे प्रकृत अक्षर भूतयोनिका ही सर्वज्ञत्व और सर्ववित्त्व धर्म कहा जाताहै, यह निश्चय होता है । तथा "सूक्ष्म अक्षरसे

तयोनेरक्षरात्परः कश्चिदभिधीयते ।

प्रश्नः—कथमेतदवगम्यते ?

प्रत्युत्तरम्—'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' ( १ । २ । १३ ) इति प्रकृत्य तस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात् । कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति व्यपदिश्यत इति, उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः । अपिचात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते—'परा चैवापरा च' इति । तत्रापरामृग्वेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि । तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरं श्रुतम् । यदि पुनः परमेश्वरादन्यददृश्यत्वादिगुणकमक्षरं परिकल्प्येत नेयं परा विद्या स्यात् । परापरविभागो ह्ययं विद्ययोरभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते । न च प्रधानविद्या निःश्रेयसफला केनचिदभ्युपगम्यते । तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्, त्वत्पक्षेऽक्षरात्भूतयोनेः परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात् । द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे । 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ( मुण्ड० १ । १ । ३ ) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्प्यते, नाचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि ।

वह—सूक्ष्म है ( मु० २ । १ । २ )

इस श्रुतिमें भी प्रकृत भूतयोनि अक्षरसे परे कोई नहीं कहा जाता है ।

प्रश्न—यह कैसे विदित होता है ?

प्रत्युत्तर—क्योंकि —"जिस ज्ञानसे अक्षर—अविनाशी सनातन पुरुषको जानता है, उस ब्रह्मविद्याको तात्त्विक रूपसे उपदेश करना चाहिये ( मु० १ । २ । १३ )"

इस प्रकार उस प्रकृत अदृश्यत्व आदि गुणवाले भूतयोनिका ही कथन करनेके रूपसे प्रतिज्ञा की गई है ।

( जब कि "अक्षरात्परतः परः (मु० २ । १ । २," इस श्रुतिसे अक्षरभूतयोनिसे परे और कोई नहीं कहा जाता है ) तो फिर कैसे "सूक्ष्म अक्षरसे परे परमात्मा है ( मु० २ । १ । २ ) इस प्रकार (अक्षरसे भिन्न परमात्मा) निर्देश किया जाता है ? इस प्रश्नके उत्तरको अगले सूत्रमें कहेंगे ।

दूसरी बात यह भी है कि—दो विद्या जानने योग्य कही गई हैं—"परा और अपरा" । ऋग्वेदादि-लक्षणवाली अपरा विद्याको कहकर श्रुति कहती है:—

"अब परा विद्या वह है जिससे वह अक्षर विदित होता है ( मु० १ । १ । ५ )"

इत्यादि, वहां श्रुतिमें परा विद्याके विषयरूपसे (कर्मरूपसे) अक्षर सुना गया है । यदि फिर परमेश्वरसे अन्य अदृश्यत्व आदि गुणवाला अक्षरको कल्पना किया जाय तो यह परा विद्या न होती । दोनों विद्याओंके पर और अपर विभाग अभ्युदय—लौकिक सुख और निःश्रेयस मोक्षसुखके फलरूपसे कल्पित किया जाता है । प्रधानविद्या निःश्रेयस फलवाली है ऐसा कोई मानता नहीं । तथा तीन विद्याओंकी प्रतिज्ञा करनी पड़ती, क्योंकि तुम्हारे पक्षमें अक्षर भूतयोनिसे परे परमात्मा बताया जाता है । यहां तो दो ही जानने योग्य विद्याओंको निर्देश किया है । तथा:—

"भगवन् ! किसको जान लेने पर यह सब जाना जाता है ?" मु० १ । १ । ३ )

इस श्रुतिमें इस प्रकार एक ज्ञानसे सब ज्ञानोंकी अपेक्षा करना भी सर्वात्मक ब्रह्मकी विवक्षा होने पर सङ्गत होता है, अचेतनमात्र एकस्थानवाले प्रधानकी अथवा भोग्यसे अतिरिक्त भोक्ता जीवात्माकी विवक्षा होने पर सङ्गत नहीं होता है ।

तथा दूसरी बात यह भी है कि:—

"उस ब्रह्माने सब विद्याओं की प्रतिष्ठा—आधाररूप ब्रह्मविद्याको अथर्व नामक ज्येष्ठपुत्र के लिये

अपिच 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' (मुण्ड० १।१।१)इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयंस्तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति । सा च ब्रह्मविद्यासमाख्या तदधिगम्यस्याक्षरस्याब्रह्मत्वे बाधिता स्यात् । अपरर्ग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ब्रह्मविद्योपक्रम उपन्यस्यते ब्रह्मविद्याप्रशंसायै । प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति' ( मुण्ड० १ । २ । ७ ) इत्येवमादिनिन्दावचनात् । निन्दित्वा चापरां विद्यां ततो विरक्तस्य परविद्याधिकारं दर्शयति— 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ( मुण्ड० १।२।१२ ) इति ।

प्रश्नः—यत्तूक्तम् चेतनानां पृथिव्यादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानाद्दार्ष्टान्तिकेनाप्यचेतनेन भूतयोनिना भवितव्यमिति ?

प्रत्युत्तरम्—तदयुक्तम् । नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति । अपिच स्थूलाः पृथिव्यादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टान्तिको भूतयोनिरभ्युपगम्यते । तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एव ॥ २१ ॥

उपदेश दिया ।" ( मु० १ । १ । १ )

इस प्रकार श्रुति ब्रह्मविद्या को मुख्यरूपसे आरम्भ करके पर-अपर विभागसे अक्षरको प्राप्त करानेवाली परा विद्याको दिखाती हुई उसको ( परा विद्याको ) ब्रह्मविद्याका होना दिखाती है । वह ब्रह्मविद्या नामकी परा विद्या प्राप्त करने योग्य अक्षरके अब्रह्म होनेपर बाधित होजाती । तथा ब्रह्मविद्याकी प्रशंसाके लिये ऋग्वेद आदि लक्षणवाली अपरा कर्मविद्या ब्रह्मविद्याके आरम्भमें निर्देश की जाती है:—

"ये १८ यज्ञरूप[1] ( १६ ऋत्विक्=बसन्त,ग्रीष्म, वर्षा और शरत् इन चारमुख्य ऋतुओंमें यज्ञ करने वाले होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ऋत्विक् ये प्रत्येक चार ऋतुओंके भेदसे १६ ऋत्विक् होते हैं तथा यजमान और यजमानकी पत्नी ये दोनों मिलकर १८ होते हैं ) प्लव—विनाशी हैं, ये दृढ स्थिर नहीं है, जिनमें मुक्ति मुखकी अपेक्षा अश्रेष्ठ कर्म कहे गये हैं वह हमारे लिये कल्याणकारक है, इस प्रकार जो मूढजन आनन्दित होते हैं, वे वृद्धावस्थासे होनेवाली मृत्युको फिर प्राप्त होते हैं ( मु० १ । २ । ७ )

इत्यादि ( कर्मविद्याके ) निन्दावचन हैं, अपरा विद्याको निन्दा कर उससे विरक्त हुये पुरुषके पर— विद्याके अधिकारको दिखाते हैं:—

"वेदज्ञ ब्राह्मण शुभाशुभ कर्मोंसे इकट्ठे किये हुये रूपवान सुन्दर स्त्री पुत्र धन आदि पदार्थोंको परीक्षा कर दुःखजनक जानकर लौकिक सुख भोगसे उदासीनताको प्राप्त होते हैं, क्योंकि कृत किये हुये कर्मसे अकृत—अनुत्पन्न परमात्मा प्राप्त नहीं होता है, इस कारण वह मोक्षार्थी ब्राह्मण हाथमें समिधा लिये ब्रह्मके ध्यानमें मग्न होनेवाले वेदज्ञ गुरुके पास ही जावे ( मु० १ । २ । १२ )" इत्यादि ।

प्रश्न—यह जो हमने कहा था कि अचेतन पृथिवी आदियोंको दृष्टान्तरूपसे ग्रहण करनेके कारण दार्ष्टान्तिक ( जिसके लिये दृष्टान्त दिया गया हो वह ) भी अचेतन भूतयोनि होना चाहिये ?

प्रत्युत्तर—यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें अत्यन्त समता होनी चाहिये यह नियम नहीं है, स्थूल पृथिवी आदि दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किये गये हैं, इससे दार्ष्टान्तिक भूतयोनि स्थूल ही नहीं माना जाता है, इस कारण अदृश्यत्व आदि गुणवाला भूतयोनि परमेश्वर ही है ॥ २१ ॥

१—कोई टीकाकार यज्ञरूप शब्दमें—दश इन्द्रियां, पांच प्राण, शरीर, मन और आत्मा सब मिलाकर ये १८ लेते हैं, क्योंकि प्रत्येक यज्ञ इनके विना नहीं होता है, ये जन्म-मरणरूपसे अस्थिर होते हैं—अनु० ।

## विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

इतश्च परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतरौ शारीरः प्रधानं वा ।

**प्रश्नः**—कस्मात् ?

**प्रत्युत्तरम्**—विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् । विशिनष्टि हि प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद्विलक्षणत्वेन—'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः (मुण्ड २।१।२) इति । नह्येतद्दिव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान्स्वात्मनि कल्पयतः शारीरस्योपपद्यते । तस्मात्साक्षादौपनिषदः पुरुष इहोच्यते । तथा प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति—'अक्षरात्परतः परः' इति । अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद्विकारात्परो योऽविकारस्तस्मात्परतः पर इति भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति । नात्र प्रधानं नाम किंचित्स्वतन्त्रं तत्त्वमभ्युपगम्य तस्माद्भेदव्यपदेश उच्यते ।

**प्रश्नः**—किं तर्हि ?

**प्रत्युत्तरम्**—यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाव्याकृतादिशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत परिकल्प्यताम् । तस्माद्भेदव्यपदेशात्परमेश्वरो भूतयोनिरित्येतदिह प्रतिपाद्यते ॥२२॥

**प्रश्नः**—कुतश्च परमेश्वरो भूतयोनिः—?

## विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ ॥ २२ ॥

इस कारण भी परमेश्वर ही भूतयोनि है, अन्य जीवात्मा अथवा प्रधान नहीं

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—क्योंकि विशेषण और भेदका निर्देश होता है. प्रकृत भूतयोनिको जीवात्मासे विलक्षण—भिन्नरूपसे विशेषण देते हैं:—

"वह प्रकाशस्वरूप पूर्णव्याप्त पुरुष शरीर आदि रहित है, वह बाहर और भीतर व्यापक होकर रहने वाला है, वह अजन्मा है, प्राणोंके सम्बन्धसे रहित है, उसमें मनका संसर्ग नहीं है, तथा वह शुद्ध स्वरूप है।" ( मु० २ । १ । २ )

इत्यादि. यह दिव्यत्व आदि विशेषण अविद्यासे स्थापित नामरूप भेदके अभिमानी तथा अविद्याकृत धर्मोंको निज आत्मामें कल्पना करनेवाले जीवात्माका हो नहीं सकता, इस कारण साक्षात् औपनिषद—उपनिषद्में प्राप्त होनेवाला पुरुष परमात्मा यहां कहा जाता है। तथा प्रधानसे भी प्रकृत भूतयोनिको भेदसे श्रुति निर्देश करती है:—

"भूतसूक्ष्म अक्षरसे परे सूक्ष्म परमात्मा है ( मु० २ । १ । २ )" इत्यादि अक्षर—अव्यक्त, नाम रूप-बीजके शक्तिस्वरूप भूत-सूक्ष्म ईश्वरके आश्रयमें रहनेवाला उसी ईश्वरका उपाधिरूप है, सब विकारसे परे जो अविकार है वह अक्षर है, उस सूक्ष्म अक्षरसे परे सूक्ष्म परमात्मा है, इस प्रकार भेदसे निर्देश करनेके कारण यहां परमात्माको विवक्षित दिखाती है। यहां प्रधान नामक कुछ स्वतन्त्र तत्त्वको मानकर उससे भेदका निर्देश नहीं कहा जाता है।

**प्रश्न**—तो क्या कहा जाता है ?

**प्रत्युत्तर**—यदि कल्पना किये जानेवाला प्रधान भी श्रुतिके अविरोधसे अव्याकृत—अव्यक्त आदि शब्दवाच्य भूत-सूक्ष्म कल्पना किया जाय तो (ऐसे अव्यक्त प्रधानको) कल्पना करो, उस अव्यक्त प्रधानसे भेद निर्देश होनेके कारण परमेश्वर भूतयोनि है, वह यहां प्रतिपादन किया जाता है।

**प्रश्न**—कैसे फिर परमेश्वर भूतयोनि है ?

प्रत्युत्तरम्—

## रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

अपिच 'अक्षरात्परतः परः' इत्यस्यानन्तरम् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति प्राणप्रभृतीनां पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः—'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' ( मुण्ड० २ । १ । ४ ) इति) तच्च परमेश्वरस्यैवोचितं, सर्वविकारकारणत्वात् । न शारीरस्य तनुमहिम्नः । नापि प्रधानस्यायं रूपोपन्यासः संभवति, सर्वभूतान्तरात्मत्वासंभवात् । तस्मात्परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतराविति गम्यते ।

प्रश्नः—कथं पुनर्भूतयोनेरयं रूपोपन्यास इति गम्यते ?

प्रत्युत्तरम्—प्रकरणात्, 'एषः' इति च प्रकृतानुकर्षणात् । भूतयोनिं हि प्रकृत्य 'एतस्माज्जायते प्राणः', 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति वचनं भूतयोनिविषयमेव भवति । यथोपाध्यायं प्रकृत्यैतस्मादधीष्वैष वेदवेदाङ्गपारग इति वचनमुपाध्यायविषयं भवति ।

प्रश्नः—कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपं सम्भवति ?

प्रत्युत्तरम्—सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते न तु विग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः । 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नाद'

प्रत्युत्तर—

## रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

दूसरी बात यह भी है कि "सूक्ष्म अक्षरसे पर परमात्मा है" इसके पश्चात् "इस परमात्मासे प्राण उत्पन्न होता है" इस प्रकार प्राण आदिसे लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वोंकी सृष्टि कहकर उसी भूतयोनि परमात्माके सर्वविकारात्मक रूपको निर्देश किया हुआ देखते हैं:—

"इस परमात्माके अग्नि शिरके तुल्य मुख्य है, चन्द्र और सूर्य नेत्रके समान हैं, पूर्व आदि दिशायें कानके समान हैं, निरुक्त ऋग्वेद आदि वेद जिसकी वाणी हैं, वायु जिसका प्राण है, सब चराचर लोक जिसका हृदय है, पृथिवी जिसके पैर हैं, यह सबके भीतर व्यापक होनेवाला अन्तरात्मा परमेश्वर है।" ( मु० २।१।४ )

इत्यादि, इस प्रकारका रूप परमेश्वरका ही उचित है, क्योंकि वह सब विकारोंका कारण है, अल्प-महिमावाले जीवात्माका नहीं, और न यह प्रधानके रूपका निर्देश सम्भव हो सकता है, क्योंकि प्रधान सब भूतोंका अन्तरात्मा नहीं हो सकता, इस कारण परमेश्वर ही भूतयोनि है, इतर जीवात्मा अथवा प्रधान नहीं, यह निश्चय होता है।

प्रश्न—कैसे फिर भूतयोनिके रूपका यह निर्देश है ?

प्रत्युत्तर—प्रकरणसे, क्योंकि "एषः—यह" शब्द प्रकृतको—पूर्वनिर्दिष्टको खींच लाता है। भूतयोनि को निर्देश करके "इससे प्राण उत्पन्न होता है", यह सब भूतोंका अन्तरात्मा है" इत्यादि वचन भूतयोनिविषयक ही होता है, जैसे उपाध्यायको निर्देश करके 'इससे पढ़ो, यह वेद वेदांगोंके पार पहुँचे हुये हैं' यह वचन उपाध्याय विषयक होता है, उस प्रकार ( सब भूतान्तरात्मा आदि वचन भूतयोनिविषयक है )

प्रश्न—कैसे फिर अदृश्यत्व आदि गुणवाले भूतयोनिका शरीरके समान रूप सम्भव हो सकता है ?

प्रत्युत्तर—सर्वात्मत्वकी विवक्षासे (कहनेकी इच्छासे) यह कहा जाता है, शरीरके तुल्य विवक्षासे नहीं जैसेः—

"योगी लोग भगवान्‌की विचित्र सृष्टिरचनाको देखकर आश्चर्यसे उसके यशको गान करते हुये कहते हैं कि मैं कभी हिंसक सिंह आदिका अन्न भक्ष्य होता हूँ, और कभी फल आदिका अन्नादि—भक्षक होता हूँ इस प्रकार योगी लोग शरीरविषयक चिन्तन करते हैं।" (तै० ३ । १० । ६)

( तै० ३ । १० । ६ ) इत्यादिवत् । अन्ये पुनर्मन्यन्ते—नायं भूतयोनेः रूपोपन्यासः, जायमानत्वेनोपन्यासात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' इति हि पूर्वत्र प्राणादिपृथिव्यन्तं तत्त्वजातं जायमानत्वेन निर्दिष्टम् । उत्तरत्रापि च 'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः' इत्येवमादि, 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च' इत्येवमन्तं जायमानत्वेनैव निर्देक्ष्यति । इहैव कथमकस्मादन्तराले भूतयोने रूपमुपन्यसेत । सर्वात्मत्वमपि सृष्टिं परिसमाप्योपदेक्ष्यति—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' ( मुण्ड० २ । १ । १० ) इत्यादिना । श्रुतिस्मृत्योश्च त्रैलोक्यशरीरस्य प्रजापतेर्जन्मादि निर्दिश्यमानमुपलभामहे—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम' ( ऋ० सं० १० । १२१ । १ ) इति । समवर्ततेत्यजायते-

( यहां शरीरविषयक विचित्र चिन्तनके अभिप्रायसे योगी लोग अपनेको अन्न और अन्नाद कहते हैं, अपनेको अन्न और अन्नाद बतानेकी इच्छासे नहीं ) उसी प्रकार ( सर्वात्मत्वकी विवक्षासे भूतयोनिके रूपोंका यह निर्देश है, शरीरके तुल्य विवक्षासे नहीं )

( "रूपोपन्यासाच्च" इस सूत्रका सिद्धान्तीके उत्तरसे सन्तुष्ट न होकर भाष्यकार अरुचि दिखाते हुये अपना सिद्धान्त प्रकट करते हैं ):—

फिर[1] अन्य जन मानते हैं—यह भूतयोनिके रूपका निर्देश नहीं है, क्योंकि यहां उत्पन्न होने रूपमें निर्देश किया है—

"इस परमात्मासे प्रधान आदि प्राण उत्पन्न होते हैं..मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा संसारको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।" ( मुण्ड० २ । १ । ३ )

इस प्रकार पहले प्राण आदिसे लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वसमुदायको उत्पन्न होनेवाले रूपमें निर्देश किया है, तथा आगे भीः—

"उस परमेश्वरसे अग्नि उत्पन्न हुआ, जिसका सूर्य प्रदीप्त होने वाली समिधाके तुल्य प्रकाशक है ( मु० २ । १ । ५ )"

यहांसे लेकरः—

"उस कहे हुये परमेश्वरसे ही धान जौ आदि औषध तथा अनेक प्रकारके फल फूल मूलोंके रस उत्पन्न हुये।" ( मु० २ । १ । ६ )

यहां तक उत्पन्न होने वाले रूपसे निर्देश करेगी। वहीं कैसे बीचमें भूतयोनिके रूपको श्रुति निर्देश करेगी ? सर्वात्मत्वको भी सृष्टिको समाप्त कर उपदेश देगीः—

"यह सब संसार और क्रियारूप कर्म पुरुष परमात्मामें ही आधाररूपसे रहते हैं (मु०२।१।१०)"

—इत्यादि श्रुतिवाक्यद्वारा। श्रुति और स्मृतिमें तीन लोकरूप शरीर वाले प्रजापति हिरण्यगर्भके जन्म आदि निर्देश किये हुये मिलते हैंः—

"सब भूतोंसे प्रथम सृष्टिके आदिमें हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ था, वही एक अध्यक्ष था, उसने इस पृथिवी और आकाशको धारण किया, ऐसे देवको हम लोग समर्पण करने योग्य श्रद्धा भक्तिरूप सामग्रीसे अथवा ग्रहण करने योग्य योगाभ्यासादि क्रियासे प्राप्त करें ( ऋ० सं० १०।१२१।१ )"

इत्यादि, 'समवर्तत' का अर्थ है—उत्पन्न हुआ। तथाः—

---

[1]—रूपोपन्यासाच्च" इस सूत्रको दूसरोंके मतसे आक्षेप और समाधानोंसे व्याख्या कर निज मतसे व्याख्या करते हैं—'फिर अन्य जन मानते हैं' इत्यादि। भाष्यमें 'पुनः' शब्द भी पहलेसे विशेषताको प्रकट करता हुआ इस दूसरे मतकी श्रेष्ठताको सूचित करता है—भामती।

न्यर्थः । तथा 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' इति च । विकारपुरुषस्यापि सर्वभूतान्तरात्मत्वं सम्भवति, प्राणात्मना सर्वभूतानामध्यात्ममवस्थानात् । अस्मिन्पक्षे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इत्यादिसर्वरूपोपन्यासः परमेश्वरप्रतिपत्तिहेतुरिति व्याख्येयम् ॥ २३ ॥

## ७ वैश्वानराधिकरणम् । सू० २४--३२

### वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति, 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' ( छा० ५ । ११ । १, ६ ) इति चोपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनां सुतेजस्त्वादिगुणयोग-

"वही शरीरधारी प्रथम उत्पन्न हुआ था, वही पुरुष कहा जाता है, वह भूतोंका आदिकर्ता है, ऐसा ब्रह्मा सृष्टिमें आगे होता है।"

इत्यादि यह भी प्रमाणरूप वचन है। यह विकार पुरुष भी सब भूतोंका अन्तरात्मा हो सकता है, क्योंकि वह प्राणरूपसे सब भूतोंके भीतर रहता है। इस पक्षमें "**पुरुष एवेदं विश्वं कर्म** ( मु० २।१।१० )" इत्यादि सब रूपोंका निर्देश परमेश्वरकी प्राप्तिमें कारण होता है इस प्रकार व्याख्या कर लेनी चाहिये ॥ २३ ॥ यह छठा अदृश्यत्वाधिकरण समाप्त हो गया।

## वैश्वानराधिकरणम् ।

### वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

( यहां पर यह कथा है कि प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल ये पांचों मिलकर विचार करने लगे कि ):—

"हमारे कौन आत्मा है तथा ब्रह्म कौन है ? (छा० ५।११।१)" (ये सब मिलकर निश्चय करनेके लिये उद्दालकके पास आये, उद्दालक भी आत्मविषयकको जानते न थे, इसलिये उद्दालकके सहित सब सम्राट् अश्वपति कैकेयके पास आकर बोले कि:—

"हे सम्राट् ! इस समय जिस व्यापक वैश्वानरका स्मरण आप करते हैं, आप उसीको हम लोगोंसे कहिये ( छा० ५।११।६ )"

इस प्रकार आरम्भ करके द्यौ, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवीके सुतेजस्त्व आदि ( विश्व-

१—तो क्या "**रूपोपन्यासाच्च**" अब इस सूत्रको ( भूतयोनिके रूपका निर्देश न होनेके कारण ) त्याग देना चाहिये ? त्याग देना नहीं यह भाष्यकार कहते हैं—इस पक्षमें । क्योंकि यह परमेश्वरका प्रकरण है—**भामती ।**

भाष्यकार और टीकाकार भामतीका यह अभिप्राय निकला कि "**रूपोपन्यासाच्च**" यह सूत्र भूतयोनिके रूपको निर्देश करने के लिये हेतुरूपसे नहीं दिया गया है, क्योंकि भूतयोनि परमात्मा कभी उत्पन्न नहीं होता है, और यहां "**एतस्माज्जायते प्राणः**" "**तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः**" "**अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च**" इत्यादि उत्पन्न होने वालोंका प्रकरण है, इस कारण हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति ब्रह्माके रूपोंका यह निर्देश है, यह सब रूपोंका निर्देश परमात्माकी प्राप्तिमें कारण होता है, इसलिये "**अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः (ब्र० सू० १।२।२१)**" इस सूत्रमें उद्धृत किये हुये **यत्तदद्रेश्य......भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः** ( मु० १।१।६ )" **इस** मन्त्रमें आया हुआ 'भूतयोनि' शब्द परमात्माको प्रकट करता है, जीवात्मा और प्रधानको नहीं, इस प्रकार पूर्व सूत्रोंसे 'रूपोपन्यासाच्च' सूत्रकी संगति लगाई गई है—

**अनुवादक ।**

मेकैकोपासननिन्दया च वैश्वानरं प्रत्येषां मूर्धादिभावमुपदिश्याम्नायते—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' ( छा० ५। १८। २ ) इत्यादि। तत्र संशयः—किं वैश्वानरशब्देन जाठरोऽग्निरुपदिश्यति उत भूताग्निरथ तदभिमानिनी देवता अथवा शारीर आहोस्वित्परमेश्वर इति।

प्रश्नः—किं पुनरत्र संशयकारणम्?

उत्तरम्—वैश्वानर इति जाठरभूताग्निदेवतानां साधारणशब्दप्रयोगादात्मेति च शारीरपरमेश्वरयोः। तत्र कस्योपादानं न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति संशयः।

प्रश्नः—किं तावत्प्राप्तम्?

उत्तरम्—जाठरोऽग्निरिति।

प्रश्नः—कुतः?

उत्तरम्—तत्र हि विशेषेण कचित्प्रयोगो दृश्यते—'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' ( बृह० ५। ९ ) इत्यादौ। अग्निमात्रं वा स्यात्, सामान्येनापि

रूपत्व, पृथग्वर्त्मत्व, बहुलत्व, रयित्व और प्रतिष्ठात्व ) गुणयोगमें एक २ की उपासनाकी निन्दा कर वैश्वानरके प्रति इन सुतेजस्त्व आदिके सिर आदि भावको उपदेश करके पढ़ा जाता है:—

"जो इस प्रकार इस प्रादेशमात्र—हृदय आदि प्रदेशमात्रमें प्रकाशित होनेवाले, अभिविमान—अपरिमित, वैश्वानरकी उपासना करते हैं वह सब लोकोंमें सब भूतोंमें तथा सब आत्माओंमें आनन्द सुख भोग करते हैं। उस इस आत्मा वैश्वानरका द्युलोक ही शिर है, विश्वरूप सूर्य ही उसके नेत्र हैं, पृथग्वर्त्मा—भिन्न २ स्थानोंमें रहनेवाला वायु ही उसके प्राण हैं, बहुल आकाश ही उसका सन्देह-शरीरका मध्यभाग है, उसके रयि-जल ही बस्ति हैं, पृथिवी ही उसके पैर हैं, वेदी ही मानो वक्षस्थल है, कुश ही मानो लोम-रोम हैं, गार्हपत्य अग्नि उसका हृदय है, अन्वाहार्यपचन—दक्षिणाग्नि ही उसका मन है, आहवनीय अग्नि ही मानो उसका मुख है ( छा० ५।१८।२ )"

इत्यादि, यहां संशय होता है कि—क्या वैश्वानर शब्दसे जाठराग्नि उपदेश किया जाता है, अथवा भौतिक अग्नि, अथवा अग्निकी अभिमानी देवता, अथवा जीवात्मा, अथवा परमेश्वर?

प्रश्न—यहां फिर संशयका कारण क्या है?

उत्तर—क्योंकि जाठराग्नि, भौतिक अग्नि और अग्न्यभिमानिनी देवता इन तीनोंका 'वैश्वानर' शब्द साधारण शब्दके समान प्रयोग होता है (अर्थात् इन तीनोंमें वैश्वानर शब्द साधारणरूपसे प्रयोग होता है) और आत्मा शब्द जीवात्मा और परमात्मामें साधारण है, इस कारण श्रुतिमें किसका ग्रहण अथवा त्याग न्यायानुकूल है यह संशय होता है।

प्रश्न—तो क्या प्राप्त होता है?

उत्तर—जाठराग्नि।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—जाठराग्निमें विशेषरूपसे कहीं प्रयोग देखा जाता है:—

"यह अग्नि वैश्वानर है, जो पुरुषके भीतर रहता है, जिससे जो अन्न खाया जाता है उसका पाक होता है ( बृ० ५। ९ )"

—इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें अथवा अग्निमात्र ही वैश्वानर हो, क्योंकि सामान्यरूपसे ही प्रयोग देखा जाता है:—

प्रयोगदर्शनात् 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' (ऋ० सं०१०।८८।१२) इत्यादौ । अग्निशरीरा वा देवता स्यात्, तस्यामपि प्रयोगदर्शनात् 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः (ऋ० सं० १ । ९८ । १) इत्येवमाद्यायाः श्रुतेर्देवतायामैश्वर्याद्युपेतायां सम्भवात् । अथात्मशब्दसामानाधिकरण्यादुपक्रमे च 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति केवलात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दवशेन च वैश्वानरशब्दः परिणेय इत्युच्यते, तथापि शारीर आत्मा स्यात्, तस्य भोक्तृत्वेन वैश्वानरसंनिकर्षात् । प्रादेशमात्रमिति च विशेषणस्य तस्मिन्नुपाधिपरिच्छिन्ने सम्भवात् । तस्मान्नेश्वरो वैश्वानर इति ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते तत इदमुच्यते—वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हतीति ।

प्रश्नः—कुतः ?

प्रत्युत्तरम्-साधारणशब्दविशेषात् । साधारणशब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः । यद्यप्येतावुभावप्यात्मवैश्वानरशब्दौ साधारणशब्दौ, वैश्वानरशब्दस्तु त्रयस्य साधारणः, आत्मशब्दश्च द्वयस्य तथापि विशेषो दृश्यते, येन परमेश्वरपरत्वं तयोरभ्युपगम्यते, 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादि । अत्र हि परमेश्वर एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टोऽवस्थान्तरगतः प्रत्यगात्मत्वेनोपन्यस्त आध्यानायेति गम्यते, कारणत्वात् ।

"देव लोगोंने सब लोकोंके लिये सूर्य आदि अग्निरूप वैश्वानर अग्निको दिनका चिह्न बनाया क्योंकि अग्नि आदिके प्रकाशसे लोकका व्यवहार होता है ।" ( ऋ० सं० १० । ८८ । १२ ।

—इत्यादि वेदमन्त्रोंमें अथवा अग्निशरीरवाली देवता वैश्वानर हो, क्योंकि उसमें भी वैश्वानर शब्दका प्रयोग देखा गया है:—

"उस वैश्वानरकी सुबुद्धिमें हम लोग हों जो सब लोकोंका अधीश्वर सुखदायी राजा है अर्थात् हम लोग उस वैश्वानर राजाके अनुकूल हों ( ऋ० सं० १ । ९८ । १ )

इत्यादि वेदमन्त्रोंके प्रमाणसे ऐश्वर्य आदिसे युक्त देवतामें वैश्वानर शब्द सम्भव होता है । यदि "आत्मानं वैश्वानरम्" इस प्रकार श्रुतिमें आत्मा (और वैश्वानर) के समान—अधिकरण—समान आधार होनेसे तथा आरम्भमें "हम लोगोंका कौन आत्मा है तथा कौन ब्रह्म है ?" इस प्रकार श्रुतिमें केवल आत्मशब्दके प्रयोग होनेसे आत्मशब्दवशसे वैश्वानर शब्दको लेना चाहिये ( अर्थात् वैश्वानर शब्दको आत्मविषय कर लेना चाहिये ) इस प्रकार कहा जाय, तथापि जीवात्मा वैश्वानर होगा, क्योंकि जाठर अग्नि वैश्वानरके साहचर्य—समीपतासे वह जीवात्मा भोक्ता होता है ( अर्थात् जैसे जाठराग्नि भोक्ता होता है एवं जीवात्मा भी भोक्ता है ), तथा "प्रादेशमात्र—हृदय आदि प्रदेशमात्रमें प्रकाशित होनेवाला" यह विशेषण भी उपाधिसे परिच्छिन्न इस जीवात्मामें सम्भव हो सकता है, इस कारण परमेश्वर वैश्वानर नहीं ।

( यहां तक पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब उत्तरपक्षी सिद्धान्तीका प्रत्युत्तर । )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होने पर यह कहा जाता है—वैश्वानर परमात्मा होना चाहिये ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—साधारण शब्दोंमें विशेष होनेसे, साधारण शब्दोंका विशेष—साधारणशब्दविशेष, यद्यपि ये दोनों आत्मा और वैश्वानर शब्द भी साधारण शब्द है—वैश्वानर शब्द जाठर अग्नि—भौतिक अग्नि-और देवताग्नि इन तीनोंका साधारण है ( अर्थात् वैश्वानर शब्द इन तीनोंमें सामान्यरूपसे प्रयोग होता है ), तथा आत्मा शब्द जीवात्मा और परमात्मा इन दोका साधारण है, तथापि विशेष देखा जाता है, जिससे वे दोनों ( आत्मा और वैश्वानर ) परमेश्वरपरक माने जाते हैं:—

"उस इस आत्मा वैश्वानरका सुन्दर तेजवाला द्युलोक ही शिर है—इत्यादि ।"

यहां ध्यान करनेके लिये द्युलोकरूप शिर आदि युक्त अवस्थान्तरको प्राप्त हुवे परमेश्वर ही व्यापक आत्मरूपसे निर्देश किया गया है यह निश्चय होता है, क्योंकि परमेश्वर सबका कारण है । कार्यगत सब

कारणस्य हि सर्वाभिः कार्यगताभिरवस्थाभिरवस्थावत्त्वाद् द्युलोकाद्यवयवत्वमुपपद्यते 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' इति च सर्वलोकाद्याश्रयं फलं श्रूयमाणं परमकारणपरिग्रहे सम्भवति। 'एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' ( छा० ५।२४।३ ) इति च तद्विदः सर्वपाप्मप्रदाहश्रवणम्। 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति चात्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम इत्येवमेतानि लिङ्गानि परमेश्वरमेवावगमयन्ति। तस्मात्परमेश्वर एव वैश्वानरः ॥ २४ ॥

## स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैवाग्निरास्यं द्यौर्मूर्धेतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते—'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः।' इति। एतत्स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयद्वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः। इतिशब्दो हेत्वर्थः। यस्मादिदं गमकं तस्मादपि वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः। यद्यपि स्तुतिरियं 'तस्मै लोकात्मने नमः' इति। स्तुतित्वमपि नासति मूलभूते वेदवाक्ये सम्यगीदृशेन रूपेण सम्भवति। 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता॥' इत्येवंजातीयका च स्मृतिरिहोदाहर्तव्या ॥ २५ ॥

अवस्थाओंसे कारण अवस्थायुक्त होता है इसलिये कारणका द्युलोक रूप अवयव भाग होता है। तथाः—

"यह वैश्वानरका उपासक सब लोकोंमें सब भूतोंमें और सब आत्माओंमें आनन्द सुख भोग करता है—इत्यादि।"

इस प्रकार सब लोकोंका आश्रयरूप फल सुना जाता परमकारण परमात्माको ग्रहण करनेसे सम्भव होता है। तथाः—

"इस प्रकार वैश्वानरके उपासकके सब दोष नष्ट हो जाते हैं।" ( छा० ५।२४।३ )

इस प्रकार वैश्वानरवेत्ताके सब पापोंका दाह श्रवण होना तथा "हमारा कौन आत्मा है और ब्रह्म कौन है" यहां श्रुतिवाक्यमें आत्मा और ब्रह्म शब्दसे प्रारम्भ होना इत्यादि ये लिङ्ग परमेश्वरको ही निश्चय कराते हैं, इस कारण परमेश्वर ही वैश्वानर है ॥ २४ ॥

## स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

यहांसे आगे भी परमेश्वर ही वैश्वानर है, जिस कारण परमेश्वरके ही "अग्नि मुख है, द्युलोक शिर है" इस प्रकार त्रैलोक्यात्मक रूप स्मरण किया जाता है:—

"जिसका अग्नि मुख है, द्युलोक शिर है, आकाश नाभि है, पृथिवी चरण है, सूर्य नेत्र है दिशायें जिसके कान हैं उस लोकात्माके लिये नमस्कार है।"

यह स्मरण किये जानेवाला रूप मूलभूत श्रुतिको अनुमान कराता हुआ इस वैश्वानर शब्दके परमेश्वरपरक होनेमें अनुमान लिङ्ग होगा अर्थात् गमक—ज्ञापक होगा। श्रुतिमें 'इति' शब्द हेतु—युक्तिके लिये है, जिस कारण यह त्रैलोक्यात्मक रूप व्यापक होता है। इस कारण भी वैश्वानर परमात्मा ही है। यद्यपि "**तस्मै त्रैलोक्यात्मने नमः**" यह स्तुति है, तथापि स्तुति भी जो मूलभूत वेदवाक्य न होनेपर इस प्रकारके रूपमें युक्त नहीं हो सकती, तथाः—

"विद्वान् ब्राह्मण लोग जिसके द्युलोकको शिर कहते हैं, आकाशको नाभि, चन्द्रसूर्यको नेत्र, दिशाओंको कान कहते हैं तथा तुम पृथिवीको पैर जानो, वह अचिन्तनीय आत्मा सब भूतोंको उत्पन्न करनेवाला है।"

इस प्रकारकी स्मृतिको भी यहां उदाहरण कर लेना चाहिये ॥ २५ ॥

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

अत्राह—न परमेश्वरो वैश्वानरो भवितुमर्हति।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च। शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमेश्वरे सम्भवति, अर्थान्तरे रूढत्वात्। तथाग्निशब्दः 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इति। आदिशब्दात् 'हृदयं गार्हपत्यः' ( छा० ५। १८। २ ) इत्याद्यग्नित्रेताप्रकल्पनम्। 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' ( छा० ५। १९। १ ) इत्यादिना च प्राणाहुत्यधिकरणतासंकीर्तनम्। एतेभ्यो हेतुभ्यो जाठरो वैश्वानरः प्रत्येतव्यः। तथान्तःप्रतिष्ठानमपि श्रूयते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। तच्च जाठरे सम्भवति। यदप्युक्तं—मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषात्कारणात्परमात्मा वैश्वानरः इति। अत्र ब्रूमः—कुतो ह्येष निर्णयः, यदुभयथापि विशेषप्रतिभाने सति परमेश्वरविषय एव विशेष आश्रयणीयो न जाठरविषय इति। अथवा भूताग्नेरन्तर्बहिश्चावतिष्ठमानस्यैष निर्देशो भविष्यति। तस्यापि हि द्युलोकादिसम्बन्धो मन्त्रवर्णादवगम्यते—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

( अब पूर्वपक्षीका कथन )—

यहां कहते हैं—परमेश्वर वैश्वानर नहीं हो सकता है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—शब्द आदि प्रमाणोंसे तथा भीतर स्थित होनेसे, वैश्वानर शब्द तो परमेश्वरमें सम्भव नहीं होता है, क्योंकि वैश्वानर शब्द अन्य पदार्थमें प्रसिद्ध है तथा अग्नि शब्द भी जाठराग्नि में प्रसिद्ध है—

"सो यह अग्नि वैश्वानर है।"

इत्यादि, सूत्रमें आदि शब्दसे:—

"जिसका गार्हपत्य अग्नि हृदय है ( छा० ५।१८।२ )"

इत्यादि श्रुतिसे गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन और आहवनीय तीन अग्नियोंकी कल्पना होती है, तथा:—

"इस कारण जो भक्त—होम करने योग्य भात आदि सामग्री प्राप्त हो वह होमीय—होम करने योग्य समझ लेना चाहिये ( छा० ५।१९।१ )"

इत्यादि श्रुतिवाक्यसे प्राणाहुतिके अधिकरण—आधार स्थान ( अर्थात् जाठराग्निरूप आधार ) का कीर्त्तन किया गया है, इत्यादि हेतुओंसे जाठराग्नि वैश्वानरको निश्चय कर लेना चाहिये। तथा जाठराग्नि का भीतर स्थित होना भी सुना जाता है:—

"जो इस पुरुषके अन्दर प्रतिष्ठित होनेवाले अग्निको जानता है।"

यह कथन जाठराग्नि में सम्भव होता है।

और यह जो कहा था कि "सुन्दर तेजवाला द्युलोक ही शिर है" इत्यादि विशेष कारणसे परमात्मा वैश्वानर है, यहां हम कहते हैं—यह निर्णय कैसे हुवा कि जो दोनों प्रकारसे विशेष प्रतीति होनेपर परमेश्वर-विषयक विशेषको ही आश्रयण किया जाय जाठराग्नि विषय विशेषको नहीं ? अथवा भीतर और बाहर स्थित होनेवाले भौतिक अग्निका यह निर्देश होगा, कारण कि उस भौतिक अग्निका भी द्युलोक आदिसे सम्बन्ध होना मन्त्रवर्णनसे जाना जाता है:—

रोदसी अन्तरिक्षम्' ( ऋ० सं० १० । ८८ । ३ ) इत्यादौ । अथवा तच्छरीराया देवताया ऐश्वर्ययोगाद् द्युलोकाद्यवयवत्वं भविष्यति । तस्मान्न परमेश्वरो वैश्वानर इति ।

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—न तथादृष्ट्युपदेशादिति । न शब्दादिभ्यः कारणेभ्यः परमेश्वरस्य प्रत्याख्यानं युक्तम् ।

प्रश्नः—कुतः ?

प्रत्युत्तरम्—तथा जाठरापरित्यागेन दृष्ट्युपदेशात् । परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यते, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' ( छा० ३ । १८ । १ ) इत्यादिवत् । अथवा जाठरवैश्वानरोपाधिः परमेश्वर इह द्रष्टव्यत्वेनोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' ( छा० ३ । १४ । २ ) इत्यादिवत् । यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत केवल एव जाठरोऽग्निर्विवक्ष्येत ततो मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषस्यासम्भव एव स्यात् । यथा तु देवताभूताग्निव्यपाश्रयेणाप्ययं विशेष उपपादयितुं न शक्यते तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः । यदि च केवल एव जाठरो विवक्ष्येत, पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं तस्य स्यान्न तु पुरुषत्वम् । पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' ( श० ब्रा० १० । ६

"जो भौतिक अग्नि सर्वरूपसे रोदसी—द्युलोक और पृथिवीमें तथा अन्तरिक्षमें व्याप्त है ( ऋ० सं० १०।८८।३ )"

इत्यादि वेदमन्त्रोंमें, अथवा भौतिक अग्नि शरीरवाली देवताके ऐश्वर्ययोगसे द्युलोक आदि अवयव—भाग होंगे इस कारण परमेश्वर वैश्वानर नहीं ।

( यहां तक पूर्वपक्षीका कथन है अब सिद्धान्तीका समाधान )—

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—"न तथादृष्ट्युपदेशादिति" शब्द आदि कारणोंसे परमेश्वरका खण्डन उचित नहीं ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—क्योंकि इस प्रकार जाठराग्निको त्याग न कर ( जाठराग्निमें ईश्वरका ) दृष्टिरूप उपदेश किया है, यहां जाठराग्नि वैश्वानरमें परमेश्वरदृष्टिका उपदेश दिया जाता है:—

"मन ब्रह्म है ऐसा जानकर उपासन करे ( छा० ३।१८।१ )"

—इत्यादिके समान, ( यहां मनरूप प्रतीकमें ब्रह्मदृष्टिका उपदेश किया गया है, वैसे ही जाठराग्निरूप प्रतीकमें ब्रह्मदृष्टिका उपदेश है ), अथवा जाठराग्नि तथा वैश्वानररूप उपाधिसे युक्त परमेश्वर यहां दर्शनीयरूपसे उपदेश किया जाता है—

"वह परमेश्वर मनोमय है, प्राण शरीरवाला ज्योतिःस्वरूप है ।" ( छा० ३।१४।२ )

—इत्यादि के समान, ( यहां मन और प्राण उपाधिवाला परमेश्वर माना गया है ), यदि यहां परमेश्वर विवक्षित न होता और केवल जाठराग्नि ही विवक्षित ( कहनेको इष्ट ) होता तब तो "मूर्धा तेजवाला द्युलोक ही शिर है" इत्यादि विशेषका असम्भव ही होता, जैसे तो देवतारूप और भौतिक अग्निके आश्रयसे भी यह ( द्युलोकका शिर होना रूप ) विशेष प्रतिपादित नहीं किया जा सकता वैसे आगे सूत्रमें कहेंगे । तथा यदि केवल जाठराग्नि ही विवक्षित होता तो उसका ( जाठराग्निका ) पुरुषके भीतर स्थित होना मात्र केवल होता, उसका पुरुषत्व तो नहीं हो सकता ( अर्थात् वह जाठराग्नि पुरुषरूप नहीं हो सकता ), इस वैश्वानरको वाजसनेयी शाखावाले 'पुरुष' भी पढ़ते हैं:—

"वह यह अग्नि वैश्वानर है जो पुरुष है, वह जो इस अग्नि वैश्वानरको पुरुषरूप और पुरुषके भीतर प्रतिष्ठित जानता है वह मृत्युको जीतता है ।" ( शत० ब्रा० १०।६।१।११ )

१ । ११ ) इति । परमेश्वरस्य तु सर्वात्मत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं चोभयमुपपद्यते । ये तु 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रावयवं पठन्ति, तेषामेषोऽर्थः—केवलजाठराग्निपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं स्यान्न पुरुषविधत्वम् । पुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति । पुरुषविधत्वं च प्रकरणाद्यदधिदैवतं द्युमूर्धत्वादि पृथिवीप्रतिष्ठितत्वान्तं, यच्चाध्यात्मं प्रसिद्धं मूर्धत्वादि चुबुकप्रतिष्ठितत्वान्तं तत्परिगृह्यते ॥ २६ ॥

## अतएव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

प्रश्नः—यत्पुनरुक्तं भूताग्नेरपि मन्त्रवर्णे द्युलोकादिसम्बन्धदर्शनान्मूर्धैव सुतेजा इत्याद्यवयवकल्पनं तस्यैव भविष्यतीति, यच्छरीराया देवताया वैश्वर्ययोगादिति, तत्परिहर्तव्यम् ?

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—अतएवोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न देवता वैश्वानरः । तथाभूताग्निरपि न वैश्वानरः । नहि भूताग्नेरौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनोपपद्यते, विकारस्य विकारान्तरात्मत्वासम्भवात् । तथा देवतायाः सत्यप्यैश्वर्ययोगे न द्युमूर्धत्वादिकल्पना सम्भवति । अकारणत्वात्परमेश्वराधीनैश्वर्यत्वाच्च । आत्मशब्दासंभवश्च सर्वेष्वेषु पक्षेषु स्थित एव ॥ २७ ॥

## साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पूर्वं जाठराग्निप्रतीकं जाठराग्न्युपाधिकं वा परमेश्वरमुपास्य इत्युक्तमन्तःप्रतिष्ठि-

---

इत्यादि, परमेश्वरका तो सर्वात्मक होनेसे पुरुषरूप होना और पुरुषके भीतर स्थित हो जाना यह दोनों बन सकता है। जो तो ( 'पुरुषमपि०' इस सूत्रावयवके स्थानमें ) "पुरुषविधमपि चैनमधीयते" इस प्रकार सूत्रके अवयव-भागका पाठ करते हैं उनका यह अर्थ है—केवल जाठराग्निको ग्रहण करनेमें वह केवल पुरुषके भीतर प्रतिष्ठित हो सकता है पुरुषके समान नहीं, पुरुषके समान भी इस वैश्वानरको वाजसनेयी शाखा वाले पढ़ते हैं—

"इस वैश्वानरको पुरुषरूप और पुरुषके भीतर स्थित होने वाला जानता है वह मृत्युको जीतता है—( शत० ब्रा० १०।६।१।११ )"

इत्यादि, पुरुषविध होना यह है कि—प्रकरणसे देवतापक्षमें जो "द्युलोक ही सिर है" यहांसे लेकर "पृथिवी स्थितिका स्थान है" यहां तक, और आत्मपक्षमें जो प्रसिद्ध शिर आदिसे लेकर 'चुबुक ठुड्डी प्रतिष्ठाका स्थान है' यहां तक पुरुषवि[illegible]—पुरुषके समान जो है वह लिया जाता है ॥ २६ ॥

## अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

प्रश्न—फिर जो कहा था कि मन्त्रके वर्णनमें भौतिक अग्निके भी द्युलोक आदिका सम्बन्ध देखे जानेसे "सुन्दर तेजवाला द्युलोक जिसका शिर है" इत्यादि अवयवकी कल्पना उसी ( भौतिक अग्नि ) की हो जावेगी, अथवा भौतिक अग्निरूप शरीरवाली देवताकी (वह कल्पना) ऐश्वर्ययोगसे हो जावेगी, उसका परिहार होना चाहिये।

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—इसी कारण उक्त हेतुओंसे देवता वैश्वानर नहीं है, तथा भौतिक अग्नि भी वैश्वानर नहीं है, उष्णता और प्रकाशमात्र स्वरूपवाले भौतिक अग्निकी "द्युमूर्धत्वादि—द्युलोक ही शिर है" इत्यादि कल्पना बनती नहीं, क्योंकि विकार विकारान्तरोंका आत्मा नहीं हो सकता, तथा देवताके ऐश्वर्ययोग होनेपर भी द्युमूर्धत्वादिकी कल्पना सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि देवता ( द्युलोक आदिका ) कारण नहीं है तथा देवताका ऐश्वर्य परमेश्वरके अधीन होता है। आत्मा शब्दका असम्भव होना तो इन सब पक्षोंमें है ही ॥ २७ ॥

## साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पहले पुरुषके भीतर स्थिर होना आदिके अनुरोधसे जाठराग्नि प्रतीकयुक्त अथवा जाठराग्नि उपाधि-

तत्वाद्यनुरोधेन । इदानीं तु विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरो-
पासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ।

**प्रश्नः**—ननु जाठराग्न्यपरिग्रहेऽन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं शब्दादीनि च कारणानि विरुध्येरन्निति ?

**प्रत्युत्तरम्**—अत्रोच्यते—अन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं तावन्न विरुध्यते । नहीह 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः
प्रतिष्ठितं वेद इति' जाठराग्न्यभिप्रायेणेदमुच्यते । तस्याप्रकृतत्वादसंशब्दितत्वाच्च ।

**प्रश्नः**—कथं तर्हि ?

**प्रत्युत्तरम्**—यत्प्रकृतं मूर्धादिचुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं कल्पितं तदभिप्रायेणेद-
मुच्यते—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति । यथा वृक्षे शाखां प्रतिष्ठितां
पश्यतीति तद्वत् । अथवा यः प्रकृतः परमात्माध्यात्ममधिदैवतं च पुरुषविधत्वोपा-
धिस्तस्य यत्केवलं साक्षिरूपं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति ।
निश्चिते च पूर्वापरालोचनवशेन परमात्मपरिग्रहे तद्विषय एव वैश्वानरशब्दः केन-
चिद्योगेन वर्तिष्यते । विश्वश्चायं नरश्चेति, विश्वेषां वायं नरः, विश्वे वा नरा
अस्येति विश्वानरः परमात्मा, सर्वात्मत्वात् । विश्वानर एव वैश्वानरः । तद्धितो-
ऽनन्यार्थः राक्षसवायसादिवत् । अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयणेन परमात्म-
विषय एव भविष्यति । गार्हपत्यादिकल्पनं प्राणाहुत्यधिकरणत्वं च परमात्मनोऽपि
सर्वात्मत्वादुपपद्यते ॥ २८ ॥

**प्रश्नः**—कथं पुनः परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रश्रुतिरुपपद्यते ?

युक्त परमेश्वर उपासनीय है यह कहा था, अब तो प्रतीक और उपाधि कल्पनाके बिना साक्षात् भी परमेश्वरकी
उपासनाको ग्रहण करनेमें कोई विरोध नहीं है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं ।

**प्रश्न**—जाठराग्नि ग्रहण न किये जानेपर भीतर स्थित रहना रूप वचन तथा शब्द आदि कारण विरुद्ध हो जायेंगे ?

**प्रत्युत्तर**—भीतर स्थित रहना यह वचन तो विरुद्ध नहीं होता है, **"पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद"**
यह वचन जाठराग्निके अभिप्रायसे नहीं कहा जाता है, क्योंकि जाठराग्निका प्रकरण नहीं है, और न
उसको कथन किया है ।

**प्रश्न**—तो किसे कथन किया है ?

**प्रत्युत्तरम्**—जो प्रकृत—पूर्व निर्दिष्ट सिर आदिसे लेकर चिबुक पर्यन्त पुरुषके अवयवोंमें पुरुषरूपके समान
कल्पित किया है उसके अभिप्रायसे यह कहा जाता है—**"पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं
वेद"** इत्यादि, जैसे—'वृक्षमें स्थित शाखाको देखता है—' इत्यादिके समान, अथवा जो प्रकृत
परमात्मा आत्मा और दैवत पक्षमें पुरुषके तुल्य उपाधिवाला है उसका जो केवल साक्षिरूप है
उसके अभिप्रायसे यह कहा जाता है—**"पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद"** इत्यादि । इस प्रकार
पूर्वापरके आलोचनावशसे परमात्माका ग्रहण निश्चित हो जाने पर परमात्मविषयक ही किसी योगसे
वैश्वानर शब्द माना जावेगा—संसार जो नर पुरुष है ( क्योंकि परमात्मा विश्वात्मक है ), अथवा
सबोंका यह नर है ( क्योंकि यह सब विश्वप्रपञ्च परमात्माका विकार है ), अथवा सब नर
जीवात्मा जिसके हों वह विश्वानर परमात्मा है; क्योंकि वह सर्वात्मक है । विश्वानर ही वैश्वानर
है, स्वार्थ में तद्धित अण् प्रत्यय हुवा है, जैसे—राक्षस वायस आदि शब्द है । अग्नि शब्द भी
अग्रणी—अगुवा होने आदियोगके आश्रयसे परमात्मविषयक ही होगा, तथा गार्हपत्यादि अग्निकी
कल्पना तथा प्राणाहुतिके अधिकरणका ( जाठराग्निका ) कीर्त्तन करना परमात्माका भी सर्वात्मक
होनेसे हो सकता है ॥ २८ ॥

प्रत्युत्तरम्—इति तां व्याख्यातुमारभते—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अतिमात्रस्यापि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात् । अभिव्यज्यते किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते । प्रदेशेषु वा हृदयादिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषेणाभिव्यज्यते । अतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभिव्यक्तेरुपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठेन वायं मनसानुस्मर्यते तेन प्रादेशमात्र इत्युच्यते । यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था इत्युच्यन्ते तद्वत् । यद्यपि च यवेषु स्वगतमेव परिमाणं प्रस्थसंबन्धाद्व्यज्यते । नचेह परमेश्वरगतं किंचित्परिमाणमस्ति यद्धृदयसंबन्धाद्व्यज्यते । तथापि प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेः संभवति यथाकथंचिदनुस्मरणमालम्बनमित्युच्यते । प्रादेशमात्रत्वेन वायमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्रश्रुत्यर्थवत्तायै । एवमनुस्मृतिनिमित्ता परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिरिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥ ३० ॥

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥ ३१ ॥

संपत्तिनिमित्ता वा स्यात्प्रादेशमात्रश्रुतिः । कुतः । तथाहि—समानप्रकरणं वाजसनेयिब्राह्मणं द्युप्रभृतीन्पृथिवीपर्यन्तांस्त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवानध्यात्ममूर्धप्रभृतिषु चुबुकपर्यन्तेषु देहावयवेषु संपादयत्प्रादेशमात्रसंपत्तिं परमेश्वरस्य दर्शयति–'प्रादेशमात्रमिव

प्रत्युत्तर—उस प्रादेशमात्र श्रवणको व्याख्या करनेके लिये आरम्भ करते हैं:—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अपरिमित परमात्माका भी प्रादेशमात्र—स्थानविशेष होना प्रकट होनेके निमित्तसे होगा, उपासकोंके लिये हृदय आदि प्रादेशमात्र परिमाणवाला परमेश्वर प्रकट होता है । अथवा प्रदेश—हृदय आदि परमेश्वर प्राप्तिके स्थानोंमें विशेषतासे परमेश्वर प्रकट होता है, इस कारण प्रकट होनेसे परमात्मामें भी प्रदेशमात्रका श्रवण युक्तियुक्त है यह आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

अथवा हृदयरूप प्रदेशमात्रमें स्थित होने वाले मनसे यह परमात्मा फिर चिन्तन किया जाता है, इस कारण परमात्मा 'प्रादेशमात्र' कहा जाता है, जैसे—प्रस्थ नाम सेरभरके बाटसे तौले हुवे जौको 'प्रस्थ—सेरभर' ऐसा कहते हैं, वैसे ही ( प्रदेशवाले मनसे अनुचिन्तन किये जानेसे परमात्मा प्रादेशमात्र ) कहा जाता है । यद्यपि जौओंमें स्वगत परिमाण-तौल ही सेरभरके बाटके सम्बन्धसे प्रकट होता है, यहां परमेश्वरगत कुछ परिमाण नहीं है जो हृदयके सम्बन्धसे प्रकट होता हो; तथापि प्रयुक्त किये हुए प्रादेशमात्र श्रवणका किसी प्रकार अनुस्मरण वा आलम्बन हो सकता है इसलिये यह कहा जाता है । अथवा प्रादेशमात्र श्रवणको सार्थक करनेके लिये अप्रादेशमात्र—अपरिमित परमात्माको भी प्रादेशमात्र रूपसे अनुचिन्तन करना चाहिये, एवं अनुस्मरणनिमित्तक प्रादेशमात्र श्रवण परमेश्वरमें होता है यह बादरि आचार्य मानते हैं ॥ ३० ॥

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥ ३१ ॥

अथवा प्रादेशमात्रश्रवण सम्पत्तिनिमित्तक—( परमेश्वरकी प्राप्तिके निमित्त )-है, क्योंकि जैसे—समान प्रकरणवाले वाजसनेयीब्राह्मण त्रैलोक्यात्मा वैश्वानरके द्यौ आदिसे लेकर पृथिवीपर्यन्त अवयवोंको जीवात्माके शिर आदिसे लेकर चुबुकपर्यन्त शरीरावयवोंमें प्राप्त कराता हुवा परमेश्वरको प्रादेशमात्र सम्पत्ति

ह वै देवाः सुविदिता अभिसंपन्नास्तथा नु व एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपादयिष्यामीति। स होवाच मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति। नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति। मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति। मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति। चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति'। चुबुकमित्यधरं मुखफलकमुच्यते। यद्यपि वाजसनेयके द्यौरतिष्ठात्वगुणा समाम्नायत आदित्यश्च सुतेजस्त्वगुणः। छान्दोग्ये पुनर्द्यौः सुतेजस्त्वगुणा समाम्नायत आदित्यश्च विश्वरूपत्वगुणः तथापि नैतावता विशेषेण किंचिद्धीयते, प्रादेशमात्रश्रुतेरविशेषात्। सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च। संपत्तिनिमित्तां प्रादेशमात्रश्रुतिं युक्ततरां जैमिनिराचार्यो मन्यते॥ ३१॥

## आमनन्ति चैनमस्मिन्॥ ३२॥

आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन्मूर्धचुबुकान्तराले जाबालाः—'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति'। तत्र चेमामेव नासिकां वरणा नासीति निरुच्य या सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयतीति सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति सा नासीति। पुनरामनन्ति—'यतमच्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य

दिखाता है—

"सब देवगण परमेश्वरको प्रादेशमात्र जान कर प्राप्त हो गये, प्राचीनशाल आदियोंसे अश्वपति राजाने कहा कि मैं द्यौ आदि अवयवोंको उस प्रकार कहूंगा जिससे प्रादेशमात्र परिमाणवाले वैश्वानरको ही प्राप्त करूंगा। राजाने शिरको उपदेश देते हुये कहा यह अतिष्ठा वैश्वानर है अर्थात् ऊपर भागमें स्थित होने वाला है, आंखोंको उपदेश देते हुये कहा—यह सुन्दर तेजवाला वैश्वानर है, नाकको उपदेश देते हुवे कहा—यह पृथग्वर्त्मात्मा पृथक् २ स्थानवाला प्राण अग्निरूप वैश्वानर है, मुख्य आकाशको उपदेश देते हुवे कहा—यह बहुल व्याप्त होनेवाला वैश्वानर है, मुख्य जलको उपदेश देते हुवे कहा—यह रयि—वस्तिरूप वैश्वानर है, चुबुक—ठुड्डीको उपदेश देते हुवे कहा—यह प्रतिष्ठा स्थिर होने वाला पृथिवीरूप वैश्वानर है इत्यादि।"

चुबुक और अधर ठुड्डीके नाम है जो होठके नीचेका भाग—मुखका फलकरूप कहा जाता है। यद्यपि वाजसनेय ब्राह्मणमें द्यौ अतिष्ठागुणवाला और सूर्य सुन्दर तेजगुणवाला पढ़ा जाता है, और फिर छान्दोग्यमें द्यौ सुन्दर तेज गुणवाला तथा सूर्य विश्वरूप गुणवाला पढ़ा जाता है, तथापि इतनी विशेषतासे कोई हानि होती नहीं, क्योंकि दोनोंमें प्रादेशमात्र श्रवण समान ही है, तथा इस प्रादेशमात्र श्रवणका सब शाखाओंमें ज्ञान समान होता है, इस कारण जैमिनि आचार्य सम्पत्तिनिमित्तक प्रादेशमात्र श्रवणको अधिक उचित मानते हैं॥ ३१॥

## आमनन्ति चैनमस्मिन्॥ ३२॥

जाबालोपनिषद्को माननेवाले जाबाल लोग इस परमेश्वरको शिर और ठुड्डीके बीचमें पढ़ते हैं:—

"अत्रि ऋषिने पूछा कि जो यह अनन्त अव्यक्त आत्मा है वह किसमें प्रतिष्ठित—स्थित रहता है? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि अविमुक्त—अविद्या आदिसे बद्ध जीवात्मामें स्थित रहता है, फिर उसने पूछा कि वह अविमुक्त जीवात्मा किसमें प्रतिष्ठित रहता है? उसने उत्तर दिया कि—वरणा—भौं और नाकके बीचमें प्रतिष्ठित होता है। अत्रिने पूछा कि वरणा क्या है और नासी क्या है?"

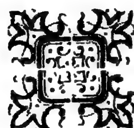
वहां जाबालोपनिषद्में इसी नाकको वरणा और नासी इस प्रकार निरुक्ति करे 'जो सब इन्द्रियोंके किये पापोंको हटाती है वह वरणा है, और जो सब इन्द्रियोंके किये पापोंको नाश करती है वह नासी है' इत्यादि, फिर पढ़ते हैं:—

**च यः सन्धिः स एष द्युलोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति' ( जाबा० १ ) । तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः । अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया । प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिरभिविमीयत इत्यभिविमानः । अभिगतो वायं प्रत्यगात्मत्वाद्विमानश्च मानवियो-गादित्यभिविमानः अभिविमिमीते वा सर्वं जगत्कारणत्वादित्यभिविमानः । तस्मात्परमेश्वरो वैश्वानर इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥ इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥**

"फिर अत्रि ऋषिने पूछा कि—( नाक और भौंके बीचमें भी ) जीवात्माका कौनसा स्थान है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि—भौं और नाकके बीचमें जो संधि है वही द्युलोक और परमेश्वरकी संधि है ( जाबा० १ )"

इत्यादि, इस कारण परमेश्वरमें प्रादेशमात्रका श्रवण और अभिविमानका श्रवण उचित ही है, क्योंकि सर्वव्यापक होनेसे यह श्रवण आत्माके अभिप्रायवाला है । सर्वगत होनेसे सब प्राणियोंद्वारा जो प्राप्त किया है वह अभिविमान है अर्थात् सर्वगत है, अथवा जो व्यापक होनेसे चारों ओर फैला हुवा है तथा विमान—परिमाणरहित होनेसे अभिविमान है, अथवा सबका कारण होने से सब जगत् को जो बनाता है इसलिये यह परमेश्वर अभिविमान है, इस कारण परमेश्वर वैश्वानर है यह सिद्ध हो गया ॥ ३२ ॥ यह सातवां वैश्वानराधिकरण समाप्त हो गया ।

प्रथम अध्यायका दूसरा पाद समाप्त ।



# प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ।

[ अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गानां प्रायो ज्ञेयब्रह्मविषयाणां विचारः । एवं पादत्रयेणापि वाक्यविचारः ]

## १ द्युभ्वाद्यधिकरणम् । सू० १-७

### द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

इदं श्रूयते—'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' ( मुण्ड० २ । २ । ५ ) इति । अत्र यदेतद्द्युप्रभृतीनामोतत्ववचनादायतनं किंचिदवगम्यते, तत्किं परं ब्रह्म स्यादाहोस्विदर्थान्तरमिति संदिह्यते । तत्रार्थान्तरं किमप्यायतनं स्यादिति प्राप्तम् ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—'अमृतस्यैष सेतुः' इति श्रवणात् । पारवान्हि लोके सेतुः प्रख्यातः । नच परस्य ब्रह्मणः पारवत्त्वं शक्यमभ्युपगन्तुं, 'अनन्तमपारम्' (बृह० २।४।१२) इति श्रवणात् । अर्थान्तरे चायतने परिगृह्यमाणे स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानं परिग्रहीतव्यं, तस्य कारणत्वादायतनत्वोपपत्तेः । श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात्, 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' ( बृह० ३।७।२ ) इति वायोरपि विधारणत्वश्रवणात् । शारीरो वा स्यात् । तस्यापि भोक्तृत्वाद्भोग्यं प्रपञ्चं प्रत्यायतनत्वोपपत्तेरिति ।

# प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ।

### द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

यह सुना जाता है कि —

"जिसमें द्यौः--सूर्यादि प्रकाशमान लोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष—वायु तथा मेघका आधाररूप आकाश, और सब प्राण—इन्द्रियोंके सहित मन तागेमें मणियोंके समान जड़े हुवे हैं, उसी एक परमात्माको जानो, वही अमृत—सांसारिक सब दुःखोंसे छूटना रूप मोक्षका नदी आदिसे पार होनेके लिये पुलके समान लौकिक सुख दुःखोंसे पार होनेके लिये वह कारण है, लौकिक सुखभोगको कहनेवाले अन्य वचनोंको छोड़ दो ( मुण्ड० २ । २ । ५ )"

इत्यादि, यहां श्रुतिमें द्युलोक आदियोंका पिरोनारूप वचनसे कोई आधार रूप स्थान प्रतीत होता है, वह क्या परब्रह्म है अथवा अन्य कोई चीज है ? यह संशय होता है, श्रुतिमें कोई आधाररूप प्राप्त होता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—"अमृतस्यैष सेतुः" इस प्रकार सुने जानेसे, लोकमें पुल पारवाला प्रसिद्ध है । परब्रह्म पारवाला है यह नहीं माना जा सकता, क्योंकिः—

"वह परमेश्वर अनन्त है, अपार है ( बृ० २ । ४ । १२ )"

इस प्रकार सुना जाता है । तथा वस्त्वन्तर आधार रूप स्थान ग्रहण किये जानेपर स्मृतिमें प्रसिद्ध प्रधान—प्रकृतिको ग्रहण करना चाहीये, क्योंकि प्रकृति कारण होनेसे आधाररूप स्थान हो सकता है । अथवा श्रुतिमें प्रसिद्ध वायु हो, क्योंकिः—

"हे गौतम ! वायु ही सूत्र—तागारूप है, वायुरूप सूत्रसे यह लोक, परलोक और सब ये भूत थमे हुवे होते हैं ( बृ० ३।७।२ )"

इस प्रकार वायु भी धारण करने वाला सुना जाता है । अथवा जीवात्मा आधार हो, क्योंकि जीवात्मा भी भोक्ता होनेसे भोग्य लौकिक विस्तृत जगत्के प्रति आधार रूप स्थान हो सकता है ।

( यह पूर्वपक्षीका प्रश्न-प्रतिवचन है अब सिद्धान्तीका प्रतिसमाधान । )

**प्रत्युत्तरम्**—एवं प्राप्त इदमाह—द्युभ्वाद्यायतनमिति। द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभ्वादि। यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगदोतत्वेन निर्दिष्टं तस्यायतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति।

**प्रश्नः**—कुतः?

**प्रत्युत्तरम्**—स्वशब्दात्, आत्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दो हीह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। आत्मशब्दश्च परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते नार्थान्तरपरिग्रहे। क्वचिच्च स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते—'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' ( छा० ६।८।४ ) इति। स्वशब्देनैव चेह पुरस्तादुपरिष्टाच्च ब्रह्म संकीर्त्यते—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' इति। 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण' ( मुण्ड० २।२।११ ) इति च। तत्र त्वायतनायतनवद्भावश्रवणात्। सर्वं ब्रह्मेति च सामानाधिकरण्यात्। यथानेकात्मको वृक्षः शाखा स्कन्धो मूलं चेत्येवं नानारसो विचित्र आत्मेत्याशङ्का संभवति, तां निवर्तयितुं सावधारणमाह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। एतदुक्तं भवति—न कार्यप्रपञ्चविशिष्टो विचित्र आत्मा विज्ञेयः।

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—"**द्युभ्वाद्यायतनमिति**" द्यौ और भू—द्युभू, द्युभू आदि जिसके हों वह यह द्युभ्वादि, जो इस वाक्यमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष, मन और सब इन्द्रियां इत्यादि रूप जगत् पिरोये हुवे रूपमें निर्देश किया गया है उस जगत्का आधार रूप स्थान पर ब्रह्म हो सकता है।

**प्रश्न**—कैसे?

प्रत्युत्तर—निज शब्दसे[1] अर्थात् आत्मा शब्दसे, यहां श्रुतिमें आत्मा शब्द आता है—"**उस एक ही आत्माको—परमात्माको जानो**" इत्यादि, आत्मा शब्द परमात्माके ग्रहण करनेमें ठीक घटता है, अन्य वस्त्वन्तरके ग्रहण करनेमें नहीं। और कहीं अपने शब्दसे ही ब्रह्म आधाररूप सुना जाता है:—

"हे सोम्य! ये सब प्रजा—( कार्यरूप जगत् ) सत् ब्रह्मरूप मूल कारणवाली है, सत् ब्रह्मरूप आधारवाली है, सत् ब्रह्ममें स्थित रहनेवाली है ( छा० ६। ८। ४ )"

इत्यादि, तथा निज शब्दसे ( ब्रह्म शब्दसे ) ही यहां, पहिले और पीछे ब्रह्मका कीर्त्तन होता है:—

(१) "पुरुष परमात्मामें ही यह सब कर्म आधार रूपसे रहते हैं, जो तप है, जो ब्रह्म है, उत्कृष्ट अमृत रूप है, ( मुण्ड० २। १। १० ) इत्यादि।"

(२) "यह अमृत—नित्य सिद्ध ब्रह्म ही साक्षात् सामने है, ब्रह्म पीछे है, तथा ब्रह्म दाहिनी और बांयी ओर है ( मु० २। २। ११ )"

इत्यादि। "**यस्मिन्द्यौः०** ( मु०। २। २।५ )" इस मन्त्रमें तो आकाश पृथिवी आदि आधारोंका भी आधार सुने जानेसे तथा "**यह सब ब्रह्म है**" इस प्रकार सबका समान आधार होनेसे जैसा शाखा स्कन्ध और मूल रूप अनेकात्मक वृक्ष होता है एवं नानारसयुक्त विचित्र आत्मा—परमात्मा है यह शङ्का होना सम्भव है, इस शङ्काको हटानेके लिये निश्चयपूर्वक कहते हैं:—"**उसी एक परमात्माको जानो**"।

इस कथनका अभिप्राय यह है कि—कार्य-प्रपञ्चयुक्त विचित्र परमेश्वर जानने योग्य नहीं है।

---

[1]—यहां '**स्वशब्दात**' यह स्वशब्द मन्त्रमें उच्चारण किये हुवे आत्मशब्दसे, '**सदायतनाः**' इस श्रुतिमें उच्चारण किये हुवे सत् शब्दसे और ब्रह्म शब्दसे यह सूचित करता है, ये सब ब्रह्मके स्व-निज शब्द हैं—**भामती**।

प्रश्नः—किंतर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—अविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चं विद्यया प्रविलापयन्तस्तमेवैकमायतनभूतमात्मानं जानथैकरसमिति। यथा यस्मिन्नास्ते देवदत्तस्तदानयेत्युक्त आसनमेवानयति न देवदत्तम्। तद्वदायतनभूतस्यैवैकरसस्यात्मनो विज्ञेयत्वमुपदिश्यते। विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (का० २।४।११) इति। सर्वं ब्रह्मेति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चप्रविलापनार्थं नानेकरसताप्रतिपादनार्थम्। 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैव वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृह० ४।५।१३) इत्येकरसताश्रवणात्। तस्माद्द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म।

प्रश्नः—यत्तूक्तं, सेतुश्रुतेः सेतोश्च पारवत्त्वोपपत्तेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवितव्यमिति।

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—विधारणत्वमात्रमत्र सेतुश्रुत्या विवक्ष्यते न पारवत्त्वादि। नहि मृद्दारुमयो लोके सेतुर्दृष्ट इत्यत्रापि मृद्दारुमय एव सेतुरभ्युपगम्यते। सेतुशब्दार्थोऽपि विधारणत्वमात्रमेव न पारवत्त्वादि, षिञो बन्धनकर्मणः सेतुशब्दव्युत्पत्तेः। अपर आह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति यदेतत्संकीर्तितमात्मज्ञानं, यच्चैतत् 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति वाग्विमोचनं, तदत्रामृतत्वसाधनत्वात् 'अमृतस्यैष सेतुः' इति

प्रश्न—तो क्या जानने योग्य है ?

प्रत्युत्तर—अविद्यासे उत्पन्न हुए प्रपञ्चको विद्यासे लीन करते हुए उसी एक आधारभूत एकरस परमात्माको जानो. जैसे—'**जिसमें देवदत्त बैठता है उसे लाओ**' ऐसे कहे जानेपर आसनको लाते हैं, देवदत्तको नहीं, वैसे ही आधारभूत एकरस परमेश्वर ही जानने योग्य रूपसे उपदेश किया जाता है, तथा विकार और मिथ्यात्मक अभिमानका अपवाद—बाधक सुना जाता है:—

"जो यहां अनेकरूपके समान देखता है वह मृत्युसे फिर मृत्युको प्राप्त हो जाता है (का० ४।११)"

इत्यादि, "**यह सब[1] ब्रह्म है**" यह सबका समान आधाररूप वचन प्रपञ्चको—नानात्वको लीन करनेके लिये है, अनेक रसोंको बनानेके लिये नहीं, क्योंकि:—

"जैसा नमकका डला भीतर बाहर अन्य रससे रहित सम्पूर्ण नमकरसयुक्त होता है, ऐसे यह परमात्मा भीतर बाहर अन्य रससे रहित सम्पूर्ण ज्ञानरसयुक्त ही है (बृ० ४।५।१३)"

इस प्रकार श्रुतिमें ब्रह्म एकरस सुना जाता है, इस कारण द्युलोक और पृथिवी आदिका आधार पर ब्रह्म है।

प्रश्न—जो यह कहा था कि—मन्त्रमें सेतु शब्दका श्रवण होनेसे तथा सेतु—पुल पारवाला होनेसे ब्रह्मसे भिन्न द्युभू आदिका आधार होना चाहिये ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—यहां सेतुके श्रवणसे धारणमात्र थामनामात्र विवक्षित है, पारवाला—अन्तवाला होना विवक्षित नहीं, लोकमें मिट्टी और काठका बना हुआ पुल देखा गया है, इसलिये यहां भी मिट्टी और काठका बना हुआ ही पुल स्वीकार नहीं किया जाता है। सेतु शब्दका अर्थ भी धारण करनामात्र ही है, अन्तवत्वादि नहीं, क्योंकि—"**षिञ् बन्धने-बांधना**" बन्धन कर्मवाले षिञ् धातुसे सेतु शब्द बनता है। अन्य जन कहते हैं—"**उसी एक आत्माको जानो**" इस मन्त्रमें जो आत्मज्ञानका कीर्त्तन किया गया है, और जो "**लौकिक सुख भोगोंको कहनेवाले वचनोंको छोड़ दो**" यह वचन विमोचन है, वह वहां अमृतरूप मोक्षके साधन होनेसे "**अमृतस्यैष सेतुः**"

---

**१—अविद्यासे कल्पना किया हुवा जो सब है वह सब वस्तुतः ब्रह्म है, नकि जो ब्रह्म है वह सब है—भामती।**

सेतुश्रुत्या संकीर्त्यते न तु द्युभ्वाद्यायतनम् । तत्र यदुक्तं सेतुश्रुतेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भाव्यमित्येतदयुक्तम् ॥ १ ॥

## मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

इतश्च परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम् । यस्मान्मुक्तोपसृप्यतास्य व्यपदिश्यमाना दृश्यते । मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम् । देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूजनादौ रागस्तत्परिभवादौ च द्वेषस्तदुच्छेददर्शनाद्भयं मोहश्चेत्येवमयमनन्तभेदोऽनर्थव्रातः संततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः । तद्विपर्ययेणाविद्यारागद्वेषादिदोषमुक्तैरुपसृप्यं गम्यमेतदिति द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य व्यपदेशो भवति ।

प्रश्नः—कथम् ?

प्रत्युत्तरम्—भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ( मुण्ड० २।२।८ ) इत्युक्त्वा ब्रवीति—'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' ( मुण्ड० ३।२।८ ) इति । ब्रह्मणश्च मुक्तोपसृप्यत्वं प्रसिद्धं शास्त्रे—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' ( बृह० ४।४।७ ) इत्येवमादौ । प्रधानादीनां तु न क्वचिन्मुक्तोपसृप्यत्वमस्ति प्रसिद्धम् । अपिच 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष

---

इस श्रुतिवाक्यमें सेतुके श्रवणसे कीर्तन किया है, द्युभ्वादिके आयतनको नहीं, इस कारण वहां यह जो कहा था कि—सेतु श्रवण होनेसे ब्रह्मसे भिन्न पदार्थ द्युभ्वादिका आयतन—आधार होना चाहिये यह अनुचित है ॥ १ ॥

## मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

यहां से आगे भी परब्रह्म ही द्युभ्वादिका आधार है, कारण कि ब्रह्मकी मुक्तोपसृप्यता—मुक्त पुरुषोंसे प्राप्त होने योग्य निर्देश किया जाना—देखी जाती है, जो मुक्तोंसे प्राप्त होने योग्य है वह मुक्तोपसृप्य है । देह आदि अनात्मा जड़ोंमें 'मैं हूँ' यह आत्मज्ञान होना अविद्या है, फिर उस अविद्याके सत्कारमात्र होनेसे राग, रागके प्रतिकूल होनेसे द्वेष, द्वेषके नाश देख जानेसे भय और मोह होता है, इस प्रकार यह अनन्तभेदवाला अनर्थसमुदाय सदा हम लोगोंको प्रत्यक्ष होता है । उस अविद्याके विरोधसे अविद्या राग द्वेष आदि दोषोंसे रहित मुक्त पुरुषोंसे प्राप्त होने योग्य इस द्युभ्वादिके आधारभूत ब्रह्मको आरम्भ कर यह निर्देश होता है ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—"निर्गुण सगुणरूप पर अवर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयस्थ अज्ञान वासनारूप गांठ खुल कर भिन्न हो जाती हैं, सब संशय छिन्न हो जाते हैं और सब शुभ अशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं ( मु० २ । २ । ८ )"

इत्यादि कहकर कहते हैं:—

"उस प्रकार विद्वान् पुरुष नाम और रूपोंसे पृथक् होकर प्रकृत्यादि सूक्ष्मसे सूक्ष्म तथा उत्कृष्टसे उत्कृष्ट दिव्य पुरुषको प्राप्त होते हैं ( मु० ३ । २ । ८ )"

इत्यादि, ब्रह्मका मुक्तोपसृप्य होना शास्त्रमें प्रसिद्ध है:—

"जब इस मुक्तपुरुषके हृदयस्थ सब लौकिक सुखभोगकी कामनायें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, तब मरण धर्मवाला भी पुरुष मरण-धर्मरहित होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है ( बृ० ४ । ४ । ७ )"

—इत्यादि श्रुतिमें, प्रधान आदियोंका तो कहीं मुक्तोसृप्य होना प्रसिद्ध नहीं है । और दूसरी बात यह भी है कि:—

सेतुः' इति वाग्विमोकपूर्वकं विज्ञेयत्वमिह द्युभ्वाद्यायतनस्योच्यते। तच्च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणो दृष्टम्—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' । (बृह० ४।४।२१) इति । तस्मादपि द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म ॥ २ ॥

## नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह । नानुमानिकं सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम् ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—अतच्छब्दात् । तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः । न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वावगम्येत । तद्विपरीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽत्रास्ति—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' ( मुण्ड० १।१।९ ) इत्यादिः । अतएव न वायुरपीह द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रीयते ॥ ३ ॥

## प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

यद्यपि प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च संभवति तथाप्युपाधिपरिच्छिन्नज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाद्यसंभवे सत्यस्मादेवातच्छब्दात्प्राणभृदपि न द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः ।

"उसी एक आत्माको जानो, और लौकिक सुखभोगोंको कहने वाले वचनोंको छोड़ दो ( मु० २।२।५ )"

यहां इस श्रुतिमें वचनमोचनपूर्वक द्युभ्वादि आधाररूप ब्रह्मका ज्ञेय होना कहा जाता है, उस प्रकार ब्रह्मका ज्ञेय होना अन्य श्रुतिमें भी देखा गया है:—

"वेदवेत्ता ब्राह्मण उसी परमात्माको जान कर उसमें बुद्धिको लगावे, बहुतसे शब्दोंको चिन्तन न करे, क्योंकि अनेक शब्दोंका चिन्तन वाणीको ग्लानि करने वाला होता है । ( बृ० ४।४।२१ )"

इत्यादि, इस कारण भी द्युभ्वाद्यायतन पर ब्रह्म है ॥ २ ॥

## नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

जैसे ब्रह्मका प्रतिपादक विशेष हेतु कहा गया है वैसा पदार्थान्तरका प्रतिपादक विशेष हेतु नहीं है यह कहते हैं—अनुमानसे सिद्ध होने वाले सांख्यस्मृतिमें कल्पना किये हुवे प्रधानको द्युभ्वाद्यायतन रूपसे नहीं जानना चाहिये ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—उसके प्रतिपादक शब्द न होनेसे, उस अचेतन प्रधानका प्रतिपादक शब्द 'तच्छब्द' है, जो प्रधानका प्रतिपादक शब्द नहीं वह 'अतच्छब्द' है, यहां अचेतन प्रधानका प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है, जिससे प्रधान कारणरूपसे अथवा आधाररूपसे प्रतीत होता हो, उस प्रधान अचेतनसे विरुद्ध चेतनका प्रतिपादक शब्द यहां है:—

"जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है ( मु० १।१।९ )"

इत्यादि, इसी कारण यहां अचेतन वायु भी द्युभ्वाद्यायतनरूपसे आश्रयण नहीं किया जाता है ॥ ३ ॥

## प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

यद्यपि प्राणको धारण करनेवाला जीवात्मा आत्मा और चेतन होता है, तथापि उपाधिरूप आश्रयसे परिच्छिन्न ज्ञानवाले जीवात्माके सर्वज्ञत्व आदि असंभव होनेपर इसी अतच्छब्दरूप हेतुसे प्राणभृत्

नत्वोपाधिपरिच्छिन्नस्याविभोः प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि सम्यक्संभवति । पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥ ४ ॥

प्रश्नः—कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः ?

**भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥**

प्रत्युत्तरम्—भेदव्यपदेशश्चेह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन । तत्र प्राणभृत्तावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनमिति गम्यते, न प्राणभृत् ॥ ५ ॥

प्रश्नः—कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः ?

**प्रकरणात् ॥ ६ ॥**

प्रत्युत्तरम्—प्रकरणं चेदं परमात्मनः । 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' ( मु० १ । १ । ३ ) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणात् । परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यान्न केवले प्राणभृति ॥ ६ ॥

प्रश्नः—कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः ?

**स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥**

प्रत्युत्तरम्—द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' ( मु० ३ । १ । १ ) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनं, 'अनश्नन्-

जीवात्माको भी द्युभ्वादिके आधाररूपसे आश्रयण नहीं करना चाहिये । उपाधिसे परिच्छिन्न एकदेशी प्राणभृत् जीवात्माका द्युभ्वादिका आधार होना संभव भी नहीं होता है । इस चौथे सूत्रको तीसरे सूत्रसे अलग करना आगेके सूत्रोंके लिये है ॥ ४ ॥

प्रश्न—कैसे फिर जीवात्माको द्युभ्वादिके आधाररूपसे आश्रयण नहीं करना चाहिये ?

**भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥**

प्रत्युत्तर—यहां भेदका निर्देश भी होता है—"उसी एक आत्माको जानो" इस श्रुतिमें ज्ञेय ज्ञातृभावसे ( अर्थात् जानने योग्य तथा जाननेवाला यह भेदनिर्देश होता है ), श्रुतिमें प्राणभृत् जीवात्मा तो मुमुक्षु—मोक्षके इच्छुक होनेसे ज्ञाता है, अवशिष्ट आत्मशब्दवाच्य द्युभ्वाद्यायतन ब्रह्म ज्ञेय है यह निश्चय होता है, जीवात्मा नहीं ॥ ५ ॥

प्रश्न—फिर कैसे जीवात्माको द्युभ्वादिके आधाररूपसे आश्रयण नहीं करना चाहिये ?

**प्रकरणात् ॥ ६ ॥**

प्रत्युत्तर—यह परमात्मा का प्रकरण है:—

"हे भगवन् ! किसके जान लिये जानेपर यह सब जाना जाता है ? ( मु० १।१।३ )"

यहां इस श्रुतिमें ब्रह्मरूप एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी अपेक्षा की है । सर्वात्मक परमात्मा जान लिये जानेपर यह सब कुछ विदित हो जाता है, केवल प्राणभृत् जीवात्मा जान लिये जानेपर नहीं ॥ ६ ॥

प्रश्न—कैसे फिर जीवात्माको द्युभ्वाद्यायतनरूपसे आश्रयण नहीं करना चाहिये ?

**स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥**

प्रत्युत्तर—द्युभ्वाद्यायतनको आरंभ कर:—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ( मु० ३ । १ । १ )"

इस मन्त्रमें स्थिति और भक्षण करना निर्देश किये जाते हैं । "उन दोनोंमेंसे अन्य जीवात्मा स्वादिष्ट पिप्पलफलरूप कर्मफलको भोगता है ।" इससे कर्मफल भोगका निर्देश तथा "अन्य परमात्मा

न्योऽभिचाकशीतिं इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वर-क्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते। अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकमसंबद्धं स्यात्।

**प्रश्नः**—ननु तवापि क्षेत्रज्ञस्येश्वरात्पृथग्वचनमाकस्मिकमेव प्रसज्येत ?

**प्रत्युत्तरम्**—न। तस्याविवक्षितत्वात्। क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसंबद्धो लोकत एव प्रसिद्धो नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते। ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम्। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' इत्यत्राप्येतद्दर्शितं 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति। यदापि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामृचि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते तदापि न विरोधः कश्चिन।

**प्रश्नः**—कथम् ?

**प्रत्युत्तरम्**—प्राणभृद्धीह घटादिच्छिद्रवत्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानित्वेन प्रतिशरीरं गृह्यमाणो द्युभ्वाद्यायतनं न भवतीति निषिध्यते। यस्तु सर्वशरीरेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते परमात्मैव स भवति। यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरुपाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति,तद्वत्प्राणभृतः परस्मादन्यत्वानुपपत्तेः प्रतिषेधो नोपपद्यते। तस्मात्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानिन एव द्युभ्वाद्यायतनत्वप्रतिषेधः। तस्मात्परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्या-

कर्मफल भोगोंको न भोगता हुआ साक्षीरूपसे जीवोंके कर्मोंको देखता है।" इससे उदासीनतासे स्थित होना निर्देश किया जाता है, उन दोनों स्थिति और भक्षणसे श्रुतिमें ईश्वर और जीव लिये जाते हैं। यदि ईश्वर द्यु-आदिके आधाररूपसे विवक्षित—( कहनेको इष्ट )—है तब तो उस प्रकृत ( पूर्वनिर्दिष्ट ) ईश्वरका जीवात्मासे पृथक् कथन सङ्गत होता है, अन्यथा ( यदि ईश्वरका जीवात्मासे पृथक् कथन न होता तो ) अप्रकृतका कथन आकस्मिक—( अकस्मात् कहा हुआ )—और असम्बद्ध सम्बन्धरहित होगा।

**प्रश्न**—तुम्हारे मतमें भी ( "**द्वा सुपर्णा**" इस मंत्रमें ) जीवात्माका ईश्वरसे पृथक् कथन आकस्मिक ही हो जावेगा ?

**प्रत्युत्तर**—न होगा, क्योंकि जीवात्मा ( पूर्वोक्त श्रुतिमें ) विवक्षित नहीं है, जीवात्मा कर्त्ता भोक्ता रूपसे प्रत्येक शरीरमें बुद्धि आदि उपाधिसे सम्बद्ध होता हुआ लोकसे ही प्रसिद्ध है, यह जीवात्मा श्रुति और तात्पर्यसे विवक्षित नहीं होता है। ईश्वर तो लोकसे अप्रसिद्ध होनेके कारण श्रुति और तात्पर्यसे विवक्षित होता है, इसलिये उसका कथन आकस्मिक होना उचित नहीं। "**गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि०।**" इस सूत्रपर भी यह दिखा दिया गया है कि—"**द्वा सुपर्णा०**" इस मन्त्रमे ईश्वर और जीवात्मा कहे गये हैं। और जब भी पैङ्ग्युपनिषद्के किये व्याख्यासे इस ऋचामें बुद्धि और जीवात्मा कहे जाते हैं तो भी कोई विरोध नहीं होता है।

**प्रश्न**—कैसे ?

**प्रत्युत्तर**—इस संसारमें जीवात्मा घड़े आदि छिद्रोंके समान बुद्धि-आदि उपाधिके अभिमानीरूपसे प्रत्येक शरीरमें ग्रहण किया जाता हुआ द्युभ्वाद्यायतन नहीं होता है यह निषेध किया जाता है। जो तो सब शरीरोंमें उपाधिके विना दीखता है वह परमात्मा ही होता है, जैसे—घड़ेके छिद्र घटादि उपाधिरूप आश्रयोंके विना दीखने वाले महाकाश ही होते हैं, वैसे ही प्राणको धारण करनेवाले जीवात्माका परमात्मासे भिन्न न होनेके कारण ( द्युभ्वाद्यायतनरूपसे ) निषेध उचित नहीं, इस कारण बुद्धि आदि उपाधिके अभिमानी जीवात्माका ही द्युभ्वाद्यायतनरूपसे निषेध किया जाता है, इस कारण

यतनम्। तदेतत् 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' इत्यनेनैव सिद्धम्। तस्यैव हि भूतयोनिवाक्यस्य मध्य इदं पठितम 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्' इति। प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम् ॥ ७ ॥

## २ भूमाधिकरणम् । सू० ८-९

### भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

इदं समामनन्ति—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' ( छा० ७। २३, २४, ) इत्यादि। तत्र संशयः—किं प्राणो भूमा स्यादाहोस्वित्परमात्मेति।

प्रश्नः—कुतः संशयः?

उत्तरम्—भूमेति तावद्बहुत्वमभिधीयते, 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा० ६। ४। १५८) इति भूमशब्दस्य भावप्रत्ययान्ततास्मरणात्। किमात्मकं पुनस्तद्बहुत्वमिति विशेषाकांक्षायां

पर ब्रह्म ही द्युआदिके आधाररूप हैं। सो यह कथन "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ( ब्र० सू० अ० १।२।२१ )" इस सूत्रसे ही सिद्ध हो गया था, उसी भूतयोनिवाक्यके बीचमें यह पढ़ा गया है—"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्" इत्यादि, विस्तारके लिये तो फिर निर्देश किया गया है ॥ ७ ॥ यह पहिला द्युभ्वाद्यधिकरण समाप्त हो गया।

## २ भूमाधिकरणम् सू० ८-९

### भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

यह[1] पढ़ा जाता है कि:—

"भूमाको ही तो जाननेकी इच्छा करनी चाहिये, इस कारण भगवन्! भूमाको जाननेकी कामना करता हूं। जहां उपासक पुरुष अन्यको देखता नहीं, अन्यको सुनता नहीं और अन्यको जानता नहीं वह भूमा—अत्यन्त महान् है। और जहां अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है तथा अन्यको जानता है यह अल्प—न्यून है।" ( छा० ७।२३—२४ )

यहां संशय होता है कि—क्या प्राण भूमा है अथवा परमात्मा?

प्रश्न—संशय क्यों होता है?

उत्तर—क्योंकि भूमा शब्द तो बहुत्व कहा जाता है, "बहोर्लोपो भू च बहोः ( पा० ६।४।१५८ )" इस पाणिनीय सूत्रमें भूमा[2] शब्दको भावप्रत्ययान्त स्मरण करते है। फिर वह भूमा—बहुत्व किस स्वरूपवाला है—यह विशेष आकांक्षा होनेपर —

१—देवर्षि नारद कर्मवेत्ता थे, किन्तु आत्मज्ञ न होनेके कारण अपने आपको शोचनीय मान कर स्वभावसिद्ध आत्मज्ञ महायोगी भगवान् सनत्कुमारके पास गये, उनके समीप जाकर कहा—'भगवन्! अनात्मज्ञानसे उत्पन्न हुये शोकसमुद्रसे आप मुझे पार उतार दीजिये'। यह सुनकर सनत्कुमारने कहा—'नाम ब्रह्म है उसे उपासन करो' यह कहने पर नारदने कहा—'क्या नामसे बड़ा है?' वहां नारदका उत्तर है—'नामसे वाणी बड़ी है', इस प्रकार नारद और सनत्कुमारके बहुतसे प्रश्नोत्तर—वागीन्द्रियको आरंभ कर मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, वायुसहित तेज, आकाश, स्मर, आशा और प्राणोंमें—निश्चय किये गये हैं—भामती।

२—भाव अर्थमें बहु शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ( पा० अ० ५।१।१२२ )" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय होनेपर "बहोर्लोपो भू च बहोः ( पा० अ० ६।४।१५८ )" इस सूत्रसे बहुशब्दके स्थानमें भू आदेश तथा इमनिच् प्रत्ययके इकारका लोप होकर भूमन्—भूमा शब्द सिद्ध होता है—अनुवादक।

'प्राणो वा आशाया भूयान्' ( छा० ७ । १५ । १ ) इति संनिधानात्प्राणो भूमेति प्रतिभाति । तथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' ( छा० ७ । १ । ३ ) इति प्रकरणोत्थानात्परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति । तत्र कस्योपादानं न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति संशयः ।

प्रश्नः—किं तावत्प्राप्तम् ?

उत्तरम्—प्राणो भूमेति ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—भूयःप्रश्नप्रतिवचनपरम्परादर्शनात् । यथा हि 'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इति, 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति । तथा 'अस्ति भगवो वाचो भूयः' इति, 'मनो वाव वाचो भूयः' इति च नामादिभ्यो ह्याप्राणाद्भूयःप्रश्नप्रतिवचनप्रवाहः प्रवृत्तः । नैवं प्राणात्परं भूयःप्रश्नप्रतिवचनं दृश्यते—अस्ति भगवः प्राणाद्भूय इत्यदो वाव प्राणाद्भूय इति । प्राणमेव तु नामादिभ्य आशान्तेभ्यो भूयांसं 'प्राणो वा आशाया भूयान्' इत्यादिना सप्रपञ्चमुक्त्वा प्राणदर्शिनश्चातिवादित्वम्—'अतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत' इत्यभ्यनुज्ञाय 'एष तु वा

"प्राणसे—कामनासे प्राण महान् बड़ा होता है ( छा० ७।१५।१ )"

इस श्रुतिमें भूयान्—महत्त्ववाचक शब्दके संनिधान ( साहचर्य अर्थात् समीपता ) से प्राण भूमा है यह प्रतीत होता है, तथा :—

"हे भगवन् ! आप जैसे ब्रह्मर्षियोंसे मैंने यह सुना है कि—आत्मवेत्ता पुरुष शोकसे पार उतर जाता है. हे भगवन् ! मैं अनात्मज्ञ शोक करता हूं, आप आत्माको जाननेकी कामना करनेवाले मुझे शोकसे पार उतार दीजिये ( छा० ७।१।३ )"

इत्यादि प्रकरणके उत्थानसे परमात्मा भी प्रतीत होता है, वहां श्रुतिमें किसका ग्रहण अथवा त्याग होना न्यायानुकूल है यह संशय होता है।

( यहां तक संशय ग्रन्थ है, अब पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर ) :—

प्रश्न—तो यहां क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर—प्राण भूमा है यह प्राप्त होता है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—इस लिये कि बहुतसे प्रश्नोत्तरोंकी परंपरा—सिलसिला देखी जाती है, जैसे:—

नारदने सनत्कुमारसे पूछा कि—'भगवन् ! क्या कोई नामसे बड़ा है ?' सनत्कुमारने उत्तर दिया कि—'वाणी नामसे बड़ी है'। फिर नारदने पूछा कि—'भगवन् ! क्या वाणीसे भी बड़ा कोई है ?' सनत्कुमारने उत्तर दिया कि—'वाणीसे मन बड़ा है' ( छा० ७।१।५, ७।२।१, ७।३।१ )"

इस प्रकार नाम आदियोंसे लेकर प्राण तक बहुतसे प्रश्नोत्तरोंका प्रवाह प्रवृत्त हुआ है, वैसे प्राणसे परे बहुतसे प्रश्नोत्तर नहीं देखे जाते हैं—'क्या भगवन् ! प्राणसे बड़ा कोई है ?' 'प्राणसे बड़ा यह है' इत्यादि ( प्रश्नोत्तर नहीं देखा जाता है ) तथा, प्राणको ही तो नाम आदिसे लेकर आशा-कामना तकसे महान्:—

"अथवा प्राण आशा—कामना इच्छासे बड़ा है ( छा० ७।१५।१ )"

—इत्यादि वाक्योंसे विस्तरशः कह कर प्राणदर्शीको अतिवादीः—

"जो सबसे प्राणको श्रेष्ठ कहे वह अतिवादी—अधिक वक्ता है, कोई प्राणदर्शीसे निन्दाके अभिप्रायसे पूछे कि 'क्या तुम अतिवादी हो ?' तब प्राणदर्शी निःसंकोच कहे कि 'हां मैं अतिवादी हूं' इस प्राणविषयक अतिवादित्वको प्राणदर्शी न छिपावे ।" ( छा० ७।१५।४ )

—इत्यादि वाक्योंसे स्वीकार कर:—

अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति प्राणव्रतमतिवादित्वमनुकृष्यापरित्यज्यैव प्राणं सत्यादिपरम्परया भूमानमवतारयन्प्राणमेव भूमानं मन्यत इति गम्यते ।

प्रश्नः—कथं पुनः प्राणे भूमनि व्याख्यायमाने 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतद्भूम्नो लक्षणपरं वचनं व्याख्यायेतेति ।

उत्तरम्—उच्यते—सुषुप्त्यवस्थायां प्राणग्रस्तेषु करणेषु दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिदर्शनात्संभवति प्राणस्यापि 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतल्लक्षणम् । तथाच श्रुतिः 'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिना सर्वकरणव्यापारप्रत्यस्तमयरूपां सुषुप्त्यवस्थामुक्त्वा 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' ( प्र० ४ । २ । ३ ) इति तस्यामेवावस्थायां पञ्चवृत्तेः प्राणस्य जागरणं ब्रुवती प्राणप्रधानां सुषुप्त्यवस्थां दर्शयति । यच्चैतद्भूम्नः सुखत्वं श्रुतम्—'यो वै भूमा तत्सुखम्' ( छा० ७ । २३ ) इति, तदप्यविरुद्धम् । 'अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ यदैतस्मिञ्शरीरे सुखं भवति' ( प्र० ४ । ६ ) इति सुषुप्त्यवस्थायामेव सुखश्रवणात् । यच्च 'यो वै भूमा तदमृतम्' (छा० ७ । २४ । १) इति, तदपि प्राणस्याविरुद्धं, 'प्राणो वा अमृतम्' ( कौ० ३ । २ ) इति श्रुतेः ।

प्रश्नः—कथं पुनः प्राणं भूमानं मन्यमानस्य 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यात्मविविदिषया

"भगवान् सनत्कुमार देवर्षि नारदजीसे कहते हैं कि—हे नारद ! जो यह उपासक प्राणको श्रेष्ठ कहने वाला अतिवादी है वह सत्यके साथ अतिवादी अर्थात् प्रगल्भ वक्ता होता है (छा० ७।१६।१)"

—इत्यादि श्रुतिवाक्य । प्राणव्रतविषयक अतिवादित्वको अनुकर्षण कर ( लाकर,खींच कर ) प्राणको न छोड़कर ही सत्य आदिकी परम्परा 'महान्' को ले आते हुए प्राणको ही महान मानते हैं यह निश्चय होता है।

प्रश्न—कैसे फिर प्राण महान है ऐसी व्याख्या की जाने पर "जहां कुछ देखता नहीं" इस भूमाके लक्षणविषयक वचनकी व्याख्या की जायगी ?

उत्तर—सुषुप्ति अवस्थामें सब इन्द्रियोंके प्राणमें लीन हो जानेपर देखना आदि व्यवहारकी निवृत्ति देखे जानेसे प्राणका भी "जहां कुछ देखता नहीं" यह लक्षण संभव हो सकता है, तथा यह श्रुति है:—

"देखता नहीं है सुनता नहीं है !"

इत्यादि श्रुतिवाक्यसे सब इन्द्रियोंके व्यवहारोंका अस्तमय ( लीन होना ) रूपवाली सुषुप्ति अवस्थाको कह कर:—

"प्राणाग्नि ही इस पुरमें जागते हैं ( प्र० ४।२।३ )"

यह श्रुति उसी सुषुप्ति अवस्थामें प्राण अपान आदि पांच वृत्तिवाले प्राणके जागरणको कहती हुई प्राणमुख्यतावाली सुषुप्ति अवस्थाको दिखाती है । यह जो भूमाका सुख सुना गया है:—

"जो भूमा है वह सुख है ( छा० ७।२३ )"

इत्यादि, यह भी प्राणका विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि:—

"यहां सुषुप्ति अवस्थामें दिव्य गुणवाला जीवात्मा स्वप्नोंको नहीं देखता है तब इस शरीरमें सुख होता है ( प्र० ४।६ )

इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें ही सुख सुना गया है ! और जोः—

"जो भूमा है वह मरणधर्मरहित है ( छा० ७।२४।१ )"

इत्यादि, वह भी प्राणका अविरुद्ध है, क्योंकिः—

"प्राण अमृत—मरणधर्मरहित है ( कौ० ३।२ )"

यह श्रुतिका प्रमाण है।

प्रश्न—कैसे फिर प्राणको भूमा माननेवालेके मतमें "आत्मवित् शोकको तर जाता है" इस प्रकार

प्रकरणस्योत्थानमुपपद्यते ?

उत्तरम्—प्राण एवेहात्मा विवक्षित इति ब्रूमः । तथाहि—'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः' ( छा० ७ । १५ । १ ) इति प्राणमेव सर्वात्मानं करोति । 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्' इति च सर्वात्मत्वारनाभिनिदर्शनाभ्यां च संभवति वैपुल्यात्मिका भूमरूपता प्राणस्य । तस्मात्प्राणो भूमेत्येवं प्राप्तम् ।

प्रत्युत्तरम्—तत इदमुच्यते—परमात्मैवेह भूमा भवितुमर्हति न प्राणः ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—संप्रसादादध्युपदेशात् । सम्प्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते, सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति निर्वचनात् । बृहदारण्यके च स्वप्नजागरितस्थानाभ्यां सह पाठात् तस्यां च संप्रसादावस्थायां प्राणो जागर्तीति प्राणोऽत्र संप्रसादोऽभिप्रेयते । प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदिश्यमानत्वादित्यर्थः । प्राण एव चेद्भूमा स्यात्स एव तस्मादूर्ध्वमुपदिश्येतेत्यश्लिष्टमेवैतत्स्यात् । नहि नामैव नाम्नो भूय इति नाम्न ऊर्ध्वमुपदिष्टम् ।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—नाम्नोऽन्यदर्थान्तरमुपदिष्टं वागाख्यम्—'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति । तथा वागादिभ्योऽप्या प्राणादर्थान्तरमेव तत्र तत्रोऽर्ध्वमुपदिष्टम् । तद्वत्प्राणादूर्ध्वमुपदिश्यमानो

आत्माको जाननेकी इच्छासे प्रकरणका उत्थान हो सकता है ?

उत्तर—यहां प्राण ही आत्मा विवक्षित है यह हम कहते हैं, जैसे:—

"प्राण ही पिता है प्राण माता है, प्राण भ्राता भगिनी है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है ( छा० ७।१५।१ )"

इस प्रकार प्राणको ही सर्वात्मा कहते हैं, तथा:—

"जैसे अर-छोटे २ काष्ठ-रथके नाभिमें लगे रहते हैं, वैसे ही इस प्राणमें सब अर्पित है अर्थात् लगे हुये होते हैं।"

इस प्रकार सर्वात्मत्व और अरनाभिके दृष्टान्तसे आधिक्यात्मक प्राणका भूमारूप होना संभव होता है, इस कारण प्राण भूमा है यह प्राप्त होता है।

( यहां तक पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीका प्रतिसमाधान )

प्रत्युत्तर—तब यह कहा जाता है—यहां परमात्मा ही भूमा हो सकता है, प्राण नहीं।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—संप्रसादके बाद ( भूमाको ) उपदेश देनेसे, 'संप्रसाद' सुषुप्त स्थान कहा जाता है, क्योंकि जिसमें अच्छे प्रकारसे जीव प्रसन्न होता है वह सुषुप्तावस्था संप्रसाद है इस प्रकार संप्रसाद शब्दकी निरुक्ति की जाति है, तथा बृहदारण्यकमें स्वप्न और जागरितस्थानोंके साथ (संप्रसादका) पाठ किया गया है, तथा उस संप्रसादरूप सुषुप्तावस्थामें प्राण जागता है इसलिये यहां प्राण संप्रसाद अभिप्रेत होता है, अर्थात् प्राणके—संप्रसादके बाद भूमाका उपदेश किया जाता है। यदि प्राण ही भूमा होता और वही उसके बाद उपदेश किया जाता तो यह असम्बद्ध ही होता। नाम ही नामसे बड़ा है यह कह कर नामके बाद नामको उपदेश नहीं किया।

प्रश्न—तो किसको किया ?

प्रत्युत्तर—नामसे अन्य वाणी नामक वस्त्वन्तरको उपदेश किया है—"नामसे वाणी बड़ी है" इत्यादि, तथा वाणी आदिसे भी प्राण तक वहां २ वस्त्वन्तरको ही बाद२में उपदेश किया है, इस प्रकार प्राणके

भूमा प्राणादर्थान्तरभूतो भवितुमर्हति ।

प्रश्नः—नन्विह नास्ति प्रश्नोऽस्ति भगवः प्राणाद्भूय इति, नापि प्रतिवचनमस्ति प्राणाद्वाव भूयोऽस्तीति, कथं प्राणादधि भूमोपदिश्यत इत्युच्यते । प्राणविषयमेव चातिवादित्वमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं पश्यामः—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति । तस्मान्नास्ति प्राणादध्युपदेश इति ।

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—न तावत्प्राणविषयस्यैवातिवादित्वस्यैतदनुकर्षणमिति शक्यं वक्तुं, विशेषवादात् 'यः सत्येनातिवदति' इति ।

प्रश्नः—ननु विशेषवादोऽप्ययं प्राणविषय एव भविष्यति ?

प्रत्युत्तरम्—कथम् ?

प्रश्नः—यथैषोऽग्निहोत्री यः सत्यं वदतीत्युक्ते न सत्यवदनेनाग्निहोत्रित्वम् ?

प्रत्युत्तरम्—केन तर्हि ?

प्रश्नः—अग्निहोत्रेणैव । सत्यवदनं त्वग्निहोत्रिणो विशेष उच्यते । तथा 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इत्युक्ते न सत्यवदनेनातिवादित्वम् ।

प्रत्युत्तरम्—केन तर्हि ?

प्रश्नः—प्रकृतेन प्राणविज्ञानेनैव । सत्यवदनं तु प्राणविदो विशेषो विवक्ष्यत इति ।

प्रत्युत्तरम्—नेति ब्रूमः । श्रुत्यर्थपरित्यागप्रसङ्गात् । श्रुत्या ह्यत्र सत्यवदनेनातिवादित्वं प्रतीयते—'यः सत्येनातिवदति सोऽतिवदति' इति । नात्र प्राणविज्ञानस्य संकीर्त्तनमस्ति ।

पश्चात् उपदेश किये जाने वाला भूमा प्राणसे भिन्न पदार्थान्तर होना चाहिये ।

प्रश्न—यहां यह प्रश्न नहीं है कि—'भगवन् ! प्राणसे बड़ा कोई है ? और न ऐसा उत्तर है कि—'प्राणसे भी बड़ा है' तो कैसे कहा जाता है कि प्राणके बाद भूमा उपदेश किया जाता है ? प्राणविषयक ही अतिवादित्वको आगे अनुकर्षण कर ( खींच कर ) लाये हुये देखते हैं:—

"यही तो अधिक बोलता है जो सत्यसे अधिक बोलता है ।"

इत्यादि, इस कारण प्राणके बाद उपदेश नहीं है ।

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—प्राणविषयक अतिवादित्वका यह अनुकर्षण ( अनुवृत्ति ) है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यहां विशेष वचन है कि—"जो सत्यसे अधिक बोलता है" इत्यादि ।

प्रश्न—यह विशेष वचन भी प्राणविषयक ही होगा ?

प्रत्युत्तर—कैसे ?

प्रश्न—जैसा—'यह अग्निहोत्री है जो सत्य बोलता है' इस प्रकार कहने पर सत्य बोलनेसे वह अग्निहोत्री नहीं होता है ।

प्रत्युत्तर—तो किससे होता है ?

प्रश्न—अग्निहोत्रसे ही, सत्य भाषण तो अग्निहोत्रीका विशेष कहा जाता है, वैसा 'यह तो अधिक बोलता है जो सत्यसे अधिक बोलता है' इस प्रकार कहने पर सत्यभाषणसे अतिवादी नहीं होता है ।

प्रत्युत्तर—तो किससे होता है ?

प्रश्न—प्रकृत प्राणविज्ञानसे ही ( अतिवादी होता है ), सत्य भाषण तो प्राणवेत्ताका विशेष विवक्षित होता है ।

प्रत्युत्तर—हम कहते हैं कि यह बात नहीं, क्योंकि इससे श्रुतिके अर्थका त्याग होता है, श्रुतिसे ही यहां सत्य भाषणसे अतिवादी प्रतीत होता है—"जो सत्यसे अधिक भाषण करता है वह अतिवादी होता है" इत्यादि, यहां प्राणविज्ञानका कीर्त्तन नहीं है, प्रकरणसे तो प्राणविज्ञान सम्बद्ध होगा, वहां प्रकरणके

प्रकरणात्तु प्राणविज्ञानं संबध्येत। तत्र प्रकरणानुरोधेन श्रुतिः परित्यक्ता स्यात्। प्रकृतव्यावृत्त्यर्थश्च तुशब्दो न सङ्गच्छते 'एष तु वा अतिवदति' इति। 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ७।१६) इति च प्रयत्नान्तरकरणमर्थान्तरविवक्षां सूचयति। तस्माद्यथैकवेदप्रशंसायां प्रकृतायामेष तु महाब्राह्मणो यश्चतुरो वेदानधीत इत्येकवेदेभ्योऽर्थान्तरभूतश्चतुर्वेदः प्रशस्यते तादृशेनदृद्रष्टव्यम्। नच प्रश्नप्रतिवचनरूपयैवार्थान्तरविवक्षया भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। प्रकृतसंबन्धासंभवकारितत्वादर्थान्तरविवक्षायाः। तत्र प्राणान्तमनुशासनं श्रुत्वा तूष्णींभूतं नारदं स्वयमेव सनत्कुमारो व्युत्पादयति। यत्प्राणविज्ञानेन विकारानृतविषयेणातिवादित्वमनतिवादित्वमेव तत् 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। तत्र सत्यमिति परं ब्रह्मोच्यते, परमार्थरूपत्वात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा व्युत्पादिताय नारदाय 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि' इत्येवं प्रवृत्ताय विज्ञानादिसाधनपरम्परया भूमानमुपदिशति। तत्र यत्प्राणादधि सत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातं तदेवेह भूमेत्युच्यत इति गम्यते। तस्मादस्ति प्राणादधि भूम्न उपदेश इत्यतः प्राणादन्यः परमात्मा भूमा भवितुमर्हति। एवं चेहात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपन्नं भविष्यति। प्राण एवेहात्मा विवक्षित इत्येतदपि नोपपद्यते। नहि प्राणस्य मुख्यया वृत्त्यात्मत्वमस्ति। नचान्यत्र परमात्मज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५) इति श्रुत्यन्तरात्। 'तं मा

प्रकरणसे तो श्रुतिको त्याग करना पड़ेगा। तथा प्रकृत प्राणको हटानेके लिये आया हुआ तु शब्द भी संगत नहीं होता है "यह तो अधिक भाषण करता है" इत्यादि, तथाः—

"सत्य ही को तो जाननेकी इच्छा करनी चाहिये (छा० ७।१६)"

यह प्रश्नान्तर करना अर्थान्तर (तत्त्वान्तर) की विवक्षाको सूचित करता है, इस कारण जैसे— एक वेदकी प्रशंसा प्रकृत होनेपर—"यह तो महाब्राह्मण बहुवक्ता है जो चारों वेदोंको पढ़ते हैं" इस कथनसे एकवेदसे अन्य अर्थान्तर (तत्त्वान्तर) चतुर्वेद प्रशस्त होता है वैसे ही इसे देख लेना चाहिये। प्रश्नोत्तरसे ही अर्थान्तरकी विवक्षा होती है यह नियम नहीं, क्योंकि अर्थान्तरविवक्षा प्रकृत विषयके साथ सम्बन्ध नहीं करती है। श्रुतिमें प्राणके अनुशासन (उपदेश) को सुनकर मौन हुये नारदको स्वयं ही सनत्कुमार बताते हैं कि विकार तथा मिथ्याविषयक प्राणविज्ञानसे अतिवादी होना अतिवादी न होना ही है, तथाः—

"यही तो अतिवादी है जो सत्यसे अतिवादी है।"

इस श्रुतिमें 'सत्य' पर ब्रह्मको कहा जाता है, क्योंकि वह वास्तविक रूप है, तथा

"वह परमात्मा सत्य—त्रिकालाविनाशी है, ज्ञान—चेतनस्वरूप है, अनन्त—दिशा और कालकी अपेक्षासे रहित है, वह सबसे महान् है।" (तै० २।१)

—यह श्रुत्यन्तरका वचन है। तथा उस प्रकार बताये हुए "हे भगवन्! वह मैं सत्यसे अधिक भाषण करूं" इस प्रकार प्रवृत्त हुये नारदके लिये विज्ञान आदि साधनकी परम्परासे भूमाका उपदेश देते हैं, वहां श्रुतिमें जो प्राणके बाद सत्यको कहनेकी प्रतिज्ञा की थी वह ही यहां 'भूमा' कहा जाता है यह निश्चय होता है, इस कारण प्राणके बाद भूमाका उपदेश है, इस कारण प्राणसे अन्य भिन्न परमात्मा भूमा हो सकता है, एवं यहांपर आत्माको जाननेकी इच्छासे प्रकरणका उत्थान उचित हो जायेगा। प्राण ही यहां आत्मा विवक्षित (कहना इष्ट) है यह कहना भी अनुचित है, क्योंकि प्राण मुख्य वृत्तिसे आत्मा नहीं होता है, और न परमात्माके ज्ञानसे अन्यत्र कहीं शोककी निवृत्ति होती है, क्योंकि—

"मोक्षप्राप्तिके लिये परमात्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है (श्वे० ६।१५)"

भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' ( छा० ७ । १ । ३ ) इति चोपक्रम्योपसंहरति—'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' ( छा० ७ । २६ । २ ) इति । तम इति शोकादिकारणमविद्योच्यते । प्राणान्ते चानुशासने न प्राणस्यान्यायत्ततोच्येत । 'आत्मनः प्राणः' ( छा० ७ । २६ । १ ) इति च ब्राह्मणम् ।

प्रश्नः—प्रकरणान्ते परमात्मविवक्षा भविष्यति, भूमा तु प्राण एव ?

प्रत्युत्तरम्—इति चेत्, न । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० । ७ । २४ । १) इत्यादिना भूम्न एवाप्रकरणसमाप्तेरनुकर्षणात् । वैपुल्यात्मिका च भूमरूपता सर्वकारणत्वात्परमात्मनः सुतरामुपपद्यते ॥ ८ ॥

## धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

अपिच ये भूम्नि श्रूयन्ते धर्मास्ते परमात्मन्युपपद्यन्ते । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति दर्शनादिव्यवहाराभावं भूमन्यवगमयति । परमात्मनि चायं दर्शनादिव्यवहाराभावोऽवगतः । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' ( बृ० ४ । ५ । १५ ) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । योऽप्यसौ सुषुप्तावस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव उक्तः सोऽप्यात्मन एवासङ्गत्वविवक्षयोक्तो न प्राणस्वभावविवक्षया, परमात्मप्रकरणात् । यदपि

यह श्रुत्यन्तरका प्रमाण है, तथा:—

"हे भगवन् ! उस मुझे आप शोकसे पार उतार दीजिये ।" ( छा० ७।१।३ )

इस प्रकार आरंभ कर समाप्त करते हैं:—

"भगवान सनत्कुमार सब दोषोंसे मुक्त हुये उस नारदके लिये अविद्यान्धकारके पारको दिखाते हैं ( छा० ७।२६।२ )"

इत्यादि, शोक आदिका कारण अविद्या 'तम' कहा जाता है । तथा प्राणपर्यन्त उपदेश किये जानेपर प्राणका अन्याधीन होना न कहा जाता, क्योंकि:—

"आत्मासे प्राण प्रकट होता है ( छा० ७।२६।१ )" यह ब्राह्मणग्रन्थका वचन है ।

प्रश्न—प्रकरणके अन्तमें परमात्माकी विवक्षा होगी, भूमा तो प्राण ही है ?

प्रत्युत्तर—ऐसा मानो तो ठीक नहीं, क्योंकि:—

" नारद—"हे भगवन् ! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ?"

सनत्कुमार—"अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है ( छा० ७।२४।१ )"

इस प्रकार प्रकरणकी समाप्तितक भूमाकी ही अनुवृत्ति लाई गई है, सबके कारण होनेसे परमात्माका अधिक भूमरूपता—महद्रूपता होना अत्यन्त उचित है ॥ ८ ॥

## धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

और दूसरी बात यह भी है कि जो भूमामें धर्म सुने जाते हैं वे परमात्मामें भी लगते हैं—

"जहां कुछ देखता नहीं, कुछ सुनता नहीं और कुछ जानता नहीं वह भूमा है ।"

इत्यादि श्रुतिवाक्य दर्शनादि व्यवहारोंके अभावको बोध कराते हैं, तथा परमात्मामें यह दर्शनादि व्यवहारोंका अभाव निश्चय किया गया है:—

"जहां तो इस परमात्माके सब आत्मा ही हैं वहां कौन किससे किसको देखे ! (बृ०४।५।१५)"

इत्यादि अन्य श्रुतिका वचन है । और यह भी जो सुषुप्तावस्थामें दर्शनादि व्यवहारोंका अभाव कहा गया है वह भी आत्माके ही असङ्गत्वकी विवक्षासे कहा गया है, प्राणस्वभावकी विवक्षासे नहीं, क्योंकि यह परमात्माका प्रकरण है । और जो भी सुषुप्तावस्थामें सुख कहा गया है वह भी आत्माके ही

तस्यामवस्थायां सुखमुक्तं' तदप्यात्मन एव सुखरूपत्वविवक्षयोक्तम्। यत आह—'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ( बृ० ४।३।३२ ) इति। इहापि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्' इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति। 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति। विकाराणाममृतत्वस्यापेक्षिकत्वात्, 'अतोऽन्यदार्तम्' ( बृ० ३।४।२ ) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथाच सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते नान्यत्र। तस्माद्भूमा परमात्मेति सिद्धम्॥ ६॥

## ३ अक्षराधिकरणम्। सू० १०–१२

### अक्षरमम्बरान्तधृतेः॥ १०॥

'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' ( बृ० ३।८।७,८ ) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः—किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते किं वा परमेश्वर इति। तत्राक्षरसमाम्नाय इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात् प्रसिद्ध्यतिक्रमस्य चायुक्तत्वात्, 'ओंकार एवेदं सर्वम्' ( छा० २।२३।३ )

सुखरूपको विवक्षासे कहा गया है. जिस कारण यह कहते हैं—

"इसका यही परम आनन्द है, इस आनन्दकी ही मात्राको—भागको लेकर अन्य सब प्राणी जीवित रहते हैं ( बृ० ४।३।३२ )"

इत्यादि. यहांपर भी:—

"जो भूमा है वह सुख है. न्यूनमें सुख नहीं है, भूमा—महान ही सुख है ( छा० ७।२३।१ )"

इत्यादि श्रुति दुःखियुक्त सुखका निराकरण करके ब्रह्मको ही सुख तथा भूमा दिखाती है, तथा—"जो भूमा है वह अमर—मृत्युसे रहित है" इत्यादि यहां सुने जानेवाला अमृतत्व भी परम कारण ब्रह्मका निश्चय कराता है, क्योंकि विकारोंका अमृत होना अपेक्षाकृत ( किसीकी अपेक्षासे ) होता है, तथा:—

"उस आत्मासे अन्य सब आर्त्त अर्थात् नाशवान् है ( बृ० ३।४।२ )"

यह अन्य श्रुतिका प्रमाण है, तथा अविनाशी होना, निज महिमामें प्रतिष्ठित होना, सर्वगत होना तथा सर्वात्मत्व होना इत्यादि श्रूयमाण धर्म परमात्मामें ही होते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं, इस कारण भूमा परमात्मा है यह सिद्ध हो गया॥ ६॥

यह दूसरा भूमाधिकरण समाप्त हो गया।

## ( ३ ) अक्षराधिकरणम्।

### अक्षरमम्बरान्तधृतेः॥ १०॥

"गार्गी देवी याज्ञवल्क्य ऋषिसे पूछती है कि 'स्वामिन्! किसमें यह आकाश ओत प्रोत—ग्रथित है अर्थात् गुथा हुआ है? याज्ञवल्क्य ऋषिने कहा कि—हे गार्गि! वेदवेत्ता ब्राह्मण लोग उसको अक्षर कहते हैं ( जिसमें आकाश गुथा हुवा है ), वह अक्षर मोटा नहीं है, पतला भी नहीं है ( बृ० ३।८।७–८)"

इत्यादि सुना जाता है। वहां श्रुतिमें संशय होता है कि—क्या अक्षर शब्दसे वर्ण ( अ आ आदि ) कहा जाता है अथवा परमेश्वर? वर्णमाला आदिमें अक्षर शब्द वर्णमें प्रसिद्ध होनेसे, प्रसिद्धका उल्लंघन अनुचित होनेसे, तथा:—

"यह सब कुछ ओङ्कार ही है ( छा० २।२३।३ )"

इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वावधारणात्, वर्ण एवाक्षरशब्द इति ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्त उच्यते—पर एवात्माऽक्षरशब्दवाच्यः ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—अम्बरान्तधृतेः—पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात् । तत्र हि पृथिव्यादेः समस्तविकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यनेन प्रश्नेनेदमक्षरमवतारितम् । तथाचोपसंहृतम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति । नचेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति । यदपि 'ॐकार एवेदं सर्वम्' इति तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात्स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम् । तस्मान्न क्षरत्यश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म ॥ १० ॥

प्रश्नः—स्यादेतत् कार्यस्य चेत्कारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधानकारणवादिनोऽपीयमुपपद्यते । कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिः ?

प्रत्युत्तरम्—अत उत्तरं पठति—

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

सा चाम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म ।

इत्यादि अन्य श्रुतियोंमें वर्णका उपासनारूपसे सर्वात्मक निश्चय करनेसे वर्ण ही अक्षर शब्द है ।

( यह पूर्वपक्षीका कहना है, अब उत्तरपक्षी सिद्धान्तीका समाधान )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहा जाता है—परमात्मा ही अक्षरशब्दवाच्य है ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—आकाशपर्यन्तको धारण करनेसे, कारण कि—परमात्मा पृथिवी आदिसे लेकर आकाशपर्यन्त विकार समुदायको धारण करता है । वहां श्रुतिमें तीनों कालोंमें विभक्त हुए पृथिवी आदि समस्त विकार-समुदायका:—

"आकाशमें ही यह विकारसमुदाय ओत प्रोत होता है ( बृ० ३।८।७ )"

—इस श्रुतिमें आकाशमें प्रतिष्ठित होना कह कर:—

"किसमें यह आकाश ओत प्रोत—गुथा हुआ है ? ( बृ० ३।८।७ )"

इस प्रश्नसे इस अक्षरको उत्थान किया है, तथा इस प्रकार समाप्त किया है:—

हे गार्गि ! इस अक्षरमें आकाश ओत प्रोत होता है ( बृ० ३।८।११ )"

इत्यादि, यह आकाशपर्यन्तका धारण ब्रह्मसे अन्यत्र सम्भव नहीं होता है ।

जो यह कहा था कि "ओङ्कार अक्षर ही सब कुछ है", वह भी ब्रह्मप्राप्तिमें साधन होनेसे स्तुतिनामक है यह देख लेना चाहिये, इस कारण 'जो नष्ट नहीं होता है और जो सबमें व्याप्त होता है' इस नित्यत्व और व्यापकत्व हेतुओंसे अक्षर पर ब्रह्म ही है ॥ १० ॥

प्रश्न—यह यों होगा कि—यदि कार्य कारणाधीन होनेसे ब्रह्मसे आकाशपर्यन्तका धारण माना जाता है तो यह प्रधानकारणवादियोंका भी हो सकता है, कैसे आकाशपर्यन्तको धारण करनेसे ब्रह्मकी प्राप्तिका निश्चय होता है ?

प्रत्युत्तर—इसलिये आचार्य उत्तर पढ़ते हैं—

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

उस आकाशपर्यन्तको धारण करना परमेश्वरका ही कर्म है ।

**प्रश्नः—कस्मात् ?**

**प्रत्युत्तरम्—प्रशासनात् । प्रशासनं हीह श्रूयते—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' ( बृ० ३ । ८ । ६ ) इत्यादि । प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म । नाचेतनस्य प्रधानस्य प्रशासनं भवति । न ह्यचेतनानां घटादिकारणानां मृदादीनां घटादिविषयं प्रशासनमस्ति ॥ ११ ॥**

## अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

**अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद्ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम् । तस्यैवाम्बरान्तधृतिः कर्म नान्यस्य कस्य चित् ।**

**प्रश्नः—किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरिति ?**

**प्रत्युत्तरम्—अन्यस्य भावोऽन्यभावस्तस्माद्व्यावृत्तिरिति । एतदुक्तं भवति—यदन्यद्ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाशङ्क्यते तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः—'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्ट्रश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ' ( बृ० ३ । ८ । ११ ) इति । तत्राऽदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्यापि संभवति । द्रष्टृत्वादिव्यपदेशस्तु न संभवत्यचेतनत्वात् । तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति**

प्रश्न—क्यों ?

प्रत्युत्तर—शासन करनेसे, परमात्माका शासन यहां सुना जाता है:—

"हे गार्गि ! इस अक्षर परमात्माके शासनमें सूर्य और चन्द्रमा नियमितरूपसे स्थिर रहते हैं ( बृ० ३।८।९ )"

इत्यादि, शासन करना परमेश्वरका काम है, अचेतन प्रधानका शासन नहीं हो सकता, अचेतन घट आदिके कारण मिट्टी आदिपदार्थोंका घटादिविषयक शासन ( हुक्म ) नहीं होता है ॥ ११ ॥

## अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

अन्यभावके हटनेसे भी ब्रह्म ही अक्षर शब्दवाच्य है, उसीको आकाशपर्यन्तको धारण करना काम है, अन्य किसीका नहीं ।

**प्रश्न—'अन्यभावव्यावृत्तेः'** का क्या अर्थ है ?

प्रत्युत्तर—अन्यका भाव—होना अन्यभाव है, अन्यभावसे व्यावृत्ति—हटना पृथक् होना अन्यभावव्यावृत्ति है; इस कथनका यह अभिप्राय है कि—जो ब्रह्मसे अन्य अक्षरशब्दवाच्य है यह शंका की जाती है उस अन्यभावसे ( अर्थात् प्रधान आदि भावसे ) आकाशपर्यन्तको धारण करनेवाले अक्षरको ( अर्थात् परमात्माको ) श्रुति हटाती है:—

"हे गार्गि ! यह वह अक्षर परमात्मा स्वयं अदृष्ट होता हुआ सबका द्रष्टा है, अश्रुत—किसीके द्वारा न सुना जाता हुआ श्रोता है, अमत होनेपर भी मनन करने वाला मन्ता है, तथा अविज्ञात होता हुआ भी सबका विज्ञाता—जाननेवाला है ।" ( बृ० ३।८।११ )

इत्यादि, श्रुतिमें अदृष्ट व आदिका निर्देश प्रधानका भी संभव होता है, किन्तु द्रष्टा होनेका निर्देश संभव नहीं होता है, क्योंकि प्रधान अचेतन होता है, तथा:—

"परमात्मासे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं है, उससे भिन्न अन्य कोई श्रोता नहीं है, उससे भिन्न अन्य कोई मन्ता नहीं है, और उससे भिन्न अन्य कोई विज्ञाता नहीं है ( बृ० ३।८।११ )"

इस प्रकार आत्माके भेदको निषेध करनेसे उपाधिमान् जीवात्मा भी अक्षरशब्दवाच्य ( अक्षर शब्दसे कहा जाने वाला ) नहीं है, क्योंकि:—

मन्त्र नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात् न शारीरस्याप्युपाधिमतोऽक्षरशब्दवाच्यत्वम्। 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' ( बृ० ३ । ८ । ८ ) इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात्। नहि निरुपाधिकः शारीरो नाम भवति। तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षरमिति निश्चयः ॥ १२ ॥

## ४ ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरणम्। सू० १३

## ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १३ ॥

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' ( प्र० ५ । २,५ ) इति। किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यत आहोस्विदपरमिति। एतेनैवायतनेन परमपरं चैकतरमन्वेतीति प्रकृतत्वात्संशयः। तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्।

प्रश्नः—कस्मात्?

उत्तरम्—'स तेजसि सूर्ये संपन्नः' 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वात्। नहि परब्रह्मविद्देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम्, सर्वगतत्वात्परस्य ब्रह्मणः।

प्रश्नः—नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे परं पुरुषमिति विशेषणं नोपपद्यते?

उत्तरम्—नैष दोषः। पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः।

"परमात्मा नेत्ररहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित तथा मनरहित है। ( बृ० ३।८।८ )"

इस प्रकार इन्द्रियरूप उपाधिसे युक्त होनेका निषेध किया जाता है, शरीरमें रहनेवाला शारीर जीवात्मा उपाधिरहित नहीं होता है, इस कारण पर ब्रह्म ही अक्षरशब्दवाच्य है यह निश्चय हो जाता है ॥१२॥

यह तीसरा अक्षराधिकरण समाप्त होगया।

## ४ ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरणम्। सू० १३

## ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः। १३ ॥

सत्यकामके ब्रह्मविषयक प्रश्न करनेपर पिप्पलाद कहते हैं कि 'हे सत्यकाम! यह परापर ब्रह्म है जो ओङ्कार है, इस कारण इस प्राप्तिसाधक ओङ्कारके ध्यानसे विद्वान्लोग पर या अपर ब्रह्म इनमें एकको प्राप्त हो जाते हैं, इस प्रकार आरम्भ करके सुना जाता है कि:—

'जो तीन मात्राओंसे युक्त इसी ओम् अक्षरसे पर पुरुषको ध्यान करे ( प्र० ५।२,५ )' इत्यादि। इस वाक्यमें क्या पर ब्रह्मके ध्यान करनेका उपदेश है या अपर ब्रह्मको? इसी प्राप्तिसाधक ओम्से पर या अपर इन दोनोंमेंसे एकको प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार आरम्भ करनेसे संशय होता है। श्रुतिमें तो अपर ब्रह्मकी प्राप्ति है।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—कारण कि 'वह तेजयुक्त सूर्यमें प्राप्त होता हुआ' 'वह सामोंसे अर्थात् प्राणोंसे ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाता है', इस प्रकार अपर ब्रह्मको जाननेवालोंका देशसे परिमित फल कहा जाता है। पर ब्रह्मको जाननेवाला देशपरिमित फलको प्राप्त करे यह युक्त नहीं है, क्योंकि पर ब्रह्म तो सर्वगत है।

प्रश्न—अपर ब्रह्मको ग्रहण करनेमें **'परं पुरुषम्'** इस प्रकारका विशेषण ठीक नहीं बनता?

उत्तर—यह दोष नहीं आता है, क्योंकि जैसे पिण्ड अर्थात् विराट् रूप स्थूल वायुसे प्राण पर है, ( इसी प्रकार अपर ब्रह्म पिण्ड अर्थात् स्थूल शरीरकी अपेक्षासे पर है। )

**प्रत्युत्तरम्—इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते।**

**प्रश्नः—कस्मात्?**

**प्रत्युत्तरम्—ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्। ईक्षतिर्दर्शनम्। दर्शनव्याप्यमीक्षतिकर्म। ईक्षतिकर्मत्वेनास्याभिध्यानव्यस्य पुरुषस्य वाक्यशेषे व्यपदेशो भवति—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति। तत्राभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति। मनोरथकल्पितस्याप्यभिध्यायतिकर्मत्वात्। ईक्षतेस्तु तथा भूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टमित्यतः परमात्मैवायं सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति गम्यते। स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते।**

**प्रश्नः—नन्वभिध्याने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः, कथमितर इतरत्र प्रत्यभिज्ञायत इति?**

**प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ। नचात्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते, येन तस्मात्परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात्।**

**प्रश्नः—कस्तर्हि जीवघन इति?**

**प्रत्युत्तरम्—उच्यते—घनो मूर्तिः। जीवलक्षणो घनो जीवघनः। सैन्धवखिल्यवद्यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभाव उपाधिकृतः परश्च विषयेन्द्रियेभ्यः सोऽत्र जीवघन इति।**

( यह पूर्वपक्षका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तका समाधान )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहा जाता है कि पर ही ब्रह्मका ध्यान करना चाहिये।

प्रश्न—कैसे?

प्रत्युत्तर—**ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्**, ईक्षतिका अर्थ दर्शन करना है, ईक्षति धातुका कर्म दर्शनसे व्याप्य होता है, ईक्षति धातुके कर्मरूपसे ध्यान करने योग्य पुरुषका निर्देश वाक्यशेषमें होता है 'वह इस पर सूक्ष्म जीवघन—हिरण्यगर्भसे पर आत्मस्वरूप सर्वव्यापक पुरुषको देखता है,' ध्यानका कर्म असत्य पदार्थ भी हो सकता है, क्योंकि मनोरथसे कल्पित पदार्थ भी ध्यानका कर्म ( object ) हो सकता है, ईक्षतिका कर्म तो सत्य पदार्थ ही लोकमें देखा गया है; इस कारण सम्यग् दर्शनका विषयभूत परमात्माको ही ईक्षति धातुके कर्मरूपसे निर्देश किया है। वही परमात्मा यहां पर और पुरुष इन दोनों शब्दोंसे ध्यान करने योग्य है ऐसी प्रत्यभिज्ञा की जाती है।

प्रश्न—ध्यान करनेमें 'पर पुरुष' ऐसा कहा गया, ईक्षण करनेमें तो परात्पर अर्थात् परसे पर, कैसे अन्य पुरुषकी अन्यत्र स्थानमें प्रत्यभिज्ञा की जाती है?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—पर और पुरुष शब्द दोनों ही दोनों स्थानोंमें सामान्य हैं, यहां जीवघन शब्दसे प्रकृत ध्यानयोग्य पर पुरुषका संकेत नहीं होता है जिस कारण उस पर पुरुषसे परात्पर द्रष्टव्य पुरुष अन्य हो।

प्रश्न—तो जीवघन कौन है?

प्रत्युत्तर—घन मूर्तिका नाम है ( **मूर्त्तौ घनः** यह पाणिनीय सूत्र है ) जीवलक्षणरूप जो घन है वह जीवघन है, नमकके छोटे टुकड़ेके समान जो परमात्माका जीवरूप परिच्छिन्न भाव है वह उपाधिकृत है, वही विषय और इन्द्रियोंसे पर सूक्ष्म यहां जीवघन है। दूसरे कहते हैं कि—'वह प्राणोंसे ब्रह्म

---

१—निर्णयसागरकी छपी पुस्तकमें '**परापर**' ऐसा पाठ है, किन्तु यहां '**परात्पर**' पाठ प्रतीत होता है, क्योंकि प्रश्नमें भी पर पुरुषसे '**परात्पर**' अन्य है यह प्रश्न किया गया है। श्रुतिके वाक्यशेषमें भी ईक्षितव्य पुरुषको जीवघनसे '**परात्पर**' कहा है। '**परात्पर**' पाठकी सङ्गति उचित प्रतीत होनेसे हमने यही पाठ रख दिया है—**अनुवादक**।

अपर आह—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इत्यतीनानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो यो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते। जीवानां हि सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघनः। तस्मात्परो यः परमात्मेक्षणकर्मभूतः स एवाभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्यते। परं पुरुषमिति च विशेषणं परमात्मपरिग्रह एवावकल्पते। परो हि पुरुषः परमात्मैव भवति यस्मात्परं किंचिदन्यन्नास्ति, 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति च श्रुत्यन्तरात्। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इति च विभज्यानन्तरमोंकारेण परं पुरुषमभिध्यातव्यं ब्रुवन्परमेव ब्रह्म परं पुरुषं गमयति। 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पाप्मविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानमिहाभिध्यातव्यं सूचयति। अथ यदुक्तं परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्नफलं युज्यत इति। अत्रोच्यते—त्रिमात्रेणोंकारेणालम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतद्भविष्यतीत्यदोषः ॥ १३ ॥

## ५ दहराधिकरणम् । सू० १४-२१

### दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' ( छा० ८ । १ । १ ) इत्यादिवाक्यं समाम्नायते।

लोकको प्राप्त हो जाता है, इसके बादके वाक्यमें निर्दिष्ट जो ब्रह्मलोक अन्य लोकान्तरोंसे पर है सो यहां जीवघन कहा जाता है, कारण कि इन्द्रियोंसे युक्त सब जीवात्माओंका ब्रह्मलोकनिवासी सर्वेन्द्रियात्मक हिरण्यगर्भमें समुदायरूपसे रहना युक्तियुक्त होनेसे ब्रह्मलोक ही जीवघन है. इस जीवघनसे परे जो ईक्षणका कर्मभूत परमात्मा है वही ध्यान करनेमें भी कर्म है ऐसा निश्चय होता है। **'परं पुरुषम्'** इस प्रकारका विशेषण परमात्माके ग्रहण करनेमें ही उपयुक्त होता है, पर पुरुष परमात्मा ही होता है, क्योंकि उससे परे और कुछ भी नहीं है, श्रुत्यन्तर भी है कि 'उस पुरुषसे परे और कुछ नहीं है, वही अन्तिम है और वहींपर गति समाप्त हो जाती है'। 'जो यह ओङ्कार है वही पर और अपर ब्रह्म है' इस प्रकार विभाग करके उसके बाद ही पर पुरुषको ध्यान करना चाहिये इस प्रकार कहता हुआ पर ही ब्रह्म पर पुरुष है इस प्रकार श्रुति बोध कराती है। 'जिस प्रकार सर्प त्वचा-केंचुलीसे अलग हो जाता है उसी प्रकार वह परमात्मा पापसे मुक्त होता है,' इस प्रकार पापसे रहित होना यह फलवचन परमात्माको ही ध्यान कर्म सूचित करता है। और यह जो कहा था कि परमात्माको ध्यान करनेवाला पुरुष देशपरिच्छिन्न फलसे युक्त होना उचित नहीं है, यहां पर कहा जाता है—त्रिमात्र—तीन मात्रायुक्त ओङ्काररूप आलम्बनसे परमात्माको ध्यान करनेका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति है, इस प्रकार क्रमसे होकर ज्ञान होना युक्तियुक्त ही है, यह क्रममुक्तिके अभिप्रायसे हो जायेगा, इस लिये कोई दोष नहीं आता। ॥ १३ ॥ यह चौथा ईक्षतिकर्माधिकरण समाप्त हुआ।

## ५ दहराधिकरणम् । सू० १४-२१

### दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

'इस ब्रह्मपुरमें सूक्ष्म कमल समान स्थान है इसमें दहर अन्तराकाश है, उस दहराकाशके अन्दर जो है उसका अन्वेषण खोज करना चाहिये, उसीकी जिज्ञासा-जाननेकी इच्छा करनी चाहिये' ( छा० ८।१।१ )

तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः स किं भूताकाशोऽथवा विज्ञानात्माऽथवा परमात्मेति संशय्यते।

प्रश्नः—कुतः संशयः?

उत्तरम्—आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम्। आकाशशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिंश्च प्रयुज्यमानो दृश्यते। तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्किं वा पर इति संशयः। यथा ब्रह्मपुरमिति किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरम्, अथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति। तत्र जीवस्य परस्य वान्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः। तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद्भूताकाश एव दहरशब्द इति प्राप्तम्। तस्य च दहरायतनापेक्षया दहरत्वम्। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति च बाह्याभ्यन्तरभावकृतभेदस्योपमानोपमेयभावः, द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तः समाहितं, अवकाशात्मनाकाशस्यैकत्वात्, अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्, ब्रह्मपुरशब्दात्। जीवस्य हीदं पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते। तस्य स्वकर्मणोपार्जितत्वात्। भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम्। नहि परस्य ब्रह्मणः शरीरेण स्वस्वामिभावः संबन्धोऽस्ति। तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टं यथा राज्ञः। मनउपाधिकश्च जीवः, मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैवेदं हृदयेऽन्तरवस्थानं स्यात्। दहरत्वमपि तस्यैव आराग्रोपमितत्वादवकल्पते। आकाशोपमितत्वादि च ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यति। नचात्र दह-

इसलिये छान्दोग्य उपनिषद्में जैसा वाक्य पढ़ा जाता है, वहां जो यह ब्रह्मपुर हृदयकमलमें दहर (सूक्ष्म) आकाश सुना जाता है वह क्या भूताकाश है अथवा विज्ञानात्मा—जीवात्मा है, अथवा परमात्मा है, यह संशय होता है।

प्रश्न—यह संशय क्यों होता है?

उत्तर—आकाश और ब्रह्मपुर इन दोनों शब्दोंसे सन्देह होता है, कारण कि यह आकाश शब्द भूताकाशमें और परमात्मामें प्रयुक्त किया हुआ देखा जाता है, वहां क्या भूताकाश ही दहर है अथवा परमात्मा है यह संशय होता है। तथा 'ब्रह्मपुर' यह जो शब्द कहा गया है क्या जीवात्माका ही ब्रह्म नाम है, जिसका यह पुर—शरीर 'ब्रह्मपुर' है, अथवा पर हो ब्रह्मका पुर ब्रह्मपुर है? यहां जीवात्माका या परमात्माका या अन्य किसी पुरस्वामीका दहराकाशत्व होनेमें संशय है। अब यहां आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ—प्रसिद्ध होनेसे भूताकाश ही दहर है ऐसा प्राप्त होता है, भूताकाशका दहर होना दहरस्थ अवकाशकी अपेक्षासे है। 'जितना यह आकाश है उतना हृदयके अन्दर यह आकाश है' इस प्रकार बाहर और भीतरका जो भेद है वह यहां उपमान और उपमेयभावसे है, द्यौ और पृथिवी आदि भी उसीके भीतर प्रविष्ट हैं क्योंकि अवकाशरूपसे आकाश एक ही है। अथवा ब्रह्मपुर शब्दसे जीवात्माका ही दहर होना सिद्ध होता है, जीवका जो पुर विद्यमान शरीर है वही ब्रह्मपुर है, यह शरीर जीवात्माको अपने कर्मके अनुसार प्राप्त हुआ है, जीवात्माको ब्रह्म शब्द कहा जाना गौणरूपसे है, कारण कि परब्रह्म परमात्माका शरीरके साथ स्व-स्वामिभाव—( मालिक और मिल्कियत ) का सम्बन्ध नहीं होता है, नगरका मालिक नगरके एक देशमें रहता है ऐसा देखा गया है, जैसा राजा ( शहरके एक देशमें रहता है ), जीवात्मा मन उपाधिसे युक्त है, मन प्रायः हृदयमें प्रतिष्ठित रहता है, इस कारण जीवका ही हृदयके अन्दर स्थित होना सिद्ध होता है, दहरत्व सूक्ष्मत्व होना भी जीवात्माको ही प्राप्त है, क्योंकि जीवात्माकी उपमा अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुसे होती है, और जो ब्रह्मरूप आकाशसे जीवात्माकी उपमा की गई है वह ब्रह्मभेदकी विवक्षासे

रस्याकाशस्यान्वेष्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रूयते । 'तस्मिन्यदन्तः' इति परविशेषणत्वेनोपादानादिति ।

प्रत्युत्तरम्—अत उत्तरं ब्रूमः—परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति न भूताकाशो जीवो वा।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः । तथाहि—अन्वेष्टव्यतया विहितस्य दहरस्याकाशस्य 'तं चेद्ब्रूयुः' इत्युपक्रम्य 'किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति । 'स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' ( छा० ८ । १ । ३ ) इत्यादि । तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याकाशस्य प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन्भूताकाशत्वं दहरस्याकाशस्य निवर्तयतीति गम्यते । यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढस्तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यत इति भूताकाशशङ्का निवर्तिता भवति ।

प्रश्नः—नन्वेकस्याप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन भेदेनोपमानोपमेयभावः संभवतीत्युक्तम् ?

प्रत्युत्तरम्—नैवं संभवति । अगतिका हीयं गतिः, यत्काल्पनिकभेदाश्रयणम् । अपि च कल्पयित्वापि भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत ।

( कहनेके अभिप्रायसे ) हो सकेगा, और यहां भूत दहराकाशका अन्वेषण और जिज्ञासा करना नहीं सुना गया है, क्योंकि 'उसके भीतर जो है' इस प्रकार किसी दूसरेको विशेषणरूपसे कहा है ।

( इतना पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, इसका प्रत्युत्तर )

प्रत्युत्तर—इसलिये उत्तर दिया जाता है कि परमेश्वर ही यहां दहराकाश हो सकता है, भूताकाश या जीवात्मा नहीं ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—पीछे वाक्यशेषमें अनेक युक्तियां दी गई हैं, इस कारण । जैसे—जिस दहर आकाशको अन्वेष्टव्य रूपसे कहा है उसके विषयमें 'उसे कहे' इस प्रकार उपक्रम करके 'वहां क्या है जिसकी खोज करनी चाहिये और जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिये' इस प्रकार आक्षेपपूर्वक प्रत्युत्तर होता है, 'वह बोले कि जितना यह आकाश है उतना हृदयके भीतर आकाश है, इसमें दोनों द्यौ और पृथिवी समाये हुए हैं ( छा० ८ । १ । ३ )', यहां भूताकाशकी उपमा कमलरूप गह्वरसे की गई है इसलिये भूताकाशको भी दहरत्व प्राप्त था, किन्तु प्रसिद्ध भूताकाशसे उपमित किये जानेसे उस भूताकाशको दहरत्वसे हटाते हुए दहराकाश ( ब्रह्म ) को भूताकाशत्वसे हटाता है यह प्रतीत होता है । यद्यपि आकाश शब्द भूताकाशमें प्रसिद्ध है तथापि उसीसे उसकी उपमा देनी उचित नहीं है, इससे भूताकाशकी आशंका नहीं रहती

प्रश्न—एक ही आकाशका बाहर और भीतरको कल्पनाभेदसे उपमान और उपमेयभाव संभव हो सकता है यह कहा था ?

प्रत्युत्तर—नहीं सम्भव हो सकता है, वह नियम उचित नहीं है जो काल्पनिक भेदसे आश्रित किया जाय, और दूसरी बात यह है कि कल्पनाभेदसे उपमान और उपमेयभाव वर्णन करनेपर भी भीतरका आकाश परिच्छिन्न होनेसे उसको बाह्याकाशका परिमाण बताना ठीक नहीं है ।

प्रश्नः—ननु परमेश्वरस्यापि 'ज्यायानाकाशात्' ( शत० ब्रा० १० । ६ । ३ । २ ) इति श्रुत्यन्तरान्नैवाकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते ?

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः। पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहरत्वनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य न तावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम्। उभयप्रतिपादने हि वाक्यं भिद्येत। नच कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टित आकाशैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाधानमुपपद्यते। 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति चात्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे संभवन्ति। यद्यप्यात्मशब्दो जीवे संभवति तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निवर्तिता भवति। नह्युपाधिपरिच्छिन्नस्याराग्रोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृतं दहरत्वं शक्यं निवर्तयितुम्।

प्रश्नः—ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येतेति चेत् ?

प्रत्युत्तरम्—यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येत तस्यैव ब्रह्मणः साक्षात्सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम्। तदप्युक्तं ब्रह्मपुरमिति जीवेन पुरस्योपलक्षितत्वाद्राज्ञ इव जीवस्यैवेदं पुरस्वामिनः पुरैकदेशवर्तित्वमस्त्विति। अत्र ब्रूमः—परस्यैवेदं ब्रह्मणः पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, ब्रह्मशब्दस्य तस्मिन्मुख्यत्वात्। तस्याप्यस्ति पुरेणानेन संबन्धः, उपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'। प्र० ५। ५। 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २। ५। १८)

प्रश्न—'वह परमात्मा आकाश से बड़ा है' ( शत० ब्रा० १०।६।३।२ ) इस प्रकार अन्य श्रुतियां बतलाती हैं कि परमेश्वरको आकाशका परिमाण बताना ठीक नहीं।

प्रत्युत्तर—यह दोष नहीं है क्योंकि वाक्यमें हृदयकमलकी उपमा देनेसे भूताकाशको दहरत्व प्राप्त था उसकी निवृत्तिमात्र की गई है, न कि इस वाक्यमें ब्रह्मको बाह्याकाशका परिमाणत्व प्रतिपादन किया गया है। दोनोंके अर्थात् भूताकाश और ब्रह्मके प्रतिपादन करनेमें वाक्य ही छिन्न भिन्न हो जाता। और काल्पनिक भेद मान लेने पर हृदयकमलसे लिपटे हुये आकाशके एक देशमें द्यौ और पृथिवी आदिका भीतर समाया जाना नहीं बनता। 'यह आत्मा निष्पाप है, और जरा, मृत्यु, शोक, भूख, प्याससे रहित है, वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प है' इस प्रकार आत्मत्व और निष्पापत्व गुण भूताकाशमें सम्भव नहीं हो सकते हैं। यद्यपि आत्मा शब्दका प्रयोग जीवमें सम्भव हो सकता है, तथापि अन्यान्य कारणोंसे जीवकी आशङ्का हट जाती है, कारण कि उपाधिसे परिच्छिन्न ( एकदेशी ) जीवात्माको सूक्ष्मवस्तुसे उपमा दी गई है उसका हृदयकमलसे लिपटे रहनेसे दहरत्वका ( अर्थात् एकदेशीका ) होना हट नहीं सकता।

प्रश्न—यदि कहा जाय कि—ब्रह्मके साथ अभेद विवक्षासे जीवात्माकी सर्वगतत्वविवक्षा होगी ?

प्रत्युत्तर—जिस आत्मरूपसे जीवात्माके सर्वगतत्वकी विवक्षा होगी उसी ब्रह्मके साक्षात् सर्वगतत्वकी विवक्षा हो यही उचित है। और यह जो कहा था कि 'ब्रह्मपुर' इस शब्दमें जीव शब्दसे पुरका उपलक्षण होता है, जैसे राजाके समान नगरके मालिक जीवात्माका नगरके एकभागमें रहना माना जाय, यहां हम कहते हैं कि—पर हो ब्रह्मका यह पुर विद्यमान शरीर है, इसलिये ब्रह्मपुर कहा जाता है, क्योंकि 'ब्रह्मपुर' शब्दमें ब्रह्महीं मुख्य है, उस ब्रह्मका भी इस पुरसे सम्बन्ध है, क्योंकि वह पुर प्राप्तिका अधिष्ठान ( अधिकरण ) है। इसमें अनेक श्रुतियां प्रमाण हैं, जैसे—"वह इस जीवात्मस्वरूपसे भी परे 'पुरमें सोने वाले' पर पुरुषको देखता है ( प्र० ५।५ )।

"वह परमात्मा सब नगरोंमें व्याप्त होकर पुरिशय अर्थात् नगरमें सोने वाला है (बृ० २।५।१८)"

इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा जीवपुर एवास्मिन्ब्रह्म संनिहितमुपलक्ष्यते। यथा शालग्रामे विष्णुः संनिहित इति तद्वत्। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८।१।६) इति च कर्मणामन्तवत्फलत्वमुक्त्वा 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्यानन्तफलत्वं वदन्परमात्मत्वमस्य सूचयति। यदप्येतदुक्तं न दहरस्याकाशस्यान्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रुतं, परविशेषणत्वेनोपादानादिति, अत्र ब्रूमः—यद्याकाशो नान्वेष्टव्यत्वेनोक्तः स्यात् 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याद्याकाशस्वरूपप्रदर्शनं नोपयुज्यते।

प्रश्नः—नन्वेतदप्यन्तर्वर्तिवस्तुसद्भावप्रदर्शनायैव प्रदर्श्यते। 'तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्याक्षिप्य परिहारावसर आकाशौपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाहितत्वदर्शनात्।

प्रत्युत्तरम्—नैतदेवम्। एवं हि सति यदन्तःसमाहितं द्यावापृथिव्यादि तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चोक्तं स्यात्। तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत। 'अस्मिन्कामाः समाहिताः' 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इति हि प्रकृतं द्यावापृथिव्यादिसमाधानाधारमाकाशमाकृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' इति समुच्चयार्थेन चशब्देनात्मानं कामाधारमाश्रितांश्च कामान्विज्ञेयान्वाक्यशेषो दर्शयति। तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठानः सहान्तःस्थैः समाहितैः पृथिव्या-

इत्यादि। अथवा जीवरूप पुरमें ही ब्रह्म सन्निहित रहता है, जैसे शालग्राम पत्थरमें विष्णु विद्यमान रहता है। 'जैसे कर्म करनेवाला पुरुष क्षीण होता है वैसे ही पुण्य करनेवाला क्षीण हो जाता है (छा० ८।१।६)। इस प्रकार कर्मके फलको अन्तवाला सावधि कह कर 'और जो इस संसारमें आत्माको जानकर जाते हैं उन्हें ये सब सत्य काम इच्छा पूर्ण हो जाते हैं, और उनका सब लोकोंमें इच्छानुसार आना जाना होता है।' इस प्रकार प्रकृत दहराकाशको जाननेका अनन्त फल कहते हुये इस दहराकाशको परमात्मरूप सूचित करता है। और जो यह कहा था कि दहराकाशका खोज करना और जिज्ञासा करना नहीं सुना गया, क्योंकि यहां **'परं पुरुषं'** मे **'पर'** ऐसा विशेषण दिया गया है। अब यहां कहते हैं—यदि इस आकाशको खोज करने लायक न कहा जाय तो 'जितना यह आकाश है उतना ही अन्तर्हृदयमें आकाश है' इस प्रकार आकाशका स्वरूप न दिखाया जाता।

प्रश्न—यह आकाशका स्वरूप भी तो भीतर रहने वाले वस्तु तत्त्वको दिखलानेके लिये ही प्रदर्शित किया गया है, जैसा कि—'उससे कहे कि इस ब्रह्मपुरमें जो दहर पुण्डरीक स्थान है उसमें भीतर जो दहराकाश है उसके भीतर क्या है जिसकी खोज की जाय और जिसकी जिज्ञासा की जाय?' इस प्रकार आक्षेप कर उत्तर देनेके समय आकाशकी उपमाके क्रमसे द्यौ और पृथिव्यादिका भीतर समाया जाना दिखाया गया है?

प्रत्युत्तर—यह बात नहीं है, यदि ऐसा ही होता तो जिसके अन्दर द्यौ और पृथिव्यादि समा गया हो उस ही की खोज और जिज्ञासा की जाती, ऐसा होनेपर वाक्यशेष नहीं बनता, जैसा कि—'इसमें सब काम विद्यमान रहते हैं, 'यह आत्मा निष्पाप हैं' इस प्रकार प्रकृत द्यौ और पृथिव्यादिके रहनेका आधार आकाशको आकर्षण कर और जो आत्माको जानकर जाते है उन्हें सत्यकाम प्राप्त होते हैं' इस प्रकार समुच्चयार्थक 'च' शब्दसे वाक्यशेष कामनाके आधार आत्माको और विज्ञेय (विशेषरूपसे जानने योग्य) आश्रित कामोंको दिखाता है। इस कारण वाक्यके आरम्भमें भी दहर ही आकाश हृदयपुण्डरीक (कमलरूप) का अधिकरण है, और वह भीतर समाये जानेवाले पृथिव्यादि और सत्य

दिभिः सत्यैश्च कामैर्विजय उक्त इति गम्यते । स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति ॥ १४ ॥

## गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यः हेतुभ्य इत्युक्तम् । त एवोत्तरे हेतव इदानीं प्रपञ्च्यन्ते । इतश्च परमेश्वर एव दहरः, यस्माद्दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' ( छा० ८ । ३ । २ ) इति । तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवाना-मभिधीयमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति । तथा ह्यहरहर्जीवानां सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं श्रुत्यन्तरे—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' ( छा० ६ । ८ । १ ) इत्येवमादौ । लोकेऽपि किल गाढं सुषुप्तमाचक्षते ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गत इति । तथा ब्रह्मलोकशब्दोऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमानो जीवभूताकाशशङ्कां निवर्तयन्ब्रह्मतामस्य गमयति ।

प्रश्नः—ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकशब्दो गमयेत् ?

प्रत्युत्तरम्—गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोक इति षष्ठीसमासवृत्त्या व्युत्पाद्येत । सामानाधिकरण्यवृत्त्या तु व्युत्पाद्यमानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्यति । एतदेव चाहरहर्ब्रह्मलोकगमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम् । नह्यहरहरिमाः प्रजाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति शक्यं कल्पयितुम् ।

## धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः ।

कामोंके साथ विजय कहा गया है यह प्रतीत होता है, इस कारण यह दहराकाश उक्त हेतुओंसे परमेश्वर है

## गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

पहले दिये गये उत्तर हेतुओंसे दहर परमेश्वर है यह कह दिया है, अब जो पीछे दिये जाने वाले हेतु हैं उनका विस्तार किया जाता है । अत एव परमेश्वर ही दहर है, क्योंकि दहरके वाक्यशेषमें परमेश्वरके ही प्रतिपादक गति और शब्द देखे गये हैं, जैसे—'ये सब प्रजा प्रतिदिन जाती हुई भी ब्रह्मलोकको प्राप्त नहीं होती हैं ।' ( छा० ८।३।२ )' यहां प्रकृत दहरको ब्रह्मलोकशब्दसे कह कर ब्रह्मलोकविषयक गति प्रजाशब्दसे कहे जाने वाले जीवात्माकी कहती हुई दहरकी ब्रह्मरूपता बोध कराती है, जैसे कि श्रुत्यन्तरमें प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्थामें जीवोंका ब्रह्म हो जाना देखा गया है—'हे सोम्य ! तब वह सत् ब्रह्मभावापन्न हो जाता है' ( छा० ६।८।१ )' लोकमें भी गाढ निद्रामें सोये हुएको ब्रह्मीभूत अर्थात् ब्रह्म ही होगया है ऐसा कहा जाता है । तथा प्रकृत दहरमें प्रयुक्त ब्रह्मलोकशब्द भी जीवात्मत्व शङ्काको हटाता हुआ ब्रह्मत्वका बोध कराता है ।

प्रश्न—यह ब्रह्मलोक शब्द कमलासनलोकको भी प्राप्त कराये ?

प्रत्युत्तर—यदि यह ब्रह्मलोक शब्द 'ब्रह्माका लोक' इस प्रकार षष्ठी समासरूपसे बना कर प्राप्त कराये तो कराये, किन्तु 'ब्रह्म ही लोक ब्रह्मलोक' इस प्रकार समानाधिकरणरूपसे ( अर्थात् ब्रह्म और लोक दोनोंका एक ही समान आधार होना रूपसे ) तो पर ही ब्रह्मको प्राप्त करायेगा ; यह देखा हुआ प्रतिदिन ब्रह्मलोकगमन ही ब्रह्मलोकशब्दके समानाधिकरणरूपसे ग्रहण करनेमें लिङ्ग अर्थात् प्रमाण है । ये सब प्रजा प्रतिदिन सत्यलोक नामक कार्य ब्रह्मलोकमें जाती हैं ऐसी कल्पना नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

## धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

धृतिके कारण भी परमेश्वर ही दहर है ।

प्रश्नः—कथम् ?

प्रत्युत्तरम्—'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः' इति हि प्रकृत्याकाशौपम्यपूर्वकं तस्मिन्सर्वसमाधानमुक्त्वा तस्मिन्नेव चात्मशब्दं प्रयुज्यापहतपाप्मत्वादिगुणयोगं चोपदिश्य तमेवानतिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' ( छा० ८ । ४ । १ ) इति । तत्र विधृतिरित्यात्मशब्दसामानाधिकरण्याद्विधारयितोच्यते, क्तिचः कर्तरि स्मरणात् । यथोदकसंतानस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसंपदामसंभेदाय, एवमयमात्मैषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसंभेदायासंकरायेति । एवमिह प्रकृते दहरे विधारणलक्षणं महिमानं दर्शयति । अयं च महिमा परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरादुपलभ्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादेः । तथान्यत्रापि निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' इति । एवं धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः ॥ १६ ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः' इत्युच्यते । यत्कारणमाकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः । 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' ( छा० ८ । १४ । १ ), 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' ( छा० १ । ९ । १ ) इत्यादिप्रयोगदर्शनात् ।

प्रश्न—क्यों ?

प्रत्युत्तर—'इसके भीतर सूक्ष्म आकाश है' इस प्रकार आरम्भ कर उस परमेश्वरमें आकाशकी उपमाके साथ सब समाधान कर और उसी परमेश्वरमें आत्मा शब्दका प्रयोग कर तथा निष्पापत्व आदि गुणयोगका उपदेश देकर उसी प्रकृत प्रकरणका श्रुति निर्देश करती है—"जो यह आत्मा है वह पुलरूप है, इन सब लोकोंको स्थिर करनेके लिये वह आत्मा विधृति अर्थात् सबको धारण करने वाला है ( छा० ८ । ४ । १ )" यहां 'विधृति' इस शब्दका अर्थ आत्म शब्दके साथ समानाधिकरण होनेसे विधारयिता अर्थात् प्रकृष्टरूपसे धारण करने वाला है, क्योंकि ( **क्तिच् क्तौ च संज्ञायाम्** पा० अ० ३।३।१७४ ) इस सूत्रमें कर्तामें भी क्तिच् प्रत्यय होता है । जैसे लोकमें जलसमूहको धारण करनेवाला पुल खेतोंकी सम्पत्तिको बनाये रखने वाला होता है, वैसा ही यह आत्मा इन अध्यात्मादि भेदोंसे भिन्न लोकोंका और वर्णाश्रम आदियोंको धारण करनेवाला सबको बनाये रखनेके लिये पुलरूप है । इस प्रकार प्रकृत दहर ब्रह्म ही धारण करनेमें समर्थ है और उसीकी महिमा दिखायी जाती है । तथा यह महिमा श्रुत्यन्तरमें परमेश्वरमें ही हो सकती है, जैसे—'हे गार्गि ! इस अक्षर ब्रह्मके शासनमें सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुये ठहरते हैं ।'

इत्यादि । तथा अन्यत्र भी निश्चित परमेश्वर वाक्यमें सुना जाता है—'यह सबका ईश्वर है, यह सब भूतोंका अधिपति है, यह सब प्राणियोंको पालन करने वाला है, इन सब लोकोंको स्थिर करनेके लिये वह पुलरूप विधरण अर्थात् धारण करनेवाला है ।' इस प्रकार धारण करनेवाला होनेसे परमेश्वर ही दहर है ॥ १६ ॥

## प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

यहांसे आगे भी परमेश्वर ही "**दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः**" इस श्रुतिमें दहराकाश है, कारण कि आकाश शब्द परमेश्वरमें प्रसिद्ध है, जैसे—

"यह आकाश नाम और रूपका संचालन करने वाला है ( छा० ८। १४ )" ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं ( छा० १।९।१ )

जीवे तु न क्वचिदाकाशशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते। भूताकाशस्तु सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धावुपमानोपमेयभावाद्यसंभवान्न ग्रहीतव्य इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

## इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥ १८ ॥

**प्रश्नः**—यदि वाक्यशेषबलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृहीतास्तीतरस्यापि जीवस्य वाक्यशेषे परामर्शः—'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच'.( छा० ८ । ३ । ४ ) इति। अत्र हि संप्रसादशब्दः श्रुत्यन्तरे सुषुप्तावस्थायां दृष्टत्वात्तदवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुं नार्थान्तरम्। तथा शरीरव्यपाश्रयस्यैव जीवस्य शरीरात्समुत्थानं संभवति। यथाकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीनामाकाशात्समुत्थानं तद्वत्। यथा चादृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्दः परमेश्वरधर्मसमभिव्याहारात् 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादौ परमेश्वरविषयोऽभ्युपगत एवं जीवविषयोऽपि भविष्यति। तस्मादितरपरामर्शात् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इत्यत्र स एव जीव उच्यते ?

**प्रत्युत्तरम्**—इति चेत् नैतदेवं स्यात्।

**प्रश्नः**—कस्मात् ?

**प्रत्युत्तरम्**—असंभवात्। नहि जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी सन्नाकाशेनोपमीयेत। नचोपाधिधर्मानभिमन्यमानस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्माः संभवन्ति। प्रपञ्चितं चैतत्प्रथमसूत्रे। अतिरेकाशङ्कापरिहारायात्र न पुनरुपन्यस्तम्। पठिष्यति चोपरिष्टात्

इत्यादि श्रुतियोंमें (ब्रह्मविषयक आकाश शब्दका) प्रयोग देखा गया है, जीवात्मामें तो कहीं आकाश शब्द प्रयुक्त किया हुआ नहीं देखा गया है। आकाश शब्द भूताकाशमें प्रसिद्ध होनेपर भी उपमान और उपमेयभाव आदि (न होने) असंभव होनेसे नहीं ग्रहण करना चाहिये यह कह दिया है ॥ १७ ॥

## इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥ १८ ॥

**प्रश्न**—यदि वाक्यशेष बलसे दहर शब्दसे परमेश्वर लेते हो तो इतर जीवका वाक्यशेषमें भी (जीवविषयक) परामर्श विचार है, जैसे—यह जो संप्रसाद अर्थात् सुषुप्ति है, वह इस शरीरसे निकलकर उत्कृष्ट ज्योतिको प्राप्त होकर अपने स्वरूपसे निष्पन्न हो जाता है, यह आत्मा है, ऐसा उसने कहा ( छा० ८।३।४ )" यहां श्रुत्यन्तरमें संप्रसाद शब्द सुषुप्ति अवस्थामें देखा गया है, इस कारण ऐसी सुषुप्ति अवस्थावाले जीवात्माको स्थापन कर सकते हैं, अन्य अर्थान्तरको नहीं, तथा शरीराश्रित जीवका ही शरीरसे उठना संभव हो सकता है, जैसे आकाशाश्रित वायु आदियोंका आकाशसे उठना होता है उसी प्रकार, और जैसे लोकमें परमेश्वरविषयक आकाश शब्द न देखे जानेपर भी परमेश्वरके धर्म पाये जानेसे 'आकाश नाम और रूपको उत्पन्न करने वाला है' इत्यादिमें आकाश शब्द परमेश्वरविषयक स्वीकार किया गया, ऐसा ही जीवविषय भी हो जायगा, इस कारण अन्य जीवात्माके विचार पाये जानेसे 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' यहां पर वही जीवात्मा कहा गया है ?

**प्रत्युत्तर**—ऐसा यदि मानते हो तो यह ठीक नहीं है।

**प्रश्न**—क्यों ?

**प्रत्युत्तर**—क्योंकि यह संभव नहीं है, बुद्धि आदि उपाधिसे परिच्छिन्न अभिमानी होनेवाला जीवात्माको आकाशसे उपमा नहीं दी जाती है, तथा न उपाधिधर्मोंको माननेवाले जीवात्माके निष्पापत्व आदि धर्म हो सकते हैं, यह तो प्रथम सूत्रमें विस्तरशः कह दिया है, अतिरिक्त शङ्काओंको खण्डन

'अन्यार्थश्च परामर्शः' ( ब्र० १ । ३ । २० ) इति ॥ १८ ॥

## उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

इतरपरामर्शाद्या जीवाशङ्का जाता साऽसंभवान्निराकृता । अथेदानीं मृतस्येवामृतसेकात्पुनः समुत्थानं जीवाशङ्कायाः क्रियते उत्तरस्मात्प्राजापत्याद्वाक्यात् ।

प्रश्नः—तत्र हि 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' ( छा० ८ । ७ । ४ ) इति ब्रुवन्नक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमात्मानं निर्दिशति । 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' ( छा० ८ । ९ । ३ ) इति च तमेव पुनः पुनः परामृश्य 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा' ( छा० ८ । १० । १ ) इति 'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा' इति च जीवमेवावस्थान्तरगतं व्याचष्टे । तस्यैव चापहतपाप्मत्वादि दर्शयति—'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति । 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' ( छा० ८ । ११ । १,२ ) इति च सुषुप्तावस्थायां दोषमुपलभ्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इति चोपक्रम्य शरीरसंबन्धनिन्दापूर्वकं 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इति जीवमेव शरीरात्समुत्थितमुत्तमपुरुषं दर्शयति । तस्मादस्ति संभवो जीवे पारमेश्वराणां धर्माणाम् । अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति जीव एवोक्तः ?

[illegible] लिये यहां फिर कहा गया है, और ( ब्र० १।३।२० ) यह पीछे कहा जायगा ।

## उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

अन्य परामर्शसे जो जीवकी शङ्का की गयी उसका निराकरण हो चुका है । अब जैसे अमृतसेचनसे मृत पुरुष उठ खड़ा होता है उसी प्रकार आगेके प्रजापति वाक्यसे फिर जीवकी शङ्का की जाती है ।

प्रश्न—वहां 'जो यह आत्मा अपहतपाप्मा' इसमें निष्पापत्व गुणवाला आत्मा अन्वेषण करनेयोग्य और जिज्ञासा करनेयोग्य है ऐसी प्रतिज्ञा करके "जो इस आंखमें पुरुष देखा जाता है वह आत्मा है (छा० ८।७।४)" इस प्रकार कहकर चक्षुःस्थ द्रष्टा जीवात्माको दिखाता है "इसीको तुम्हारे लिये फिर व्याख्यान करूंगा (छा० ८।९।३)" इस प्रकार उसीका बारबार निर्देश करके 'जो यह पूजनीय आत्मा स्वप्नमें विचरता है' (छा० ८।१०।१) और 'जहां यह सोया हुआ आत्मा लीन अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, इसलिये वह आत्मा स्वप्नको नहीं जानता है।' इस प्रकार अवस्थान्तरप्राप्त जीवात्माको ही कहा है । और उसी जीवात्माके निष्पापता आदि गुण दिखलाये गये हैं—'यह ब्रह्म अमृत है अभय है (छा० ८।११।१)' यह पुरुष सुषुप्तिमें इस समय में अपनेको 'मैं हूं' ऐसा नहीं जानता है और न इन भूत प्राणियोंको (छा० ८।११।१,२)।' इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें दोष पाकर 'इसी आत्माको तुम्हारे लिये फिर व्याख्यान करूंगा इससे अन्यको नहीं।' इस प्रकार आरम्भ करके शरीरसम्बन्धकी निन्दापूर्वक कहा है कि—'आनन्द प्राप्त करने योग्य यह सुषुप्ति है, यह आत्मा इस शरीरसे निकल कर उत्कृष्ट ज्योतिको प्राप्त होकर अपने स्वरूपसे प्रकट हो जाता है, तब यह उत्तम पुरुष होता है।' इस प्रकार शरीरसे निकले हुए जीवात्माको ही उत्तम पुरुष बताया गया है, इस कारण जीवमें परमेश्वरसम्बन्धी धर्मोंका होना संभव है, इन हेतुओंसे "दहरोऽस्मिन्नन्तरायाशः" इसमें जीवात्मा ही कहा गया है ?

१—यहां 'अङ्ग' शब्द दुःखार्थक निपात है—अनुवादक ।

**प्रत्युत्तरम्**—इति चेत्कश्चिद्ब्रूयात्, तं प्रति ब्रूयात्—'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इति। तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याशङ्का संभवतीत्यर्थः।

**प्रश्नः**—कस्मात्?

**प्रत्युत्तरम्**—यतस्तत्राप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते। आविर्भूतं स्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूपः। भूतपूर्वगत्या जीववचनम्। एतदुक्तं भवति—'य एषोऽक्षिणि' इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्योदशरावब्राह्मणेनैनं शरीरात्मताया व्युत्थाप्य 'एतं त्वेव ते' इति पुनःपुनस्तमेव व्याख्येयत्वेनाकृष्य स्वप्नसुषुप्तोपन्यासक्रमेण 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपं परं ब्रह्म तद्रूपतयैनं जीवं व्याचष्टे न जैवेन रूपेण। यत्परं ज्योतिरुपसंपत्तव्यं श्रुतं तत्परं ब्रह्म। तच्चापहतपाप्मत्वादिधर्मकं, तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपं 'तत्त्वमसि' इत्यादिशास्त्रेभ्यः, नेतरदुपाधिकल्पितम्। यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम्। यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघाताद्व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते, नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः, नासि संसारी—

प्रत्युत्तर—यदि ऐसा कोई कहे तो उससे कहे कि **"आविर्भूतस्वरूपस्तु"**—यहां **'तु'** शब्द पूर्वपक्षको हटानेके लिये है, इस आगेके वाक्यसे भी जीवकी शङ्का नहीं हो सकती है।

प्रश्न—क्यों?

प्रत्युत्तर—क्योंकि वहां भी जीवात्माको अपने स्वरूपसे प्रकट होनेकी विवक्षामें कहा है, आविर्भूतस्वरूपका यह अर्थ है कि जिसका तात्त्विक स्वरूप प्रकट हो गया हो, पूर्वकालकी[1] अपेक्षासे अर्थात् ब्रह्मकी अपेक्षासे जीवात्माको कहा है। इस कथनका अभिप्राय यह है कि **"य एषोऽक्षिणि"**—इस श्रुतिमें आंखमें लक्षित द्रष्टाका निर्देश करके उदशरावब्राह्मण ( छा० ८।८।१ इस ब्राह्मणमन्त्र ) द्वारा इस नेत्रस्थ पुरुषको देहात्मत्वसे बाहर दिखला कर **"एतं त्वेव ते"** यहां फिर उसीको व्याख्येयरूपसे आकर्षण कर स्वप्न और सुषुप्तिको क्रमसे दिखला कर **"परं ज्योतिरुपसंपद्य"** इससे इस आत्माका पारमार्थिक ( तात्त्विक ) स्वरूप ब्रह्म है, उस ब्रह्मरूपसे ही इसे जीव कहा है, न कि जीवसम्बन्धी रूपसे। जो **'परं ज्योति'** को प्राप्त करना चाहिये यह सुना गया है वह परब्रह्म है, वह निष्पापत्व आदि धर्मवाला है, और वही जीवात्माका पारमार्थिक रूप है, इसमें 'वह तू है' इत्यादि प्रमाण हैं। इससे अन्य उपाधिकल्पित जीव ( निष्पापत्व आदि धर्मवाला ) नहीं है। जब तक ठूंठमें पुरुषबुद्धिकी तरह द्वैतलक्षण वाली अविद्याको हटा कर कूटस्थ नित्य द्रष्टा आत्माको 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार नहीं मानता है तब तक जीवात्माका जीवात्मत्व है। जब तो देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके समुदायसे हटा कर श्रुतिसे[2] बोध कराया जाता है कि—तुम देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि समुदायात्मक नहीं हो, तुम संसारी नहीं हो—

---

१—यहां यह प्रश्न होता है कि यदि यहां अपने तात्त्विक स्वरूपसे प्रकट होना यह अर्थ है तो वह ब्रह्म ही हुवा, न कि जीव, जीव भी कहते हो और आविर्भूत भी कहते हो यह विरोध पड़ता है, इसलिये उत्तर रूपसे कहा जाता है कि—**भूतपूर्वगत्या०—भामती**।

२—जैसे इन्द्रके प्रतिबिम्ब (छाया) जलसे भरे हुवे प्यालेमें उत्पन्न होने और नाश होनेवाले होते हैं, आत्माके लक्षण इनमें न होनेसे ये आत्मा नहीं हैं, वैसे ही देह और इन्द्रिय आदि जन्ममरणसे युक्त हैं, वे आत्मा नहीं हैं, इस प्रकार उदशराव—जलसे भरे हुवे प्यालेके दृष्टान्तसे शरीरका आत्मत्व होना बाध है—**भामती**।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्तत्त्वमसीति, तदा कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्यास्माच्छरीराद्यभिमानात्समुत्तिष्ठन्स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति । 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ( मुण्ड० ३ । २ । ९ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तदेव चास्य पारमार्थिकं स्वरूपं येन शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।

प्रश्नः—कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति संभवति कूटस्थनित्यस्य । सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसंपर्कादभिभूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । तथा नक्षत्रादीनामहन्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । नतु तथात्मचैतन्यज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः संभवत्यसंसर्गित्वाद्व्योम्न इव, दृष्टविरोधाच्च । दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञानयो हि जीवस्य स्वरूपम् । तच्च शरीरादसमुत्थितस्यापि जीवस्य सदा निष्पन्नमेव दृश्यते । सर्वो हि जीवः पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्व्यवहरत्यन्यथा व्यवहारानुपपत्तेः । तच्चेच्छरीरात्समुत्थितस्य निष्पद्येत प्राक्समुत्थानाद्दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत । अतः किमात्मकमिदं शरीरात्समुत्थानं, किमात्मिका वा स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरिति ?

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिःस्वरूपं भवति । यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वा-

प्रश्न—तो क्या है ?

प्रत्युत्तर—जो यह चैतन्यमात्रस्वरूप सत्य आत्मा है वह तुम हो, तब कूटस्थ, नित्य दृक्स्वरूप आत्माको जान कर इस शरीर आदिके अभिमानसे निकल कर वही कूटस्थ नित्यदृक्स्वरूप आत्मा हो जाता है, इसमें प्रमाण यह है कि—'जो इस परम ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही होता है' ( मुण्ड० ३।२।९ ), इस आत्माका यही पारमार्थिक स्वरूप है जो शरीरसे निकल कर अपने रूपसे निष्पन्न हो जाता है।

प्रश्न—कैसे फिर कूटस्थ नित्य ब्रह्मके अपने रूपका अपने ही स्वरूपमें निष्पन्न होना संभव हो सकता है ? द्रव्यान्तरके संयोगसे तिरस्कृत ( बदले हुवे ) स्वरूपवाले, अप्रकट असाधारण—विशेष गुणवाले, क्षारप्रक्षेप आदि (नमकीन जल आदि) द्वारा धोकर शुद्ध किये जाने वाले सुवर्ण आदि धातुओंका तो अपने स्वरूपसे निष्पन्न होना ठीक है, तथा दिनमें प्रकाशरहित नक्षत्र आदियोंका अभिभावक ( तिरस्कारक सूर्य ) के वियोग होनेपर रात्रिमें अपने स्वरूपसे सम्पन्न होना—प्रकट होना हो सकता है, किन्तु उस आत्मचैतन्य ज्योतिवाले नित्य वस्तुका किसीसे तिरस्कृत होना कैसे संभव हो सकता है ? क्योंकि वह आत्मा तो आकाशके तुल्य निर्लेप है, तथा यह प्रत्यक्ष विरोध भी है, जैसे—नेत्र, कान, मन और ज्ञान इनका होना ही जीवका स्वरूप है, ये तो शरीरसे पृथक् न होनेपर भी जीवके सदा ही बने रहते हैं, सब ही जीव देख कर, सुन कर, विचार कर, जान कर व्यवहार करते हैं, यदि इस प्रकार न करें तो व्यवहार नहीं हो सकते । यदि शरीरसे पृथक् होनेपर भी जीवका उपर्युक्त व्यवहार बना ही रहे तो निकलनेसे पहले यह प्रत्यक्ष देखा हुवा व्यवहार विरुद्ध हो जाय । इसलिये सन्देह होता है कि यह शरीरसे पृथक् होना किस प्रकारका है और किस प्रकार स्वरूपसे निष्पन्न होना है ?

प्रत्युत्तर—यहां कहा जाता है—विवेक विज्ञानके उत्पन्न होनेसे पूर्व शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना-दुःख इन उपाधियोंके कारण जीवका दृष्टि आदि ज्योतिःस्वरूप अपविवक्तसा होता है, जैसे शुद्ध

**स्वच्छत्वं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति। प्रमाणजनितविवेकग्रहणात्तु पराचीनः स्फटिकः स्वच्छत्वेन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव सन्। तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं विवेकविज्ञानं शरीरात्समुत्थानं विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः। तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च, मन्त्रवर्णात् 'अशरीरं शरीरेषु' (का० १।२।२२) इति, 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी० १३।३१) इति च शरीरत्वाशरीरत्वविशेषाभावस्मरणात्। तस्माद्विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन्विवेकविज्ञानादाविर्भूतस्वरूप इत्युच्यते। न त्वन्यादृशावाविर्भावानाविर्भावौ स्वरूपस्य संभवतः स्वरूपत्वादेव। एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः, व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात्।**

**प्रश्नः—कुतश्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम्?**

**प्रत्युत्तरम्—यतो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपदिश्य 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युपदिशति। योऽक्षिणि प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते सोऽमृताभयलक्षणाद्ब्रह्मणोऽन्यश्चेत्स्यात्ततोऽमृताभयब्रह्मसामानाधिकरण्यं न स्यात्। नापि प्रतिच्छायात्मायमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते, प्रजापतेर्मृषावादित्वप्रसङ्गात्। तथा द्वितीयेऽपि पर्याये 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' इति न प्रथमपर्यायनिर्दिष्टादक्षिपुरुषाद्द्रष्टुरन्यो**

स्फटिक मणिका स्वच्छ धावल्य स्वरूप विवेकज्ञानसे पूर्व लाल नीले आदि पदार्थोंकी उपाधि (संसर्ग) से अशुद्ध सा होता है, प्रमाणसिद्ध विवेकज्ञान होनेपर तो पुराने स्फटिक मणि पहिले स्वच्छ रहनेपर भी अपने स्वच्छ शुक्ल स्वरूपसे प्रकट हो गया ऐसा कहा जाता है, वैसे ही देहादि उपाधिसे जीव अशुद्ध हो जाता है, उस जीवका श्रुतिजनित विवेकविज्ञान ही शरीरसे उत्थान होता है, विवेक विज्ञानका फल स्वरूपसे प्रकट होना है, और यह स्वरूपाभिव्यक्ति केवल आत्माके स्वरूपको जानना ही है, तथा विवेक और अविवेकमात्रसे ही आत्मा अशरीरी तथा शरीरी होता है, कारण कि यह मन्त्रसे सिद्ध है—'वह आत्मा शरीरधारियोंमें शरीररहित है' (का० १।२।२२), तथा हे कौन्तेय! यह आत्मा शरीरमें होता हुआ भी न कुछ करता है और न लिप्त होता है (गी० १३।३१) यहां आत्माका शरीरविशेषका होना और न होना दोनोंका अभाव स्मरण किया गया है। इस कारण विवेक विज्ञानके न होनेसे अनभिव्यक्तस्वरूप (अप्रकट) होनेपर विवेकविज्ञानसे अभिव्यक्तस्वरूप कहा जाता है, न कि अपने रूपका अपने ही स्वरूपमें अन्य प्रकारसे प्रकट और अप्रकट होना संभव हो सकता है। तथा यह मिथ्याज्ञान निमित्त ही जीवात्मा और परमात्मामें भेद है, वस्तुतः नहीं, क्योंकि यह आत्मा आकाशके समान ही असङ्ग निर्लेप है।

प्रश्न—इस प्रकार कैसे जाना जाता है?

प्रत्युत्तर—जिस कारण 'जो यह आंखमें पुरुष देखा जाता है।' इस प्रकार उपदेश देकर 'यह अमृत, अभय ब्रह्म है।' ऐसा श्रुति उपदेश देती है। भाव यह है कि जो आंखमें प्रसिद्ध द्रष्टा द्रष्टृत्वेन निश्चित होता है वह अमृत अभय लक्षण वाले ब्रह्मसे यदि अन्य है तो उसका (अक्षिस्थित पुरुषका) अमृत अभय ब्रह्मके साथ समानाधिकरण (एक आधार) न होगा, न यहां अक्षिलक्षित (नेत्रनिर्दिष्ट) छायापुरुषका निर्देश है, यदि ऐसा निर्देश होता तो प्रजापति महाराज मिथ्यावादित्वदोषसे दूषित होजाय, तथा द्वितीय वार भी 'जो यह स्वप्नमें पूजित होकर विचरता है।' यहां प्रथम वारमें निर्दिष्ट नेत्रस्थित द्रष्टा पुरुषसे अन्यका निर्देश नहीं किया गया है, कारण कि—'इसी आत्माको तुम्हारेलिये फिर

निर्दिष्टः, 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इत्युपक्रमात् । किंचाहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं नेदानीं तं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे । द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति य एवाहं स्वप्नमद्राक्षं स एवाहं जागरितं पश्यामीति । तथा तृतीयेऽपि पर्याये 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति न विज्ञातारं प्रतिषेधति । यत्तु तत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति तदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम् । 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' ( बृ० ४ । ३ । ३० ) इति श्रुत्यन्तरात् । तथा चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इत्युपक्रम्य 'मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरम्' इत्यादिना प्रपञ्चेन शरीराद्युपाधिसंबन्धप्रत्याख्यानेन संप्रसादशब्दोदितं जीवं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति ब्रह्मस्वरूपापन्नं दर्शयन् परस्माद्ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं दर्शयति । केचित्तु परमात्मविवक्षायां 'एतं त्वेव ते' इति जीवाकर्षणमन्याय्यं मन्यमाना एतमेव वाक्योपक्रमसूचितमपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति कल्पयन्ति । तेषामेतमिति संनिहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृष्येत । भूयःश्रुतिश्चोपरुध्येत, पर्यायान्तराभिहितस्य पर्यायान्तरेऽनभिधीयमानत्वात् । 'एतं त्वेव ते' इति च प्रतिज्ञाय प्राक्चतुर्थात्पर्यायादन्यमन्यं व्याचक्षाणस्य प्रजापतेः प्रतारकत्वं प्रसज्येत । तस्माद्यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृभोक्तृरागद्वेषादिदोषकलुषितम-

व्याख्यान करूंगा' ऐसा आरम्भ किया गया है । और भी यह है कि 'आज मैंने स्वप्नमें हाथीको देखा था, अब मैं उसे नहीं देखता हूं' यहां दृष्ट विषयको ही जागा हुआ पुरुष खण्डन करता है, और उसी द्रष्टाको तो प्रत्यभिज्ञा ( पुनःस्मरण ) करता है—जो ही मैं स्वप्नको देखता था वह ही मैं जागरित अवस्थाको देखता हूं, तथा तृतीय वार भी 'यह निश्चय ही स्वप्नावस्थामें आत्माको ( अपने आपको ) नहीं जानता है कि यह मैं हूं, और न इन सब पृथिव्यादि तथा प्राणियों को जानता है ।' इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें श्रुति विशेष विज्ञानका अभाव ही दिखाती है, किन्तु विज्ञाताको प्रतिषेध नहीं करती । और जो वहां 'विनाशरूपमें ही लीन हो जाता है ।' ऐसा कहा है यह भी विशेष ज्ञानके न होनेके अभिप्रायसे ही कहा गया है, न कि विज्ञाता आत्माके विनाशके अभिप्रायसे, तथा 'विज्ञाता आत्माकी ज्ञानशक्तिका नाश नहीं होता है, क्योंकि वह आत्मा अविनाशी है' ( बृ० ४।३।३० ) इस श्रुत्यन्तरसे भी जान लेना चाहिये । तथा चतुर्थवार भी 'तुम्हारेलिये इसी आत्माको फिर व्याख्यान करूंगा, इससे अन्यको नहीं' इस प्रकार आरम्भ कर 'हे इन्द्र ! यह शरीर विनाशी अनित्य है ।' इत्यादि विस्तरशः शरीर आदि उपाधिके सम्बन्धको खण्डन कर सम्प्रसाद शब्दकथित जीवात्माको 'अपने रूपसे सम्पन्न हो जाता है' इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुआ दिखा कर अमृत अभयस्वरूप पर ब्रह्मसे भिन्न जीवको नहीं दिखाया है । (प्रजापति और इन्द्रकी यह कथा (छा० प्र० ८ । ख० ७–१२) तक है ।)

अब अन्य किसी आचार्यके मतको दिखाते हैं—कोई आचार्य तो परमात्माकी विवक्षामें **"एतं त्वेव ते"** यहां जीवात्माकी अनुवृत्तिको अनुचित मान कर वाक्यके आरंभमें सूचित निष्पापत्व आदि गुणयुक्त परमात्माको तुम्हारेलिये व्याख्यान करूंगा इस प्रकार कल्पना करते हैं ।

(भाष्यकार इस पक्षको खण्डन करते हैं)—उनके मतमें **'एतम्—इसको'** यह समीपमें अवस्थित होने वाला सर्वनामवाचक शब्दका श्रवण दूर पड़ जाता, और बहुत सी श्रुतियां विरुद्ध हो जातीं, क्योंकि क्रमान्तरमें कहे

नेकानर्थयोगि तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपाद्यते, सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादीन्। अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्। तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिबोधायेदं शारीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति। यत्त्विदं परमेश्वरवाक्ये जीवममाशङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः—'नासंभवात्' ( ब्र० १।३।१८ ) इत्यादिना। तत्रायमभिप्रायः—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम्। तदात्मैकत्वप्रतिपादनपरैर्वाक्यैर्न्यायोपेतैर्द्वैतवादप्रतिषेधैश्चापनेष्यामीति परमात्मनो जीवादन्यत्वं द्रढयति। जीवस्य तु न परस्मादन्यत्वं प्रतिपिपादयिषति किं त्वनुवदत्येवाविद्याकल्पितं लोकप्रसिद्धं जीवभेदम्। एवं हि स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ताः कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते। प्रतिपाद्यं तु शास्त्रार्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति—'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' ( ब्र० १।१।३० ) इत्यादिना। वर्णितश्चास्माभिर्विद्वदविद्वद्भेदेन कर्मविधिविरोधपरिहारः ॥ १९ ॥

## अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

प्रश्नः—अथ यो दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शितः—'अथ य एष संप्रसादः' ( छा० ८।३।४ )

हृदयको कमानरमें नहीं कहा जाता और 'तुम्हारे लिये इसीको' ऐसी पहिले प्रतिज्ञा कर चौथे बारम अन्यरको कहने वाले प्रजापतिका ठग होना सिद्ध होगा, इस कारण अविद्याकल्पित, आगान्तिक, कर्त्ता भोक्ता-राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूषित और अनेक अनर्थोंसे संयुक्त जो जीवसम्बन्धी रूप है उसके विद्याद्वारा परिशोधनसे अर्थात् नाशसे उससे विपरीत निष्पापत्व आदि गुणवाले परमेश्वरसम्बन्धी स्वरूपको विद्यासे प्रतिपादन करते हैं, जैसे ( रज्जुमें सर्पभ्रान्ति होनेपर ) सर्प आदिके नाशसे रज्जु आदिका बोध हो जाता है।

अब अन्य मतान्तरको कहते हैं—और कोई वादी तथा हमारे वेदान्तियोंमेंसे भी अन्य कोई जीवात्माके स्वरूपको तात्त्विक ही मानते हैं। उन आत्मैकत्व और तत्त्वज्ञानके विरोधियोंको बोध करानेके लिये यह शारीरक मीमांसा आरंभ की जाती है। एक ही परमेश्वर कूटस्थ नित्य विज्ञानस्वरूप अविद्या मायाद्वारा अनेक प्रकार हो जाता है जैसा कोई मायावी होता है, क्योंकि अन्य कोई विज्ञानस्वरूप तो है ही नहीं। और जिस परमेश्वरवाक्यमें जीवकी शङ्का कर सूत्रकार "**नासम्भवात्** (ब्र० १।३।१८)" इत्यादिसे निषेध करते हैं, वहां यह अभिप्राय है कि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव, कूटस्थ नित्य, असङ्ग एक परमात्मामें उससे विपरीत जीवात्मसम्बन्धी रूपकी कल्पना की गयी है, जैसे आकाशमें तल मलिनता आदिकी कल्पना की जाती है, इसलिये आत्मैकत्वप्रतिपादन करनेवाले द्वैतवादनिषेधक न्याययुक्त वाक्योंसे उस जैव रूपको नष्ट करूंगा इस प्रकार वह शारीरक मीमांसा शास्त्र परमात्माको जीवसे अन्य होना दृढ करता है, शास्त्र तो जीवको परमात्मासे पृथक् प्रतिपादन करना नहीं चाहता, किन्तु बार २ कहता है कि यह लोकप्रसिद्ध जीवभेद अविद्याकल्पित है। इस प्रकार स्वाभाविक कर्तृत्व भोक्तृत्वरूपसे प्रवृत्त कर्मविधि विरुद्ध नहीं होता ऐसा शास्त्र मानता है, प्रतिपादनीय शास्त्रार्थ तो आत्मैकत्व ही है, इसे ही '**शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्** (ब्र० १।१।३०)" इत्यादि सूत्रोंसे दिखाता है। और हमने भी विद्वान् और अविद्वानोंके भेदसे कर्मविधिके विरोधका परिहार कर दिया है ॥ १९ ॥

## अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

प्रश्न—जो दहरके वाक्यशेषमें जीवका निर्देश दिखाया गया है कि—"अथ य एष सम्प्रसादः ( छा० ८।

इत्यादिः, स दहरे परमेश्वरे व्याख्यायमाने न जीवोपासनोपदेशो न प्रकृतविशेषोपदेश इत्यनर्थकत्वं प्राप्नोतीति ?

प्रत्युत्तरम्—अत आह—अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो न जीवस्वरूपपर्यवसायी ।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—परमेश्वरस्वरूपपर्यवसायी ।

प्रश्नः—कथम् ?

प्रत्युत्तरम्—संप्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मितांश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्तः शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि शरीराभिमानात्समुत्थाय सुषुप्तावस्थायां परं ज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसंपद्य विशेषविज्ञानवत्त्वं च परित्यज्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । यदस्योपसंपत्तव्यं परं ज्योतिर्येन स्वेन रूपेणायमभिनिष्पद्यते स एष आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुण उपास्य इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवादिनोऽप्युपपद्यते ॥ २० ॥

## अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

यदप्युक्तम्, 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्याकाशस्याल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते, जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याल्पत्वमवकल्पत इति तस्य परिहारो वक्तव्यः । उक्तो ह्यस्य परिहारः परमेश्वरस्यापेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत इति 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' ( ब्र० १ । २ । ७ ) इत्यत्र । स एवेह परिहारोऽनुसंधातव्य

३।४ )" इत्यादि, इसे यदि परमेश्वरपरक व्याख्यान करें तो न जीवोंको उपासनाका उपदेश होगा, और न प्रकृतविशेषका ही उपदेश होगा, इस प्रकार अनर्थ होना सिद्ध होता है ।

प्रत्युत्तर—इसलिए कहा जाता है कि—यहां जीवका निर्देश अन्यार्थके निमित्त है, जीवस्वरूपका निश्चायक नहीं ।

प्रश्न—तो किसका निश्चायक है ?

प्रत्युत्तर—परमेश्वरके स्वरूपका निश्चायक है ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—संप्रसाद शब्दसे अभिहित जीवात्मा जाग्रत-दशामें देह इन्द्रियरूप पिंजड़ेके अध्यक्ष होकर जाग्रत वासनासे उत्पन्न हुए स्वप्नोंको नाडियोंमें विचरता हुआ अनुभव कर थकने लगता है, तब शरणको चाहता हुआ जाग्रत और स्वप्न ये दोनों रूपवाले शरीराभिमानसे पृथक् होकर सुषुप्ति अवस्थामें उत्कृष्ट ज्योतिवाले आकाश शब्दसे कथित पर ब्रह्मको प्राप्त होकर विशेषविज्ञानवत्त्वको त्याग कर अपने रूपसे सम्पन्न हो जाता है, जो इसके लिये उत्कृष्ट ज्योति प्राप्तव्य है जिस अपने रूपसे यह सम्पन्न होता है वह यह आत्मा निष्पापत्व आदि गुणयुक्त उपासनीय है, इस प्रकारका अर्थवाला यह जीवपरामर्श परमेश्वरवादियोंका भी बनता है ॥ २० ॥

## अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

और जो यह कहा था कि "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" यहां आकाशका अल्पत्व सुना जाता परमेश्वरमें नहीं घटता है, जीवको तो सूक्ष्म वस्तुसे उपमा दी जाती है, इसलिये उसका अल्पत्व होना उचित है, इसका परिहार होना चाहिये । इसका परिहार तो कर दिया है । परमेश्वरका अल्पत्व होना अपेक्षाकृत है, "अर्भकौकस्त्वा० ( ब्र० १।२।७ )" जैसा यहांपर अल्पत्वकल्पना की गयी है, उसी परिहारका यहां अनुसन्धान करना चाहिये यह सूचित करते हैं । प्रसिद्ध आकाशसे उपमा देने वाली

इति सूचयति । श्रुत्यैव चेदमल्पत्वं प्रत्युक्तं प्रसिद्धेनाकाशेनोपमिमानया 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति ॥ २१ ॥

## ६ अनुकृत्यधिकरणम् । सू० २२–२३

### अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' ( मु० २ । २ । १० ) इति समामनन्ति । यत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति स किं तेजोधातुः कश्चिदुत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सायां तेजोधातुरिति तावत्प्राप्तम् ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—तेजोधातूनामेव सूर्यादीनां भानप्रतिषेधात् । तेजःस्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजःस्वभावक एव सूर्ये भासमानेऽहनि न भासत इति प्रसिद्धम् । तथा सह सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन्न भासते सोऽपि तेजःस्वभाव एव कश्चिदित्यवगम्यते । अनुभानमपि तेजःस्वभावक एवोपपद्यते, समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात् । गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत् । तस्मात्तेजोधातुः कश्चिदिति ।

प्रत्युत्तर—एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्राज्ञ एवात्मा भवितुमर्हति ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—अनुकृतेः । अनुकरणमनुकृतिः । यदेतत् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यनुभानं तत्प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते । 'भारूपः सत्यसंकल्पः' ( छा० ३ । १४ । २ ) इति हि

---

"यावान्वा अयं" इस श्रुतिने भी अल्पत्वका खण्डन कर दिया है ॥ यह पांचवां दहराधिकरण समाप्त हुआ ।

### अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

'वहां न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्र तारे चमकते हैं, न ये बिजुली ही चमकती हैं, और यह अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है ? उसीके प्रकाशित होनेपर यह सब बादमें प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशमें यह सब शोभायमान होते हैं' ( मु० २।२।१० ) इस प्रकार मुण्डक उपनिषद्में पढ़ा जाता है । जहां जिसके प्रकाशित होनेपर और सब प्रकाशित होते हैं, और जिसकी ज्योतिसे ये सब प्रकाश हो रहे हैं वह क्या प्रकाशयुक्त धातुविशेष है अथवा और कोई प्राज्ञ आत्मा है ? इस प्रकार सन्देह होनेपर ज्योतिष्मान् धातुविशेष ही यहां हो सकता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—कारण यह है कि तेजस्वी सूर्य आदियोंका ही प्रकाशित होना निषेध किया गया है । तेजःस्वभाववाले चन्द्र और तारे आदि तेजःस्वभाववाले ही सूर्यके चमकनेपर दिनमें भासमान नहीं होते हैं यह प्रसिद्ध है । तथा सूर्यके साथ ये सब चन्द्र और तारे आदि जहां प्रकाशित नहीं होते हैं वह भी तेजस्वी स्वभाववाले ही कोई हैं ऐसा प्रतीत होता है । तेजःस्वभावयुक्त होनेपर पश्चात् प्रकाशित होना भी बन सकता है, क्योंकि समानस्वभाववालोंमें ही अनुकरण देखा गया है, जैसे जाने वालेके पीछे२ कोई जाता है । इस कारण यह कोई तेजोधातु ही है ।

प्रत्युत्तर—ऐसी प्राप्ति होनेपर कहते हैं कि—प्राज्ञ आत्मा ही यहां हो सकता है ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—क्योंकि यहां अनुकरण करना देखा गया है, अनुकरण अर्थात् किसी कामको किसीके करनेपर फिर उसे करना ही अनुकृति है । जो यह 'उसीके प्रकाशित होनेपर अन्य सब प्रकाशित होते हैं ।' यह

प्राज्ञमात्मानमामनन्ति । न तु तेजोधातुं कंचित्सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम् । समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षास्ति यं भान्तमनुभायुः । नहि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति । यदप्युक्तं समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यत इति । नायमेकान्तो नियमः । भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनुकारो दृश्यते । यथा सुतप्तोऽयःपिण्डोऽग्न्यनुकृतिरग्निं दहन्तमनुदहति, भौमं वा रजो वायुं वहन्तमनुवहतीति । अनुकृतेरित्यनुभानमसूसुचत् । तस्य चेति चतुर्थं पादमस्य श्लोकस्य सूचयति । 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति, तद्धेतुकं भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गमयति । 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' ( बृ० ४ । ४ । १६ ) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति । तेजोन्तरेण सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धं विरुद्धं च, तेजोन्तरेण तेजोन्तरस्य प्रतिघातात् । अथवा न सूर्यादीनामेव श्लोकपरिपठितानामिदं तद्धेतुकं विभानमुच्यते ।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—'सर्वमिदम्' इत्यविशेषश्रुतेः सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याभिव्यक्तिः सा ब्रह्मज्योतिःसत्तानिमित्ता । यथा सूर्यादिज्योतिःसत्तानिमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्तिस्तद्वत् । 'न तत्र सूर्यो भाति' इति च तत्रशब्दमाहरन्प्रकृत

पश्चात् प्रकाशित होना कहा गया है वह तो प्राज्ञ आत्माके ग्रहण करनेपर ठीक होता है । तथा श्रुत्यन्तरमें "वह ज्योतिष्मान् सत्यसंकल्प है ( छा० ३।१४।२ )" इस प्राज्ञ आत्माको बार२ पढ़ते हैं, और यह प्रसिद्ध भी नहीं है कि किसी तेजस्वी धातुके प्रकाशित होनेपर सूर्य आदि पश्चात् प्रकाशित होते हैं, सूर्य आदि तेजस्वी धातु समान होनेसे किसी अन्य तेजस्वी धातुकी अपेक्षा नहीं करते जिसके प्रकाशित होनेपर वे पीछे प्रकाशित हों, कोई प्रदीप अन्य प्रदीपकी अपेक्षा कर पश्चात् नहीं जलता है । और जो यह कहा था कि समान स्वभाववालोंमें ही पश्चात् प्रकाशित होना देखा गया है, सो यह कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है, भिन्न स्वभाववालोंमें भी अनुकरण ( किसी कामको फिर करना ) देखा गया है, जैसे—खूब गरम किया हुवा लोहाका टुकड़ा अग्निसमान होकर जलाते हुवे अग्निके पश्चात् जलाता है, तथा पार्थिव कण वायुके चलनेपर फिर पीछे उड़ता है । सूत्रमें 'अनुकृतेः' यह पद पश्चात् प्रकाशित होना सूचित करता है, और 'तस्य च' यह सूत्रस्थ पद "तस्य भासा०" इस श्लोकके चौथे पादको सूचित करता है । 'उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होते हैं । यहां परमात्माके प्रकाशित होनेपर सूर्य आदिका पश्चात् प्रकाशित होना इस प्रकार कहा जाना प्राज्ञ आत्माको बोधित कराता है । "देवगण उस सूर्य आदि ज्योतियोंकी ज्योति प्रकाशक, आयुका दाता, अमृत ब्रह्मकी उपासना करते हैं ( बृ० ४।४।१६ )" इस प्रकार प्राज्ञ आत्माको पढ़ते हैं । किसी प्रकाशसे सूर्य आदि तेजस्वी प्रकाशित होते हैं यह तो अप्रसिद्ध तथा विरुद्ध भी है, क्योंकि प्रकाशान्तरका प्रकाशान्तरके साथ विरोध होता है । अथवा श्लोकमें पढ़े हुवे सूर्य आदियोंका ही परमात्मनिमित्तसे प्रकाशित होना नहीं कहा जाता है ।

प्रश्न—तो क्या कहा जाता है ?

प्रत्युत्तर—श्लोकमें 'यह सब' इस पदसे किसी व्यक्तिविशेषका श्रवण नहीं होता है, इस कारण नाम-रूप-क्रिया-कर्त्ता तथा फलसमूहसे युक्त सब ही जगत्की जो अभिव्यक्ति प्रकट होना है वह ब्रह्मज्योतिकी सत्ताके कारण है, जैसे सूर्य आदि ज्योतिकी सत्ताके कारण सब रूपसमुदायका प्रकट होना सिद्ध होता है उसी प्रकार परमात्मविषयमें जानना चाहिये । "न तत्र सूर्यो०" इसमें जो "तत्र" शब्द पढ़ा गया है वह प्रकृत आत्माका ग्रहण होना दिखाता है । यहां प्रकृत तो ब्रह्म है, 'जिसमें द्यौ पृथिवी

ग्रहणं दर्शयति । प्रकृतं च ब्रह्म 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' ( मु० २।२।५ ) इत्यादिना । अनन्तरं च 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः' इति । कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्यत इदमुत्थितम्—'न तत्र सूर्यो भाति' इति । यदप्युक्तं सूर्यादीनां तेजसां भानप्रतिषेधस्तेजोधातावेवान्यस्मिन्नवकल्पते सूर्य इवेतरेषामिति । तत्र तु स एव तेजोधातुरन्यो न संभवतीत्युपपादितम् । ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽवकल्पते । यतो यदुपलभ्यते तत्सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते, ब्रह्म तु नान्येन ज्योतिषोपलभ्यते स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वात्, येन सूर्यादयस्तस्मिन्भायुः । ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति न तु ब्रह्मान्येन व्यज्यते । 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' ( बृ० ४.३.६ ), 'अगृह्यो नहि गृह्यते' ( बृ० ४।२।४ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

## अपिच स्मर्यते ॥ २३ ॥

अपिचेदृग्रूपत्वं प्राज्ञस्यात्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' ( गी० १५।६ ) इति, 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' ( गी० १५।१२ ) इति च ॥ २३ ॥

---

और अन्तरिक्ष ओत—पिरोया हुआ है ( मु० २।२।५ )" इत्यादि श्रुतियां इसके प्रकृत होनेमें प्रमाण हैं। इसके पश्चात् यह कहा गया है—"उत्कृष्ट हिरण्मयकोशमें दोषरहित निर्मल ब्रह्म है, आत्माको जाननेवाले विद्वान् जिसे सब ज्योतियोंकी ज्योति ऐसा जानते हैं।" वह ज्योतियोंका ज्योति कैसे है ? इस प्रकार प्रश्न उपस्थित होनेपर यह कहा जाता है—"**न तत्र सूर्यो भाति।**" और जो यह कहा था कि सूर्य आदि तेजोंका प्रकाशनिषेध अन्य तेजोधातुमें ही हो सकता है जैसे सूर्य प्रकाशमें अन्य तेज पदार्थोंका निषेध किया जाता है, इसका उत्तर यह है कि यहां तो वही तेजोधातु अन्य नहीं हो सकता है इसका प्रतिपादन किया है, और ब्रह्मसे भी इनका प्रकाशनिषेध हो सकता है, क्योंकि जहांसे जो प्राप्त होता है वह सब ब्रह्मकी ही ज्योतिसे प्राप्त होते हैं, ब्रह्म तो अन्य ज्योतिसे उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि वह तो स्वयं ज्योतिःस्वरूप है, जिससे सूर्य आदि इसमें प्रकाशित होते हैं। ब्रह्म अन्यको अभिव्यक्त करता है, किन्तु ब्रह्म अन्यसे अभिव्यक्त नहीं होता है। इसमें श्रुतियां प्रमाण हैं—"यह ब्रह्म अपनी ही ज्योतिसे स्थित होता है ( बृ० ४।३।६ )" "वह दुष्प्राप्य है, ग्रहण नहीं किया जाता है ( बृ० ४।२।४ )" इत्यादि ॥ २२ ॥

## अपिच स्मर्यते ॥ २३ ॥

और दूसरी बात यह है कि प्राज्ञ आत्माका इस प्रकार स्वरूप होना भगवद्गीतामें स्मरण किया जाता है—'उस ब्रह्मको न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि, जहां जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता है वही मेरा उत्कृष्ट स्थान है ( गी० १५।६ )' जो सूर्यका तेज समस्त जगत्का प्रकाश करता है, और जो तेज चन्द्रमा और अग्निमें है वह तेज मेरा समझो।' ( गी० १५।१२ ) यह छठा अनुकृत्यधिकरण समाप्त हुआ।

## ७ प्रमिताधिकरणम् । सू० २४–२५

### शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते। तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' ( का० २। ४। १३ ) इति च। तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते स किं विज्ञानात्मा किंवा परमात्मेति संशयः। तत्र परिमाणोपदेशात्तावद्विज्ञानात्मेति प्राप्तम्। नह्यनन्तायामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणमुपपद्यते। विज्ञानात्मनस्तूपाधिमत्त्वात्संभवति कयाचित्कल्पनयाङ्गुष्ठमात्रत्वम्। स्मृतेश्च—'अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥' ( म० भा० ३। २९७। १७ ) इति। नहि परमेश्वरो बलाद्यमेन निष्क्रष्टुं शक्यस्तेन तत्र संसार्यङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः स एवेहापीति।

उत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—शब्दात्, 'ईशानो भूतभव्यस्य' इति। नह्यन्यः परमेश्वराद्भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता 'एतद्वै तत्' इति च प्रकृतं पृष्टमिहानुसंदधाति। एतद्वै तद्यत्पृष्टं ब्रह्मेत्यर्थः। पृष्टं चेह ब्रह्म 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' ( का० १। २। १४ ) इति शब्दादेवेशानाभिधानश्रुतेरेवेशान इति परमेश्वरोऽयं

७ प्रमिताधिकरणम् । सू० २४–२५

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

'वह पुरुष अंगूठेके परिमाणवाला है, वह शरीरके बीचमें अर्थात् हृदयमें रहता है।' ऐसा सुना जाता है। तथा 'वह अंगुष्ठपरिमाणयुक्त पुरुष धूमसे रहित ज्योतिःस्वरूपके समान है, भूत और भविष्यतका स्वामी है, वही आज है, वही कल रहेगा, ऐसा वह परमात्मा है ( का० २।४।१३ ) इस प्रकार कठोपनिषद्में सुना जाता है। वहांपर अंगूठेके परिमाणवाला जो पुरुष सुना जाता है वह क्या जीवात्मा है अथवा परमात्मा है, यह सन्देह होता है। यहां परिमाणके उपदेश करनेसे जीवात्माका ही ग्रहण होना सिद्ध होता है, क्योंकि अनन्त, व्यापक, विस्तृत परमात्माका अंगूठेका परिमाण होना सिद्ध नहीं हो सकता है, उपाधियुक्त होनेसे परिच्छिन्न होनेपर जीवात्माका तो अंगुष्ठ परिमाणमात्र होना जिस किसी कल्पनासे संभव हो सकता है, इसमें स्मृतिशास्त्रका प्रमाण है—"सत्यवान्के शरीरसे पाशबद्ध वशमें आये हुवे अंगूठेके परिमाणवाले पुरुषको यमने बलसे निकाल लिया ( म० भा० ३।२९७।१७ )" परमेश्वर यमद्वारा बलपूर्वक नहीं निकाला जा सकता है, इस कारण वहां स्मृतिमें संसारी जीवात्मा ही अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला निश्चित किया गया है, उसी जीवात्माका ग्रहण यहां भी है।

उत्तर—ऐसी प्राप्ति होनेपर हम कहते हैं यह परमात्मा ही अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला हो सकता है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—"शब्दात्" क्योंकि इसमें शब्द प्रमाण है, जैसे—"ईशानो भूत भव्यस्य" परमात्मासे अन्य भूत और भविष्यत्का स्वतन्त्र स्वामी नहीं हो सकता, "एतद्वै तत्" यहां प्रकृत पूछे गये ब्रह्मकाअनुसन्धान होता है, अर्थात् यह वही ब्रह्म है जिसे पूछा था। यहां ब्रह्म ही पूछा गया था—

'जो धर्म और अधर्मसे अन्य तथा पाप और पुण्यसे पृथक् है, तथा भूत और भविष्यत्से अलग जिसे आप देखते हैं उसे कहिये' ( का० १।२।१४ ) इत्यादि। सूत्रमें 'शब्दादेव' जो कहा है उसका अभिप्राय यह है कि इस श्रुतिकथित शब्दप्रमाणसे ही यहां ईशान पदसे परमेश्वरका ग्रहण सिद्ध

गम्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

प्रश्नः—कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इति ?

उत्तरम्—अत्र ब्रूमः—

## हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

सर्वगतस्यापि परमात्मनो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्याङ्गुष्ठमात्रत्वमिदमुच्यते। आकाशस्येव वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्वम्। नह्यञ्जसातिमात्रस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते। न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हतीशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम्।

प्रश्नः—ननु प्रतिप्राणिभेदं हृदयानामनवस्थितत्वात्तदपेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इति ?

उत्तरम्—अत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकारत्वादिति। शास्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाधिकरोति, शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्चेति वर्णितमेतदधिकारलक्षणे ( जै० ६। १ )। मनुष्याणां च नियतपरिमाणः कायः। औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम्। अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः। यदप्युक्तं परिमाणोपदेशात्स्मृतेश्च संसार्येवायमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतव्य इति, तत्प्रत्युच्यते—'स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादिवत्संसारिण एव सतोऽङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमुपदिश्यत इति। द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः,

होता है ॥ २४ ॥

प्रश्न—सर्वव्यापक परमात्माका किस प्रकार परिमाणोपदेश हो सकता है ?

उत्तर—यहां कहते हैं—

## हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

हृदयमें रहनेकी अपेक्षासे सर्वव्यापक परमात्मा भी अंगुष्ठमात्र कहा जाता है, जैसे आकाशका लगभग एक हाथमात्र परिमाण होना वंशपर्व[1] की अपेक्षासे है, न कि सीमारहित परमात्माका झटपट अंगुष्ठमात्रका होना सिद्ध हो सकता है, और यहां परमात्मासे अन्यका ग्रहण नहीं हो सकता है इसमें ईशान आदि शब्द प्रमाण हैं यह कह दिया है।

प्रश्न—प्रत्येक प्राणियोंके भेदसे हृदयोंकी एकसी अवस्था ( अल्पत्व महत्त्वरूपसे ) न रहनेके कारण हृदयापेक्ष भी अंगुष्ठमात्रका होना बनता नहीं है ?

उत्तर—इसलिये उत्तर दिया जाता है कि—'**मनुष्याधिकारत्वात्**'। विशेषरूपसे न कहनेपर भी शास्त्र मनुष्योंको ही ( यज्ञ आदि कर्म करनेके लिये ) अधिकार देता है, कारण कि यज्ञ आदि कर्म करनेको मनुष्य समर्थ होते हैं, इच्छुक होते हैं, निषिद्ध नहीं किये जाते हैं, तथा वेदाध्ययनके लिये उपनयन आदि भी शास्त्र प्रतिपादन करते हैं, इस प्रकार पूर्व मीमांसामें अधिकार लक्षणमें ( जै० ६।१ ) वर्णन किया है, मनुष्योंका शरीर नियत परिमाणवाला होता है, और इनका उचितरूपसे नियत परिमाणयुक्त ही अंगुष्ठमात्र हृदय होता है, इसलिये शास्त्रद्वारा मनुष्य ही अधिकृत किये जानेसे मनुष्योंके हृदयस्थानकी अपेक्षासे परमात्माका अंगुष्ठमात्रका होना सिद्ध होता है। और जो यह कहा था कि परिमाणके उपदेशसे और स्मृति-शास्त्रके प्रमाणसे संसारी जीवात्माको ही अंगुष्ठमात्र जानना चाहिये, इसलिये इसका खण्डन किया जाता है—'हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तुम हो।' इत्यादिकी तरह अंगुष्ठपरिमाणवाले संसारी जीवात्माको ही ब्रह्मत्वका होना उपदेश दिया जाता है। वेदान्तवाक्योंकी प्रवृत्ति दो प्रकारसे होती है,

---

१—बांसका पर्व एक पर्व-गांठसे दूसरी गांठ तक लगभग एक हाथ लम्बा होता है, कोहनीसे छोटी अंगुली तक एक हाथको 'अरत्नि' कहते हैं—अनुवादक।

क्वचित्परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा क्वचिद्विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा । तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते नाङ्गुष्ठमात्रत्वं कस्यचित् । एवमेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतम्' ( का० २ । ६ । १७ ) इति ॥ २५ ॥

## ८ देवताधिकरणम् सू० २६-३३

### तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षया मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तं, तत्प्रसङ्गेनेदमुच्यते । बाढं मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम् । न तु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽस्ति । तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद्ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो मन्यते ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—संभवात् । संभवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणम् । तत्रार्थित्वं तावन्मोक्षविषयं देवादीनामपि संभवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम् । तथा सामर्थ्यमपि तेषां संभवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात् । न च तेषां कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति । न चोपनयनशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत, उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात् । तेषां च स्वयंप्रतिभानवेदत्वात् । अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि

कहीं तो परमात्माके स्वरूपका निरूपण किया है, और कहीं जीवात्माको परमात्मैकत्वका उपदेश दिया है, इसलिये यहां जीवात्माको परमात्माके साथ एकत्वका उपदेश किया है किसीके अगुष्ठमात्र परिमाणको नहीं। इसी अर्थको आगेके वाक्योंसे स्पष्ट करेंगे—'अगुष्ठमात्र परिमाणवाला जो अन्तरात्मा पुरुष है वह सब जनोंके हृदयमें स्थित है उस अन्तरात्माको अपने शरीरसे मुंजसे इषीके जैसे धीरतासे पृथक् खींच लेते हैं वैसे पृथक् करें, और उस अन्तरात्माको शुद्ध अमृत जानें' ( का० २ । ६ । १७ ) यह प्रमिताधिकरण समाप्त हुआ ।

## देवताधिकरणम् । सू० २६-३३

### तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

मनुष्योंके हृदयोंकी अपेक्षासे यह आत्मा अगुष्ठमात्र है, क्योंकि शास्त्र मनुष्योंको अधिकार देता है यह कह दिया है, इस प्रसङ्गमें यह कहा जाता है—शास्त्र मनुष्योंको अधिकार करता है यह ठीक है, किन्तु मनुष्योंको ही ब्रह्मज्ञानमें अधिकार है यह नियम नहीं है । उन मनुष्योंसे ऊपर जितने देव आदि हैं उन्हें भी शास्त्र अधिकार करता है यह बादरायण आचार्य मानते हैं ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—'संभवात्', कारण कि अर्थित्वके—कारण होनेवाले रूपसे उनका भी अधिकार होना संभव हो सकता है, मोक्षविषयक कामनाका होना देवादिकोंका भी संभव हो सकता है, कारण कि विकारयुक्त विषयवासना और ऐश्वर्य आदि सुख भोग सब विनाशवाले देखे जाते हैं. तथा उनका सामर्थ्य होना भी संभव है, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोक प्रमाणोंसे उन देव आदियोंका शरीरधारी होना जाना गया है । उन लोगोंको कोई शास्त्र निषेध नहीं करता है, शास्त्रके उपनयननियमसे उनका अधिकार हटाया नहीं जा सकता, क्योंकि उपनयन तो वेदाध्ययननिमित्त है, ( उनके लिये उपनयन आवश्यक नहीं ) क्योंकि वे वेदोंको स्वयं जाने हुये हैं । और दूसरी बात यह है कि इन लोगोंके विद्याग्रहणनिमित्त ब्रह्मचर्य आदिको श्रुति दिखाती है—

दर्शयति—'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' ( छा० ८ । ११ । ३ ), 'भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्म' ( तै० ३।१ ) इत्यादि। यदपि कर्मस्वनधिकारणमुक्तम्—'न देवानां देवान्तराभावात्' इति, 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' ( जै० ६ । १ । ६,७ ) इति। न तद्विद्यास्वस्ति। नहीन्द्रादीनां विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देशेन किंचित्कृत्यमस्ति। नच भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया। तस्माद्देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते। देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते ॥ २६ ॥

## विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

प्रश्नः—स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत। विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत। तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्। नहीन्द्रादीनां स्वरूपसंनिधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते। नच संभवति। बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानतानुपपत्तेरिति चेत् ?

उत्तरम्—नायमस्ति विरोधः।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—अनेकप्रतिपत्तेः। एकस्यापि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः संभवति।

प्रश्नः—कथमेतदवगम्यते ?

'इन्द्र भी सौ वर्ष तक प्रजापतिके पास ब्रह्मचारी रहे।' ( छा० ८ । ११ । ३ ) "वरुणका पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गये और कहा कि आप ब्रह्मका उपदेश कीजिये ( तै० ३ । १ )" इत्यादि। और जो कर्मोंमें अनधिकारके कारण लिखे हैं जैसे—'वसु आदि देवगण अपने दैवत्य—देवतासम्बन्धी कर्ममें अपने उद्देशसे दानरूप त्याग नहीं कर सकते, क्योंकि वसु आदि देवोंके अन्य वसु आदि देव नहीं होते हैं, न भृगु आदि ऋषि लोग आर्षेय वरणरूप कर्ममें अन्य किसीका वर सकते हैं, क्योंकि भृगु आदि ऋषियोंके अन्य भृग्वन्तर ऋषि नहीं होते हैं' ( जै० ६।१।६–७ ) इसका परिहार यह है कि ( यह निषेध तो कर्मसम्बन्धी अधिकारविषयक है ) न कि ब्रह्मविद्याविषयक निषेध है, इन्द्र आदि देवोंको विद्याओंमें अधिकार देनेपर इन्द्र आदियोंके उद्देशसे कोई कर्तव्य कर्म नहीं होता है, और न भृगु आदि ऋषियोंका भृगु आदि समान गोत्रनामसे कोई विधि होती है। इसलिये देव आदियोंका भी विद्याओंमें अधिकार होना कौन रोक सकता है, देवोंके अधिकारमें भी अपने अंगूठेकी अपेक्षासे अंगुष्ठमात्रका होना विरोध नहीं होता है ॥ २६ ॥

## विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

प्रश्न—अच्छा जाने दो—यदि शरीरधारी होना स्वीकार कर लेनेमें देव आदियोंका विद्याओंमें अधिकार वर्णन किया जाय तो शरीरधारी होनेसे ऋत्विक् आदिके समान इन्द्र आदियोंका भी स्वरूपतः प्रकट होकर कर्मांगभाव स्वीकार करना पड़ेगा, ऐसी अवस्थामें कर्ममें विरोध होगा, इन्द्र आदियोंका स्वरूपतः सन्निहित होकर यज्ञमें अंगभाव ( शामिल ) होना नहीं देखा गया है, न संभव ही हो सकता है, क्योंकि अनेक यज्ञोंमें एकसाथ इन्द्रका स्वरूपतः सन्निहित होना सिद्ध नहीं हो सकता यदि ऐसा मानें ?

उत्तर—यह विरोध नहीं पड़ता।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—'अनेकप्रतिपत्तेः', एक भी देवतात्माका एक साथ अनेक स्वरूपको प्राप्त होजाना संभव हो सकता है।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तरम्—दर्शनात् । तथाहि—'कति देवाः' इत्युपक्रम्य 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति निरुच्य 'कतमे ते' इत्यस्यां पृच्छायाम् 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' ( बृ० ३ । ९ । १,२ ) इति निर्ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य देवतात्मनो युगपदनेकरूपतां दर्शयति । तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडाद्यन्तर्भावक्रमेण 'कतम एको देव इति प्राणः' इति प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यैवैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति । तथा स्मृतिरपि—'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ॥ योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥ प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ॥ संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥' इत्येवंजातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति । किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवानाम् । अनेकरूपप्रतिपत्तिसंभवाच्चैकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छतीति । परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रियायोगादित्युपपद्यते । अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्यापरा व्याख्या—विग्रहवतामपि कर्माङ्गभावचोदनास्वनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते । क्वचिदेकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद्भोज्यते । क्वचिच्चैकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते । तद्वदिहोद्देशपरित्यागात्मकत्वाद्यागस्य विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युगपत्परित्यक्ष्यन्तीति विग्रह-

उत्तर—'दर्शनात्', देखे जाते हैं, जैसे—'कितने देव हैं' इस प्रकार उपक्रम ( आरम्भ ) करके "३०३+३००३=३३०६ इतने देव हैं।' ऐसा कह कर 'वे कौन २ हैं' ऐसे पूछे जाने पर 'इतनी संख्याका होना देवगणोंकी महिमा है, देवगणोंकी निश्चित संख्या तो ३३ ही है।' ( बृ० ३।९।१—२ ) इस प्रकार कहती हुई श्रुति प्रत्येक देवताओंका एक साथ अनेक हो जाना दिखाती है, तथा इन ३३ देवताओंका भी ६ के अन्दर अन्तर्भावके क्रमसे 'वह एक देव कौन सा है ? वह प्राण है।' इस प्रकार देवगणोंका केवल एक प्राणरूप हो जाना दिखाती हुई उसी एक प्राणका एक साथ अनेक होना दिखाती है, तथा स्मृति भी—

'हे भरतश्रेष्ठ ! योगीको योगसिद्धि प्राप्त होनेपर वह अपने अनेक शरीरोंको बना लेते हैं और उन शरीरोंके साथ पृथिवीमें विचरते हैं। किन्हीं शरीरोंसे सुखादि विषयोंको प्राप्त करते हैं और किन्ही शरीरोंसे उग्र-कठोर तप करते हैं, और जैसे सूर्य अपनी किरणोंको फैलाता है उसी प्रकार योगीभी अपने अनेक शरीरोंको विस्तृत करते हैं।'

इस प्रकार अणिमादि ऐश्वर्यप्राप्त योगियोंका भी एकसाथ अनेक शरीरोंके सहित होना दिखाती है, इन स्वभावतः ही सिद्ध हुये देवोंके विषयमें क्या कहा जा सकता है ? इस कारण अनेक रूपोंका होना संभव होनेसे प्रत्येक देवता अपनेको बहुतसे स्वरूपोंमें विभक्त करके बहुतसे यज्ञोंमें एकसाथ अङ्गभाव ( शामिल ) हो सकती है। और उन्हें अन्तर्धान छिप जाना आदि क्रियाओंके कारण अन्य जन देख नहीं सकते। सूत्रस्थ **'अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्'** इसकी दूसरी व्याख्या—शरीरधारी देवताओंके भी कर्माङ्गभावोंकी प्रेरणाओंमें अनेक विचार देखे गये हैं, कहीं एक भी शरीरधारी देव एक स्थानमें एकसाथ उपस्थित नहीं होता, जैसे बहुतोंद्वारा खिलाये जानेपर एक ब्राह्मण एकसाथ नहीं खिलाया जाता, कहीं एक भी शरीरधारी देव एक स्थानमें एकसाथ उपस्थित होता है, जैसे बहुतोंद्वारा नमस्कार किये जानेपर एक ब्राह्मण एकसाथ नमस्कार किया जाता है। इसी प्रकार यहां किसीके उद्देशसे हवि आदि द्रव्योंका त्याग करना यज्ञ होता है, इस कारण शरीरधारी एक भी देवताको उद्देश करके बहुतसे लोग अपनी२ दातव्य वस्तुओंको एक साथ छोड़ सकेंगे। इसलिये देवताओंके शरीरधारी होनेपर भी

वत्त्वेऽपि देवतानां न किंचित्कर्मणि विरुध्यते ॥ २७ ॥

**शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥**

मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधः प्रसञ्जि । शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत ।

प्रश्नः—कथम् ?

उत्तरम्—औत्पत्तिकं हि शब्दस्यार्थेन संबन्धमाश्रित्य 'अनपेक्षत्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम् । इदानीं तु विग्रहवती देवताभ्युपगम्यमाना यद्यप्यैश्वर्ययोगाद्युगपदनेककर्मसंबन्धीनि हवींषि भुञ्जीत तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवज्जननमरणवती सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये संबन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति चेत् ।

कर्ममें कुछ विरोध नहीं होता है ॥ २७ ॥

(हृदयपरिमाणोक्त विरोध और देवताओंका शास्त्रोंमें अधिकारका विरोध तथा उनका यज्ञोंमें कर्माङ्गभाव होनेके विरोधोंका परिहार हो चुका । अब यहांसे आगे प्रकरणसङ्गतिसे नित्य वेदप्रामाण्यके विरोधका परिहार तथा शब्दके स्फोटवादका खण्डन और वर्णवादकी स्थापना की जाती है ।)

**शब्द[1] इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥**

देवताओंके शरीरधारी माने जानेपर कर्मविधिमें किसी विरोधका प्रसंग न हो तो न सही, शब्दमें तो विरोधका प्रसंग होगा ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—शब्दका अर्थके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध आश्रित करके **'अनपेक्षत्वात्'** इससे वेदका प्रामाण्य स्थापित किया है, अब तो देवताओंके शरीरधारी माने जानेपर यद्यपि देवगण ऐश्वर्य सम्पत्तिके कारण एकसाथ अनेक कर्मसम्बन्धी हवियोंको खा सकते हैं, तथापि शरीरधारी होनेसे देवगण भी हम लोगोंके तुल्य जन्म-मरण धर्मवाले होंगे, इसलिये नित्य शब्दका नित्य अर्थके साथ नित्य सम्बन्ध सिद्ध होनेपर जो वैदिक शब्दमें प्रामाण्य स्थापन किया था उसका विरोध होगा ।

१—सूत्रस्थ **'शब्दे इति चेत्'** इस शङ्काग्रन्थको भामतीकार इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—गोत्व आदि शब्दोंके तुल्य पूर्वावमर्श ( पहलेकी प्रत्यभिज्ञा ) न होनेसे एक भी आकृतिकी प्रतीति नहीं होती, इसलिये पाचक आदि और आकाश आदि शब्दसमान वसु आदि शब्द व्यक्तिवाचक ही हैं, व्यक्तिके नित्य होनेसे उसके साथ सम्बन्ध नित्य होगा, वसु आदि देवोंका शरीरधारी होनेपर तो सावयव होनेके कारण वे अनित्य सिद्ध होंगे, शरीरधारी होनेसे पूर्व वसु आदि शब्दोंका स्वार्थके साथ सम्बन्ध नहीं था, कारण कि उस समय स्वार्थका ही अभाव था, और जब वसु आदि शब्द उत्पन्न हुवे तब वसु आदि शब्दोंका सम्बन्ध उत्पन्न होता हुआ देवदत्त आदि शब्दोंके सम्बन्धके समान पुरुषबुद्धिसे उत्पन्न होगा, पुरुषबुद्धिपूर्वक वाक्यार्थज्ञान भी पुरुषबुद्धिके अधीन होगा, पुरुषबुद्धि प्रमाणान्तराधीन होकर उत्पन्न होती है, प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होनेसे वेदका प्रामाण्य विरोध होगा, यह शङ्काका अभिप्राय है, इसका उत्तर देते हैं—**न, अतः प्रभवात्**—भामती ।

सूत्र भाष्य और टीकाकारका अभिप्राय यह है कि जब कि वेद नित्य हैं तो वेदविहित कर्म भी तीनों कालोंसे अविच्छिन्नरूपसे सम्बन्ध रहेगा, देवताओंको शरीरधारी माननेपर उनका शरीर जन्म-मरणरूपसे अनित्य होनेके कारण उन देवताओंके साथ वेदविहित कर्मोंका नित्य सम्बन्ध न रहेगा, इसलिये वैदिक कर्ममें वेदप्रामाण्यका विरोध होगा—**अनुवादक ।**

प्रत्युत्तरम्—नायमप्यस्ति विरोधः ।
प्रश्नः—कस्मात् ?
प्रत्युत्तरम्—अतः प्रभवात् । अतएव हि वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकं जगत्प्रभवति ।
प्रश्नः—ननु 'जन्माद्यस्य यतः' ( ब्र० १ । १ । २ ) इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितं, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते । अपिच यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः, यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्था अनित्या एवोत्पत्तिमत्त्वात् । तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते । प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति । तस्माद्विरोध एव शब्द इति चेत् ?
प्रत्युत्तरम्—न । गवादिशब्दार्थसंबन्धनित्यत्वदर्शनात् । नहि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात् । द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते नाकृतयः । आकृतिभिश्च शब्दानां संबन्धो न व्यक्तिभिः । व्यक्तीनामानन्त्यात्संबन्धग्रहणानुपपत्तेः । व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते । तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम् । आकृतिविशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः । स्थानविशेषसंबन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत् । ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधिरोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो

( इतना पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है अब सिद्धान्तीका प्रतिसमाधान ) ।
प्रत्युत्तर—यह भी विरोध नहीं पड़ता ।
प्रश्न—कैसे ?
प्रत्युत्तर—'**अतः प्रभवात्**' इसी कारण वैदिक शब्दसे देव आदि जगत् उत्पन्न होता है ।
प्रश्न—"**जन्माद्यस्य यतः ( ब्रह्म० १।१।२ )**" यहां ब्रह्मसे जगत् उत्पन्न होना निश्चय किया गया, यहां कैसे शब्दसे उत्पन्न होना कहा जाता है ? और दूसरी बात यह है कि यदि वैदिक शब्दसे जगत्का उत्पन्न होना स्वीकार किया जाय तो क्यों इतने मात्रसे शब्दमें विरोधका परिहार किया गया, जब कि वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेव, और मरुत् ये व्यक्ति उत्पत्ति धर्मवाले होनेसे अनित्य ही हैं, इनके अनित्य होनेपर उन शब्दोंके वाचक वैदिक वस्वादिशब्दोंका अनित्य होना कौन रोक सकता है ? यह लोकमें प्रसिद्ध है कि देवदत्तके पुत्र उत्पन्न होनेपर उसका यज्ञदत्त नाम किया जाता है, इसलिये शब्दमें विरोध ही है यदि ऐसा माना जाय ?
प्रत्युत्तर—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि गौ आदि शब्दोंका अर्थके साथ नित्य सम्बन्ध देखा गया है, गौ आदि व्यक्तियोंके उत्पत्ति धर्मवाले होनेपर उनकी आकृतियोंका भी उत्पत्तिमत्त्व होना सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि द्रव्य गुण-कर्मोंकी व्यक्ति ही उत्पन्न होती है आकृति जाति नहीं। आकृतियोंके साथ ही शब्दोंका सम्बन्ध है न कि व्यक्तियोंके साथ, कारण कि व्यक्तियां अनन्त होती हैं, इसलिये सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता है । व्यक्तियोंके उत्पन्न होनेपर भी आकृतियोंके नित्य होनेसे गौ आदि शब्दोंमें कोई विरोध नहीं दीखता है, वैसे ही देवादि व्यक्तियोंका उत्पन्न होना स्वीकार करनेपर भी आकृति नित्य होनेसे वस्वादि शब्दोंमें कोई विरोध नहीं होता है यह देखना चाहिये । आकृतिविशेष तो मन्त्र और अर्थवाद आदिद्वारा देव आदियोंका शरीरित्व ज्ञापन करनेसे जान लेना चाहिये । स्थानविशेषके सम्बन्ध निमित्तसे ही इन्द्र आदि शब्द होते हैं, जैसे सेनापति आदि शब्द, तब तो जो२ उन२ स्थानोंपर पहुंचता है वह२ इन्द्र आदि शब्दोंसे कहा जाता है, इसलिये कोई दोष नहीं आता । जो शब्दसे उत्पन्न

भवति। नचेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणाभिप्रायेणोच्यते।

प्रश्नः—कथं तर्हि स्थिते वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थसंबन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिः?

प्रत्युत्तरम्—अतः प्रभव इत्युच्यते।

प्रश्नः—कथं पुनरवगम्यते शब्दात्प्रभवति जगदिति?

प्रत्युत्तरम्—प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः। 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुतिः। तथान्यत्रापि

होना कहा गया है वह ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके समान उपादान कारणके अभिप्रायसे नहीं कहा जाता है।

प्रश्न—तो कैसे वाचकरूपसे शब्द नित्य होनेपर और शब्दका अर्थके साथ नित्य सम्बन्ध सिद्ध होनेपर शब्दोंसे व्यवहारयोग्यरूपसे अर्थ और व्यक्तियोंका उत्पन्न होना कहा जाता है?

प्रत्युत्तर—शब्दोंसे उत्पन्न होना कहा जाता है।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि शब्दसे जगत् उत्पन्न होता है?

प्रत्युत्तर—प्रत्यक्ष और अनुमानसे, श्रुति प्रत्यक्ष है, क्योंकि श्रुतिके प्रमाणत्वमें किसीकी अपेक्षा नहीं होती, स्मृति अनुमान है, क्योंकि स्मृति अपने प्रमाणत्वमें श्रुतिकी अपेक्षा करती है। ये श्रुति और स्मृति शब्दपूर्वक ही सृष्टिको दिखाती हैं, जैसे—'प्रजापतिने 'एते'[1] ऐसा कहकर देवोंको उत्पन्न किया, 'असृग्रम्' ऐसा कह कर, मनुष्योंको, 'इन्दव' ऐसा स्मरण कर पितरोंको, 'तिरः पवित्रम्' ऐसा स्मरण कर ग्रहोंको, 'आशव' ऐसा स्मरण कर स्तोत्रको, 'विश्वानि' ऐसा स्मरण कर शास्त्रको, और 'अभिसौभग' ऐसा स्मरण कर अन्य प्रजाओंको उत्पन्न किया।' तथा और जगह भी कहा है:—

[1]—"एते, असृग्रम्, इन्दवः, तिरःपवित्रम्, आशवः, विश्वानि, अभिसौभगा" इत्यादि मन्त्रस्थ पदोंसे स्मरण कर प्रजापति ब्रह्माने देव आदियोंको उत्पन्न किया। मन्त्रमें 'एते' यह पद सन्निहितवाचक सर्वनाम होनेसे देवोंका स्मारक है। 'असृक्'—रुधिर ( खून ) को कहते हैं, रुधिरप्रधान देहमें मनुष्य रमण करते हैं इस कारण मनुष्य 'असृग्र' कहे जाते हैं। चन्द्रस्थित पितरोंका 'इन्दु' शब्द स्मारक है। पवित्र सोमको मनमें तिरस्कार करनेवाले ग्रहोंका 'तिरःपवित्र' शब्द स्मारक है। ऋचाएं व्यास होनेवाले गीतिरूप स्तोत्रोंका 'आशु' शब्द स्मारक हैं, इसी कारण श्रुतिमें सामगान ऋक्संयुक्त है' ऐसा कहा जाता है। स्तोत्रके पश्चात् प्रयोगमें प्रवेश करनेवाले शास्त्रोंका 'विश्व' शब्द स्मारक है। सर्वत्र सौभाग्य ऐश्वर्यसे युक्त होनेवाली प्रजाओंका स्मारक शब्द 'अभिसौभग' है, यह छन्दोगब्राह्मणका वाक्यार्थ है—रत्नप्रभाव्याख्या तथा आनन्दगिरीय व्याख्या।

इस भाष्यपर जार्ज थीवो अपने इंग्लिश अनुवादमें लिखते हैं।

Thus a Scriptural passage says, 'At the word those Prajapati created the gods; at the words were poured out he created men; at the word drops he created the fathers; at the words through the filter he created the soma cups; at the words the swift ones he created the stotra; at the words to all he created the shastra, at the word blessings he created the other beings. ( P. 203 ) प्रोफेसर थीवोने मन्त्रस्थ 'एते' 'असृग्रम्' आदियन्दोंकी व्याख्या अपने अनुवादमें नहीं की है—अनुवादक।

'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' ( बृ० १।२।४ ) इत्यादिना तत्रतत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते । स्मृतिरपि—'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥' इति उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः, अनादिनिधनाया अन्यादृशस्योत्सर्गस्यासंभवात् । तथा 'नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥' ( मनु० १ । २१ ) इति । 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥' इति च । अपिच चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान्ससर्जेति गम्यते । तथाच श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरत्स भूमिमसृजत' ( तै० ब्रा० २ । २ । ४ । २ ) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान्सृष्टान्दर्शयति ।

प्रश्नः-वर्णवादी—किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते ?

उत्तरम्-स्फोटवादी—स्फोटमित्याह । वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः

[1]"प्रजापतिने मनके साथ वाणीको मिथुनभाव—द्वित्वको प्राप्त कराया. ( बृ० १।२।४)"

इत्यादि श्रुति वहां२ शब्दपूर्वक ही सृष्टि सुनाती है एवं स्मृति भी:—"स्वयंभू परमात्माने अनादि और अविनाशी नित्य वाणीको प्रकट किया, जो कि सृष्टिके आदिमें वेदरूपमें नित्य थी, और जहांसे ये सब प्रवृत्तियां हुई ।" वाणीकी उत्पत्ति भी गुरुशिष्यपरम्परासे प्रचलित स्वरूप देखना चाहिये. क्योंकि उस अनादि अविनाशी वाणीकी उत्पत्ति अन्य प्रकारसे होना संभव नहीं, 'उस महेश्वर परमात्माने सृष्टिके आरम्भमें सब प्राणियोंके नाम और रूपको, और उनको उन२ कर्मोंमें प्रवृत्त करना वेदशब्दोंसे ही किया था ( मनु० १।२१ ) तथा 'उसने सबके नाम, पृथक२ कर्म और संस्थायें सृष्टिके आदिमें वेदशब्दोंसे ही उत्पन्न किया था ।' और दूसरी बात यह है कि इच्छित कार्य करते हुवे उसके वाचक शब्दको पूर्व स्मरण कर पीछे उस कर्मका अनुष्ठान करना यह हम सबोंको प्रत्यक्ष ही है, तथा स्रष्टा प्रजापतिके भी मनमें सृष्टिसे पूर्व वैदिक शब्द उत्पन्न हुवे थे, पीछे उन शब्दोंसे प्रकट हुवे पदार्थोंको उत्पन्न किया ऐसा प्रतीत होता है, इसमें श्रुतियां प्रमाण हैं:—

"उस परमात्माने 'भूः' ऐसा कहा, तब भूमिको उत्पन्न किया ( तै० ब्रा० २।२।४।२ )" इस प्रकारकी श्रुति भूः आदि शब्दोंसे ही मनमें उत्पन्न हुवे भूः आदि लोकोंका बनना दिखाती है ।

प्रश्न-वर्णवादी—किस प्रकारके शब्दको मानकर यह कहा जाता है कि यह जगत् शब्दसे उत्पन्न हुवा ?

उत्तर-स्फोटवादी—(एकदेशीय आचार्यका सिद्धान्त) यह स्फोट[2] है। वर्णपक्षमें वर्णोंके उत्पन्न और

---

१—उस प्रजापति ब्रह्माने मनके साथ वाणीको (वेदको) मिथुनभाव—द्वित्वको प्राप्त कराया; अर्थात् त्रयी—वेदद्वारा प्रकाशित सृष्टिको मनमें विचार किया यह भाव है—**रत्नप्रभा-आनन्दगिरीय व्याख्या** ।

२—जिसके उच्चारण किये जानेपर अर्थमें बाध और उपाधि-दोष न हो, जो पद और वाक्यमें गोचर होता हो, जो कोई एक अर्थको प्रकाशित करे, और जो वर्णसे अतिरिक्त एक वाचकको अवलम्बन करता है वह स्फोट है—**भामती** ।

यह ध्यान रहे कि शब्दविषयमें दो पक्ष हैं एक नित्यवादी और दूसरा अनित्यवादी । दार्शनिकोंमें नैयायिकोंको छोड़कर शेष सब दर्शनकार और वैयाकरण शब्दोंको नित्य मानते हैं । नित्यवादियोंमें भी

( शेष पृष्ठ १६६ पर )

शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यनुपपन्नं स्यात् । उत्पन्नध्वंसिनश्च वर्णाः, प्रत्युच्चारणमन्यथा चान्यथा च प्रतीयमानत्वात् । तथाहि—अदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते देवदत्तोऽयमधीते यज्ञदत्तोऽयमधीते इति । नचायं वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो मिथ्याज्ञानं, बाधकप्रत्ययाभावात् । नच वर्णेभ्योऽर्थावगतिर्युक्ता । न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत, व्यभिचारात् । नच वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवत्त्वाद्वर्णानाम् ।

प्रश्नः-वर्णवादी—पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति यद्युच्येत ?

उत्तरम्-स्फोटवादी—तन्न । संबन्धग्रहणापेक्षो हि शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेद्धूमादिवत् । नच पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति, अप्रत्यक्षत्वात्संस्काराणाम् ।

प्रश्नः-वर्णवादी—कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत् ?

उत्तरम्-स्फोटवादी—न । संस्कारकार्यस्यापि स्मरणस्य क्रमवर्तित्वात् । तस्मात्स्फोट एव शब्दः । स चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्ये-

नाश होनेसे नित्य शब्दोंसे देवादि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति हुई यह कहना नहीं बन सकता, वर्ण उत्पन्न और नष्ट होते हैं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारणमें वर्ण अन्यथा२ प्रतीत होते हैं, जैसे—कोई पुरुषविशेष अदृश्य होनेपर भी अध्ययन-ध्वनिके सुननेसे ही विशेषरूपसे निश्चय हो जाता है कि यह देवदत्त पढ़ता है, यह यज्ञदत्त पढ़ता है । और यह वर्णविषयक अन्यथा बोध करानेवाले मिथ्याज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि इसमें बाधक ज्ञान नहीं होता है, और न वर्णोंसे अर्थका बोध होना युक्त है, न प्रत्येक वर्ण अर्थका बोध करा सकता है, क्योंकि इसमें नियम नहीं हो सकता, और न वर्णसमुदायसे अर्थका ज्ञान हो सकता है, क्योंकि वर्ण क्रमपूर्वक होते हैं ।

प्रश्न-वर्णवादी—यदि यह कहा जाय कि पूर्व२ वर्णोंका अनुभवजन्य संस्कारसहित अन्त्य वर्ण अर्थको बोध करावेगा ?

उत्तर-स्फोटवादी—यह नहीं हो सकता, शब्द सम्बन्धग्रहणको अपेक्षा करता है, वह स्वय प्रतीयमान होकर अर्थज्ञान कराता है जैसे धुवां आदि कराते हैं, पूर्व२ वर्णोंके अनुभवजन्य संस्कारसहित अन्त्य वर्णकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि संस्कार प्रत्यक्ष नहीं होते हैं ।

प्रश्न-वर्णवादी—यदि यह मान लें कि—कार्यको बोध करानेवाले संस्कारोंके सहित अन्त्य वर्ण अर्थको जनावेगा ?

उत्तर-स्फोटवादी—यह ठीक नहीं, क्योंकि संस्कारकार्यका स्मरण भी क्रमवाला होता है, इसलिये स्फोट ही शब्द है । प्रत्येक वर्णज्ञानद्वारा जिसमें संस्कारका बीज जमा हुआ है, जिसमें अन्त्यके वर्णज्ञानसे परिपाक अर्थात् अन्तिम संस्कार उत्पन्न होगया है, ऐसे ज्ञानवाले चित्तमें वह स्फोट शब्द

---

दो पक्ष हैं, एक स्फोटवादी और दूसरा वर्णवादी, यहां वेदान्तभाष्यमें शङ्कराचार्यजीने एकदेशी आचार्यके स्फोटवादका खण्डन किया है, और सिद्धान्तपक्ष वर्णवादको रखा है । इन दोनों पक्षोंकी युक्तियोंपर विचार करनेसे दोनोंके सिद्धान्तोंमें विशेष भेद नहीं पड़ता, बहुत देर तक विवाद हुआ, किन्तु आखिरमें केवल गुरु और लघु कल्पनाके भेदसे निर्णय हुआ—अनुवादक ।

कप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते। नचायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः। वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः । तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम् । भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात् । तस्मान्नित्याच्छब्दात्स्फोटरूपादभिधायकात्क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति ।

प्रत्युत्तरम्-वर्णवादी—'वर्णा एव तु न शब्दः' इति भगवानुपवर्षः ।

प्रश्नः-स्फोटवादी—ननूत्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तम् ?

प्रत्युत्तरम्—वर्णवादी—तन्न । त एवेति प्रत्यभिज्ञानात् ।

प्रश्नः स्फोटवादी—सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विवेति चेत् ?

प्रत्युत्तरम्-वर्णवादी—न । प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः ।

प्रश्नः स्फोटवादी—प्रत्यभिज्ञानमाकृतिनिमित्तमिति चेत् ?

प्रत्युत्तरम् वर्णवादी—न । व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात् । यदि हि प्रत्युच्चारणं गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तयः प्रतीयेरंस्तत आकृतिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात् । नत्वेतदस्ति । वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते । द्विर्गोशब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर्न तु द्वौ गोशब्दाविति ।

प्रश्नः-स्फोटवादी—ननु वर्णा अप्युच्चारणभेदेन भिन्नाः प्रतीयन्ते देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययनध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम् ?

प्रत्युत्तरम्-वर्णवादी—अत्राभिधीयते—सति वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने संयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वाद्वर्णानामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न

निश्चितार्थविषयरूपसे झट प्रकाशित होता है, वह निश्चितार्थ ज्ञान वर्णविषयक स्मृति नहीं है, क्योंकि वर्ण अनेक होनेसे एक निश्चितार्थक नहीं हो सकते, प्रत्येक उच्चारणमें स्फोट शब्दकी प्रत्यभिज्ञा होती है, इसलिये वह नित्य है, भिन्नार्थ प्रतीत होना वर्णविषयक है, इस कारण नित्य स्फोटरूप शब्दसे क्रिया कारक और इनका फल इन लक्षणयुक्त जगत्पदवाच्य वस्तु उत्पन्न होता है।

( इतना स्फोटवादीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीके स्फोटवादका खण्डनरूप प्रतिसमाधान ।)

प्रत्युत्तर वर्णवादी—वर्ण ही तो शब्द है, ऐसा भगवान् उपवर्ष मानते हैं ।

प्रश्न-स्फोटवादी—वर्ण उत्पन्न और नष्ट होते हैं यह हमने कहा था ?

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि वे ही ये वर्ण हैं ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है ।

प्रश्न-स्फोटवादी—सादृश्यसे प्रत्यभिज्ञा होती है जैसे केश नख बाल आदियोंमें समानतासे प्रत्यभिज्ञा होती हैं ( यद्यपि केश वे ही नहीं होते ) यदि यह माना जाय ?

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—यह ठीक नहीं, प्रत्यभिज्ञाको प्रमाणान्तरसे बाध करना उचित नहीं ।

प्रश्न-स्फोटवादी—प्रत्यभिज्ञा आकृतिनिमित्तसे होती है ?

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—यह भी नहीं, क्योंकि व्यक्तिकी प्रत्यभिज्ञा होती है, यदि प्रत्येक उच्चारणमें गौ आदि व्यक्तिकी तरह अन्य २ वर्णव्यक्तियां भी प्रतीत होती हों तो आकृतिनिमित्तक प्रत्यभिज्ञा होती, ऐसी तो होती नहीं है, प्रत्येक उच्चारणमें वर्णव्यक्तियोंकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है, दो बार गौ शब्द उच्चारण किया गया है ऐसी प्रतीति होती है न कि दो गौ शब्द हैं ऐसा ज्ञान होता है ।

प्रश्न-स्फोटवादी—वर्ण भी तो उच्चारणभेदसे भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि देवदत्त और यज्ञदत्तके अध्ययनध्वनिको सुननेसे ही भेद प्रतीत होता है, यह हमने कहा था ?

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—यहां कहा जाता है—वर्णविषयक प्रत्यभिज्ञा निश्चित होनेपर वर्ण संयोग और विभागसे अभिव्यक्त होनेके कारण अभिव्यञ्जक ( शब्दोंको प्रकट करने वाले ) की विचित्रताके निमित्तसे

स्वरूपनिमित्तः। अपिच वर्णव्यक्तिभेदवादिनापि प्रत्यभिज्ञानसिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः तासु च परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तद्वरं वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः स्वरूपनिमित्तं च प्रत्यभिज्ञानमिति कल्पनालाघवम्। एष एव च वर्णविषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधकः प्रत्ययो यत्प्रत्यभिज्ञानम्।

प्रश्नः-स्फोटवादी—कथं ह्येकस्मिन्काले बहूनामुच्चारयतामेक एव सन्गकारो युगपदनेकरूपः स्यात्—उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च सानुनासिकश्च निरनुनासिकश्चेति?

प्रत्युत्तरम्-वर्णवादी—अथवा ध्वनिकृतोऽयं प्रत्ययभेदो न वर्णकृत इत्यदोषः।

प्रश्नः-स्फोटवादी—कः पुनरयं ध्वनिर्नाम?

प्रत्युत्तरम्-वर्णवादी—यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति। प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः, वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। एवंच सति सालम्बना उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति। इतरथा हि वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात्संयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषाः कल्प्येरन्। संयोगविभागानां चाप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसितुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः। अपिच नैवैतदभिनिवेष्टव्यमुदात्तादिभेदेन वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेदिति। नह्यन्यस्य भेदेनान्यस्याभिद्यमानस्य भेदो भवितु

यह नानात्वप्रत्यय विचित्र प्रतीति ऐसा है, न कि स्वरूपनिमित्तक। और दूसरी बात यह है कि वर्णव्यक्तिको भिन्न कहनेवाले (स्फोटवादी) को भी प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धिके लिये वर्णोंकी आकृतियोंकी कल्पना करनी पड़ेगी, उनमें कल्पित वर्णाकृतियोंमें अन्याश्रित भेदप्रतीति होती है ऐसी स्वीकृति करनी होगी; इस कल्पना यह अच्छा है कि वर्णव्यक्तियोंमें ही अन्याश्रित भेदप्रतीति होती है, और प्रत्यभिज्ञा भी वर्णोंके स्वरूपनिमित्तक होती है, इसमें कल्पनालाघव है अर्थात् कम कल्पनासे काम निकलता है। यही वर्णविषयक भेदप्रतीतिका बाधक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है।

प्रश्न-स्फोटवादी—प्रत्यभिज्ञाका खण्डन करते हैं—तो यह बतलाओ कि एक समयमें बहुत लोगोंसे उच्चारण किये जाने पर एक ही गकार एकसाथ अनेक गकाररूप कैसे हो जाता है? एवं एक ही वर्ण उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक कैसे हो जाता है? (इसलिये यह वर्ण वही है इस प्रकार कैसे प्रत्यभिज्ञा हो सकती है।)

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—अथवा ध्वनिकृत यह भेद प्रतीति है वर्णकृत नहीं।

प्रश्न-स्फोटवादी—यह ध्वनि क्या है?

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—ध्वनि वह है जो दूरसे सुन कर वर्णविशेषकी प्रतीति न होनेवाले मनुष्यके कानोंमें सुनाई देती है, और समीप जानेवाले पुरुषको वर्णोंमें तीव्र और कोमलत्व भेदको प्रकट करती है। उसी ध्वनिकृत ही उदात्त आदि विशेष हैं, न कि वर्णस्वरूपके कारण, क्योंकि प्रत्येक उच्चारणमें वर्णोंकी प्रत्यभिज्ञा होती है, (इसलिये प्रत्यभिज्ञाका खण्डन करना उचित नहीं) ऐसा ध्वनिकृत भेद मान लेनेपर उदात्त आदिकी प्रतीति किसीके आधारपर होगी, क्योंकि यदि किसी आधारको न मान तो वर्णोंकी प्रत्यभिज्ञा होनेपर भेदप्रतीति न होनेसे उदात्तादिविशेष संयोगविभागकृत है ऐसी कल्पना की जाती, संयोग विभागोंके प्रत्यक्ष न होनेसे वर्णोंमें संयोगविभागाश्रित विशेषता है ऐसा निश्चय नहीं कर सकते हैं, इसलिये उदात्तादिकी प्रतीति निरालम्बन ही होती। और दूसरी बात यह है कि यह निश्चय नहीं कर लेना चाहिये कि उदात्त आदिके भेदसे प्रत्यभिज्ञा होने वाले वर्णोंका भेद है,

महंति । नहि व्यक्तिभेदेन जातिं भिन्नां मन्यन्ते । वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः संभवा-त्स्फोटकल्पनानर्थिका ।

प्रश्नः-स्फोटवादी—न कल्पयाम्यहं स्फोटं प्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि, एकैकवर्णग्रहणाहितसंस्कारायां बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासनादिति चेत् ?

प्रत्युत्तरम्-वर्णवादी—न । अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात् । एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया नार्थान्तरविषया ।

प्रश्नः-स्फोटवादी—कथमेतदवगम्यते ?

प्रत्युत्तरम्-वर्णवादी—यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते नतु दकारादयः । यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन् । नतु तथास्ति । तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः ।

प्रश्नः-स्फोटवादी—नन्वनेकत्वाद्वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तम् ?

प्रत्युत्तरम्-वर्णवादी—तत्प्रतिब्रूमः—संभवत्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वं, पङ्क्तिर्वनं सेना शतं सहस्रमित्यादिदर्शनात् । या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः, सा बहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थावच्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनसेनादिबुद्धिवदेव ।

प्रश्नः-स्फोटवादी—अत्राह—यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात् । त एव हि वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति ?

प्रत्युत्तरम्-वर्णवादी—अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव

...

क्योंकि प्रत्येक भेदसे व्यक्ति प्रतिभासका भेद नहीं हो सकता, व्यक्तिभेदसे जाति भिन्न नहीं मानी जाती, इसलिए वर्णोंसे अर्थ प्रतीति के संभव होनेसे स्फोटकी कल्पना करना अनर्थ ही है ।

प्रश्न-स्फोटवादी—स्फोटकी कल्पना नहीं करता हूं, किन्तु प्रत्यक्ष ही तो इस स्फोटको जानता हूं, क्योंकि प्रत्येक वर्णोंके ग्रहणसे संस्कृत होनेवाली बुद्धिमें झट यह स्फोट स्फुट हो जाता है ?

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—यह भी बात नहीं है, बुद्धिमें इस प्रकारका भासमान होना भी वर्णविषयक ही है, प्रत्येक वर्णको ग्रहण कर लेनेपर ही यह एक बुद्धि 'गौ' इस प्रकारकी समस्त वर्णविषयक होती है, और अर्थान्तरविषयक नहीं ।

प्रश्न-स्फोटवादी—यह कैसे जानी जाती है ?

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—क्योंकि 'गौ' इस प्रकारकी बुद्धिमें भी गकारादि वर्णोंकी ही अनुवृत्ति होती है, न कि दकार आदि वर्णोंकी, यदि गकार आदि वर्णोंसे अन्य अर्थान्तर इस बुद्धिका स्फोट विषय हो तो दकार आदि वर्णोंके तुल्य गकार आदि वर्ण भी इस बुद्धिसे व्यावृत्त—पृथक् हो जाते, ऐसा तो नहीं होता, इस कारण इस प्रकारकी एक बुद्धि होना वर्णविषयक स्मृति ही है ।

प्रश्न-स्फोटवादी—यह जो हमने कहा था कि वर्ण अनेक होनेसे एक बुद्धिका विषय होना बनता नहीं ?

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—अच्छा, इसका खण्डन करते हैं—अनेकोंकी भी एक बुद्धिका विषय होना संभव है, जैसे—पंक्ति, वन, सेना, सौ, हजार इत्यादि अनेकोंका एक होना देखा जाता है, और जो 'गौ यह शब्द है' ऐसी बुद्धि होती है वह बहुतसे वर्णोंमें ही एक अर्थावच्छेद—( अर्थनिश्चय ) को अवलम्बन करने वाली औपचारिक होती है, जैसे वन, सेना आदियोंमें एक बुद्धि ही होजाती है ।

प्रश्न-स्फोटवादी—यदि समस्तरूपसे एक बुद्धिविषयत्वको प्राप्त होने वाले वर्ण ही पद हों तो 'जारा—राजा, कपि—पिक' इत्यादि पदोंमें पदविशेषका ज्ञान न होगा, क्योंकि वे ही वर्ण इधर उधर प्रकट हो रहे हैं !

प्रत्युत्तर-वर्णवादी—यहां कहते हैं—समस्त वर्णोंमें प्रत्यवमर्श ( स्मृति ) होनेपर भी जैसे क्रमानुसार चलने-

पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति। एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोहयन्ति। तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते। वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषसंबन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनां लघीयसी कल्पना। स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्, अथापि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिज्ञालम्बनभावेन वर्णसामान्यानामवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद्या वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता सा सामान्येषु संचारयितव्या। ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् ॥२८॥

## अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अतः प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति—अत एव च नित्यत्वमिति। अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद्वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्। तथा च मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु

वाली चींटियाँ ही पंक्तिको प्राप्त करती हैं, वैसे क्रमको अवलम्बन करनेवाले वर्ण ही पदबुद्धिको प्राप्त कराते हैं, उसमें उक्त वर्ण—राजा आदि पदोंमें वर्णोंकी विशेषता न रहनेपर भी विशेष क्रमनिगमनिहित पदविशेषका ज्ञान होना विरोध नहीं पाता। तथा वृद्धजनोंके व्यवहारमें क्रम आदिको स्वीकार किये हुए और अर्थविशेषसम्बन्धको लिये हुए यह वर्ण व्यवहारमें भी प्रत्येक वर्णग्रहणके पश्चात् समस्त वर्णोंका आकलन करनेवाली बुद्धिमें उसी प्रकार प्रतिभासमान होकर उस उस अर्थको निर्विवादरूपसे बोध करावेंगे, इस प्रकार वर्णवादियोंकी कल्पना अत्यन्त लघु है। स्फोटवादियोंके पक्षमें तो दृष्टहानि और अदृष्टकी कल्पना है, इनके मतमें ये क्रमानुसार वर्ण स्फोटको प्रकट करते हैं और स्फोट अर्थको प्रकट करता है इस प्रकार स्फोटवादीकी अत्यन्त गुरु कल्पना होगी। और यद्यपि प्रत्येक उच्चारणमें अन्य अन्य वर्ण होते हैं तो होवें, तथापि प्रत्यभिज्ञाके आश्रयसे वर्णसामान्य (वर्णोंकी जाति) अवश्य स्वीकार करने योग्य होनेके कारण जो वर्णोंमें अर्थबोध करानेकी रीति रची गयी है वह वर्णसामान्योंमें संचार करनी चाहिये, इस कारण नित्य शब्दोंसे देवादि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति हुई, इसलिये कोई विरोध नहीं पड़ता है ॥ २८ ॥

## अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

स्वतन्त्र कर्ताके स्मरण न किये जानेसे वेदके नित्यत्व सिद्ध होनेपर देवादि व्यक्तियोंके उत्पादक होना स्वीकार किये जानेसे उसके विरोधकी शङ्का कर 'अतः प्रभवात्' इस युक्तिसे परिहार करके उसी सिद्ध हुये वेदनित्यत्वको दृढ करते हैं—'अत एव च नित्यत्वम्', इसीलिये देवताओंकी नियत आकृति होनेसे और जगत् वेदशब्दोंसे उत्पन्न होनेके कारण वेदशब्दमें नित्यत्व भी मान लेना चाहिये, इसमें मन्त्रका भी वर्णन पाया जाता है:—

'याज्ञिकोंने यज्ञकर्मसे ऋषियोंमें प्रविष्ट हुई ग्रहण करने योग्य वाणीको प्राप्त किया।'[1] (ऋ० सं० १०।७१।३)

---

१—यज्ञरूप पुण्य कर्मसे वाणी पदवीयताको अर्थात् वेदद्वारा ग्रहण करने योग्य हुई, तब याज्ञिक लोगोंने ऋषियोंमें प्रविष्ट हुई इस वाणीको प्राप्त किया—वेदान्तकल्पतरु।

प्रविष्टाम्' (ऋ० सं० १०।७१।३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति। वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—'युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा' इति ॥ २९ ॥

## समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥३०॥

प्रश्नः—अथापि स्यात्। यदि पश्वादिव्यक्तिवद्देवादिव्यक्तयोऽपि संतत्यैवोत्पद्येरन्निरुध्येरंश्च ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात्संबन्धनित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत। यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति तदा कथमविरोध इति ?

प्रत्युत्तरम्—तत्रेदमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति। तदापि संसारस्यानादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम्। प्रतिपादयिष्यति चाचार्यः संसारस्यानादित्वम्—'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र० २।१।३६) इति। अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः, एवं कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपीति द्रष्टव्यम्। स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवन्ति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति

इस प्रकार यह श्रुति पूर्वसिद्ध वाणीको प्राप्त होना दिखाती है। वेदव्यास इस प्रकार स्मरण करते हैं—

'महर्षियोंने पहले स्वयंभू भगवानके आदेश प्राप्त होनेपर तपसे युगके अन्तमें छिपे हुए इतिहाससहित वेदोंको प्राप्त किया।' ॥ २९ ॥

( स्फोटवादका खण्डन और वर्णवादका स्थापन यह प्रासङ्गिक प्रकरण समाप्त हो गया, अब फिर वही देवताधिकरणके शब्दप्रामाण्यविषयक प्रश्न तथा प्रत्युत्तर )

## समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

प्रश्न—और यह भी बात होगी—यदि पशु आदि व्यक्तियोंकी तरह देव आदि व्यक्तियां भी उत्पन्न तथा नष्ट होती हों तो अभिधान—किसी व्यक्तिका नाम, अभिधेय—नामसे कहे जानेवाला कोई व्यक्ति, अभिधाता—नाम और व्यक्तिका प्रयोग करनेवाला इन तीनोंके सतत नित्य सम्बन्ध रहनेसे शब्दमें विरोधका परिहार ( खण्डन ) हो जाय तो होने दो, किन्तु जब सब तीनों लोक नाम और रूपसे रहित तथा निर्लेप होकर लयको प्राप्त हो जाते हैं, फिर पीछे नवीनरूपसे उत्पन्न होते हैं, यह श्रुति और स्मृति कहती है, तब कैसे कहते हो कि विरोध नहीं है ?

प्रत्युत्तर—इसलिये यह कहा जाता है—'**समाननामरूपत्वादिति**'। तो भी संसारका अनादि होना मानना ही पड़ेगा, और आचार्य वेदव्यासजी भी संसारका अनादि होना ( **उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च** ब्र० २।१।३६ ) इस सूत्रसे प्रतिपादन करेंगे। अनादि संसारमें जैसे शयन और जागरण ( सोने और जागने ) के लय और उत्पत्ति सुने जानेपर भी पहले जागनेकी तरह पीछे जागनेपर भी व्यवहार होनेसे कोई विरोध नहीं होता, वैसे ही कल्पान्तरकी उत्पत्ति और प्रलयमें भी जान लेना चाहिये। शयन और जागरणके प्रलय और उत्पत्ति सुनी जाती है—

'जब यह सोता हुआ पुरुष कोई स्वप्नको नहीं देखता है और इस पुरुषमें ही प्राण-( इन्द्रियां ) एक हो जाते हैं, तब इस प्राणमें सभी नामोंके सहित वाणी लय हो जाती है, सब रूपोंके साथ आंख लय हो जाती है, सब शब्दोंके साथ कान लय हो जाता है, सब ध्यानोंके साथ मन लय हो जाता है। जब वह

स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' ( कौ० ३।३ ) इति ।

**प्रश्न**—स्यादेतत् । स्वापे पुरुषान्तरव्यवहाराविच्छेदात्स्वयं च सुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुसंधानसंभवादविरुद्धम् । महाप्रलये तु सर्वव्यवहारोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्यानुसंधातुमशक्यत्वाद्वैषम्यमिति ।

**प्रत्युत्तरम्**—नैष दोषः । सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तेः । यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो न जन्मान्तरव्यवहारमनुसंदधाना दृश्यन्त इति, तथापि न प्राकृतवदीश्वराणां भवितव्यम् । तथाहि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान्भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम् । ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत्कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तिः । तथाच श्रुतिः—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' ( श्वे० ६ । १८ ) इति । स्मरन्ति च शौनकादयः 'मधुच्छन्दः

पुरुष जाग उठता है तब जैसे अग्निसे जलती हुई चिनगारियाँ सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो जाती हैं, वैसे ही इस आत्मासे सब प्राण अपने-अपने स्थानोंमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं, प्राणोंसे देव और देवोंसे लोक प्रतिष्ठित होते हैं ( कौ० ३।३ )' इत्यादि ।

**प्रश्न**—अच्छा मान लो, शयनमें पुरुषोंका व्यवहारोच्छेद न होनेसे और स्वयं सोकर जागे हुवे पुरुषके प्रथम जाग्रत व्यवहारोंका अनुभव होना संभव होनेसे विरोध नहीं हुवा । महाप्रलयमें तो सब व्यवहारोंके उच्छेद हो जानेसे जन्मान्तरोंके व्यवहारोंके तुल्य कल्पान्तरके व्यवहारोंका अनुसन्धान न कर सकनेसे कहा गया वैसा ही विषम दोष होता है ?

**प्रत्युत्तर**—यह दोष नहीं हो सकता, सब व्यवहारोंके उच्छेद होनेवाले महाप्रलय होनेपर भी, परमेश्वरकी कृपासे हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका कल्पान्तरके व्यवहारोंका अनुसन्धान ( अनुभव ) हो सकता है । यद्यपि साधारण प्राणी जन्मान्तरोंके व्यवहारोंको अनुसन्धान ( विचार-अनुभव ) करते हुवे नहीं देखे जाते, तथापि साधारण मनुष्योंके तुल्य ईश्वरोंकी शक्ति नहीं होती, तथा जैसे प्राणीरूपसे समान होनेपर भी मनुष्योंसे लेकर स्थावर पर्यन्तोंमें ज्ञान और ऐश्वर्य आदिका प्रतिबन्ध ( हद ) अन्यान्योंमें ( स्थावरोंकी अपेक्षा मनुष्योंमें ) अधिक होता हुवा देखा जाता है, वैसे मनुष्य आदियोंसे ही हिरण्यगर्भ पर्यन्तोंमें ज्ञान और ऐश्वर्य आदिकी अभिव्यक्ति अन्यान्योंमें ( मनुष्योंसे हिरण्यगर्भ आदियोंमें ) अधिक होती है, इस प्रकार श्रुति और स्मृतिवादोंमें बार२ सुने जाने वाले विषयको नहीं है ऐसा नहीं कह सकते । तब तो पूर्वकल्पके अनुष्ठानसे उत्कृष्ट ज्ञानकर्मवाले, वर्तमान कल्पके आदिमें उत्पन्न होनेवाले, परमेश्वरकी कृपादृष्टिको प्राप्त हुवे हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका सोकर जागे हुवे पुरुषोंके समान कल्पान्तरव्यवहारोंका अनुसन्धान हो सकता है, इसमें श्रुतिका भी प्रमाण है—

"जिसने ब्रह्माको प्रथम उत्पन्न किया, जो उन्हें वेदोंको प्राप्त कराता है, उस आत्मज्ञानसे प्रकाशित हुवे देवके शरणको मैं मुमुक्षु मोक्षको चाहने वाला प्राप्त होता हूं ( श्वे० ६।१८ )", और शौनक आदि यह स्मरण भी करते हैं—

प्रभृतिभिश्चर्षिभिर्दाशतय्यो[1] दृष्टाः' इति। प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते। श्रुतिरप्यृषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' (सर्वानु० परि०) इत्युपक्रम्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति। प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते। दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते। दृष्टानुश्रविकसुखदुःखविषयौ च रागद्वेषौ भवतो न विलक्षणविषयावित्यतो धर्माधर्मफलभूतोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते। स्मृतिश्च भवति—'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥ हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते॥' इति। प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते। शक्तिमूलमेव च प्रभवति। इतरथाकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। नचानेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम्। ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याप्युद्भवतां भूरादिलोकप्रवाहाणां, देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनिकायप्रवाहाणां, वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चानादौ संसारे नियतत्वसिद्धिरिन्द्रियविषयसंबन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम्। नहीन्द्रियविषयसंबन्धादेर्व्यवहारस्य प्रति

'मधुच्छन्द आदि ऋषियोंसे दाशतयी देखी।' प्रत्येक वेदमें इसी प्रकार काण्ड और ऋषि आदिको स्मरण करते हैं। और श्रुति भी ऋषिज्ञानपूर्वक ही मन्त्रसे अनुष्ठान करना दिखाती है—

'जो न जाने हुए आर्षेय ऋषियोंका योग, छन्द—गायत्री आदि, दैवत—अग्नि आदि, विनियोगात्मक ब्राह्मण मन्त्रसे यज्ञ कराता है, या पढ़ाता है, वह स्थावर हो जाता है अथवा अज्ञान या नरक रूप गर्तमें गिरता है।' ऐसा उपक्रम करके 'इसलिये इनको प्रत्येक मन्त्रमें जानना चाहिये।' प्राणियोंको सुखकी प्राप्ति हो इसलिए धर्मका विधान किया जाता है, और दुःखके नाशके लिये अधर्म निषेध किया जाता है। देखे और सुने हुए सुख दुःख विषयवाले राग और द्वेष होते हैं, न कि विलक्षण विषयवाले ( जो न कभी देखे गये न सुने गये हैं ), इसलिये धर्म-अधर्म इन दोनो फलोंसे युक्त दूसरी बनी हुई सृष्टि प्रथम सृष्टिके समान ही बनती है, इसमें स्मृति शास्त्रका भी प्रमाण है:—

'इन प्राणियोंमें सृष्टिसे पहले जिसने जिन कर्मोंको प्राप्त किया था उन्हींको जीवात्मा इस सृष्टिमें बार२ प्राप्त होते हैं। हिंसक और अहिंसक, कोमल और कठोर, धर्म और अधर्म तथा सत्य और मिथ्या इनमें संस्कारको प्राप्त हुए जो उस२को प्राप्त होते हैं, और वह२ ही उन्हें रुचिकर होते हैं।'

प्रलयको प्राप्त होता हुआ भी यह जगत् शक्तिको शेष बचा कर ही प्रलय होता है, और शक्तिमूलक ही उत्पन्न होता है, यदि ऐसा न माने तो यह सृष्टि आकस्मिक ( अकस्मात् बनी हुई ) होगी। और अनेक प्रकारकी शक्तिकी कल्पना नहीं कर सकते, तब तो महाप्रलयके व्यवधान होनेपर भी उत्पन्न होनेवाले भू आदि लोकका प्रवाह—भोग्य भूमि, देव-पक्षी-मनुष्यलक्षणवाले प्राणियोंके शरीरोंका प्रवाह—भोक्तृवर्ग और वर्णाश्रम धर्मोंकी फलव्यवस्थाएं, इस अनादि संसारमें नियत होते हैं, जैसे इन्द्रियोंका विषयोंके साथमें सम्बन्ध नियत होता है ऐसा जान लेना चाहिये।

१—ऋग्वेद दशमण्डलात्मक है, दशतय—१० मण्डल जिसमें हों, दशतयमें होनेवाली ऋचाएँ दाशतयी, यहां भवार्थमें अण् तथा ऋक् शब्द स्त्रीलिङ्ग होनेसे ङीप् प्रत्यय हो गया, दाशतयीके बहुवचनमें दाशतय्यः—अनुवादक।

सर्गमन्यथात्वं[1] षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्। अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात्कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति। समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः। समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ० सं० १०।१९०।३) इति। यथा पूर्वस्मिन्कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत्क्लृप्तं तथास्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः। तथा 'अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवाना स्यामिति। स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निरवपद्यस्मै वाग्नये निरवपत्तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवंजातीयका श्रुतिरिहोदाहर्तव्या। स्मृतिरपि—'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥ यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि

प्रत्येक सृष्टिमें इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेवाले व्यवहारोंके ६ इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेके व्यवहारके अन्यथा नहीं हो सकते, इस कारण सब कल्पोंके तुल्य व्यवहार होनेसे तथा 'हिरण्यगर्भादि' ईश्वर कल्पान्तर व्यवहारोंके अनुसन्धान करनेमें समर्थ होते हैं, इस कारण ये ईश्वर प्रत्येक सृष्टिमें (औरोंसे) विशेषताको प्राप्त होकर समाननामरूपसे युक्त उत्पन्न होते हैं। नामरूप समान होनेसे महासृष्टि और महाप्रलय लक्षणवाली जगत्की आवृत्ति (पुनः सृष्टि) स्वीकार किये जानेपर भी शब्दका कोई प्रामाण्यविरोध नहीं होता। श्रुति और स्मृति भी नाम और रूपका समान होना दिखाती है—

'मनको धारण करनेवाले परमात्माने जैसे पूर्वकल्पमें सूर्य और चन्द्रमा बनाये थे वैसे ही इस कल्पमें भी सूर्य, चन्द्रमा, द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाशको बनाया (ऋ० सं० १०।१९०।३)' अर्थात् जैसे पूर्वकल्पमें सूर्य, चन्द्र आदियुक्त जगत्को बनाया, वैसे इस कल्पमें भी परमेश्वरने रचा है। तथा "यजमानने कामना की कि मैं देवताओंका अन्नाद होऊँ। उसने इस कृत्तिका अग्निदेवके लिये पुरोडाश और अष्टाकपालको होम किया (तै० ब्रा० ३।१।४।१)" इस प्रकार नक्षत्रयागविधिमें जिसने अग्निको यज्ञ किया अथवा जिस अग्निके लिये यज्ञ किया उन दोनोंका नाम और रूप समान दिखाती है, यहां इस प्रकारकी श्रुतियोंको उदाहरणरूपसे दिखाना चाहिये, तथा स्मृति जैसे—

"ऋषियोंके नाम और वेदोंमें जो कुछ देखे जाते हैं इन सबोंको अजन्मा परमेश्वर प्रलयके अन्तमें ऋषियोंको देता है। जैसे फिर सृष्टिमें ऋतुओंमें ऋतुके चिह्न—नये हरे भरे पत्तोंका होना, नाम, रूप

---

१—रत्नप्रभा और आनन्दगिरि टीकाकारोंने दो प्रकारसे इस भाष्यकी व्याख्या की है:—

जैसे छठी इन्द्रिय मनका साधारण विषय होता है, क्योंकि वह सुख आदिका साक्षी प्रतीयमान होता है, इस प्रकारके व्यवहारमें अन्यथा होना असत्—असत्य है। अथवा इसका यह अर्थ है कि—छठी इन्द्रिय और उसका विषय नहीं होता है—**रत्नप्रभा**। इसी प्रकार आनन्दगिरिने अर्थ किया है।

२—यहां भाविनी वृत्तिको आश्रयण करके यजमान ही अग्नि कहा जाता है, क्योंकि अग्निका देवतान्तर अग्नि नहीं होता है—**भामती**।

३—मन्त्रमें कृतिका नक्षत्रको बहुवचन पढ़ा है वह नक्षत्रोंकी अधिकताकी अपेक्षा से है पुरोडास और अष्टाकपाल हविविशेषका नाम है, आठ कपालों–पात्रविशेषोंमें जो पकाया जाय वह अष्टाकपाल हवि है—**अनुवादक**।

पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते सांप्रतैरिह । देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥' इत्येवंजातीयका द्रष्टव्या ॥ ३० ॥

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते । देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—मध्वादिष्वसंभवात् । ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत । नचैवं संभवति ।

प्रश्नः—कथम् ?

उत्तरम्—'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३।१।१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन् । देवादिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत । पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्तीत्युपदिश्य 'स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजानतां वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति । [1]वस्वादयस्तु कानन्यान्वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानीयुः । कं वान्यं वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः ।

देखे जाते हैं वैसे ही पदार्थ युग आदियोंमें होते हैं । प्रथम उत्पन्न हुये सब अभिमानी लोग इस समयके अभिमानी धर्मादिकोंके समान ही हैं, पूर्व देवताओंके समान इस समय देव और नाम रूप भी तुल्य हैं । इस प्रकारकी स्मृतियोंको देख लेना चाहिये ॥ ३० ॥

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

यहां देव आदियोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है यह जो प्रतिज्ञा की थी उसकी आवृत्ति ( दोहराई ) की जाती है । देवताओंका अधिकार नहीं है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं ।

( अब यहां जैमिनि आचार्यके मतसे पूर्वपक्षकी स्थापना )

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—मधु आदियोंमें संभव नहीं होता, ब्रह्मविद्यामें अधिकार मान लेनेपर विद्यात्व सामान्यसे मधु आदि विद्याओंमें भी अधिकार मानना पड़ेगा ऐसा तो नहीं होता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—'यह आदित्य देवमधु है, देवोंके प्रमोदहेतु होनेसे मधुतुल्य मधु है' ( छा० ३।१।१ ) यहां मनुष्य सूर्यको शहतके अध्याससे उपासना करें । अब यहां सन्देह होता है कि देवोंको उपासक माननेपर आदित्य किस और आदित्यकी उपासना करेगा ? फिर सूर्याश्रित पांच रोहित आदि अमृतोंको उपक्रम करके वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य ये पांच देवगण उसर अमृतको प्राप्त कर जीते हैं, ऐसा उपदेश कर 'वसुओंमें जो इस अमृतको जानता है वह एक होकर अग्निमुखसे इस अमृतको देख कर तृप्त होता है' । इत्यादिसे वसु आदिका उपजीवनहेतु अमृतोंके जाननेवालोंको वसु आदियोंकी महिमा प्राप्त होना दिखाती है । वसु आदि तो अमृतसे जीनेवाले किन अन्य वसु आदिको जानें ? और किस

१—यहां न केवल उपास्य—उपासकभावसे ही विरोध होता है, अपि तु ज्ञाता—ज्ञेयभावसे और प्राप्य—प्रापकभावसे भी—भामती ।

तथा 'अग्निः[1] पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' ( छा० ३ । १८ । २ ), 'वायुर्वाव संवर्गः' ( छा० ४ । ३ । १ ), 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' ( छा० ३ । ११ । १ ) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकारः संभवति । तथा 'इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः' ( बृ० २ । २ । ४ ) इत्यादिष्वप्यृषिसंबन्धेषूपासनेषु न तेषामेवर्षीणामधिकारः संभवति ॥ ३१ ॥

प्रश्नः—कुतश्च देवादीनामनधिकारः ?

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

उत्तरम्—यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते । लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च । नच ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयार्थित्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते मृदादिवदचेतनत्वावगमात् । एतेनाग्न्यादयो व्याख्याताः ।

प्रश्नः—स्यादेतत् । मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमादयदोष इति ?

---

अन्य वसु आदिकी महिमाको प्राप्त करना चाहें ? तथा 'आकाशके चार भाग कल्पित किये गये हैं, जिनमें एक अग्निपाद, दूसरा वायुपाद, तीसरा सूर्यपाद और चौथा दिशा पाद' (छा० ३।१८।२), 'यह हवा लय करनेवाली है' (छा० ४।३।१), 'यह आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है' (छा० ३।११।१) इत्यादि देवतात्माओंकी उपासनामें उन्हीं देवतात्माओंका अधिकार नहीं संभव होता है । तथा 'गोतम और भरद्वाज ये दो हैं, यही गोतम है यही भरद्वाज है' ( बृ० २ । २ । ४ ) इत्यादि ऋषिसम्बन्धविषयक उपासनाओंमें उन्हीं ऋषियोंका अधिकार संभव नहीं होता है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—और फिर क्यों देव आदियोंका अधिकार नहीं होता है ?

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

आकाशमें रहनेवाला यह जो ज्योतिर्मण्डल रात दिन घूमनेवाले जगत्‌को प्रकाशित करता है, उसमें आदित्य आदि देवतावाचक शब्द प्रयोग किये जाते हैं, क्योंकि लोकमें और वाक्यशेषसे प्रसिद्ध है । ज्योतिर्मण्डलका हृदय आदि, शरीरसे, चेतनतासे अर्थित्व—इच्छा होनेरूपसे संयोग होना नहीं जाना जा सकता, क्योंकि यह मिट्टी आदिके तुल्य अचेतन—जड़ माना गया है, इस जड़ ज्योतिर्मण्डलके दृष्टान्तसे अग्नि आदिका भी जड़ होना व्याख्यान हो गया समझिये ।

प्रश्न—अच्छा जाने दो । मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोकप्रमाणोंसे देव आदिओंका शरीरधारी होना सिद्ध होता है, इसलिये यह दोष नहीं ?

---

१—अधिदैवतपक्षमें आकाशमें ब्रह्मदृष्टिको विधानके लिये कहा है, आकाशका सर्वगत होना और रूप आदि हीन होना ब्रह्मके साथ समान है, तथा इस आकाश ब्रह्मके चार अग्नि आदि भाग 'अग्निः पादः०' इत्यादिसे दिखाये गये हैं । जैसे गायके खुरसे गायसे पृथक् नहीं किये जा सकते, एवं सर्वव्यापी आकाशसे आकाशके अग्नि आदि भाग भी अलग नहीं किये जा सकते, इस प्रकार चार विभागवाले आकाशको ब्रह्मदृष्टि करके स्वरूपसे संवर्ग—लयके गुणवाले वायुको उपासनीय विधान करनेके लिये महत्त्वोपपादन करता है—'वायुर्वाव संवर्गः' । तथा स्वरूपसे ही सूर्यको ब्रह्मदृष्टिसे उपासनीय विधान करनेके लिये महत्त्वोपपादन करता है—'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इत्यादि—भामती ।

उत्तरम्—नेत्युच्यते । नहि तावल्लोको नाम किंचित्स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति । प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यविचारितविशेषेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिद्ध्यन्नर्थो लोकात्प्रसिध्यतीत्युच्यते । नचात्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति । इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात्प्रमाणान्तरमूलमाकाङ्क्षति । अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थगर्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते । मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते । तस्मादभावो देवानामधिकारस्य ॥ ३२ ॥

## भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

प्रत्युत्तरम्—तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते । यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वसंभवोऽधिकारस्य तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां संभवः । अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य । नच क्वचिदसंभव इत्येतावता यत्र संभवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत । मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः संभवति । तत्र यो न्यायः सोऽत्रापि भविष्यति । ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति दर्शनं श्रौतं देवाद्यधिकारस्य

---

उत्तर—इस प्रकार नहीं कहा जा सकता, लोक तो कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, क्योंकि विशेषविचाररहित प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ही सिद्ध होनेवाला अर्थ लोकसे सिद्ध होता है ऐसा कहा जाता है, और न यहां प्रत्यक्ष आदियोंका अन्य कोई प्रमाण है। इतिहास-पुराण भी पौरुषेय होनेसे प्रमाणान्तर मूल वस्तुकी आकांक्षा करता है, अर्थवाद भी विधिके साथ एकवाक्यता होनेसे स्तुत्यर्थक होकर पृथक् रूपसे देव आदियोंका शरीरधारी होनेमें कारण नहीं होते हैं, और श्रुति आदियोंमें विनियुक्त ( उन२ विधियोंमें नियुक्त ) तथा प्रयोगके साथ समवायी होनेवाले तथा देवता आदिको कहनेवाले मन्त्र भी किसी अर्थके प्रमाण नहीं हो सकते इस प्रकार मीमांसक कहते हैं इसलिये देव आदियों का अधिकार नहीं ॥३२॥

## भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

( इतना पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीका समाधान )

प्रत्युत्तर—तु शब्द पूर्वपक्षको हटाता है, बादरायण आचार्य तो देव आदियोंका भी अधिकार मानते हैं, यद्यपि देवता आदिसे संयुक्त मधु आदि विद्याओंमें अधिकारका संभव नहीं तथापि शुद्ध ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, क्योंकि अर्थित्व—चाह और सामर्थ्यका निषेध न होना इन दोनोंको अधिकार अपेक्षा करता है। कहीं असम्भव है इतने मात्रसे जहां सम्भव होता है वहां भी अधिकारको नहीं हटा सकते। मनुष्योंमें भी सब ब्राह्मणोंका सभी राजसूय आदि यज्ञोंमें अधिकार नहीं होता है, वहां जो न्याय है वह यहां भी होगा। ब्रह्मविद्याको आरम्भ कर देव आदियोंका अधिकारसूचक

---

१—प्रयोगके साथ समवायी होना जैसे द्रव्यका देवताके साथ, और वह विधिसे जाना जाता है इसलिये स्मार्य—स्मरणयोग्य है, मन्त्र विधिके तुल्य निरपेक्ष होकर देवता आदिको कथन करते हैं, इसलिये वे प्रमाण नहीं हैं—वेदान्तकल्पतरु ।

यहां रत्नप्रभा टीकाकार इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:—

धान आदिके तुल्य प्रयोगविधिसे लिये गये मन्त्र प्रयोगोंके साथ सम्बद्ध होनेको कहनेके लिये हैं वे अज्ञात शरीरादिको बतानेवाले नहीं होते हैं यह मीमांसक कहते हैं—रत्नप्रभा ।

सूचकम्—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १।४।१०) इति। 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्' इति। 'इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्' (छा० ८।७।२) इत्यादि च। स्मार्तमपि गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि। यदप्युक्तं ज्योतिषि भावाच्चेति। अत्र ब्रूमः—ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात्। अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चावस्थातुं, यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। तथाहि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे—मेधातिथेर्मेषेति। 'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंशब्रा० १।१) इति स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति। मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते—'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्नि'त्यादिदर्शनात्। ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते। चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादिव्यवहारादित्युक्तम्।

प्रश्नः—यदप्युक्तं मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यमिति ?

प्रत्युत्तरम्—अत्र ब्रूमः—प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावासद्भावयोः कारणं, नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं

---

श्रुतिका प्रमाण मिलता है—'जो २ देवताओंमें ज्ञानी होते थे वे ही वैसे हो गये, ऐसे ही ऋषियोंमें और मनुष्योंमें ज्ञानी हो गये' (बृ० १।४।१०)

इत्यादि। 'वे आश्चर्यसे कहने लगे कि हम उस आत्माको खोजते हैं जिसे खोज कर सब लोक और सब मनोरथोंको प्राप्त होते हैं' इत्यादि। 'देवताओंमें इन्द्र और असुरोंमें विरोचन प्रजापति ऋषिके पास चले गये, तथा गन्धर्व और याज्ञवल्क्यका संवाद आदि रूप स्मार्त प्रमाण भी है।

और जो 'ज्योतिषि भावाच्च' इसमें कहा था इसपर हम कहते हैं—ज्योति आदि विषयवाले भी आदित्य आदि देवतावाचक शब्द चेतन और ऐश्वर्ययुक्त उस२ देवात्माको समर्पण करते हैं, क्योंकि मन्त्र और अर्थवाद आदियोंमें वैसे ही व्यवहार देखे गये हैं, ऐश्वर्ययोगसे देवगणोंका भी ज्योतिरादि आत्माओंसे युक्त होकर स्थिर होने और यथेष्ट उस२ शरीरको लेनेका सामर्थ्य होता है, जैसे कि सुब्रह्मण्यार्थवादमें सुना जाता है-'मेधातिथिका वचन–हे मेष–मेढ़ा' इत्यादि। 'कण्वके पुत्र मेधातिथिको इन्द्रने मेढ़ा होकर हर लिया' (षड्विंशब्रा० १।१) तथा यह स्मृति भी है–'आदित्य पुरुष होकर कुन्तीके पास गये' इत्यादि। मिट्टी आदियोंमें चेतन अधिष्ठाता माने जाते हैं, जैसे—'मिट्टी बोली, जल बोला' ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। आदित्य आदियोंमें भूतात्मक ज्योतिः आदिको तो अचेतन मानते हैं, किन्तु अधिष्ठाता चेतन देवात्मा भी उनमें माने जाते हैं, क्योंकि मन्त्र और अर्थवाद आदियोंमें व्यवहार देखा गया है यह कह दिया।

प्रश्न—और जो यह कहा था कि मन्त्र और अर्थवादके अन्य अर्थ होनेसे देवताओंमें शरीर आदिको प्रकट करनेकी शक्ति नहीं है ?

प्रत्युत्तर—यहां कहते हैं—अस्तित्व और नास्तित्वमें विद्यमान और अविद्यमान होना ही कारण होता है, न कि

---

१—इस पूर्वपक्षको एकदेशी मतसे प्रथम खण्डन करते हैं—'अत्र ब्रूमः' इत्यादिसे—भामती।

२—सुब्रह्मण्य-उद्गातृगणस्थ ऋत्विक्‌सम्बन्धी जो अर्थवाद उसमें इन्द्र! यहां आओ इत्यादि, वहां मेधातिथिका हे मेष! इस प्रकार इन्द्रके लिये सम्बोधन सुना गया है—रत्नप्रभा।

वा। तथाह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येव प्रतिपद्यते।

प्रश्नः—'अत्राह—विषम उपन्यासः। तत्र हि तृणपर्णादिविषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते। अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽर्थवादे न पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। नहि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति। यथा 'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसंबन्धात्सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते। न पुनः सुरां पिबेदिति पदद्वयसंबन्धात्सुरापानविधिरपीति?

प्रत्युत्तरम्—'अत्रोच्यते—विषम उपन्यासः। युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वादवान्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम्। विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्यानन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते। यथाहि—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वायव्यादिपदानां विधिना संबन्धः, नैवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येषामर्थवादगतानां पदानाम्। नहि भवति वायुर्वा आलभेतेति क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेतेत्यादि। वायुस्वभावसंकीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवंविशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति। नयत्र सोऽवान्तर-

अन्य अर्थका होना वा अन्य अर्थका न होना, तथा अन्य उद्देश्यसे प्रस्थित हुआ पुरुष भी रास्तेमें गिरे हुए घास फूस और पत्तोंको 'है' ऐसा जानता है।

प्रश्न—यह यहां कहते हैं—'विषम' यह कथन है, क्योंकि वहां घास फूस पत्ते आदि प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान हैं, जिस कारण उनका अस्तित्व प्रतीत होता है। यहां मन्त्र और अर्थवादमें तो विधि और उद्देशकी एकवाक्यताके स्तुत्यर्थक अर्थवाद होनेसे पृथक् रूपसे प्रत्यायकता निश्चय कर नहीं सकते, अर्थबोधक महावाक्यमें अवान्तर वाक्यका पृथक् अर्थबोधकत्व नहीं रहता, जैसे—'शराब न पीवे' इस निषेधयुक्त वाक्यमें इन तीनों पदोंके सम्बन्धसे सुरापान निषेधरूप एक ही अर्थ प्रतीत होता है, न कि 'शराब पीवे' इन दो पदोंके सम्बन्धसे सुरापानविधि भी होती है?

प्रत्युत्तर—अब यहां कहा जाता है—यह उल्टी बात कही गई है, सुरापाननिषेधमें पदोंके साथ अन्वय एक होनेसे वाक्यान्तरके अर्थका ग्रहण न करना तो युक्त ही है, किन्तु विध्युद्देश—विधिवाक्य और अर्थवाद इन दोनोंमें तो अर्थवादस्थ पद पृथक् अन्वयसे अन्यार्थको प्राप्त होनेके पश्चात् किमर्थ—यह क्या अर्थ है इस प्रकार प्रश्नार्थ द्वारा विधिका स्तावकत्व प्रतिपादन करते हैं, जैसे—

'ऐश्वर्यको चाहनेवाला वायुसम्बन्धी सफेद वस्तुको प्राप्त करे।' यहां विध्युद्देश विधिवाक्य-वर्ती वायव्य आदि पदोंका विधिके साथ सम्बन्ध है वैसे 'वायु क्षेपक देवता है, वह अपने बलिभागसे वायु-यजमानके समीप ही जाता है, वह ही इसे ऐश्वर्य प्राप्त कराता है।' यहां अर्थवादगत पदोंका (विधिके साथ सम्बन्ध) नहीं है। वायु प्राप्त करे अथवा क्षेपिष्ठा देवता प्राप्त करे ऐसा नहीं होता है, वायुस्वभावको सङ्कीर्त्तन करनेसे ही अन्य अन्वयको प्राप्त कर यह विशिष्ट देवतासम्बन्धी कर्म है इस प्रकार विधिकी स्तुति करते हैं। इसलिये यहां वाक्यान्तरका अर्थ प्रमाणान्तरसे गोचर होता है, वहां उसके अनुवादसे अर्थ-

१—अब फिर पूर्वपक्षी अपने पक्षको प्रतिपादन कर एकदेशी मतको दूषित करते हैं—**अत्राह**—इत्यादिसे—भामती।

२—इस प्रकार पूर्वपक्षद्वारा एकदेशी मत दूषित होनेपर परमसिद्धान्तवादी—वेदान्ती कहते हैं—'**अत्रोच्यते विषम उपन्यासः**'—इत्यादिसे—भामती।

वाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते । यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन । यत्र तु तदुभयं नास्ति तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद्गुणवादः स्यादाहोस्वित्प्रमाणान्तराविरोधाद्विद्यमानवाद इति प्रतीतिशरणैर्विद्यमानवाद आश्रयणीयो न गुणवादः । एतेन मन्त्रो व्याख्यातः । अपिच विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम् । नहि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते । नच चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते । श्रावयति च—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' ( ऐ० ब्रा० ३ । ८ । १ ) इति । नच शब्दमात्रमर्थस्वरूपं संभवति, शब्दार्थयोर्भेदात् । तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूपमवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम् । इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण संभवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात्प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम् । प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति । भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरंतनानां प्रत्यक्षम् । तथाच व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते । यस्तु ब्रूयादिदानींतनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत् । इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात् । ततश्च राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात् । इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान्वर्णाश्रमधर्मान्प्रतिजानीत । ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात् । तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरंतना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते । अपिच स्मरन्ति—

वाद प्रवृत्त होता है, जहां प्रमाणान्तरसे विरुद्ध होता वहां गुणवादसे प्रवृत्त होता है और जहां अर्थवाद और गुणवाद दोनों नहीं हैं, वहां क्या प्रमाणान्तरके अभावसे गुणवाद होगा, अथवा प्रमाणान्तरके विरोध न होनेसे विद्यमानवाद होगा, ऐसी प्रतीतिमें प्रतीतिमें विश्वास करनेवालोंको चाहिये कि विद्यमानवादका आश्रयण करें, गुणवादका नहीं। इस प्रकारसे मन्त्रका व्याख्यान हो गया।

दूसरी बात यह है कि इन्द्र आदि देवतासम्बन्धी हवियोंको प्रदान करनेवाली विधियां इन्द्र आदियोंके स्वरूपकी अपेक्षा करती हैं, क्योंकि स्वरूपरहित इन्द्र आदियोंको चित्तमें आरोप नहीं कर सकते, और न चित्तमें आरूढ न हुए देवताओंके लिये हवि दी जा सकती है। और इस प्रकार सुनाते हैं कि—'जिस देवताके लिये हवि ली गई हो उसको वषट्कार करता हुआ ध्यान करे' ( ऐ० ब्रा० ३। ८। १ ) शब्दमात्र तो अर्थस्वरूप नहीं होता है, क्योंकि शब्द और अर्थमें भेद होता है। मन्त्र और अर्थवादमें इन्द्र आदियोंका जैसा स्वरूप प्रतीत होता है उस प्रकारके स्वरूपका शब्दप्रमाणसे खण्डन करना उचित नहीं है। इतिहास और पुराण भी व्याख्यान किये मार्गसे सम्भव होते हुए देवताओंके शरीर आदि सिद्ध करनेको समर्थ हो सकते हैं, क्योंकि वे भी मन्त्र और अर्थवादके मूलक ही हैं। प्रत्यक्ष आदि मूल भी सम्भव होता है। हम लोगोंको अप्रत्यक्ष भी चिरन्तनों (पहले उत्पन्न हुए विद्वानों) को प्रत्यक्ष होता है, स्मरण किया जाता है कि व्यास आदि ऋषि देव आदियोंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। और जो यह कहे कि जैसे इस समयके मनुष्योंका सामर्थ्य नहीं है वैसे पूर्वज ऋषियोंका देव आदियोंके साथ व्यवहार करनेकी शक्ति नहीं है, वह जगत्की विचित्रताका निषेध करे। इस समयके तुल्य अन्य समयोंमें भी सार्वभौम क्षत्रिय राजा नहीं थे ऐसा कहे, तब तो राजसूय यज्ञ आदिकी विधि व्यर्थ हो जाती, इस समयके तुल्य कालान्तरमें भी वर्णाश्रमधर्मोंका किसी रूपमें अव्यवस्थित होनेकी प्रतिज्ञा करे, तब तो व्यवस्थाविधायक शास्त्र अनर्थ हो जाता। इसलिये धर्मोंकी उत्कृष्टतासे चिरन्तन ऋषिलोग देव आदियोंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे यह युक्तियुक्त है। स्मरण भी किया जाता है:—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' ( यो० सू० २ । ४४ ) इत्यादि । योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम् । श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—'पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' ( श्वे० २ । १२ ) इति । ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम् । तस्मात्समूलमितिहासपुराणम् । लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाध्यवसातुं युक्ता । तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः । ततश्चार्थित्वादिसंभवादुपपन्नो देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः । क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते ॥ ३३ ॥

## ९ अपशूद्राधिकरणम् । सू० ३४–३८

### शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

यथा मनुष्याधिकारनियममपोह्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तस्तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यते । तत्र शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादिति तावत्प्राप्तम् । अर्थित्वसामर्थ्ययोः संभवात् । 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' ( तै० सं० ७।१।१।६ ) इतिवत् 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' इति च निषेधाश्रवणात् । यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं शूद्रस्यानग्नित्वं न तद्विद्यास्वधिकारस्यापवादकं लिङ्गम् । नह्याहवनीयादिरहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते । भवति च लिङ्गं

---

'स्वाध्यायसे अभीष्ट देवताओंको प्राप्त हो जाता है' ( यो० सू० २ । ४४ )

इत्यादि, योग भी अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फल है, ऐसा स्मरण किये जानेवाले योगको साहसमात्रसे खण्डन नहीं कर सकते, श्रुति भी योगकी महिमाको प्रसिद्ध करती है:—

'पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पञ्चात्मक भूतगणोंको जीत कर योगके गुण अणिमादिमें लगानेपर उस योगरूप अग्निमय शरीरको प्राप्त करनेवाले योगीको न रोग होगा, न वृद्धावस्था होगी और न उसकी मृत्यु होगी' ( श्वे० २ । १२ ) इत्यादि । मन्त्र और ब्राह्मणोंके द्रष्टा ऋषियोंके सामर्थ्यको हम लोगोंके सामर्थ्यसे उपमित करना उचित नहीं है । इस कारण मन्त्र आदि हेतुओंसे देव आदियोंका शरीरित्व होना सिद्ध हो गया, तब जो अर्थित्व आदि संभव होनेसे देव आदियोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार होना सिद्ध होता है । क्रममुक्तिका दर्शन भी इसी प्रकार हो सकता है ॥ ३३ ॥ यह आठवां देवताधिकरण समाप्त हुवा ।

## ९ अपशूद्राधिकरणम् । सू० ३४—३८

### शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

जैसे मनुष्याधिकारके नियमको अपवादित कर देव आदियोंका भी विद्यामें अधिकार कहा गया वैसे ही द्विजातियोंके अधिकारनियमके अपवादसे शूद्रका भी अधिकार हो इस शङ्काको हटानेके लिये यह अधिकरण आरंभ किया जाता है ।

प्रथम शूद्रका भी अधिकार है ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि उनमें अर्थित्व और सामर्थ्यका होना संभव है । ''इसलिये शूद्र यज्ञमें अधिकृत नहीं होता है, ( तै० सं० ७।१।१।६ ) इस तरह 'शूद्र विद्यामें अधिकृत नहीं होता है' ऐसा निषेध नहीं सुना गया है । और जो शूद्रका अनग्नित्व—होम करनेसे पृथक् रहना यज्ञादि कर्ममें अधिकार न होनेका कारण है वह विद्याओंमें अधिकारका अपवादक ( निषेधक ) लिङ्ग नहीं होता है, यज्ञ न किये हुवे मनुष्यसे विद्या नहीं जानी जा सकती यह बात नहीं हो सकती,

शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम् । संवर्गविद्यायां हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति—'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' ( छा० ४ । २ । ३ ) इति । विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विशिष्टविज्ञानसंपन्नाः स्मर्यन्ते । तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति ।

उत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात् । अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते । नच शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य । उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात् । यत्त्वर्थित्वं न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति । सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति । शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वात् । शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात् । यच्चेदं 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इति, तन्न्यायपूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यनवक्लृप्तत्वं द्योतयति, न्यायस्य साधारणत्वात् । यत्पुनः संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तल्लिङ्गं, न्यायाभावात् । न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं द्योतकं भवति । नचात्र न्यायोऽस्ति । कामं चायं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषयत्वात्, न सर्वासु विद्यासु । अर्थवादस्थत्वात्तु न क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते । शक्यते चायं शूद्रशब्दोऽधिकृतविषयो योजयितुम् ।

---

और शूद्राधिकारका ज्ञापक लिङ्ग भी होता है । संवर्गविद्यामें सेवा करनेकी इच्छा करनेवाले जानश्रुति पौत्रायणको शूद्र शब्दसे निर्देश किया है—"हे शूद्र ! यह रत्नोंकी माला और गौओंके सहित आना तुम्हारे लिये हो ( छा० ४।२।३ )" इत्यादि, विदुर आदि भी शूद्रयोनिसे उत्पन्न हुए विशिष्ट विज्ञानसम्पन्न थे इस प्रकार स्मरण किये जाते हैं । इस कारण शूद्र विद्याओंमें अधिकृत किया जाता है ।

( यहां तक पूर्वपक्षीका कथन है, अब सिद्धान्तीका समाधान )

उत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहा जाता है—शूद्रका अधिकार नहीं है, क्योंकि इनका वेदाध्ययन नहीं होता है । वेदोंको पढ़नेवाला और वेदार्थको जाननेवाला ही वेदोंके अर्थोंमें अधिकृत किया जाता है । शूद्रका वेदाध्ययन नहीं है क्योंकि उपनयनपूर्वक ही वेदाध्ययन होता है, और उपनयन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंका ही होता है । जो शूद्रका अर्थित्व होना कहा गया है वह सामर्थ्य न होनेपर अधिकारका कारण नहीं हो सकता है, और केवल लौकिक सामर्थ्य भी अधिकारका कारण नहीं होता है, क्योंकि शास्त्रसम्बन्धी अर्थमें शास्त्रीय सामर्थ्यकी अपेक्षा होती है, शास्त्रीय सामर्थ्य तो उनके अध्ययनके खण्डनसे खण्डित हो गया है । और जो 'शूद्र यज्ञमें अधिकृत नहीं होता है' यह वचन कहा गया है यही वचन उसी न्यायसे विद्याओंमें भी अधिकारका न होना प्रकट करता है, क्योंकि न्याय वही है जो समान हो । और फिर जिसे तुम संवर्गविद्यामें शूद्रके श्रवणको लिङ्ग मानते हैं सो ज्ञापक लिङ्ग नहीं है, क्योंकि इसमें न्याय[1] नहीं है, न्याययुक्त कहे जानेपर ही लिङ्गदर्शन द्योतक होता है, वह न्याय यहां नहीं है । चाहे यह शूद्र शब्द एक संवर्गविद्यामें ही शूद्रको अधिकार दे दे, क्योंकि वहां उसीका विषय है, न कि सब विद्याओंमें । अर्थवादस्थ होनेसे तो कहीं भी यह शूद्र शब्द शूद्रको अधिकार देनेका उत्साह नहीं कर सकता है । तथा यह शूद्र शब्द अधिकारसम्पन्न है यह योजना की जा सकती है ।

---

१—संवर्गविद्यामें साक्षात् शूद्र नहीं कहा जाता है, 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'—इससे 'निषादस्थपतिको यज्ञ करावे' इस प्रकार कहा जाता है—भामती ।

प्रश्नः—कथमिति ?

उत्तरम्—उच्यते—'कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्कमात्थ' ( छा० ४ । १ । ३ ) इत्यस्माद्धंसवाक्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पेदे, तामृषी रैक्कः शूद्रशब्देनानेन सूचयांबभूवात्मनः परोक्षज्ञताख्यापनायेति गम्यते । जातिशूद्रस्यानधिकारात् ।

प्रश्नः—कथं पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यत इति ?

उत्तरम्—उच्यते—तदाद्रवणात् । शुचमभिदुद्राव, शुचा वाभिदुद्रुवे, शुचा वा रैक्कमभिदुद्रावेति शूद्रः । अवयवार्थसंभवाद्रूढ्यर्थस्य चासंभवात् दृश्यते चायमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ॥ ३४ ॥

## क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः । यत्कारणं प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्वमस्योत्तरत्र

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—"अरे ! ऐसे किस साधारण पुरुषको गाड़ीवाले रैक्व ऋषिके तुल्य कहते हो ! ( छा० ४।१।३ )" इस हंसवाक्यसे अपना अपमान सुन कर पौत्रायण जानश्रुतिको शोक उत्पन्न हुवा, रैक्व ऋषिने अपनेको परोक्षज्ञ जतलानेके लिये उस शोकको शूद्र शब्दसे सूचित किया था ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि जातिसे जो शूद्र है उसका अधिकार निषेध है ।

प्रश्न—फिर क्यों शूद्रशब्दसे शोकका उत्पन्न होना सूचित होता है ?

उत्तर—'**तदाद्रवणात्**', शोकको प्राप्त हुवे, अथवा शोकसे विह्वल हुवे, अथवा शोकमें जानश्रुति रैक्व ऋषिके पास गये, इसलिये जानश्रुति ( शोक करनेके कारण ) शूद्र है, क्योंकि यहां ( शुच् शोके ) इस धात्ववयवका अर्थ संभव होता है और रूढि शूद्र शब्दका अर्थ संभव नहीं होता । और यही शोकका अर्थ इस [1] कथामें देखा जाता है ॥ ३४ ॥

## क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

यहांसे आगे भी जानश्रुति जातीय शूद्र नहीं है, क्योंकि प्रकरण विचार करनेसे यह जानश्रुति

[1]—यहां यह कथा है कि जानश्रुति नामक कोई राजा था, जो बहुत दानी तथा अतिथियोंको बहुत श्रद्धासे सत्कार किया करता था. इस दानी राजाके राज्यमें देवर्षिलोग इनके गुणमहिमासे सन्तुष्ट होकर हंसरूपसे आये. उन हंसोंमेंसे एक हंसने अग्रगामी दूसरे हंससे कहा कि—क्यों तुम अन्धे होकर आगे बढ़ रहे हो, क्योंकि जानश्रुति राजाकी ज्योति द्यौलोकके समान फैली हुई है, इसलिये उस अग्निरूप ज्योतिमें न पड़ो, जिससे वह ज्योति न जला देवे । तब अग्रगामी हंसने उस हंससे कहा कि—'जानश्रुति जैसे साधारण पुरुषको तुम गाड़ीके सहित बैठे हुवे रैक्व ऋषिके समान कहते हो, उनके समान इस लोकमें अन्य कोई नहीं है ।' उस हंसके इस वचनको सुन कर राजा जानश्रुति बहुत दुःखी हुवे और उन्हें इच्छा हुई कि रैक्व ऋषिका दर्शन करें, इस इच्छासे प्रेरित होकर उन्होंने रैक्व ऋषिको पता लगानेके लिये एक नौकरको भेज दिया, जब नौकर पता लगा कर आया तब बहुतसी गाय, धन, जवाहरातोंको लेकर ऋषि रैक्वके दर्शनके लिये प्रस्थित हुवा, उनके पास पहुंचनेपर जानश्रुति राजाने ऋषिसे निवेदन कि हे 'भगवन् ! ये रत्न और रथ आदि हैं, इन्हें आप स्वीकार करें और उस देवको बतलाइये जिसकी आप उपासना करते हैं' ऋषिने कहा कि हे शूद्र ! ये श्रेष्ठ हार और गाय आदि सब तुम्हारे ही हों' यह वचन सुन कर राजा जानश्रुतिको बड़ा शोक हुवा । शोकसन्तप्त होनेपर भी फिर प्रथमसे भी अधिक गाय, हार, रथ तथा अपनी पुत्रीको उन्हें समर्पण करनेके लिये गये, रैक्क ऋषिने देवीजीकी मुखाकृतिसे प्रसन्न होकर सब समर्पित वस्तुओंको ग्रहण कर उसे उपदेश दिया । यह कथा (छान्दो० अ० ४ ख० १-२) में है—अनुवादक ।

चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहाराल्लिङ्गाद्गम्यते। उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारी क्षत्रियः संकीर्त्यते—'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे' ( छा० ४। ३। ५ ) इति। चैत्ररथित्वं चाभिप्रतारिणः कापेययोगादवगन्तव्यम्। कापेययोगो हि चित्ररथस्यावगतः 'एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्' ( ताण्ड्यब्रा० २०। १२। ५ ) इति। समानान्वयानां च प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति। 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात्क्षत्रियत्वमस्यावगन्तव्यम्। तेन क्षत्रियेणाभिप्रतारिणा सह समानायां विद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति। समानानामेव हि प्रायेण समभिव्याहारा भवन्ति। क्षत्तृप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः। अतो न शूद्रस्याधिकारः ॥ ३५ ॥

## संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः, यद्विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते—'तं होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११। ५। ३। १३)। 'अधीहि भगव इति होपससाद' (छा० ७। १। १) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' (प्र० १। १) इति च। 'तान्हानुपनीयैव' (छा० ५। ११। ७) इत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्राप्तिर्भवति। शूद्रस्य संस्काराभावोऽभिलप्यते, 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०। ४) इत्येकजातित्वस्मरणात्। 'न शूद्रे पातकं

क्षत्रिय प्रतीत होता है यह बात आगेके अभिप्रतारी चैत्ररथ क्षत्रियके सम्बन्धसे जानी जाती है आगेके वाक्यमें संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें चैत्ररथि अभिप्रतारी क्षत्रियका संकीर्त्तन किया जाता है—"कापेय शौनक और अभिप्रतारी काक्षसेनिको भोजनके लिये रसोइयाद्वारा परोसे जानेपर एक ब्रह्मचारीने भिक्षा मांगी ( छा० ४। ३। ५ )" अभिप्रतारीका चैत्ररथि होना 'कापेय' इस सम्बन्धसे जान लेना चाहिये, चित्ररथका कापेययोग होना प्रतीत हुवा है, 'चित्ररथको कापेयलोग यज्ञ कराते थे' ( ताण्ड्य-ब्रा० २०।१२।५ ) समानवंशोंका प्रायः समान वंश ही याजक होते हैं। 'इसलिये चैत्ररथि नामक एक क्षत्रिय उत्पन्न हुवा।' इसमें भी क्षत्रपति प्रतीत होनेसे यह क्षत्रिय विदित होता है। उस अभिप्रतारी क्षत्रियके साथ समानविद्यामें संकीर्त्तन होना जानश्रुतिको भी क्षत्रियत्व सूचित करता है। समानोंका ही प्रायः सम्बन्ध व्यवहार हुवा करता है। और दूसरी बात यह है कि क्षत्ता आदि नौकरको भेजने तथा श्रीसम्पत्तियोगसे भी जानश्रुति क्षत्रिय प्रतीत होता है, इसलिये शूद्रका अधिकार नहीं है ॥ ३५ ॥

## संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

यहांसे आगे भी शूद्रका अधिकार नहीं है, कारण कि विद्यास्थानोंमें उपनयन आदि संस्कारोंका परामर्श होता है, जैसा—"उसको उपनयन संस्कार किया ( श० ब्रा० ११।५।३।१३ )", "भगवन्! हमे पढ़ाइये यह कहकर बैठ गये ( छा० ७।१।१ )"।

'ये ही ब्रह्मविषयक सब कहेंगे यह विचार कर ब्रह्ममें तत्पर ब्रह्ममे विश्वास व भक्ति करनेवाले, परब्रह्मको अन्वेषण करनेवाले मुमुक्षु पुरुष हाथमे समिधा लेकर भगवान् पिप्पलादके समीप बैठ गये' ( प्र० १।१ ) इत्यादि। 'उनको उपनयन न करके ही' ( छा० ५।११।७ ) यह वचन भी उपनयन प्राप्तिको ही दिखाता है ( क्योंकि प्राप्तका ही निषेध होता है। ) शूद्रका संस्कार नहीं होता है, शास्त्र इस प्रकार कथन करते हैं—"शूद्र चौथा वर्ण है जो एक जाति है ( मनु० १०।४ )" इस प्रकार शूद्रका एक जातित्व स्मरण किया जाता है। 'शूद्रमें कोई भक्ष्याभक्ष्यका दोष नहीं होता, और वह संस्कार योग्य

किंचिन्न च संस्कारमर्हति' (मनु० १० । १२ । ६) इत्यादिभिश्च ॥ ३६ ॥

## तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः । यत्सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च प्रवृत्ते 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः' (छा० ४ । ४ । ५) इति श्रुतिलिङ्गात् ॥ ३७ ॥

## श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः । यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति । वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते । श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति । 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च । अत एवाध्ययनप्रतिषेधः । यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति स कथमश्रुतमधीयीत । भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति । अत एव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति, 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च । येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात् । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात् । वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम् ॥ ३८ ॥

---

नहीं होता ।' (मनु० १०।१२।६) इत्यादि ॥ ३६ ॥

## तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

यहांसे आगे भी शूद्रका अधिकार नहीं है, सत्य वचनसे शूद्र न होनेका निश्चय होनेपर गौतमाचार्य जाबालको उपनयन करने और शास्त्र पढ़ानेको प्रवृत्त हुवे जैसे:—'यह अब्राह्मण नहीं कह सकता, हे सोम्य ! समिधा ले आओ, तुमको उपनयन करूंगा, क्योंकि तुम सत्यसे विचलित नहीं हुवे हो' ( छा० ४।४।५ ), इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं ॥ ३७ ॥

## श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

यहांसे आगे भी शूद्रका अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृति शूद्रको सुनने और पढ़नेके लिये निषेध करती है, वेदोंके सुननेका निषेध और वेदोंके अध्ययन करनेका भी निषेध है, और शूद्रको इसके लिये ज्ञान और अनुष्ठानका भी निषेध किया जाता है । सुननेका निषेध यह है—'शूद्र वेद सुने तो शीशे और लाखसे इसके कानको भर देना चाहिये ।' 'सदा पैरोंसे चलनेवाला पादयुक्त शूद्र श्मशान तुल्य है, इसलिये शूद्रके समीप नहीं पढ़ना चाहिये ।' जिसके समीप ही पढ़ना नहीं चाहिये वह शूद्र न सुने हुवेको कैसे पढ़ सकता है ? और शूद्रके वेदोच्चारण करनेपर उसकी जीभ काटी जाती है और धारण करनेपर उसका शरीर काटा जाता है । इसीलिये सूत्रस्थ चकारसे अर्थज्ञान और अनुष्ठानका निषेध होता है, जैसे—'शूद्रको मति न दे ।' और 'द्विजातियोंके लिये ही अध्ययन, यज्ञ और दान है (शूद्रके लिये नहीं)' पूर्वजन्मकृत संस्कारवशसे जिन विदुर और धर्मव्याध आदियोंकी ज्ञानोत्पत्ति होती है उनकी फलप्राप्तिको निषेध नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञानका फल तो एक सिद्धान्तरूपसे निश्चय ही मिलता है । 'चारों वर्णोंको सुनावे ।' इस प्रकार इतिहास और पुराणोंकी प्राप्तिमें चारों वर्णोंका अधिकार स्मरण किया गया है, किन्तु वेदपूर्वक तो शूद्रोंका अधिकार नहीं है, आखिर यही सिद्धान्तपक्ष स्थिर रहा ॥ ३८ ॥

यह नौवां अपशूद्राधिकरण समाप्त हुवा ।

## १० कम्पनाधिकरणम् । सू० ३९

### कम्पनात् ॥ ३९ ॥

अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः । प्रकृतामेवेदानीं वाक्यार्थविचारणां प्रवर्तयिष्यामः। 'यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (का० २।६।२) इति। एतद्वाक्यं 'एजृ कम्पने' इति धात्वर्थानुगमाल्लक्षितम्। अस्मिन्वाक्ये सर्वमिदं जगत्प्राणाश्रयं स्पन्दते, महच्च किंचिद्भयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतं, तद्विज्ञानाच्चामृतत्वप्राप्तिरिति श्रूयते । तत्र कोऽसौ प्राणः, किं तद्भयानकं वज्रमित्यप्रतिपत्तेर्विचारे क्रियमाणे प्राप्तं तावत्प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिर्वायुः प्राण इति। प्रसिद्धेरेव चाशनिर्वज्रं स्यात्। वायोश्चेदं माहात्म्यं संकीर्त्यते।

प्रश्नः—कथम्?

उत्तरम्—सर्वमिदं जगत्पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठायैजति। वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यते । वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नुवृष्ट्यशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते। वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम्। तथाहि श्रुत्यन्तरम्—'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' इति। तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्य इति।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्।

## १० कम्पनाधिकरणम् । सू० ३९

### कम्पनात् ॥ ३९ ॥

प्रसङ्गसङ्गतिसे प्राप्त हुवे अधिकारका विचार समाप्त होगया है, अब प्रकृत ही वाक्योंके अर्थोंको विचार करनेमें प्रवृत्त होते हैं। "यह उत्पन्न हुआ सब जगत् प्राणमें चेष्टा करता है, वह प्राण बड़ा भयङ्कर उठाये हुवे वज्रतुल्य है, उसको जो जानते हैं वे अमृत मोक्षको प्राप्त होते हैं (का० २।६।२)" यह वाक्य 'एजृ कम्पने' इस धातुके अर्थको विचार करनेसे लक्षित होता है। इस वाक्यमें यह सब जगत् प्राणके आश्रयमें चेष्टा करता है, भयको उत्पन्न करनेवाला किसी बड़े भयंकर वस्तुको यहा उठाये हुवे वज्र शब्दसे कहा है, और उसको जाननेसे अमृतरूप मोक्षकी प्राप्ति सुनी जाती है। अब यहां प्राण कौन है और वह भयानक वज्र क्या है ? इस प्रकार निश्चय ज्ञान न होनेमें विचार किये जानेपर पंच वृत्तिवाला वायु ही प्राण है, क्योंकि प्रसिद्ध होनेमें उसीका यहां ग्रहण है। और प्रसिद्धिसे ही अशनि वज्र होगा, तथा वायुकी ही महिमा गाई जाती है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—यह सब जगत् प्राण शब्दसे कथित पञ्चवृत्तात्मक वायुमे प्रतिष्ठित होकर चलता है, वायुके कारण ही वड़ा भयंकर वज्र उठाया जाता है, वायुके ही मेघरूपमे बदले जानेपर, बिजली, बादल, वर्षा और वज्र ये परिणत हुवे प्रतीत होते हैं ऐसा कहा जाता है। और इस वायुको जान लेनेसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, क्योंकि श्रुत्यन्तरमे कहा है—'यह वायु ही व्यष्टि विशेष रूपसे है, और वायु ही समष्टि—सामान्य एक रूपसे है, वही मृत्युको जीतता है जो ऐसा जानता है।' इस कारण यहां वायुको ही ग्रहण करना चाहिये।

( इतना प्रश्नोत्तर पूर्वपक्षीका है, अब इसका समाधान )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहा जाता है—यहां ब्रह्मको ही जानना चाहिये।

**प्रश्नः**—कुतः ?

**प्रत्युत्तरम्**—पूर्वोत्तरालोचनात् । पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे । इहैव कथमकस्मादन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि । पूर्वत्र तावत् 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' ( का० २ । ६ । १ ) इति ब्रह्म निर्दिष्टं, तदेवेहापि संनिधानात् जगत्सर्वं प्राण एजतीति च लोकाश्रयत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते । प्राणशब्दोऽप्ययं परमात्मन्येव प्रयुक्तः, 'प्राणस्य प्राणम्' ( बृ० ४ । ४ । १८ ) इति दर्शनात् । एजयितृत्वमपीदं परमात्मन एवोपपद्यते न वायुमात्रस्य । तथाचोक्तम्—'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ' ( का० २ । ५ । ५ ) इति । उत्तरत्रापि 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' ( का० २ । ६ । ३ ) इति ब्रह्मैव निर्देक्ष्यते न वायुः । सवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात् । तदेवेहापि संनिधानान्महद्भयं,वज्रमुद्यतमिति च भयहेतुत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते । वज्रशब्दोऽप्ययं भयहेतुत्वसामान्यात्प्रयुक्तः । यथाहि वज्रमुद्यतं ममैव शिरसि निपतेद्यद्यहमस्य शासनं न कुर्यामित्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादिशासने प्रवर्तत एवमिदमग्निवायुसूर्यादिकं जगदस्मादेव ब्रह्मणो बिभ्यन्नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तत इति भयानकं वज्रोपमितं ब्रह्म । तथाच ब्रह्मविषयं श्रुत्यन्तरम्—

---

**प्रश्न**—कैसे ?

**प्रत्युत्तर**—पहले और बादके प्रकरणोंको देख लेनेसे, पहले और बादके ग्रन्थभागोंमें ब्रह्मही निर्दिष्ट किया हुआ प्राप्त होता है, यहां अकस्मात् बीचमें कैसे निर्देश किये जानेवाले वायुको प्राप्त कर सकते हैं । प्रथम तो 'वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, और वही अमृत कहा जाता है, उसमें ये सब लोक आश्रित हैं और कोई उसको लांघ नहीं सकता'(का० २।६।१) इसप्रकार यहां ब्रह्मको निर्देश किया है,क्योंकि निकट-सम्बन्धसे यह सब जगत् प्राणमें चेष्टा करता है इस प्रकार लोकोंके आश्रय जानेकी प्रत्यभिज्ञा किये जानेसे वही प्रकृत ब्रह्म यहां भी निर्दिष्ट है ऐसा प्रतीत होता है । और यह प्राण शब्द भी परमात्मामें ही प्रयुक्त है—'यह ब्रह्म प्राणका प्राण है' ( बृ० ४।४।१८ ) ऐसा देखा जाता है । 'चेष्टा करानेवाला' यह भी परमात्मा ही हो सकता है, न कि केवल वायुमात्र, क्योंकि कहा है—"न प्राणसे और न अपानसे कोई मनुष्य जीता है इतर अन्य परमात्माके कारण ही सब जीते हैं, जिसमें ये दोनों प्राण और अपान आश्रित हैं ( का० २।५।५ )", बादमें भी—"इस ब्रह्मके भयसे ही अग्नि ताप देता है और इसीके भयसे सूर्य प्रकाशित होता है, और इन्द्र ( बिजली ) वायु तथा पांचवाँ मृत्यु ( विनाशकशक्ति ) भी उसीके भयसे अपने२ कार्यमें प्रवृत्त होते हैं (का० २।६।३)" इस प्रकार ब्रह्म ही निर्देश किया जाता है, वायु नहीं, क्योंकि वायुसहित जगत्का भयहेतु है ऐसा कथन किया गया है ( वायु जगत्से पृथक् तो नहीं है ) वही ब्रह्म यहां भी सामीप्यके कारण बड़ा भयंकर रूप है, और 'उठाया हुआ वज्र' यह भी भयके हेतु होनेकी प्रत्यभिज्ञासे ब्रह्मके निमित्त निर्देश किया गया प्रतीत होता है । वज्र शब्द भी भयहेतुत्वके सामान्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि वह उठाया वज्र मेरे ही सिरपर गिरेगा यदि मैं इनके शासन-आज्ञाको न मानूंगा, इस भयसे मनुष्य नियमसे काममें प्रवृत्त होता है, ऐसे ही ये अग्नि, वायु, सूर्य आदियुक्त जगत् इसी ब्रह्मसे डर कर नियमसे अपने काममें प्रवृत्त होता है, इसलिये ब्रह्म भयानक वज्रसे उपमित किया गया है, तथा श्रुत्यन्तरमें ब्रह्मका विषय है—

'भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चमः' ( तै० ८ । १ ) इति । अमृतत्वफलश्रवणादपि ब्रह्मैवेदमिति गम्यते । ब्रह्मज्ञानाद्ध्यमृतत्वप्राप्तिः । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ( श्वे० ६ । १५ ) इति मन्त्रवर्णात् । यत्तु वायुविज्ञानात्क्वचिदमृतत्वमभिहितं तदापेक्षिकम् । तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन परमात्मानमभिधाय 'अतोऽन्यदार्तम्' ( बृ० ३ । ४ ) इति वाय्वादेरार्तत्वाभिधानात् । प्रकरणादप्यत्र परमात्मनिश्चयः । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' ( का० १ । २ । १४ ) इति परमात्मनः पृष्टत्वात् ॥३९॥

## ११ ज्योतिरधिकरणम् । सू० ४०

### ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' ( छा० ८ । १२ । ३ ) इति श्रूयते । तत्र संशय्यते, किं ज्योतिःशब्दं चक्षुर्विषयतमोपहं तेजः किंवा परं ब्रह्मेति ।

प्रश्नः—किं तावत्प्राप्तम् ?

उत्तरम्—प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति ।

प्रश्नः—कुतः ?

---

"इसी ब्रह्मके भयसे वायु चलता है, भयसे ही सूर्य उदय होता है, भयसे अग्नि, इन्द्र-बिजली और पांचवीं मृत्यु—विनाशक शक्ति अपने२ काममें ये सब लगे रहते हैं ( तै० ८ । १ )", अमृतत्व फल सुननेसे भी यह ब्रह्म ही प्रतीत होता है, क्योंकि ब्रह्मके ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, जैसे कि—

"उसी ब्रह्मको जान कर मृत्युसे पार हो सकते हैं, उसके पास जानेके लिये और मार्ग नहीं है ( श्वे० ६ । १५ )", इस प्रकार मन्त्रमें वर्णन किया गया है । और जो वायुके विज्ञानसे अमृतत्वप्राप्तिका कथन किया गया है वह ब्रह्मकी अपेक्षासे है, वहीं प्रकरणान्तरके हेतुसे परमात्माको कह कर 'इसलिये ब्रह्मके अतिरिक्त शेष सब विनाशी हैं' ( बृ० ३ । ४ ), इस प्रकार वायु आदिको विनाशी कथन किया गया है । प्रकरणसे भी यहां परमात्माका निश्चय होता है—

'जो धर्म और अधर्मसे पृथक् है, जो कार्य और कारणभावसे अलग है और जो भूत तथा भविष्यत्से अलग ही रहता है ऐसे जिसे तुम देखते हो उसे कहो' ( का० १।२।१४ ), इस प्रकार परमात्माको पूछा है ॥ ३९ ॥ यह दसवां कम्पनाधिकरण समाप्त हो गया ।

## ११ ज्योतिरधिकरणम् । सू०–४०

### ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

"यह प्रसन्न होनेवाला जीवात्मा इस शरीरसे निकल कर उत्कृष्ट ज्योतिको प्राप्त कर अपने स्वरूपसे सम्पन्न हो जाता है ( छा० ८ । १२ । ३ )"

अब सन्देह होता है कि क्या यह 'ज्योतिः' शब्द आंखका विषय—देखे जानेवाले अन्धकारको नाश करनेवाला तेज–प्रकाश है अथवा परब्रह्म ?

प्रश्न—तो किसकी प्राप्ति है ?

उत्तर—यह प्रसिद्ध प्रकाशस्वरूप तेज ही 'ज्योतिः' इस शब्दसे कहा जाता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तरम्—तत्र ज्योतिःशब्दस्य रूढत्वात्। ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (ब्र० सू० १।१।२४) इत्यत्र हि प्रकरणाज्ज्योतिःशब्दः स्वार्थं परित्यज्य ब्रह्मणि वर्तते। नचेह तद्वत्किंचित्स्वार्थ-परित्यागे कारणं दृश्यते। तथाच नाडीखण्डे—'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' ( छा० ८।६।५ ) इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता। तस्मात्प्रसिद्ध-मेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्।

प्रश्नः—कस्मात्?

प्रत्युत्तरम्—दर्शनात्। तस्य हीह प्रकरणे वक्तव्यत्वेनानुवृत्तिर्दृश्यते, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' ( छा० ८। ७। १ ) इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकस्यात्मनः प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासितव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात्। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' ( छा० ८। ६। ३ ) इति चानुसंधानात्। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' ( छा० ८। १२। १ ) इति चाशरीरतायै ज्योतिःसंपत्तेरस्याभिधानात्। ब्रह्मभावाच्चान्य-त्राशरीरतानुपपत्तेः 'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' ( छा० ८। १२। ३ ) इति च विशेषणात्। 'यत्तूक्तं मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहितेति। नासावात्यन्तिको मोक्षो गत्युत्क्रान्तिसंबन्धात्। न ह्यात्यन्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः ॥४०॥

उत्तर—प्रकाश अर्थमें 'ज्योतिः' शब्द रूढ अर्थात् प्रसिद्ध है। 'ज्योतिश्चरणाविधानात्' ( ब्र० सू० १। १। २४ )'

यहां प्रकरणवश 'ज्योतिः' शब्द स्वार्थको छोड़ कर ब्रह्म अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, उस प्रकार यह स्वार्थको छोड़नेमें कोई कारण नहीं दीखता है। तथा नाड़ीखण्डमें—"जहां जीवात्मा शरीरसे पृथक् होता है तब इन्हीं किरणोंसे ऊपर चलता है ( छा० ८। ६। ५ )", इस प्रकार मुमुक्षुको सूर्यकी प्राप्ति होना कहा गया है। इस कारण प्रसिद्ध ही तेज 'ज्योतिः' है।

( यह पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीका समाधान )

प्रत्युत्तर—इस तरह प्राप्त होनेपर कहा जाता है—यहां 'ज्योतिः' शब्द परब्रह्म ही है।

प्रश्न—कैसे?

प्रत्युत्तर—क्योंकि ऐसा देखा जाता है। इस प्रकरणमें इस ब्रह्मको कथन करनेकी अनुवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि 'यह आत्मा अपहतपाप्मा-निष्पाप है ( छा० ८। ७। १ )' इस प्रकार निष्पापत्व आदि गुणयुक्त आत्माके प्रकरणादिमें अन्वेषण करनेकी और जिज्ञासा करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। 'इसी ब्रह्मको फिर व्याख्यान करूंगा ( छा० ८। ६। ३ )', इस प्रकार पूर्वविषय स्मरण किया जाता है। 'प्रिय और अप्रिय शरीररहितको नहीं छूते हैं ( छा० ८। १२। १ )', इस प्रकार अशरीरताके लिये इस आत्माको 'ज्योतिः' सम्पत्तियुक्त कहा है, ब्रह्मत्वसे अन्यत्र कहीं शरीररहित होना नहीं बनता और 'जो परज्योति है' 'वह उत्तम पुरुष है ( छा० ८। १२। ३ )', इस प्रकार ब्रह्मको विशेषण दिया गया है, और जो मुमुक्षुको सूर्यकी प्राप्ति होना कहा गया है वह आत्यन्तिक मोक्ष नहीं, क्योंकि गति-गमन और उत्क्रान्ति-निष्क्रमण इन दोनोंका सम्बन्ध वहां है, और आत्यन्तिक मोक्षमें गति और उत्क्रान्ति नहीं होती है वह हम आगे कहेंगे ॥ ४० ॥

यह ग्यारहवां ज्योतिरधिकरण समाप्त हुआ।

---

## १२ अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरणम् । सू० ४१

### आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' ( छा० ८ । १४ । १ ) इति श्रूयते । तत्किमाकाशशब्दं परं ब्रह्म किंवा प्रसिद्धमेव भूताकाशमिति विचारे भूतपरिग्रहो युक्तः । आकाशशब्दस्य तस्मिन्रूढत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य चावकाशदानद्वारेण तस्मिन्योजयितुं शक्यत्वात्, स्रष्टृत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याश्रवणादिति ।

उत्तरम्—एवं प्राप्त इदमुच्यते—परमेव ब्रह्मेहाकाशशब्दं भवितुमर्हति ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतमाकाशं व्यपदिशति । न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं संभवति' सर्वस्य विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात् । नामरूपयोरपि निर्वहणं निरङ्कुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' ( छा० ६ । ३ । २ ) इत्यादिब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात् ।

प्रश्नः—ननु जीवस्यापि प्रत्यक्षं नामरूपविषयं निर्वोढृत्वमस्ति ?

उत्तरम्—बाढमस्ति । अभेदस्त्विह विवक्षितः । नामरूपनिर्वहणाभिधानादेव च स्रष्टृत्वादि ब्रह्म-

## १२ अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरणम् सू० ४१

### आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

'यह आकाश नाम और रूपको धारण व संचालन करनेवाला संचालक है वे दोनों जिसके भीतर है वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है ( छा० ८ । १ । ४ )' ऐसा सुना जाता है । यहां आकाश शब्द परब्रह्मका वाचक है अथवा प्रसिद्ध भूताकाशका वाचक है इस प्रकार विचार होनेपर भूताकाशका ग्रहण करना उचित है, क्योंकि आकाश शब्द उसमें रूढ–प्रसिद्ध है, और नाम तथा रूपका धारण व संचालन करना अवकाश देनेरूपसे उसी आकाशमें लगा सकते हैं, स्रष्टा आदि होना ब्रह्मका स्पष्ट चिह्न यहां नहीं सुना गया है ।

( इतना पूर्वपक्षीका कथन है, इसका समाधान )

उत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—यह आकाश पर ही ब्रह्म हो सकता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्योंकि यहां किसी अन्यको कथन किया है, "ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' यहा नाम और रूपसे पृथक् अन्य आकाशको निर्देश किया है, ब्रह्मके अतिरिक्त नाम रूपसे पृथक् अन्य किसीका होना संभव नहीं, क्योंकि वह विकारसमुदाय ही नाम और रूपसे बना हुआ है, स्वतन्त्ररूपसे नाम और रूपको धारण व संचालन करना भी ब्रह्मसे भिन्न अन्यमें संभव नहीं हो सकता, ' इस जीवरूप आत्मामें फिर प्रवेश कर नाम और रूपको उत्पन्न करूंगा ( छा० ६।३।२ )", इस प्रकार ब्रह्मका कर्तृत्व होना सुना गया है ।

प्रश्न—प्रत्यक्ष ही नामरूपविषयक धारण व संचालन करनेकी शक्ति जीवकी भी है ।

उत्तर—हां है, यहां तो अभेदसे तात्पर्य है, 'नाम और रूपको संचालन करना' इस प्रकार कथन करनेसे तो स्रष्टा आदि ब्रह्मका चिह्न कहा गया है "वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है ( छा० ८।१४ )"

लिङ्गमभिहितं भवति । 'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' ( छा० ८ । १४ ) इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' ( ब्र० १ । १ । २२ ) इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः ॥४१॥

## १३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् । सू० ४२—४३

### सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

व्यपदेशादित्यनुवर्तते । बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' ( बृ० ४ । ३ । ७ ) इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृतः । तत्किं संसारिस्वरूपमात्रान्वाख्यानपरं वाक्यमुतासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमिति संशयः ।

प्रश्नः—किं तावत्प्राप्तम् ?

उत्तरम्—संसारिस्वरूपमात्रविषयमेवेति ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—उपक्रमोपसंहाराभ्याम् । उपक्रमे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात् । उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति तदपरित्यागात्, मध्येऽपि बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादिति ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यं न शारीरमात्रान्वाख्यानपरम् ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

ये ब्रह्मवादके चिह्न हैं । "आकाशस्तल्लिङ्गात् (ब्र०१।१।२२)" इसीका यह विस्तार है ॥ ४१ ॥
यह बारहवां अर्थान्तरत्व अधिकरण समाप्त हुआ ।

## १३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् । सू० ४२-४३

### सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

पूर्व सूत्रमे 'व्यपदेशात्' इसकी अनुवृत्ति आती है, बृहदारण्यकके छठे प्रपाठकमें—'यह आत्मा कौनसा है जो विज्ञानमय है और जो प्राणोंमे हृदयमें अन्तर्ज्योति पुरुष है' ( बृ० ४।३।७ ), इस प्रकार उपक्रम करके आत्माके विषयका बहुत विस्तार किया गया है, इसमें सन्देह होता है कि क्या यह वचन यहां संसारी जीवात्माके स्वरूपमात्रका बोधक है अथवा असंसारी ब्रह्मका स्वरूपप्रतिपादनपरक है ।

प्रश्न—तो किसकी प्राप्ति है ?

उत्तर—संसारी जीवात्माके स्वरूपमात्रका यह विषय है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—उपक्रम और उपसंहारसे, क्योंकि आरंभमे "योऽयं विज्ञानमयः 'प्राणेषु' इसमें जीवात्माका चिह्न पाया जाता है, और अन्तमें भी—वह यह महान् आत्मा है जो अजन्मा है जो प्राणोंमें विज्ञानमय है' ( बृ० ४।४।२२ ) इस प्रकार यहां जीवात्माका त्याग नहीं किया गया है, तथा बीचमें भी बुद्धान्त-जाग्रत आदि अवस्थाओंके निर्देशसे उसी जीवात्माका विस्तरशः कथन किया गया है ।

( इतना पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब इसका समाधान ) ।

प्रत्युत्तर—इस तरह प्राप्त होनेपर कहा जाता है—यह वाक्य परमेश्वरपरक है, न कि जीवात्ममात्र कथनपरक ।

प्रश्न—कैसे ?

**प्रत्युत्तरम्**—सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद्भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात्। सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' ( बृ० ४।३।२१ ) इति शारीराद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्र पुरुषः शारीरः स्यात्तस्य वेदितृत्वात्। बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसंभवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति' ( बृ० ४।३।३५ ) इति जीवाद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि शारीरो जीवः स्याच्छरीरस्वामित्वात्। प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः। तस्मात्सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात्परमेश्वर एवात्र विवक्षित इति गम्यते। यदुक्तमाद्यन्तमध्येषु शारीरलिङ्गात्तत्परत्वमस्य वाक्यस्येति। अत्र ब्रूमः—उपक्रमे तावत् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति न संसारिस्वरूपं विवक्षितम्।

**प्रश्नः**—किं तर्हि ?

**प्रत्युत्तरम्**—अनूद्य संसारिस्वरूपं परेण ब्रह्मणास्यैकतां विवक्षति। यतो 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्येवमाद्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिः संसारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते। तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममेवोपसंहरति—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवास्माभिः प्रतिपादित इत्यर्थः। यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात्संसारिस्वरूपविवक्षां मन्यते, स प्राचीमपि दिशं प्रस्थापितः प्रतीचीमपि दिशं प्रतिष्ठेत। यतो न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षति।

प्रत्युत्तर—क्योंकि सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें जीवात्मासे भिन्न परमेश्वरका कथन किया गया है, जैसे सुषुप्तिमें—'यह जीवात्मा प्राज्ञ परमेश्वरसे संयुक्त होकर न बाहरके विषयोंको जानता है और न भीतरके' ( बृ० ४।३।२१ ), इस प्रकार जीवात्मासे भिन्न परमेश्वरको कथन किया है। वहां शरीरधारी पुरुष जीवात्मा है, क्योंकि जाननेवाला होता है, उसका बाह्य और आभ्यन्तरविषयक ज्ञानके प्रसङ्ग होनेपर उसका निषेध किया गया है। प्रकृष्ट ज्ञानवाला प्राज्ञ परमेश्वर है, क्योंकि सर्वज्ञत्व लक्षणवाली प्रज्ञासे ब्रह्मका कभी वियोग नहीं होता है। तथा उत्क्रान्ति (निष्क्रमण) में भी—'यह शरीरी जीवात्मा प्राज्ञ परमेश्वरसे युक्त होकर शरीरको छोड़ जाता है' ( बृ० ४। ३। ३५ ), इस प्रकार जीवसे भिन्न परमेश्वरको निर्देश किया है। यहां भी शरीरधारी जीव है, क्योंकि यह शरीरका स्वामी है, प्रकृष्ट ज्ञानवाला प्राज्ञ तो वही परमात्मा है, इस कारण सुषुप्ति और उत्क्रान्तिके भेदसे निर्देश करनेसे यहां परमेश्वरका ही कथन किया जाना प्रतीत होता है। और यह जो कहा था कि आदि, अन्त और बीचमें जीवात्माके चिह्न पाये जानेसे यह वाक्य जीवात्मपरक है। यहां कहते हैं—उपक्रमसे तो **'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'** यह वचन जीवात्माके स्वरूपकी विवक्षा नहीं करता है।

प्रश्न—तो किसकी विवक्षा करता है ?

प्रत्युत्तर—जीवात्माके स्वरूपको कह कर परब्रह्मके साथ एकता करनेकी विवक्षा है। जिस कारण 'वह ध्यान करता जैसा और लीला करता जैसा है' इस प्रकार आदि और उत्तर ग्रन्थकी प्रवृत्ति जीवात्माके धर्मको हटानेवाली देखी गई है, तथा अन्तमें भी आरम्भके अनुसार ही समाप्त किया गया है— 'वह यह महान् अजन्मा आत्मा है जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है', जो यह विज्ञानमय प्राणोंमें शरीरधारी जीवात्मा देखा जाता है वही यह महान अजन्मा आत्मा परमेश्वर है उसीको हमने प्रतिपादन किया है। और जो यह मानता है कि जाग्रत आदि अवस्थाओंके निर्देशसे जीवात्माके स्वरूपकी विवक्षा है, तो वह पुरुष पूर्व जाता हुवा भी पश्चिम दिशामें भी चला जावे। जाग्रत आदि अवस्थाओंके निर्देशसे किसी अवस्थावाले जीवात्माकी विवक्षा नहीं है।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—अवस्थारहितत्वमसंसारित्वं च ।

प्रश्नः—कथमेतदवगम्यते ?

प्रत्युत्तरम्—यत् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छति । यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः ( बृ० ४।३।१४,१५ ) इति पदे पदे प्रतिवक्ति । 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान्हृदयस्य भवति' ( बृ० ४३।२२ ) इति च । तस्मादसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् ॥ ४२ ॥

## पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

इतश्चासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् । यदस्मिन्वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपराः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाश्च भवन्ति । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इत्येवंजातीयका असंसारिस्वभावप्रतिपादनपराः । स, न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इत्येवंजातीयकाः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाः । तस्मादसंसारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते ॥ ४३ ॥ इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

---

प्रश्न—तो किसकी है ?

प्रत्युत्तर—अवस्थारहित और असंसारी ब्रह्मकी विवक्षा है ।

प्रश्न—यह कैसे जानी जाती है ?

प्रत्युत्तर—'अब इसके पश्चात् मोक्षके लिये कहिये।' इस प्रकार जिसको बार२ पूछा है, और जो 'वह अनन्वागत—किसी अवस्थाधर्मसे संयुक्त नहीं होता है, क्योंकि वह असङ्ग पुरुष है' ( बृ०४।३।१४,१५) इस प्रकार बार२ उत्तर दिया जाता है । 'जब वह पुण्य और पापसे संयुक्त नहीं होता है तब वह हृदयके सब शोकोंसे पार हो जाता है' ( बृ० ४ । ३ । २२ ) इत्यादि । इस कारण यह वाक्य असंसारी ब्रह्मके स्वरूपको प्रतिपादन करता है यह जान लेना चाहिये ॥ ४२ ॥

## पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

अब यहांसे आगे भी यह वाक्य ब्रह्मस्वरूपको ही प्रतिपादन करनेवाला है यह जानना चाहिये, क्योंकि इस वाक्यमें ब्रह्मके स्वरूपको निर्देश करनेवाले और जीवात्माके स्वरूपको हटानेवाले 'पति' आदि शब्द पाये जाते हैं, जैसे—'सबको वशमें करनेवाला, सबके ईश्वर और सबके मालिक वह ब्रह्म है।' इस प्रकार ब्रह्मके स्वभावको निर्देश करनेवाले "वशी, ईशानः, अधिपति" इत्यादि शब्द पाये जाते हैं। 'वह ब्रह्म परमात्मा अच्छे कर्मसे बड़ा नहीं होता है और न बुरे कर्मसे छोटा होता है ।' इस प्रकार जीवात्माके स्वरूपको हटानेवाले शब्द हैं, इस कारण असंसारी परमेश्वर ही यहां कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है ॥ ४३ ॥ यह तेरहवां सुषुप्त्युत्क्रान्ति अधिकरण समाप्त हो गया ।

यह प्रथम अध्यायका तीसरा पाद समाप्त हुआ ।



## प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ।

[ अत्र प्रधानविषयत्वेन संदिह्यमानानामव्यक्तादिपदानां चिन्तनम् । ]

### १ आनुमानिकाधिकरणम् । सू० १—७

**आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥**

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्—'जन्माद्यस्य यतः' ( ब्र० १।१।२ ) इति । तल्लक्षणं प्रधानस्यापि समानमित्याशङ्क्य तदशब्दत्वेन निराकृतम्—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' ( ब्र० १।१।५ ) इति । गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते न प्रधानकारणवादं प्रतीति प्रपञ्चितं गतेन ग्रन्थेन । इदं त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं प्रधानस्याशब्दत्वं तदसिद्धं, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वात् । अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते । तद्यावत्तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते तावत्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादितमप्याकुलीभवेत । अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः संदर्भः प्रवर्तते ।

प्रश्नः—आनुमानिकमप्यनुमाननिरूपितमपि प्रधानमेकेषां शाखिनां शब्दवदुपलभ्यते । काठके हि पठ्यते—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' ( १।३।११ ) इति । तत्र य एव यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिप्रसिद्धास्त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते । तत्राव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः, शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तिसंभ-

## प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ।

### १ आनुमानिकाधिकरणम् सू० १-७

**आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥**

ब्रह्मकी जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा कर ब्रह्मका लक्षण "**जन्माद्यस्य यतः** ( ब्र० १ । १ । २ )" इस सूत्रमें कह दिया । यह लक्षण ( सांख्यकल्पित ) प्रधानका भी समान हो सकता है यह आशंका कर उसको "**ईक्षतेर्नाशब्दम्** ( ब्र० १ । १ । ५ )" इस सूत्रमें शब्दप्रमाणरहित होनेके कारण खण्डन कर दिया है । ब्रह्मकारणवादमें वेदान्तवाक्योंकी समान गति है न कि प्रधानकारणवादमें, इसका विस्तरशः व्याख्यान गत ग्रन्थसे कर दिया है । अब यह अवशिष्ट शंका की जाती है—जो यह प्रधानको शब्दप्रमाणरहित कहा है वह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि किन्हीं शाखाओंमें प्रधानके अर्पणाभास शब्द सुने जाते हैं । इसलिये प्रधानका कारणत्व होना वेदसिद्ध ही है, इसे बड़े२ परमर्षि कपिल आदि स्वीकार करते हैं । जब तक उन प्रधानाभास शब्दोंका अन्यार्थ प्रतिपादन न किया जाय तब तक सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है इस तरह प्रतिपादन किया हुआ भी गड़बड़ा जावेगा, इस कारण उन प्रधानाभास शब्दोंका अन्यार्थ दिखानेके लिये अगला ग्रन्थ प्रवृत्त होता है ।

**प्रश्न**—यह अनुमानगम्य प्रधान भी किन्हीं शाखावालोंके मतमें शब्दप्रमाणयुक्त मिलता है । कठोपनिषदमें पढ़ा जाता है—'महान्से परे अव्यक्त है और अव्यक्तसे पुरुष पर है' ( का० १ । ११ ), वहां स्मृतिप्रसिद्ध जो नाम और क्रमवाले महान्, अव्यक्त तथा पुरुष हैं उन्हींकी यहां प्रत्यभिज्ञा की जाती है, क्योंकि वहां अव्यक्त शब्द स्मृतिमें प्रसिद्ध है, तथा शब्द आदि रहित होनेसे भी जो व्यक्त न हो वह अव्यक्त है, इस प्रकारकी व्युत्पत्ति होना सम्भव होता है, इसलिये स्मृतिप्रसिद्ध प्रधान यहां कहा

वात्, स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमभिधीयते । तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम् । तदेव च जगतः कारणं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत् ?

उत्तरम्—नैतदेवम् । नह्येतत्काठकं वाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम् । नह्यत्र यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञायते । शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते । स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते । नचायं कस्मिंश्चिद्रूढः । या तु प्रधानवादिनां रूढिः सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते । नच क्रममात्रसामान्यात्समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने । नह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति । प्रकरणनिरूपणायां चात्र न परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते । शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । शरीरं ह्यत्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—प्रकरणात्परिशेषाच्च । तथाह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपक्लृप्तिं दर्शयति—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' ( का० १ । ३ । ३,४ ) इति । तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति । संयतैस्त्वध्वनः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोतीति दर्शयित्वा,

---

जाता है । जबकि प्रधानमें शब्दका प्रमाण है तब उसे अशब्द कहना बनता नहीं, वही प्रधान जगतका कारण है, क्योंकि वह तो श्रुति, स्मृति, न्याय और प्रसिद्धिसे सिद्ध है यदि ऐसा माना जाय ?

( इतना सांख्यवादीका कथन है, इसका समाधान )

उत्तर—इस प्रकार यदि मानते हो तो यह ठीक नहीं, यह कठोपनिषद्का वाक्य स्मृतिमें प्रसिद्ध महत् और अव्यक्तके अस्तित्वको प्रकट करनेवाला नहीं है, यहां जैसा स्मृतिमें प्रसिद्ध स्वतन्त्र कारण त्रिगुणात्मक प्रधान है उसकी प्रत्यभिज्ञा नहीं की जाती है, यहां तो केवल अव्यक्त इस प्रकार शब्दमात्रकी ही प्रत्यभिज्ञा की जाती है, और वह शब्द जो व्यक्त न हो वह अव्यक्त है इस तरह यौगिक होनेसे वह अव्यक्त शब्द अन्य सूक्ष्म दुर्निरीक्ष्य वस्तुमें प्रयुक्त होता है और यह अव्यक्त शब्द किसी अर्थमें रूढ—प्रसिद्ध भी नहीं है । और जो प्रधानवादियोंकी रूढि है वह तो उनकी अपनी पारिभाषिक है, इसलिए उनकी पारिभाषिकी रूढि वेदार्थके निरूपणमें कारण नहीं हो सकती । जब तक किसीके रूपकी प्रत्यभिज्ञा न हो केवल क्रमकी समानतासे समानार्थका ज्ञान नहीं होता है, घोड़ेके स्थानमें गायको देखकर यह घोड़ा है इस प्रकार कोई विद्वान् निश्चय नहीं करेगा । और प्रकरणको विचार करनेपर भी यहां दूसरोंके कल्पित प्रधान प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि शरीरको रूपक निर्देश कर ग्रहण किया है, यहां शरीरको रथका रूपक निर्देश किया है वह अव्यक्त शब्दसे ग्रहण किया जाता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—प्रकरणसे और अवशिष्ट ग्रन्थसे, जैसे—इसके समीपका ही पूर्वग्रन्थ आत्मा और शरीर आदियोंको रथी और रथ आदिका सूचक होना दिखाता है—'आत्माको रथी और शरीरको रथ जानो, बुद्धिको सारथि तथा मनको लगाम जानो । इन्द्रियोंको घोड़े कहते हैं, इन्द्रियोंके विषयोंको मार्ग कहते हैं और मनीषीलोग इन्द्रिय तथा मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते है ( का० १ । ३ । ३–४)' जो इन्द्रिय आदियोंको वशमें नहीं कर सकता वह संसारको प्राप्त होता है, और जो उन्हें संयम कर सकता है

किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकांक्षायां, तेभ्य एव प्रकृतेभ्य इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः पारं विष्णोः परमं पदं दर्शयति—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥' ( का० १।३।१०,११ ) इति। तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृह्यन्ते प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियापरिहाराय। तत्रेन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत्पूर्वत्रेह च समानशब्दा एव। अर्था ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टास्तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्। 'इन्द्रियाणां ग्रहत्वं विषयाणामतिग्रहत्वम्' ( बृ० ३।२ ) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। विषयेभ्यश्च मनसः परत्वं, मनोमूलत्वाद्विषयेन्द्रियव्यवहारस्य। मनसस्तु परा बुद्धिः। बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति। 'बुद्धेरात्मा महान्परः', यः स 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इति रथित्वेनोपक्षिप्तः।

**प्रश्नः**—कुतः ?

**उत्तरम्**—आत्मशब्दात्। भोक्तुश्च भोगोपकरणात्परत्वोपपत्तेः। महत्त्वं चास्य स्वामित्वादुपपन्नम्। [1]अथवा [2]'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव

---

वह तो मार्गको पार करता हुआ उस विष्णुके परमपदको प्राप्त होता है,' इस प्रकार दिखाकर, उस मार्गसे परले पार विष्णुका परम स्थान क्या है यह आकांक्षा होनेपर उन्हीं प्रकृत इन्द्रिय आदियोंसे पर सूक्ष्म होनेसे परमात्माको रास्तेके पार विष्णुका परमस्थान है यह श्रुति दिखाती है—'इन्द्रियोंसे इन्द्रियोंका विषय–अर्थ सूक्ष्म है, अर्थोंसे मन सूक्ष्म है, मनसे बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धिसे महान् आत्मा सूक्ष्म है, उस महान् आत्मासे अव्यक्त और उस अव्यक्तसे पुरुष परमात्मा सूक्ष्म है, पुरुष परमात्मासे सूक्ष्म और कोई नहीं है, वही आखिरी गति है' ( का० १।३।१०–११ ), वहांपर जो इन्द्रिय आदि पहलेकी रथरूपककल्पनामें अश्व आदि भावसे प्रकृत थीं वे ही यहांपर ग्रहण की जाती हैं, जिससे प्रकृतको हानि और अप्रकृतका ग्रहण न हो, वहां इन्द्रिय, मन और बुद्धि तो पहलेमें और यहां समान शब्द ही हैं, शब्द आदि विषयवाले जो अर्थ घोड़े समान इन्द्रियोंके मार्गरूपसे निर्देश किये गये हैं वे अर्थ इन्द्रियोंसे सूक्ष्म हैं, क्योंकि—'इन्द्रिय ग्रह हैं और विषय अतिग्रह–पर सूक्ष्म हैं' ( बृ० ३।२ ), यह श्रुतिमें प्रसिद्ध है। विषयोंसे मन सूक्ष्म है, क्योंकि विषय और इन्द्रियोंका व्यवहार मनोमूलक ही है। मनसे सूक्ष्म बुद्धि है, क्योंकि बुद्धिमें पहुंच कर ही भोग्यसमूह भोक्ता आत्माके पास पहुंचते हैं। 'बुद्धिसे महान् आत्मा सूक्ष्म है।' जो वह आत्मा **'आत्मानं रथिनं विद्धि'** इस श्रुतिमें रथिरूपसे कहा गया।

**प्रश्न**—कैसे ?

**उत्तर**—आत्मा शब्दसे, क्योंकि भोक्ता आत्माका भोगके साधन इन्द्रियोंसे पर सूक्ष्म होना युक्तियुक्त ही है। और इस आत्माको महान् जो कहा है वह तो मालिक होनेसे ठीक ही है। अथवा—"मनो-

---

१—अथवा श्रुति और स्मृतिके प्रमाणोंसे हिरण्यगर्भसम्बन्धी बुद्धि आत्मशब्दसे कही जाती है यह कहते हैं—**अथवेति—भामती।**

२—( मनः ) मननशक्ति, ( महान् ) व्यापक होनेवाली, ( मतिः ) भविष्यका निश्चय, ब्रह्मा–आत्मा, ( पूः ) भोग्य समुदायका आश्रय, ( बुद्धिः ) तात्कालिक निश्चय, ( ख्याति ) कीर्तिशक्ति, ( ईश्वरः ) नियमन शासन करनेकी शक्ति, ( प्रज्ञा ) तीन कालोंका निश्चय, ( संवित् ) प्रकट करनेवाली, ( चितिः ) अभ्यास किये हुये व्यतीत सब अर्थोंको ग्रहण करनेवाली समष्टि बुद्धि—**रत्नप्रभा।**

स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥' इति स्मृतेः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' ( श्वे० ६।१८ ) इति च श्रुतेर्या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परा प्रतिष्ठा । सेह महानात्मेत्युच्यते । सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते । तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः । एतस्मिंस्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम् । परमार्थतः परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात् । तदेवं शरीरमेवैकं परिशिष्यते । इतराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपदं दिदर्शयिषया समनुक्रामन्परिशिष्यमाणेनेहान्त्येनाव्यक्तशब्देन परिशिष्यमाणं प्रकृतं शरीरं दर्शयतीति गम्यते । शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता । तथात्र 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥' ( का० १।३।१२ ) इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं योगं दर्शयति— 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥' ( का० १ । ३। १३ ) इति । एतदुक्तं भवति—वाचं मनसि संयच्छेत् वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत । मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदितायां बुद्धावध्यवसायस्वभावायां धारयेत् । तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तर्यग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापादनेन नियच्छेत् । महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्रकरणवति परस्मिन्पुरुषे परस्यां

---

**महान्मतिः०"** इस स्मृतिके प्रमाणोंसे और 'जो पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदोंको प्राप्त कराता है' ( श्वे० ६।१८ ), इस श्रुतिके प्रमाणोंसे प्रथम उत्पन्न हुये हिरण्यगर्भकी बुद्धि और सब बुद्धियोंसे पर श्रेष्ठ है, वह यहां महान् आत्मा कही गई है, वह बुद्धि पूर्व श्रुतिमें बुद्धिके ग्रहणसे ग्रहण होनेपर भी फिर यहां पृथक् निर्देश की जाती है, क्योंकि हम लोगोंकी बुद्धिसे उस हिरण्यगर्भकी बुद्धि सूक्ष्म हो सकती है। इस पक्षमें तो परमात्मविषयक हो परसे पुरुषशब्दसे रथी आत्माका ग्रहण होता है यह देख लेना चाहिये, क्योंकि परमार्थरूपसे परमात्मा और जीवात्माका भेद नहीं होता है, इस प्रकार केवल एक शरीर ही शेष रहता है। परमपद उत्कृष्ट पदको दिखलानेकी इच्छासे अन्य प्रकृत ही इन्द्रियादियोंको बतलाती हुई रहा शेष बचे हुये अव्यक्त शब्दसे अवशिष्ट प्रकृत शरीरको ही श्रुति दिखाती है यह प्रतीत होता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और वेदना—सुख दुःखादिका अनुभव इनसे संयुक्त अविद्यावाले भोक्ता आत्माके शरीर आदियोंका रथ आदि रूपककी कल्पनासे संसारसे मोक्ष होनेकी गति दिखलानेसे सर्वव्यापी ब्रह्मात्माका निश्चय होना ही यहां विवक्षित है। तथा—'यह सब प्राणियोंमें गुप्त रूपसे व्याप्त होनेवाला आत्मा असंयत पुरुषोंको प्राप्त नहीं होता है, किन्तु सूक्ष्मदर्शि लोग ही सूक्ष्म बुद्धिसे उसे जानते हैं' ( का० १।३।१२ ), इस प्रकार सर्वव्यापक विष्णुके परम स्थानको दुर्गम कह कर उसकी प्राप्तिके लिये श्रुति मार्ग दिखलाती है— **'यच्छेद्वाङ्मनसी०'** ( का० १।३।१३ ) इस श्रुतिका अभिप्राय यह है कि—'वाणीको मनमें अर्पण करे अर्थात् वाणी आदि बाहरकी इन्द्रियोंके व्यापार—कर्मको छोड़ कर मनोमात्रसे स्थिर रहे, संकल्पविकल्पात्मक विषयोंकी ओर प्रवृत्त होनेवाले मनको भी विकल्प दोषोंके देखे जानेसे ज्ञान शब्दसे कही जानेवाली निश्चयात्मिका बुद्धिमें धारण करे, उस बुद्धिको भी महान् आत्मा भोक्तामें अथवा सूक्ष्मतर बुद्धिमें सूक्ष्मत्व करानेके लिये अर्पण करे, और उस महान् आत्माको शान्त प्रकरणसंगत आत्मा पर पुरुषमें—जहांसे आगे कोई और नहीं

काष्ठायां प्रतिष्ठापयेदिति च। तदेवं पूर्वापरालोचनायां नास्त्यत्र परपरिकल्पितस्य प्रधानस्यावकाशः ॥ १ ॥

## सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

उक्तमेतत्प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दं न प्रधानमिति। इदमिदानीमाशङ्क्यते—

प्रश्नः—कथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य, यावता स्थूलत्वात्स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तशब्दार्हमस्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति ?

उत्तरम्—अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० मं० ९।४६।४) इति। श्रुतिश्च—तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।७) इतीदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत्प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनामरूपं बीजशक्त्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति ॥२॥

## तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

प्रश्नः—अत्राह—यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकारण-

है—स्थापन करे। इस प्रकार पूर्वापर विचार कर लेनेपर दूसरोंके परिकल्पित प्रधानके लिये यहां कोई जगह नहीं है ॥ १ ॥

## सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

यह कह दिया है कि प्रकरण और परिशिष्ट ग्रन्थसे शरीर अव्यक्तशब्दवाच्य है प्रधान नहीं।

प्रश्न—अब यहां यह शंका की जाती है—शरीर क्यों अव्यक्त शब्दसे कहे जाने योग्य है जबकि स्थूल होनेसे स्पष्टतर ही व्यक्त शब्दसे कहे जाने योग्य है, और अव्यक्त शब्द तो अस्पष्टवाची है ?

उत्तर—इस कारण उत्तर कहा जाता है—कारणरूपसे यहां सूक्ष्म शरीरकी विवक्षा है, क्योंकि सूक्ष्म वस्तु अव्यक्तशब्दार्ह है अर्थात् अव्यक्त शब्दसे कहे जाने योग्य होता है। यद्यपि यह स्थूल शरीर स्वतः अव्यक्त शब्दकी अपेक्षा नहीं करता है, तथापि उस स्थूल शरीरका आरम्भक—उत्पन्न करनेवाला सूक्ष्म भूत अव्यक्त शब्दकी अपेक्षा करता है। प्रकृति शब्द विकारमें देखा गया है, जैसे—'गायके[1] दूधसे सोमको मिलावे' ( ऋ० सं० ९।४६।४ ), और श्रुतिप्रमाण भी है—'तब यह जगत् अव्याकृत था' (बृ० १।४।७ ), इस प्रकार श्रुति यही विकारयुक्त नाम और रूपसे अनेक प्रकारको प्राप्त हुये जगत्को पूर्वावस्थामें विकृत नाम रूपरहित बीजशक्तिकी अवस्थामें युक्त अव्यक्त शब्दसे कहे जाने योग्य दिखलाती है ॥ २ ॥

## तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

प्रश्न—यहां कहते है—यदि इस जगत्को नाम और रूपसे अप्रकट, बीजात्मक, पूर्वावस्थापन्न अव्यक्त शब्दार्ह होना स्वीकार किया जाय और कारणरूपसे शरीरको भी अव्यक्तशब्दवाच्य होनेकी प्रतिज्ञा करनी होगी

---

१—यहां गोशब्दसे विकार अर्थमें दूध लिया गया है—भामती।

याद् एवं सत्यापद्येत । अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमादिति ?

उत्तरम्—अत्रोच्यते—यदि वयं स्वतन्त्रां, कांचित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम् । परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा । सा चावश्याभ्युपगन्तव्या । अर्थवती हि सा । नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति । शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । 'मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः ।[1]

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात् । अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः । तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृ० ३ । ८ । ११) इति श्रुतेः । क्वचिदक्षरशब्दोदितम्—अक्षरात्परतः परः' ( मु० २ । १ । २ ) इति श्रुतेः । क्वचिन्मायेति सूचितम्—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' ( श्वे० ४ । १० ) इति मन्त्रवर्णात् । अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात् । तदिदं 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तमव्यक्तप्रभवत्वान्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान् । यदा तु जीवो महांस्तदाप्यव्यक्ताधीन-

इस प्रकार माननेपर तो यही प्रधानकारणवाद उपस्थित होता है, क्योंकि इस जगत्की पूर्वावस्थामें प्रधानको ही कारणरूपसे स्वीकार किया है ?

उत्तर—यहां कहा जाता है—यदि हम किसी स्वतन्त्र पूर्वावस्थाको जगत्का कारणरूपसे स्वीकार करें तो प्रधान कारणवादको स्वीकार किये होते । हम तो जगत्की पूर्वावस्थाको परमेश्वरके अधीन होना मानते हैं, स्वतन्त्र नहीं, उसे तो अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये, क्योंकि वह प्रयोजनवाली है, उसके बिना परमेश्वरका स्रष्टा होना सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि शक्तिरहित परमेश्वरकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती और मुक्तात्माओंका फिर बन्ध नहीं हो सकता ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्योंकि विद्यासे उस बीजशक्तिका दाह हो जाता है । अविद्यारूप बीजशक्ति अव्यक्तशब्दसे निर्देश करने योग्य है जो परमेश्वरके आश्रयमें रहनेवाली मायामयी महासुषुप्तिरूप है । जिस मायामयी बीजशक्तिमें स्वरूपज्ञानसे रहित संसारी जीव सदा सोते रहते हैं । उस अव्यक्तको कहीं आकाशशब्दसे निर्देश किया है, जैसे—'हे गार्गि ! इस अक्षरमें आकाश पिरोया हुआ है' ( बृ० ३।८।११ ) इस श्रुतिमें, कहीं अक्षरशब्दसे कहा गया है, जैसे—'वह आत्मा अक्षर प्रकृतिसे पर-सूक्ष्म है' (मु० २।१।२), इस श्रुतिमें और कहीं माया शब्दसे सूचित किया है, जैसे—'प्रकृतिको माया और परमेश्वरको मायी जानना चाहिये' ( श्वे० ४।१० ) इस मन्त्रमें । वह माया अव्यक्त है, क्योंकि अव्यक्त मायाको तत्त्व और अतत्त्वरूपसे निरूपण नहीं कर सकते । इसी अव्यक्तको "महतः परमव्यक्तम्" इस श्रुतिमें अव्यक्त कहा है, क्योंकि महत्तत्त्व अव्यक्तसे उत्पन्न होता है जब हिरण्यगर्भकी बुद्धि महान् कहलाती है । जब जीव ही महान् है, तब भी जीवभाव अव्यक्ताधीन होनेसे महान्से अव्यक्त सूक्ष्म कहा गया है ।

१—यदि ब्रह्मकी अविद्याशक्तिसे संसार प्रतीत होता है तो यह दुःखकी बात होगी कि मुक्तात्माओंकी भी फिर उत्पत्तिका प्रसङ्ग होगा, क्योंकि अविद्याशक्तिकी प्रधानके तुल्य समान अवस्था है, अथवा अविद्याशक्तिका नाश माना जाय तो समस्त संसार उच्छिन्न हो जाय, क्योंकि संसारका मूल—अविद्याशक्तिका नाश हो जाता है, इस कारण कहते हैं कि—'**मुक्तानां च पुनः । बन्धस्य अनुत्पत्तिः**'—**भामती ।**

त्वाज्जीवभावस्य महतः परमव्यक्तमित्युक्तम्। अविद्या ह्यव्यक्तम्। अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः संव्यवहारः संततो वर्तते। महतः परत्वमभेदोपचारात्तद्विकारे शरीरे परिकल्प्यते। सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचाराद्व्यक्तशब्देन ग्रहणं, इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात्परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य।

प्रश्नः—अन्ये तु वर्णयन्ति—द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च। स्थूलं यदिदमुपलभ्यते। सूक्ष्मं यदुत्तरत्र वक्ष्यते—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० ३।१।१) इति। तच्चोभयमपि शरीरमविशेषात्पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितम्। इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते। सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवात्तस्य परत्वम्। यथार्थाधीनत्वादिन्द्रियव्यापारस्येन्द्रियेभ्यः परत्वमर्थानामिति?

उत्तरम्—तैस्त्वेतद्वक्तव्यं, अविशेषेण शरीरद्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितत्वात्समानयोः प्रकृतत्वपरिशिष्टत्वयोः कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते न पुनः स्थूलमपीति।

प्रश्नः—आम्नातस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामो नाम्नातं पर्यनुयोक्तुम्। आम्नातं चाव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं शक्नोति नेतरद्व्यक्तत्वात्तस्येति चेत्?

उत्तरम्—न। एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः। नहीमे पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवाक्यतामनापद्य कंचिदर्थं प्रतिपादयतः, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। नचाकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्तिरस्ति। तत्राविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षा-

अविद्या ही अव्यक्त है, अविद्यावाले होने ही से जीवात्माके सब व्यवहार निरन्तररूपसे होते रहते हैं। अव्यक्तका महान्से परत्व होना अभेदोपचारसे उस अव्यक्तके विकाररूप शरीरमें कल्पना की जाती है। शरीर तुल्य इन्द्रिय आदियोंका अव्यक्तके विकार होनेमें कोई विशेषता न होनेपर भी शरीरका ही अभेदोपचारसे अव्यक्त शब्दसे ग्रहण होता है, क्योंकि इन्द्रिय आदि तो अपने शब्दोंसे ही ग्रहण कर ली गई हैं और शरीर ही शेष रहता है।

प्रश्न—( अब किसी एकदेशी आचार्यके मतको कहते हैं ) अन्य आचार्य तो वर्णन करते हैं कि—स्थूल और सूक्ष्म भेदसे शरीर दो प्रकारके होते हैं, जो यह उपलब्ध होता है वह स्थूल है, और सूक्ष्म वह है जो आगे "तदन्तरप्रतिपत्तौ० (ब्र० ३।१।१)" इस सूत्रमें कहा जायेगा, ये दोनों ही प्रकारके शरीरोंको सामान्यरूपसे पूर्वत्र श्रुतिमें रथत्वेन संकीर्त्तन किया है। यहाँ तो सूक्ष्म शरीर अव्यक्त शब्दसे लिया गया है, क्योंकि सूक्ष्म वस्तु अव्यक्त शब्दसे कहे जाने योग्य होती है। उस सूक्ष्म शरीरके अधीन बन्ध और मोक्षका व्यवहार होता है इसलिये जीवात्मासे अव्यक्त पर है, जैसे—इन्द्रियोंसे अर्थ पर सूक्ष्म हैं क्योंकि इन्द्रियोंके व्यवहार शब्दाद्यर्थाधीन होते हैं?

उत्तर—( अब इसका खण्डन ) उन लोगोंको यह कहना पड़ेगा कि—दोनों प्रकारके शरीरोंके प्रथम रथत्वेन सामान्यरूपसे संकीर्त्तन होनेसे प्रकृत और परिशिष्ट समान होनेपर क्यों सूक्ष्म शरीरका ही यहां ग्रहण हो और स्थूलका न हो?

प्रश्न—( एकदेशी आचार्य पक्षका परिहार ) श्रुतिमें कथित अर्थको जाननेके लिये हम उद्यत हैं न कि जो श्रुतिमें कथन न किया हो उसकी सङ्गति लगानेके लिये, यहां श्रुत्युक्त अव्यक्त पद तो सूक्ष्म शरीरको ही प्रतिपादन कर सकता है स्थूल को नहीं, क्योंकि वह तो व्यक्त ही है?

उत्तर—( इसका खण्डन ) यदि ऐसा मानते हो तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अर्थज्ञान एक वाक्यताधीन होता है। श्रुत्युक्त दोनों पूर्वोत्तर वाक्य एकवाक्यताको प्राप्त न होकर किसी अन्य अर्थको प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि ऐसा करनेपर प्रकृतका त्याग और अप्रकृतका प्रसङ्ग होगा। आकांक्षाके विना एकवाक्यताका ज्ञान नहीं हो सकता। सामान्यरूपसे दोनों शरीरोंके ग्रहण करनेकी आकांक्षा होनेपर

यां यथाकांक्षं सम्बन्धेऽनभ्युपगम्यमान एकवाक्यतैव बाधिता भवति कुत आम्नातस्यार्थप्रतिपत्तिः । नचैवं मन्तव्यं दुःशोधत्वात्सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहणं, स्थूलस्य तु दृष्टबीभत्सतया सुशोधत्वादग्रहणमिति । यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद्विवक्ष्यते । नह्यत्र शोधनविधायि किंचिदाख्यातमस्ति । अनन्तरनिर्दिष्टत्वात्तु किं तद्विष्णोः परमं पदमितीदमिह विवक्ष्यते । तथाहीदमस्मात्परमिदमस्मात्परमित्युक्त्वा 'पुरुषान्न परं किंचित' इत्याह । सर्वथापि त्वानुमानिकनिराकरणोपपत्तेस्तथा नामास्तु, न नः किंचिच्छिद्यते ॥ ३ ॥

## ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः । नहि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति । कचिच्च विभूतिविशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति । नचेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते । पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दः । नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति । नचानुपदिष्टपदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम् । तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते । अस्माकं तु रथरूपकक्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ॥ ४ ॥

## वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

प्रश्नः—अत्राह सांख्यः—'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम् ?

आकांक्षानुसार सम्बन्ध स्वीकार न करनेमें एकवाक्यता ही बाधित होगी, तब कहां श्रुत्युक्त अर्थकी प्रतिपत्ति ( ज्ञान ) होगी ? और यह मानना उचित नहीं है कि दुःशोधनीय होनेसे सूक्ष्म शरीरका ही यहां ग्रहण है, स्थूल शरीर तो घृणित और भयङ्कर देखे जानेमें सुशोधनीय होता है, इसलिये उसका ग्रहण नहीं. क्योंकि यहां किसी शोधनकी विवक्षा नहीं है, न यहां कुछ शोधनविधान कहा गया है । समीप ही निर्देश करनेसे तो उस विष्णुका परम पद कौन सा है इसीकी यहां विवक्षा है, जैसे—यह इससे पर है और यह इससे पर है ऐसा कह कर 'उस पुरुषसे पर और कोई नहीं है' ऐसा कहा जाता है । सांख्याभिमत आनुमानिक पक्षका तो सर्वथा खण्डन हो ही जाता है, इसलिये सूक्ष्म शरीरका ही यहां ग्रहण होता हो तो होने दो, इससे हमारी कुछ हानि नहीं होती ॥ ३ ॥

## ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

सांख्य प्रधानको ज्ञेयत्वेन स्मरण करते हैं, क्योंकि वह कहते हैं कि सात्त्विक आदि [1]गुणयुक्त प्रधानको जान कर पश्चात् पुरुषके भेदको जान लेनेपर मोक्ष होता है । कारण कि गुणके स्वरूपको न जान कर कोई गुणोंसे पुरुषके भेदको जान नहीं सकता । और कहीं ऐश्वर्यविशेषकी प्राप्तिके लिये प्रधानको ज्ञेयरूपसे स्मरण करते हैं, किन्तु यहां अव्यक्तको ज्ञेयरूपसे नहीं कहा है, यहां तो केवल पदमात्र ही अव्यक्त शब्द है, यहां अव्यक्तको 'जानना चाहिये उपासन करना चाहिये' इस प्रकारका कोई वाक्य नहीं कहा गया है, उपदेश न दिये हुए पदार्थोंका ज्ञान पुरुषार्थ है ऐसा नहीं माना जा सकता, इस कारण भी अव्यक्त शब्दसे प्रधान नहीं कहा जाता है । हमारे मतमें तो रथरूपककी कल्पना किये हुवे शरीर आदिके अनुसरणसे विष्णुके ही परम धामको दिखानेके लिये यह उल्लेख है, इसलिये यह प्रशस्य ही है, निन्द्य नहीं ॥ ४ ॥

## वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

प्रश्न—यहां सांख्य लोग कहते हैं कि—'प्रधानको ज्ञेयत्वरूपसे नहीं कहा है' यह सिद्ध नहीं हो सकता ?

---

१—सत्त्वादि गुणरूप प्रधानसे पुरुषका अन्तर-भेद उसके ज्ञानसे यह अर्थ है—रत्नप्रभा ।

उत्तरम्—कथम् ?

प्रश्नः—श्रूयते ह्युत्तरत्राव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥' ( का० २ । ३ । १५ ) इति । अत्र हि यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं महतः परं स्मृतौ निरूपितं तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्टं, तस्मात्प्रधानमेवेदं, तदेव चाव्यक्तशब्दनिर्दिष्टमिति ।

उत्तरम्—अत्र ब्रूमः—नेह प्रधानं निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम् । प्राज्ञो हीह परमात्मा निचाय्यत्वेन निर्दिष्ट इति गम्यते ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—प्रकरणात् । प्राज्ञस्य हि प्रकरणं वितत्तं वर्तते । 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यादिनिर्देशात्, 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च दुर्ज्ञानत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकांक्षणात् । 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति च तज्ज्ञानायैव वागादिसंयमस्य विहितत्वात् । मृत्युमुखप्रमोक्षणफलत्वाच्च । नहि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति सांख्यैरिष्यते । चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात्प्रमुच्यते इति तेषामभ्युपगमः । सर्वेषु वेदान्तेषु प्राज्ञस्यैवात्मनोऽशब्दादिधर्मत्वमभिलप्यते । तस्मान्न प्रधानस्यात्र ज्ञेयत्वमव्यक्तशब्दनिर्दिष्टत्वं वा ॥ ५ ॥

उत्तर—क्यों ?

प्रश्न—आगे अव्यक्त शब्दसे कहे जानेवाले प्रधानको ज्ञेयरूपसे कहा है—"जो शब्द, स्पर्श, रूप से रहित है, जो अविनाशी रस और गन्धरहित नित्य है, जो अनादि अनन्त महान्से पर-सूक्ष्म है, ऐसे अचल ब्रह्मको जान कर मृत्युके मुखसे छूट जाता है ( का० २ । ३ । १५ )" यहां जैसे ही शब्द-स्पर्श आदि रहित प्रधानको 'महान्से पर-सूक्ष्म है' इसप्रकार स्मृतिमें निरूपण किया है उसीको ज्ञेयरूपसे निर्देश किया है, इसलिये यहां प्रधानको ही कहा है, और उसी प्रधानको अव्यक्त शब्दसे निर्देश किया है ?

उत्तर—यहां कहते हैं—यहां प्रधानको ज्ञेयरूपसे निर्देश नहीं किया है । यहां प्राज्ञ परमात्माको ही ज्ञेयरूपसे निर्देश किया है ऐसा प्रतीत होता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—प्रकरणसे, यहां प्राज्ञ (उत्कृष्ट ज्ञानवाले) परमात्माका ही विस्तृत प्रकरण है, क्योंकि—(पुरुषसे पर-सूक्ष्म और कोई नहीं है आखिरी हद यहीं है, अन्तिम गति भी यहींपर है' ऐसा निर्देश किया गया है, 'यह आत्मा सब प्राणियोंमें सूक्ष्मरूपसे छिपा रहता है' इस प्रकार दुर्ज्ञेय होनेसे उसीकी ज्ञेयरूपसे आकांक्षा होती है, 'विद्वान् लोग वाणीको मनमें संयम करें' इस प्रकार उसी ब्रह्मके ज्ञानके लिये वाणी आदिका संयम करना विधान किया है, और उसी ब्रह्मज्ञानको मृत्युमुखसे उन्मुक्त होना रूप फल कहा है । प्रधानमात्रको जान कर मृत्युके मुखसे मुक्त हो जाता है यह सांख्योंको भी इष्ट नहीं है, क्योंकि चेतन आत्माके ज्ञानसे ही मृत्युमुखसे उन्मुक्त हो जाता है ऐसा उनका सिद्धान्त है । सब वेदान्तोंमें प्राज्ञ आत्माको ही शब्द आदि धर्मरहित कहा है, इस कारण यहां प्रधानको न ज्ञेयरूपसे और न अव्यक्त शब्दद्वारा निर्देश किया है ॥ ५ ॥

## त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

इतश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा । यस्मात्त्रयाणामेव पदार्थानामग्नि-जीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे कठवल्लीषु वरप्रदानसामर्थ्याद्वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते । तद्विषय एव च प्रश्नः । नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वास्ति । तत्र तावत् 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्' (का० १।१।१३) इत्यग्निविषय प्रश्नः । 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥' (का० १।१।२०) इति जीवविषयः प्रश्नः । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' ( १ । २ । १४ ) इति परमात्मविषयः । प्रतिवचनमपि 'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा' । (का०१।१ १५) इत्यग्निविषयम् । 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् । यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम । योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ( का० २।५।६,७ ) इति [1]व्यवहितं जीवविषयम् । 'न जायते

## त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

अब यहांसे आगे भी प्रधान ज्ञेय और अव्यक्त शब्दसे नहीं कहा जाता है, क्योंकि अग्नि, जीव और परमात्मा इन तीन ही पदार्थोंका उल्लेख इस कठवल्लियोंमें कठोपनिषद्की (वल्ली—खण्ड या अध्यायोंमें) वरदानकी शक्तिसे वक्तव्य रूपसे किया जाता देखा गया है, इन्हीं तीन विषयोंका ही प्रश्न है, और इससे अन्यका प्रश्न और उल्लेख नहीं है। वहां तो 'हे मृत्यो ! आप स्वर्गके साधन भूत अग्निको जानते हैं, इसलिये उसे श्रद्धासे सम्पन्न मुझे उपदेश कीजिये' ( का० १ । १ । १३ ), यह अग्निविषयक प्रश्न है। 'मनुष्यके मरनेपर यह जो शंका होती है कि यह नित्य जीवात्मा है ऐसा कोई मानते हैं और कोई नहीं मानते हैं, इसलिये आप मुझे इस विद्याका उपदेश करें, इसे आप वरोंमें तीसरा वर समझें' ( का० १ । १ । २० ), यह जीवविषयक प्रश्न है। 'जो धर्म और अधर्मसे अलग है, जो कार्य और कारणसे अन्य है तथा जो भूत और भविष्यत्से पृथक् है, ऐसे जिसे आप देखते हैं उसे मुझे कहिये' ( का० १ । २ । १४ ), यह परमात्मविषयक प्रश्न है। इन तीन प्रश्नोंके तीन ही उत्तर भी हैं—'यमाचार्यने सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुवे अग्निको उपदेश किया, और नचिकेताके लिये किस यज्ञवेदीके निमित्त कितनी ईंटें किस प्रकारसे चिननी चाहिये इसका भी व्याख्यान किया' ( का० १ । १ । १५ ), यह अग्निविषयक उत्तर है। 'हे नचिकेतः ! इस गुह्य सनातन ब्रह्मको तुम्हें कहूँगा, और यह बताऊँगा कि मरनेके पश्चात् आत्माकी क्या गति होती है। मनुष्य अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार शरीर प्राप्त करनेके लिये किसी योनिमें चले जाते हैं और निकृष्ट पापात्मा वृक्ष आदि स्थावरको प्राप्त होते हैं' ( का० २ । ५ । ६–७ ), यह व्यवधानयुक्त जीवविषयक उत्तर है। और 'यह प्राज्ञ आत्मा न तो जन्म लेती है और न मरती है' ( का० १ । २ । १८ ), यह

[1]—**देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा'** यहांसे लेकर **'यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ'** यहांतकके श्रुतिवाक्योंसे परमात्मविषयक उत्तररूपमें जीवप्रश्नसे भिन्न होनेपर जो यथोक्त वचन योग्य होनेसे जीवविषयक है यह कहते हैं—**व्यवहितमिति—आनन्दगिरीय न्यायनिर्णय ।**

यहां भामती टीकाकार कहते हैं—**'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्'** इस श्रुति-वचनसे जीवविषय व्यवधानयुक्त **है 'यथा तु मरणं प्राप्यात्मा भवति गौतम'** इत्यादि जीवविषयक उत्तर **है यह सङ्गति है—भामती ।**

**इसी प्रकार रत्नप्रभा टीकाकार लिखते हैं ।**

म्रियते वा विपश्चित्' ( का० १।२।१८ ) इत्यादिबहुप्रपञ्चं परमात्मविषयम्। नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति। अपृष्टत्वाच्चानुपन्यसनीयत्वं तस्येति।

प्रश्नः—अत्राह—योऽयमात्मविषयः प्रश्नो 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ती'ति, किं स एवायम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इति पुनरनुकृष्यते, किंवा ततोऽन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इति ?

उत्तरम्—किंचातः ?

प्रश्नः—स एवायं प्रश्नः पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, द्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयोरेकतापत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न वक्तव्यं त्रयाणां प्रश्नोपन्यासाविति। अथान्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इत्युच्येत ततो यथैव वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोष एवं प्रश्नव्यतिरेकेणापि प्रधानोपन्यासकल्पनायामदोषः स्यादिति ?

उत्तरम्—अत्रोच्यते—नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कंचित्कल्पयामो वाक्योपक्रमसामर्थ्यात्। वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा वाक्यप्रवृत्तिरासमाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते। मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय त्रीन्वरान्प्रददौ। नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वव्रे, द्वितीयेनाग्निविद्याम्, तृतीयेनात्मविद्याम्, 'येयं प्रेते' इति 'वराणामेष वरस्तृतीयः' ( का० १।१।२० ) इति लिङ्गात्। तत्र यद्यन्यत्र धर्मादित्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्येत ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणापि प्रश्नकल्पनाद्वाक्यं बाध्येत।

प्रश्नः—ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं प्रश्नो भवितुमर्हति। पूर्वो हि प्रश्नो जीवविषयः। येयं प्रेते

परमात्मविषयक बहुत विस्तृत उत्तर है। किन्तु प्रधानविषयक इस प्रकारका प्रश्न नहीं है, क्योंकि पूछे न जानेसे वह व्याख्यान करने योग्य नहीं है।

प्रश्न—यह आत्मविषयक प्रश्न कौन सा है? 'मनुष्यके मरनेपर यह जो सन्देह होता है कि कोई आत्मा है और कोई नहीं ऐसे मानते हैं' क्या इस मन्त्रविषयक आत्माको ही "जो आत्मा धर्म और अधर्मसे अलग है" इस मन्त्रमें जोड़ते हैं अथवा पूर्व मन्त्रविषयक आत्मासे भिन्न अन्य आत्मविषयक प्रश्नको उठाते हैं ?

उत्तर—इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?

प्रश्न—यदि वही प्रश्न यहां फिर लाया जाता है ऐसा कहते हो तो दोनों आत्मविषयक प्रश्न (आत्मत्वसामान्यसे) एक हो जावेंगे, इससे अग्निविषयक और आत्मविषयक दो ही प्रश्न रहेंगे, इसलिये तीन प्रश्नोंका व्याख्यान है यह नहीं कह सकते, और यदि यह पूर्वसे अन्य दूसरा ही प्रश्न उठाया जाता है ऐसे कहते हो तब तो जैसे वरदानके अतिरिक्त प्रश्नकी कल्पनामें दोष नहीं है वैसे प्रश्नके अतिरिक्त भी प्रधानके उल्लेखकी कल्पना करनेमें दोष न होगा ?

उत्तर—यहां कहा जाता है, हम वाक्यारम्भसामर्थ्यसे वरदानके अतिरिक्त अन्य प्रश्नकी कल्पना नहीं करते हैं, वरदानपूर्वक ही यमाचार्य और नचिकेताका संवादरूप वाक्यप्रवृत्ति—प्रश्न और उत्तर कठोपनिषद् वल्लीकी समाप्ति पर्यन्त दीखती है—यमाचार्यने पिताके भेजे हुवे नचिकेताको तीन वर दिये, नचिकेताने उन वरोंमें प्रथम वरसे अपने पिताकी आरोग्यता मांगी, दूसरे वरसे अग्निविद्याको और तीसरेसे आत्मविद्याको वरण किया, क्योंकि 'मनुष्यके मरनेपर यह आत्मा है या नहीं ...यह वरोंमें तीसरा वर है' ( का० १।१।२० ) यह श्रुतिका प्रमाण है। यदि "अन्यत्र धर्मात्०" इस मन्त्रमें अपूर्व प्रश्न उठाया जाय तो वरदानके अतिरिक्त प्रश्नकी कल्पना करनेसे वाक्य बाधित होगा।

प्रश्न—प्रष्टव्यभेदसे यह अपूर्व प्रश्न हो सकता है, पूर्व प्रश्न जीवविषयक है, क्योंकि मनुष्यके मरनेपर यह

विचिकित्सा मनुष्येऽस्मिन नास्तीति विचिकित्साभिधानात् । जीवश्च धर्मादिगोचरत्वान्नान्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति । प्राज्ञस्तु धर्माद्यतीतत्वादन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति । प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते । पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषयत्वादुत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वात् । तस्मात्प्रत्यभिज्ञानाभावात्प्रश्नभेदः । न पूर्वस्यैवोत्तरत्रानुकर्षणमिति चेत् ?

उत्तरम्—न । जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमात् । भवेत्प्रष्टव्यभेदात्प्रश्नभेदो यद्यन्यो जीवः प्राज्ञात्स्यात् । न त्वन्यत्वमस्ति । तत्त्वमसीत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः । इह च 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति जन्ममरणप्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति । सति हि प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति । प्रसङ्गश्च जन्ममरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारीरस्य भवति न परमेश्वरस्य । तथा—'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥' ( का० २।४।४ ) इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्वविशेषणस्य मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन्न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति । प्राज्ञविज्ञानाद्धि शोकविच्छेद इति वेदान्तसिद्धान्तः । तथाग्रे—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥' ( का० २।४।१० ) इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति । तथा जीवविषयस्यास्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्यानन्तरम् 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' इत्यारभ्य मृत्युना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल,

आत्मा है या नहीं इस प्रकार जीवात्मविषयक संशयको विधान किया है, जीवात्मामें धर्म आदि देखे जाते हैं, इसलिये जीवात्मविषयक प्रश्न "जो धर्मसे अलग है" इस परमात्मविषयक प्रश्नयोग्य नहीं हैं, प्राज्ञ परमात्मा तो धर्म और अधर्म आदिसे पृथक् है, इसलिये "**अन्यत्र धर्मात्**" में परमात्मविषयक प्रश्न हो सकता है । प्रश्नकी छाया भी समान नहीं दीखती, क्योंकि जीवात्माका विषय 'है या नहीं' इस प्रकारका है, परमात्माका विषय धर्म आदिसे पृथक् होना रूप है, इस कारण प्रत्यभिज्ञाके अभावसे प्रश्नभेद होता है, पूर्व प्रश्नको दूसरे प्रश्नमें ले जाना उचित नहीं ?

उत्तर—यह बात नहीं, क्योंकि जीवात्मा और प्राज्ञ परमात्मामें एकत्व स्वीकार किया जाता है, प्रष्टव्यभेदसे प्रश्नका भेद तब हो सकता है यदि जीवात्मा प्राज्ञ परमात्मासे अन्य हो, किन्तु अन्य तो नहीं है, क्योंकि "**तत्त्वमसि**" इत्यादि अनेक श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं । "जो धर्मसे पृथक् है" इसका उत्तर है—"यह प्राज्ञ जन्मता मरता नहीं" इस प्रकार जन्म मरणको निषेध करके यह श्रुति जीवात्मा और परमात्मामें अभेद दिखाती है, प्रसङ्ग होनेपर ही निषेध उचित है, प्रसंग तो जन्म मरणका शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे जीवात्माका हो सकता है, न कि परमेश्वरका, तथा 'जो स्वप्नकी समाप्तिको और जागरितकी समाप्तिको देखता है, ऐसे महान् विभु आत्माको जान कर धीरलोग शोक नहीं करते' ( का० २।४।४ ), इस प्रकार स्वप्न और जागरित दशाको देखनेवाले, महत्त्व और विभुत्व विशेषणोंसे युक्त जीवात्माको ही मनन करनेसे शोकका विच्छेद दिखा कर प्राज्ञ परमात्मासे अन्य जीवात्माको श्रुति नहीं दिखाती है, क्योंकि प्राज्ञ परमात्माके ज्ञानसे ही शोकका नाश होता है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है । तथा आगे भी—"जो ही ब्रह्म इस जन्ममें है वही दूसरे जन्ममें है, और जो दूसरे जन्ममें है वही इस जन्ममें है, इसलिये जो ब्रह्मको अनेक देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता रहता है ( का० २।४।१० ), इस प्रकार जीवात्मामें और परमात्मामें भेददृष्टिकी निन्दा करती है । तथा जीवात्माके 'है या नहीं' इन प्रश्नके पश्चात् "हे नचिकेतः ! तुम दूसरे वरको वरो' यहांसे लेकर यमाचार्यद्वारा उन २ अनेक विषयवासनासम्बधी कामनाओंके लोभ दिये जानेपर भी जब

तदेवं मृत्युरभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च 'विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त' ( का० १।२।४ ) इति प्रशस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशंसन्नुवाच—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥' ( का० १।२।१२ ) इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते । यत्प्रश्ननिमित्तां च प्रशंसां महतीं मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेता यदि तं विहाय प्रशंसानन्तरमन्यमेव प्रश्नमुपक्षिपेदस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा प्रसारिता स्यात् । तस्मात् 'येयं प्रेते' इत्यस्यैव प्रश्नस्यैतदनुकर्षणम् 'अन्यत्र धर्मात्' इति । यत्तु प्रश्नच्छायावैलक्षण्यमुक्तं तददूषणम् । तदीयस्यैव विशेषस्य पुनः पृच्छ्यमानत्वात् । पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वं पृष्टमुत्तरत्र तु तस्यैवासंसारित्वं पृच्छ्यत इति यावद्ध्यविद्या न निवर्तते तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते । तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव तत्त्वमसीति श्रुत्या प्रत्याय्यते । नचाविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । यथा कश्चित्संतमसे पतितां कांचिद्रज्जुमहिं मन्यमानो भीतो वेपमानः पलायते, तं चापरो ब्रूयान्मा भैषीर्नायमही रज्जुरेवेति । स च तदुपश्रुत्याहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च नत्वहिबुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात् । तथैवैतदपि द्रष्टव्यम् । ततश्च 'न जायते म्रियते वा' इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवच-

---

नचिकेता इससे मस नहीं हुआ तब यमाचार्यने उसे लौकिक सुख और पारलौकिक सुख—मोक्षके भेद दिखा कर और विद्या तथा अविद्याके भेदको दिखाते हुवे—"विद्याको चाहनेवाला नचिकेताको मैं मानता हूं, क्योंकि अनेक कामनायें तुम्हें लोभ न दिखा सकीं' ( का० १।२।४ ), इस प्रकार उनकी प्रशंसा कर और उनके प्रश्नको भी प्रशंसा कर जो यह कहा था कि—"यह ब्रह्म दुःखसे जानने योग्य है, अप्रकट है, सबमें घुसा हुवा व्याप्त है, हृदयरूप गुफामें रहनेवाला है, बुद्धिमें साक्षीरूपसे स्थिर रहता है, ऐसे सनातन देव परमात्माको अध्यात्मयोगकी प्राप्तिसे जान कर धीर लोग हर्ष और शोकको त्याग देते हैं' ( का० १।२।१२ ), इससे भी यहां जीवात्मा और परमात्माकी अभेदविवक्षा ही प्रतीत होती है । नचिकेताने जिस प्रश्नके निमित्त यमाचार्यकी बड़ी प्रशंसा प्राप्त की थी, यदि वह उस प्रश्नको छोड़कर प्रशंसाके पश्चात् अन्य ही प्रश्न करे तो सब विस्तृत प्रशंसा निष्फल हो जाती, इस कारण **'येयं प्रेते०'** इसी प्रश्नका अनुकर्षण—लाया जाना **"अन्यत्र धर्मात्०'** इस मन्त्रमें है । और जो प्रश्नछायाकी—प्रश्नस्वरूपकी विलक्षणता दिखायी थी वह दोष ठीक नहीं, क्योंकि फिर उसी आत्माकी विशेषता पूछी गयी है । पूर्व श्रुतिमें देहादिसे अतिरिक्त आत्माका होना पूछा गया है, दूसरी बादकी श्रुतिमें तो उसीका असंसारित्व ( परमात्मत्व ) होना पूछा जाता है । जब तक अविद्या नहीं हटती तब तक जीवात्माका धर्मादिगोचर होना सिद्ध होता है और उसका जीवत्व नहीं छूटता । जीवत्वकी निवृत्ति होनेपर तो प्राज्ञ परमात्माका ही बोध० **"तत्त्वमसि"** इस श्रुतिमें कराया जाता है । अविद्यायुक्त रहनेपर और अविद्या हट जाने पर जीवात्माका ( वस्तुस्थित्या ) कोई भेद नहीं होता है, जैसे कोई रातमें गिरी हुई किसी डोरीको सर्प मान कर डरा हुवा कांपता हुवा भागने लगता है, तब कोई दूसरा पुरुष उससे कहे कि मत डरो, यह सर्प नहीं है, यह डोरी ही है, तब वह डरा हुवा पुरुष यह सुन कर सर्पजन्य भयको छोड़ता है और साथ ही कांपना तथा भागना भी छोड़ देता है, सर्पज्ञान कालमें और सर्पज्ञानके हट जानेके समयमें डोरीकी ( वस्तस्थितिसे ) कोई विशेषता ( भेदभाव ) तो नहीं थी, इसी प्रकार यहां भी देख लेना

नम् । सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम् । एकत्वेऽपि ह्यात्मविषयस्य प्रश्नस्य प्रायणावस्थायां देहव्यतिरिक्तास्तित्वमात्रविचिकित्सनात्कर्तृत्वादिसंसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते । उत्तरस्य तु धर्माद्यत्ययसंकीर्तनात्प्राज्ञविषयत्वमिति । ततश्च युक्ताग्निजीवपरमात्मकल्पना । प्रधानकल्पनायां तु न वरप्रदानं न प्रश्नो न प्रतिवचनमिति वैषम्यम् ॥ ६ ॥

### महद्वच्च ॥ ७ ॥

यथा महच्छब्दः सांख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदिकेऽपि प्रयोगेऽभिधत्ते । 'बुद्धेरात्मा महान्परः' ( का० १ । ३ । १० ) 'महान्तं विभुमात्मानम्' ( का० १ । २ । २२ ), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' ( श्वे० ३ । ८ ) इत्येवमादावात्मशब्दप्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः । तथाव्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति । अतश्च नास्त्यानुमानिकस्य शब्दवत्त्वम् ॥ ७ ॥

## २ चमसाधिकरणम् । सू० ८–१०

### चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धमित्याह ।
प्रश्नः—कस्मात् ?

चाहिये । तब तो "न जायते म्रियते" इत्यादि उत्तर भी "येयं प्रेते०" इस आत्मास्तित्व प्रश्नका हो सकता है । और 'त्रयाणामेव०' इस ऊपरके सूत्रको तो जीवात्मा और परमात्मामें अविद्याकल्पित भेदकी अपेक्षामें सङ्गति कर लेनी चाहिये । आत्मविषयक प्रश्न एक होनेपर भी मरणावस्थामें देहसे अतिरिक्त आत्माका होना मात्र सन्देह किये जानेसे तथा उसका कर्तृत्व आदि सांसारिक स्वभावको न हटानेसे प्रथम बारके जीवविषयक प्रश्नकी उपेक्षा की जाती है, किन्तु बादका तो धर्म आदिसे पृथक् संकीर्त्तन करनेसे परमात्मविषयक होना सिद्ध होता है, इसलिये (सूत्रस्थ त्रिककी) अग्नि, जीव और परमात्माकी कल्पना युक्तियुक्त ही है । प्रधानकी कल्पना करनेमें तो न वरदान है, न प्रश्न है; और न उत्तर है, इस तरह विषमता होती है ॥ ६ ॥

### महद्वच्च ॥ ७ ॥

जैसे महत् शब्दको सांख्यलोग प्रकृतिके प्रथमोत्पन्न सत्तामात्रमें प्रयोग करते हैं वही वैदिक प्रयोगमें नहीं कहा जाता है, क्योंकि—'बुद्धिसे महान् आत्मा पर-सूक्ष्म है' ( का० १ । ३ । १० ), 'महान् विभु आत्माको' ( का० १ । २ । २२ ), 'मैं इस महान् पुरुषको जानता हूं' (श्वे० ३।८) इत्यादि श्रुतिमें ( महत् शब्दके साथ ) आत्मा शब्दका प्रयोग किया गया है, तथा अव्यक्त शब्द भी वैदिक प्रयोगमें प्रधानको नहीं कह सकता है, इसलिये भी आनुमानिक प्रधान शब्दप्रमाणावगम्य नहीं ॥ यह पहला आनुमानिक अधिकरण समाप्त हुवा ।

## २ चमसाधिकरणम् । सू० ८–१०

### चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

फिर भी प्रधानवादी कहते हैं कि प्रधानका अशब्दत्व होना ठीक नहीं ।
प्र० —कैसे ?

उत्तरम्—मन्त्रवर्णात्—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' ( श्वे० ४। ५ ) इति। अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णशब्दै रजःसत्त्वतमांस्यभिधीयन्ते। लोहितं रजो रञ्जनात्मकत्वात्। शुक्लं सत्त्वं प्रकाशात्मकत्वात्। कृष्णं तम आवरणात्मकत्वात्। तेषां साम्यावस्थाऽवयवधर्मैर्व्यपदिश्यते लोहितशुक्लकृष्णेति। न जायत इति चाजा स्यात्, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इत्यभ्युपगमात्।

प्रश्नः—नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः ?

उत्तरम्—बाढम्। सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या, विद्याप्रकरणात्। सा च बह्वीः प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति। तां प्रकृतिमज एकः पुरुषो जुषमाणः प्रीयमाणः सेवमानो वानुशेते। तामेवाविद्ययाऽऽत्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकतया संसरति। अन्यः पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेकज्ञानो विरक्तो जहात्येनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां परित्यजति। मुच्यत इत्यर्थः। तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादिकल्पना कापिलानामिति।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्यवादस्य शक्यमाश्रयितुम्। नह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कंचिदपि वादं समर्थयितुमुत्सहते। सर्वत्रापि यया कयाचित्कल्पनयाऽजात्वादिसंपादनोपपत्तेः सांख्यवाद एवेहाभिप्रेत इति विशेषावधारणकारणाभावात्। चमसवत्। यथाहि 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' ( बृ० २।

उत्तर—मन्त्रके वर्णन मात्रसे, अज—अनेक प्रजाओंको समानरूपसे उत्पन्न करनेवाली 'रजःसत्त्वतमोगुणात्मिका' अजा—प्रकृतिको सेवन करता हुआ एक अज जीवात्मा इसमें लिप्त रहता है, और दूसरा अज—परमात्मा भुक्तभोगा निवृत्तभोगा इसको छोड़ देता है, (श्वे० ४। ५)। इस मन्त्रमें लोहित शुक्ल कृष्ण शब्दोंसे रजः सत्त्व तमोगुण कहे जाते हैं, लोहित रजोगुण इसलिये है कि वह रंग देता है, सत्त्वगुण सफेद इसलिये है कि वह प्रकाशक होता है, और तमोगुण काला इसलिये है कि वह ढक देता है. इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको प्रधानके अवयव रजः आदि रञ्जनात्मक धर्मसे लोहित-शुक्ल-कृष्णा—प्रकृति कहते हैं। प्रकृति अजा इसलिये है कि वह उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि मूल प्रकृति विकाररहित होती है।

प्रश्न—अजा शब्द तो बकरीमें प्रसिद्ध है ?

उत्तर—हां यह ठीक है, उस रूढ़िको यहां ले नहीं सकते, क्योंकि यह विद्याका प्रकरण है। वह प्रकृति तीनों गुणोंसे युक्त बहुतसी प्रजाओंको उत्पन्न करती है. उस प्रकृतिको सेवन करता हुआ एक अज-पुरुष सोता रहता है, अज्ञानसे उसीके संग जाकर मैं सुखी, दुःखी, मूढ हूं इस प्रकार अविवेक रूपसे पड़ा रहता है, फिर दूसरा अज-पुरुष परमात्मा विवेकज्ञानयुक्त विरक्त होकर इसमेंसे विशेष सुख भोगी हुई प्रकृतिको त्याग देता है अर्थात् मुक्त होता है इसलिये कापिलोंकी प्रधान आदिकी कल्पना श्रुतिमूला है।

( इतना सांख्यवादीका प्रश्नोत्तर है, इसका प्रतिसमाधान )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहते हैं—इस मन्त्रसे सांख्यवाद श्रुतिमूलक है ऐसा आश्रयण नहीं कर सकते, यह मन्त्र स्वतन्त्रतासे किसी वादको समर्थन करनेके लिये तत्पर नहीं होता है, क्योंकि सर्वत्र स्थानोंमें जिस किसी भी कल्पनासे अजात्व होना संभव होनेसे यहां सांख्यवाद ही अभिमत है इस प्रकार विशेष निश्चायक कारण नहीं मिलता है, 'चमसवत्'—चमसकी तरह, जैसे—'जिसका बिल—छिद्र अर्थात् मुख नीचेकी ओर हो और बुध्न—जड़मूल ऊपरकी ओर हो वह चमस

२ । ३ ) इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येणायं नामासौ चमसोऽभिप्रेत इति न शक्यते निरूपयितुम् । सर्वत्रापि यथाकथंचिदर्वाग्बिलत्वादिकल्पनोपपत्तेः । एवमिहाप्यविशेषोऽजामेकामित्यस्य मन्त्रस्य । नास्मिन्मन्त्रे प्रधानमेवाजाभिप्रेतेति शक्यते नियन्तुम् ।

प्रश्नः—तत्र तु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इति वाक्यशेषाच्चमसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति । इह पुनः केयमजा प्रतिपत्तव्येति ?

प्रत्युत्तरम्—अत्र ब्रूमः—

**ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥**

परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या । तुशब्दोऽवधारणार्थः । भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—तथाह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति । तान्येवेह तेजोबन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते रोहितादिशब्दसामान्यात् । रोहितादीनां च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद्भाक्तत्वाच्च गुणविषयत्वस्य । असंदिग्धेन संदिग्धस्य

हैं' ( बृ० २ । २ । ३ ), इस मन्त्रमें इस नामका चमस है इस प्रकार स्वतन्त्ररूपसे निरूपण नहीं कर सकते, क्योंकि सब स्थानोंमें किसी स्वरूपसे भी 'नीचेकी ओर मुख होना' आदिकी कल्पना कर सकते हैं, इसी प्रकार "**अजामेकां**" इस मन्त्रस्थ अजा शब्दमें भी कोई विशेषता नहीं है, इस मन्त्रमें अजा शब्दसे प्रधान ही अभिमत है इस तरह निश्चय नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

प्रश्न—वहां तो 'यह चमस शिरःस्थानी है, नीचेकी ओर इसका मुख है और ऊपरकी ओर जड़मूल है, इस प्रकारका यह चमस है ।' इस प्रकारके वाक्यशेषसे विशेषका ज्ञान होता है । यहां फिर अजा शब्दसे किसको जानना चाहिये ?

प्रत्युत्तर—यहां कहते हैं:—

**ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥**

परमेश्वरसे उत्पन्न हुई, तेज अप्–अन्न लक्षणवाली, '**ज्योतिः प्रभृति**' चार प्रकारके भूतसमूहोंकी प्रकृतिको अजा जान लेनी चाहिये । सूत्रस्थ '**तु**' शब्द निश्चयार्थक है । तीन प्रकारके भूतोंके लक्षणोंवालीको ही अजा जाननी चाहिये, नकि सत्त्व आदि तीन गुणोंके लक्षणवाली ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—कोई शाखावाले छन्दोग तेज–अप–अन्नोंको परमेश्वरसे उत्पत्ति मान कर उन्हींका रोहित आदि रूप होना पढ़ते हैं—'अग्निका जो रक्त रूप है वह तेजका है, जो सुफेद रूप है वह जलका है और जो काला रूप है वह अन्नका है ।' उन्हीं तेज, अप् और अन्नोंकी यहां प्रत्यभिज्ञा की जाती है, क्योंकि ( अजा मन्त्रस्थ लोहित–शुक्ल–कृष्ण और ) रोहित आदि शब्द दोनोंमें समान ही हैं, और रोहित आदि शब्दोंका प्रयोग रूपविशेषोंमें ही मुख्यतया होता है, तथा उनका गुणविषयक होना गौणरूपसे है । निश्चित ज्ञानसे संदिग्धज्ञानका निर्णय होना न्याय माने जाते हैं, वैसे ही यहां पर भी—'ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि क्या इस संसारका कारण ब्रह्म है ?' ( श्वे० १।१ ),

निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते । तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति । किंकारणं ब्रह्म' ( श्वे० १ । १ ) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' ( श्वे० १ । ३ ) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात् । वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' ( श्वे० ४ । १०, ११ ) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित्प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम् । प्रकरणात्तु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागवस्थानेनापि मन्त्रेणाम्नायत इत्युच्यते । तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम् ॥ ९ ॥

प्रश्नः—कथं पुनस्तेजोबन्नात्मना त्रैरूप्येण त्रिरूपाजा प्रतिपत्तुं शक्यते । यावता न तावत्तेजोऽबन्नेष्वजाकृतिरस्ति । न च तेजोऽबन्नानां जातिश्रवणादजातिनिमित्तोऽप्यजाशब्दः संभवतीति ?

प्रत्युत्तरम्—अत उत्तरं पठति—

**कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥**

नायमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः । नापि यौगिकः ।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

प्रत्युत्तरम्—कल्पनोपदेशोऽयम् । अजारूपकक्लृप्तिस्तेजोऽबन्नलक्षणायाश्चराचरयोनेरुपदिश्यते । यथाहि लोके यदृच्छया काचिदजा लोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद्बहुबर्करा सरूपबर्करा च, तां च कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्,

इस प्रकार आरम्भ करके 'उन ब्रह्मवादी लोगोंने ध्यानावस्थित होकर अपने गुणोंसे छिपी हुई भगवानकी शक्ति देखी' ( श्वे० १ । ३ ), इस प्रकार समस्त जगतको बनानेवाली परमेश्वरकी शक्ति वाक्यारम्भमें देखी जाती है । वाक्यशेषमें भी 'मायाको प्रकृति जानना चाहिये और महेश्वर ब्रह्मको मायी जानना चाहिये ।' 'जो ब्रह्म सब योनियोंमें अधिष्ठाता होकर विराजमान होता है' ( श्वे० ४ । १०—११ ), इस प्रकार उसी शक्तिका निश्चय होता है, इसलिये अजा मन्त्रमें प्रधान नामक कोई स्वतन्त्र प्रकृति पढ़ी जाती है ऐसे नहीं कह सकते, प्रकरणवश तो उसी अव्याकृत नामरूपवाली दैवी शक्तिको नाम और रूपसे प्रथम भी स्थिर रहनेवाली है यह मन्त्रमें पढ़ते हैं ऐसा कहा जाता है । और उस दैवी शक्तिके अपने विकारविषयक तीन रूपोंसे तीन रूप होना कह दिया है ॥ ९ ॥

प्रश्न—फिर कैसे तेज-अप्-अन्नात्मक तीन रूपोंसे तीन रूपवाली अजाको जान सकते हैं जब कि तेज, अप् और अन्नोंमें अजाकी आकृति नहीं है, तेज, अप और अन्नोंकी उत्पत्ति सुनी गई है, इसलिये तेज आदिके लिये उत्पत्तिनिमित्तरहित अजा शब्दका प्रयोग होना संभव नहीं है ?

प्रत्युत्तर—इस कारण उत्तर पढ़ा जाता है:—

**कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥**

यहां अजाकृतिनिमित्तक अजा शब्द नहीं है, न यह अजा शब्द यौगिक है ।

प्रश्न—तो क्या है ?

प्रत्युत्तर—यहां काल्पनिक उपदेशनिमित्तक है, तेज-अप्-अन्नोंके लक्षणवाली, चराचर जगत्के कारणरूपा अजारूपकी कल्पना करनेका उपदेश दिया जाता है । जैसे लोकमें स्वतन्त्रतासे कोई अजा नामक

एवमियमपि तेजोबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा बहु सरूपं चराचरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते विदुषा च परित्यज्यत इति। नचेदमाशङ्कितव्यमेकः क्षेत्रज्ञोऽनुशेतेऽन्यो जहातीत्यतः क्षेत्रज्ञभेदः पारमार्थिकः परेषामिष्टः प्राप्नोतीति। नहीयं क्षेत्रज्ञभेदप्रतिपिपादयिषा किंतु बन्धमोक्षव्यवस्था-प्रतिपिपादयिषा त्वेषा। प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था प्रतिपाद्यते। भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिभ्यः। मध्वादिवत्। यथा 'आदित्यस्यामधुनो मधुत्वम्' (छा० ३।१), 'वाचश्चाधेनोर्धेनुत्वम्' (बृ० ५।८), 'द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम्' (बृ० ८।२।६) इत्येवंजातीयकं कल्प्यते, एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः। तस्मादविरोधस्तेजोऽबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य ॥ १० ॥

## ३ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् । सू० ११–१३

### न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते।

प्रश्नः—'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृ-

बकरी रोहित शुक्ल कृष्ण वर्णवाली होती है, और बहुत बालबच्चोंवाली तथा समान रूपके बच्चोंवाली होती है, उस प्रकार बकरीको कोई अज बकरा प्रीति करके उसमें लिपटा रहता है और कोई भुक्तभोगा बकरीको छोड़ देता है, वैसे यह भी तेज, अप, अन्न लक्षणवाली तीन वर्णोंकी भूत प्रकृति चर अचर लक्षणवाले विकार समूहोंको समानरूपसे उत्पन्न करती है। मूढ क्षेत्रज्ञ जीवात्मा भोगता है, और उसे विद्वान्—परमात्मा छोड़ देता है। इससे यहांपर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि एक जीवात्मा प्रकृतिमें लीन रहता है और दूसरा उसे छोड़ देता है, इसलिये क्षेत्रज्ञका भेद वास्तविक है जो कि दूसरोंका अभिमत है, यहां क्षेत्रज्ञके भेदको प्रतिपादन करनेका अभिप्राय नहीं है, परन्तु बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाको प्रतिपादन करना है। यह तो प्रसिद्ध है कि भेदको लेकर बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था की जाती है, और वह भेद तो उपाधि निमित्त तथा मिथ्याज्ञानकल्पित है, न कि पारमार्थिक, क्योंकि—'वह एक देव (परमात्मा) सब प्राणियोंमें छिप कर रहता है, सर्वव्यापक है और सब भूतोंका अन्तरात्मा अन्तर्यामी है' (बृ० ५।८), इत्यादि श्रुतियां प्रमाणीभूत हैं, तथा मधु आदि तुल्य, जैसे 'यह आदित्य मधु न होनेपर भी देवताओंका मधु है' (छा० ३।१) और 'यह वाणी जो गाय नहीं है किन्तु उसको गायकी कल्पना की गई है' (बृ० ८।५) और 'द्यौलोकको अग्नित्वकी कल्पना की गई है, जो कि अग्नि नहीं है' (बृ० ८।२।६) इस प्रकार कल्पना की जाती है, इसी प्रकार यहां भी जो अजा नहीं है तथापि उसका अजात्वका होना कल्पना की जाती है। इसलिये तेज, अप् और अन्नोंमें अजात्वकी कल्पना करना विरोध नहीं ॥ १० ॥ यह दूसरा चमसाधिकरण समाप्त हुआ।

## ३ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् । सू० ११–१३

### न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

इस प्रकार अजामन्त्रमें खण्डन किये जानेपर भी फिर अन्य मन्त्रसे सांख्यवादी प्रवृत्त होते हैं—

प्रश्न—'जिसमें पांच पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित होते हैं, उसी सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अमृतस्वरूप, अविनाशी

तम्' ( बृ० ४।४।१७ ) इति । अस्मिन्मन्त्रे पञ्च पञ्चजना इति पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते पञ्चशब्दद्वयदर्शनात् । त एते पञ्चपञ्चकाः पञ्चविंशतिः संपद्यन्ते । तथा पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्ष्यन्ते तावन्त्येव च तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' ( सांख्यका० ३ ) इति । तथा श्रुतिप्रसिद्धया पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात्प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम् ?

उत्तरम्—ततो ब्रूमः—न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वं प्रत्याशा कर्तव्या ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—नानाभावात् । नाना ह्येतानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि । नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्चसंख्या निविशेरन् । नह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वादिकाः संख्या निविशन्ते।अथोच्येत पञ्चविंशतिसंख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः' इति द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं कथयन्ति तद्वदिति । तदपि नोपपद्यते । अयमेवास्मिन्पक्षे दोषो यल्लक्षणाश्रयणीया स्यात् । परश्चात्र पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तः पञ्चजना इति, पारिभा-

तत्त्वको मैं मानता हूँ (बृ० ४।४।१७), इस मन्त्रमें "**पञ्च पञ्चजनाः**" इस प्रकार पांच संख्या विषयवाली दूसरी पांच संख्या सुनी जाती है, क्योंकि मन्त्रमें दो पञ्चशब्द दीखते हैं। ये दोनों पञ्चशब्द मिलकर पांच पांच (५×५=२५) पच्चीस होते हैं, तथा पच्चीस संख्यासे जितने संख्येय—गिने जाने योग्य वस्तुओंकी आकाङ्क्षा होती है उतने ही तत्त्वोंकी सांख्यवादी गणना करते हैं—'मूल प्रकृति विकाररहित है, प्रकृति महत्, महत्से अहङ्कार और अहङ्कारसे पांच तन्मात्राएं ये ७ प्रकृति प्रधानके विकृति—कार्य हैं, फिर तन्मात्राओंसे पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय तथा मन और आकाश आदि पांच स्थूल भूत ये १६ विकृत कार्य हैं, और पच्चीसवां पुरुष न किसी कार्यकी प्रकृति और न उसका कोई विकार कार्य है' (सांख्यका० ३) इत्यादि। इस श्रुतिप्रसिद्ध पच्चीस संख्यासे सांख्योंके स्मृतिप्रसिद्ध (१+७+१६+१=२५) पच्चीस तत्त्वोंके संग्रह किये जानेसे फिर प्रधान आदियोंका श्रुतिप्रमाणयुक्त होना प्राप्त होता है?

( यह सांख्यवादीका कहना है, इसका समाधान )

उत्तर—इसलिये कहते हैं कि—यहां संख्याके संग्रह करनेपर भी प्रधान आदियोंका श्रुतिमत्त्व होनेकी आशा नहीं करनी चाहिये।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—अनेक होनेसे, ये पच्चीस तत्त्व तो अनेक हैं, इन तत्त्वोंका पांच पांच होना अर्थात् पांच२ तत्त्वोंमें पांच२ तत्त्वोंका होना यह सामान्य धर्म नहीं है, जिस कारण पच्चीसके बीचमें पांच पांच संख्याको रखना पड़े और जब तक एकत्व संख्या न होगी तब तक अनेकोंमें द्वित्व आदि संख्या नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि यह पच्चीस संख्या ही अवयवद्वारा प्रतीत होती है, जैसे—'पांच और सात वर्ष तक वर्षा नहीं हुई थी' इस प्रकार १२ वर्ष तक वर्षा न होनेको कहते हैं, उसी प्रकार यहां भी हो। यह पक्ष भी ठीक नहीं, इस पक्षमें यही दोष है कि इसमें लक्षणा करनी पड़ती है। दूसरा पञ्च शब्द जन शब्दके साथ समास होकर '**पञ्चजनाः**' ऐसा शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि यह शब्द व्याकरणविषयक परिभाषा( सूत्रविशेष )विहित स्वरसे एक पदका होना निश्चय होता है, तथा

षिकेण स्वरेणैकपदत्वनिश्चयात् । प्रयोगान्तरे च 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १। ६।२।२) इत्यैकपद्यैकस्वर्यैकविभक्तिकत्वावगमात् । समस्तत्वाच्च न वीप्सा पञ्च पञ्चेति । नच पञ्चकद्वयग्रहणं पञ्च पञ्चेति । नच पञ्चसंख्याया एकस्याः पञ्चसंख्यया परया विशेषणं पञ्च पञ्चका इति । [1]उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात् ।

प्रश्नः—नन्वापन्नपञ्चसंख्याका जना एव पुनः पञ्चसंख्यया विशेष्यमाणाः पञ्चविंशतिः प्रत्येष्यन्ते । यथा पञ्च पञ्चपूल्य इति पञ्चविंशतिपूलाः प्रतीयन्ते तद्वत् ?

उत्तरम्—नेति ब्रूमः । युक्तं यत्पञ्चपूलीशब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्कतीति सत्यां भेदाकाङ्क्षायां पञ्च पञ्चपूल्य इति विशेषणम् । इह तु पञ्च जना इत्यादित एव भेदोपादानात्कतीत्यसत्यां भेदाकाङ्क्षायां न पञ्च पञ्चजना इति विशेषणं भवेत् । भवदपीदं विशेषणं पञ्चसंख्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः । तस्मात्पञ्च पञ्चजना इति न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम् । अतिरेकाच्च न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम् । अतिरेको हि भवत्यात्माकाशाभ्यां पञ्चविंशतिसंख्यायाः । आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन निर्दिष्टः । यस्मिन्निति सप्तमीसूचितस्य 'तमेव मन्य आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनानुकर्षणात् । आत्मा च चेतनः पुरुषः । स च पञ्चविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाधारत्वमाधेयत्वं च

प्रयोगान्तरमें भी "**पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्** (तै० १।६।२।२)" यहां पञ्चजन शब्दको एक पद, एक स्वर और एक विभक्तियुक्त होना निश्चित किया है, समास होनेसे पांच और पांच इस प्रकार द्वित्व अर्थ न होगा । तथा पांच और पांच इस तरह ग्रहण करना भी ठीक नहीं ( क्योंकि पांच और पांच तो दस ही होते हैं ) और न एक पञ्च संख्या दूसरी पञ्चसंख्याका पांच पञ्चक ऐसा विशेषण है, क्योंकि उपसर्जन अप्रधानका विशेषणके साथ संयोग नहीं हो सकता है ।

प्रश्न—पञ्चसंख्याप्राप्त जन ही फिर जब पांच संख्याके विशेष्य होंगे तब तो २५ हो ही जायेंगे, जैसे पांच पूलियां पांच जगह हैं ऐसे कहने पर २५ पूलियां प्रतीत हो जाती हैं वैसे ही यहां पर भी प्रतीत हों ?

उत्तर—हम कहते हैं कि यह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि पांच पूली शब्दका समुदायार्थक होनेसे 'कितनी हैं' इस प्रकार भेदकी आकांक्षा होनेपर पञ्च शब्द पञ्चपूलीका विशेषण होता है यह तो उचित है, यहां तो 'पांच जन हैं' इस प्रकार आरम्भमें ही भेद सिद्ध होनेसे 'कितने हैं' इस प्रकार आकांक्षा न होनेपर पञ्च शब्द पञ्च जनका विशेषण नहीं हो सकता है । अच्छा—यह पञ्च शब्द पञ्च संख्याका विशेषण ही हो तो इस पक्षमें ( अप्रधानका विशेषणके साथ संयोग नहीं होता है इस प्रकार ) ऊपर दोष कह दिया है । इसलिये मन्त्रस्थ 'पञ्च पञ्चजना' -समें पच्चीस तत्त्वोंका अभिप्राय नहीं हो सकता । और दूसरी बात यह है कि अतिरेक—अधिकता होनेसे भी यहां पच्चीस तत्त्वोंका अभिप्राय नहीं है, क्योंकि मन्त्रमें आत्मा और आकाशके होनेसे पच्चीस तत्त्वोंसे अधिक हो जाते हैं, यहां आत्माको स्थिर होनेके लिये आधाररूपसे निर्देश किया है, क्योंकि 'जिसमें' इस प्रकार सप्तमीविभक्तिद्वारा सूचित आत्म शब्दको '**तमेव मन्य आत्मान**' यहांसे लिया है, यह आत्मा चेतन पुरुष है, वह तो पच्चीसमें अन्तर्गत है ही, इसमें उसीका आधार होना और उसीका आधेय होना बनता नहीं । यदि आत्मा शब्दसे पदार्थान्तरको ग्रहण करोगे तो पच्चीस तत्त्वोंसे भिन्न सिद्ध होगा और यह तुम्हारे सिद्धान्तके विरुद्ध प्रसंग होगा, तथा '**आकाशश्च प्रतिष्ठितः**' इस मन्त्रमें पच्चीस तत्त्वोंमें अन्तर्गत आकाश

---

१—विशेषण अन्वय है, अन्वय न होनेमें हेतुको कहते हैं—**उपसर्जनस्येति** । सब अप्रधान गौणोंका प्रधान विशेष्यके साथ अन्वय कहना चाहिये । गौणोंका परस्पर अन्वय करनेपर वाक्यभेद हो जाता है—**रत्नप्रभा**।

युज्यते । अर्थान्तरपरिग्रहे च तत्त्वसंख्यातिरेकः सिद्धान्तविरुद्धः प्रसज्येत । तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाशस्यापि पञ्चविंशतावन्तर्गतस्य न पृथगुपादानं न्याय्यम् । अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम् । कथं च संख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहः प्रतीयते । जनशब्दस्य तत्त्वेष्वरूढत्वात् । अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपिसंख्योपपत्तेः ।

प्रश्नः—कथं तर्हि पञ्च पञ्चजना इति ?

उत्तरम्—उच्यते—'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' ( पा० सू० २।१।५० ) इति विशेषणस्मरणात्संज्ञायामेव पञ्चशब्दस्य जनशब्देन समासः । ततश्च रूढत्वाभिप्रायेणैव केचित्पञ्चजना नाम विवक्ष्यन्ते न सांख्यतत्त्वाभिप्रायेण । ते कतीत्यस्यामाकाङ्क्षायां पुनः पञ्चेति प्रयुज्यते । पञ्चजना नाम ये केचित्ते च पञ्चैवेत्यर्थः । सप्तर्षयः सप्तेति यथा ॥ ११ ॥

प्रश्नः—के पुनस्ते पञ्चजना नामेति ?

उत्तरम्—तदुच्यते—

## प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यत उत्तरस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः' इति । तेऽत्र वाक्यशेषगताः संनिधानात्पञ्चजना विवक्ष्यन्ते ।

प्रश्नः—कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः ?

---

शब्दको पृथक् ग्रहण करना उचित नहीं, यदि आकाश शब्दसे वस्त्वन्तरका ग्रहण करोगे तो ( २५से अधिक होना यह ) सिद्धान्तहानिरूप दोष कह दिया है । और दूसरी बात यह है कि संख्यामात्र सुने जानेपर न सुने हुवे पच्चीस तत्त्वोंका संग्रह होना किस प्रकार प्रतीत हो सकता है ? क्योंकि जन शब्द तत्त्वोंमें प्रसिद्ध नहीं है, जन शब्दसे वस्त्वन्तरको ही ग्रहण करनेपर भी ( संख्येय पदार्थोंकी ) संख्या प्रतीत होती है ।

प्रश्न—अच्छा तो बताओ '**पञ्च पञ्चजना**' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—'**दिक्संख्ये संज्ञायाम्**' ( पा० सू० २।१।५० )" इस सूत्रमे पञ्च शब्दको विशेषण माना है, इसलिये संज्ञा अर्थमे ही पञ्च शब्दका जन शब्दके साथ समास हुवा है, इस कारण यह पञ्चजन शब्द किसी अर्थमें रूढ है—प्रसिद्ध है, इस अभिप्रायसे ही कोई 'पञ्चजन' इस नामसे विवक्षित है, न कि सांख्योंके तत्त्वोंके अभिप्रायसे । वे पञ्चजन कितने हैं इस प्रकार आकांक्षा होनेपर फिर पांच इस तरह प्रयोग किया गया है, अर्थात् पञ्चजन ये जिनके नाम हैं वे पांच ही हैं, जैसे सप्तर्षि सात होते हैं ॥ ११ ॥

प्रश्न—फिर वे पञ्चजन किनके नाम हैं ?

उत्तर—अब यह कहते हैं—

## प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

**"यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः०"** इसके बादके मन्त्रमे ब्रह्मस्वरूपको निरूपण करनेके लिये पांच प्राण आदियोंको निर्देश किया है, जैसे—**'प्राणस्य प्राण०'** यहां ये सन्निहित होनेसे वाक्यशेषसे प्राप्त हुवे प्राण आदि पञ्चजन शब्दसे लिये जाते हैं ।

प्रश्न—फिर कैसे प्राण आदियोंमें जन शब्दका प्रयोग होता है ?

उत्तरम्—तत्त्वेषु वा कथं जनशब्दप्रयोगः ? समाने तु प्रसिद्ध्यतिक्रमे वाक्यशेषवशात्प्राणादय एव ग्रहीतव्या भवन्ति । जनसंबन्धाच्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति । जनवचनश्च पुरुषशब्दः प्राणेषु प्रयुक्तः 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' ( छा० ३।१३।६ ) इत्यत्र । 'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' ( छा० ७।१५।१ ) इत्यादि च ब्राह्मणम् । समासबलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम् ।

प्रश्नः—कथं पुनरसति प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याश्रयितुम् ?

उत्तरम्—शक्योद्भिदादिवदित्याह । प्रसिद्धार्थसंनिधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्दः प्रयुज्यमानः समभिव्याहारात्तद्विषयो नियम्यते, यथा '[1]उद्भिदा यजेत' 'यूपं छिनत्ति' वेदिं करोति' इति । तथायमपि पञ्चजनशब्दः समासान्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावः संज्ञाकाङ्क्षी वाक्यशेषसमभिव्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते । कैश्चित्तु देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पञ्च पञ्चजना व्याख्याताः । अन्यैश्च चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः परिगृहीताः । क्वचिच्च 'यत्पाञ्चजन्यया विशा' (ऋ० सं० ८।५३।७) इति प्रजापरः प्रयोगः पञ्चजनशब्दस्य दृश्यते । तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः । आचार्यस्तु न पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इति जगाद ॥ १२ ॥

उत्तर—तत्त्वोंमें ही क्यों जन शब्दका प्रयोग हो सकता है ? प्रसिद्धिका उल्लंघन उभयपक्षमें समान होनेपर तो वाक्यशेषवशसे प्राण आदि गृहीत होते हैं, और जन शब्दके साथ सम्बन्ध होनेसे भी ( प्राण आदि ही लिये जाते हैं ) क्योंकि प्राण आदियोंका जन शब्दके साथ योग होता है और जनवाची पुरुष शब्द भी प्राणोंमें प्रयुक्त है, जैसे—'ये ये पांच ब्रह्मपुरुष हैं' ( छा० ३।१३।६ ) और 'प्राण ही पिता है और प्राण ही माता है' ( छा० ७।१५।१ ) । इत्यादि यह ब्राह्मण ग्रन्थका वचन है । तथा समासबलसे भी पञ्चजन समुदायका रूढ होना विरुद्ध नहीं होता है ।

प्रश्न—पहले प्रयोग न होनेपर फिर कैसे रूढिको ले सकते हो ?

उत्तर—उद्भिद् आदिके तुल्य ले सकते हैं, जैसे 'उद्भिद्से यज्ञ करे, यूपको काटता है, वेदी बनाता है ।' तथा यह पञ्चजन शब्द भी '**दिक्संख्ये०**' इस सूत्रद्वारा समास विधान होनेसे संज्ञावाचक प्रतीत होकर नामको आकाङ्क्षा करता हुआ वाक्यशेषमें प्राप्त हुवे प्राण आदियोंमें प्रवृत्त होता है । कोई तो देव, पितर, गन्धर्व, असुर, रक्षस् ये पांच पञ्चजन होते हैं इस प्रकार व्याख्यान करते हैं । और लोगोंने तो चार वर्ण और पांचवा निषाद इनका ग्रहण किया है । और कहीं तो '**यत्पाञ्चजन्यया विशा**' ( ऋ० सं० ८।५३।७ ) इस मन्त्रमें प्रजार्थक पञ्चजन शब्दका प्रयोग दीखता है, प्रजापरक ग्रहण करनेसे भी यहां कोई विरोध नहीं होता है । आचार्यने तो यहां पच्चीस तत्त्वोंकी प्रतीति नहीं होती है इसलिये '**प्राणादयो वाक्यशेषात्**' ऐसा कहा ॥ १२ ॥

---

१—"अत्र हि यजेतेति यागेन भावयेदित्यर्थः । तथा चोद्भिदेति तृतीयान्तपदं यजिसामानाधिकरण्याद् यागनाम स्यात् ।⋯⋯एवं यथा सन्निहितयज्यनुरोधेनोद्भित्पदं यागनामधेयमेवं सन्निहितवाक्यशेषात्पञ्चजनशब्दः प्राणादिषु रूढ इति भाष्यार्थः ।

( वेदान्तकल्पतरु० )

भावार्थः—'यहां '**यजेत**' इस धातुका अर्थ है यज्ञसे निष्पन्न करावे, तथा '**उद्भिदा**' यह तृतीयान्त शब्द यज् धातुके साथ समान आधार होनेसे यज्ञका नाम होगा ।⋯⋯एवं जैसे समीपोपस्थित यज् धातुके अनुरोधमें उद्भित् पद यज्ञका नाम है, एवं समीपस्थ वाक्यशेषबलसे '**पञ्चजन**' शब्द प्राण आदियोंमें रूढ-प्रसिद्ध है यह भाष्यका भावार्थ है'—**वेदान्तकल्पतरु** ।

प्रश्नः—भवेयुस्तावत्प्राणादयः पञ्चजना माध्यंदिनानां येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति। काण्वानां तु कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुर्येऽन्नं प्राणादिषु नामनन्तीति ?

उत्तरम्—अत उत्तरं पठति—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

असत्यपि काण्वानामन्ने ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्येत । तेऽपि हि 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति ।

प्रश्नः—कथं पुनरुभयेषामपि तुल्यवदिदं ज्योतिः पठ्यमानं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद्गृह्यते केषांचिन्नेति ?

उत्तरम्—अपेक्षाभेदादित्याह । माध्यंदिनानां हि समानमन्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नास्मिन्मन्त्रान्तरपठिते ज्योतिष्यपेक्षा भवति । तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा । अपेक्षाभेदाच्च समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे । यथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात्षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे तद्वत् । तदेवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित्प्रधानविषयास्ति स्मृतिन्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते ॥ १३ ॥

प्रश्न—माध्यन्दिनी शाखावाले जो प्राण आदियोंमें अन्नको पढ़ते हैं उनके मतमें प्राण आदि पञ्चजन हों, किन्तु काण्व शाखावाले जो अन्नको प्राण आदियोंमें नहीं पढ़ते हैं उनके मतमें प्राण आदि पञ्चजन किस प्रकार होंगे ?

उत्तर—इसलिये उत्तर पढ़ते हैं:—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

काण्वोंका अन्नके पाठ न होनेपर भी 'ज्योतिः' से उन लोगोंकी पञ्चसंख्या पूरी हो जावेगी, वे भी 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना.।' इससे प्रथम मन्त्रमें ब्रह्मस्वरूपको निरूपण करनेके लिये पढ़ते हैं कि— यह ब्रह्म ज्योतियोंकी भी ज्योति है।'

प्रश्न—दोनों माध्यन्दिनी और काण्व शाखावालोंके समानमन्त्रगत पञ्चसंख्यामें समानरूपसे पढ़ा जानेवाला यह ज्योतिः शब्द कैसे किसीके मतमें ग्रहण किया जाता है और किसीके मतमें नहीं ?

उत्तर—अपेक्षा भेदसे ग्रहण होता है और नहीं भी होता है, क्योंकि माध्यन्दिनी शाखावालोंके पक्षमें तो समानमन्त्रमें पढ़े हुवे पांच प्राण आदि पञ्चजन शब्दमें लिये जाते हैं इसलिये इस मन्त्रान्तरपठित ज्योतिः शब्दमें उनको अपेक्षा नहीं होती, और प्राण आदियोंमें अन्न शब्दके ग्रहण न होनेसे काण्व शाखावालोंको अपेक्षा होती है, अपेक्षाभेदसे ही समान मन्त्रमें भी ज्योतिः शब्दका ग्रहण और अग्रहण होता है, जैसे कि रातका बीतना समान होनेपर भी वचनभेदसे षोडशी यागका ग्रहण और अग्रहण होता है, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। इसलिये प्रधानका विषय किसी श्रुतिमें प्रसिद्ध नहीं है, इसका स्मृति और न्यायमें प्रसिद्ध होना तो आगे खण्डन किया जावेगा ॥ १३ ॥

· यह तीसरा संख्योपसंग्रहाधिकरण समाप्त हो गया ।

## ४ कारणत्वाधिकरणम् । सू १४–१५

### कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणम् । प्रतिपादितं च ब्रह्मविषयं गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानाम् । प्रतिपादितं च प्रधानस्याशब्दत्वम् । तत्रेदमपरमाशङ्क्यते—न जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो ब्रह्मविषयं वा गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानां प्रतिपत्तुं शक्यम् ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—विगानदर्शनात् । प्रतिवेदान्तं ह्यन्यान्या सृष्टिरुपलभ्यते क्रमादिवैचित्र्यात् । तथाहि—क्वचित् 'आत्मन आकाशः संभूतः' ( तै० २ । १ ) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते । क्वचित्तेजआदिका—'तत्तेजोऽसृजत' ( छा० ६ । २ । ३ ) इति । क्वचित्प्राणादिका—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६ । ४) इति । क्वचिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते—'स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापः' ( ऐ० उ० ४ । १ । २ ) इति । तथा क्वचिदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' ( तै० २।७ ) इति । 'असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' ( छा० ३ । १९ । १ ) इति च । क्वचिदसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत् इत्युपक्रम्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्' ( छा० ६।२।१,२ ) इति । क्वचित्स्वयंकर्तृकैव व्याक्रिया जगतो निगद्यते—

## ४ कारणत्वाधिकरणम् । सू० १४–१५

### कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

ब्रह्मका लक्षण कर दिया है, वेदान्तवाक्योंकी ब्रह्मविषयक संगति समानरूपसे लगा दी है, और प्रधानका शब्दप्रमाणरहित होना भी प्रतिपादन कर दिया। अब यहां दूसरी शंका की जाती है—ब्रह्म जगत्‌की उत्पत्ति आदिका कारण नहीं हो सकता है, और न वेदान्तवाक्योंकी ब्रह्मविषयक समानरूपमें संगति लग सकती है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—विरोध देखे जानेसे, क्योंकि क्रम आदिकी विचित्रतासे प्रत्येक वेदान्तमें अन्यान्य सृष्टि मिलती है, जैसे—कहीं "आत्मासे आकाश उत्पन्न हुवा ( तै० २ । १ )" इस प्रकार आकाश आदि क्रमसे सृष्टि कही गई है, और कहीं तेज आदि क्रमसे—जैसे—'उसने तेजरूप अग्निको उत्पन्न किया' ( छा० ६ । २।३ ), कहीं प्राण आदिपूर्वक जैसे—'उसने प्राणको उत्पन्न किया, प्राणसे श्रद्धाको उत्पन्न किया' ( प्र० ६ । ४ ), और कहीं तो बिना क्रमसे ही लोकोंकी उत्पत्ति कही गई—जैसे 'उसने इन लोकोंको रचा, फिर अम्भ—अन्नमय शरीरवाले लोक, मरीचि—सूर्यकिरणोंसे व्याप्त अन्तरिक्ष लोक, मर—मरण धर्मवाले मनुष्य और आपः—अधिक जलवाले जलीय लोकोंको उत्पन्न किया' ( ऐ० उ० ४ । १ । २ ), कहीं असत्पूर्वक सृष्टि पढ़ी जाती है जैसे—'आरम्भमें असत् था, उससे सत् उत्पन्न हुवा' ( तै० २ । ७ ), असत् ही आरम्भमें था, वह सत्‌रूप था, ऐसा वह हो गया, ( छा० ३ । १९ । १) इत्यादि, कहीं असद्वादको खण्डन कर सद्वादपूर्वक सृष्टिकी प्रतिज्ञा की जाती है जैसे—'लोग कहते हैं कि आदिमें असत् ही था' इस प्रकार आरम्भ कर 'हे सोम्य ! यह कैसे हो सकता है कि असत्‌से सत् उत्पन्न हो, इसलिये प्रथम सत् ही था' ( छा० ६ । २ । १–२ ), इत्यादि। और कहीं स्वतः कर्तृरूपसे जगत्‌का बनना कहा गया है जैसे 'प्रथम कार्य जगत् उत्पन्न नहीं हुवा था, पीछे

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृ १।४।७) इति। एवमनेकधा विप्रतिपत्तेर्वस्तुनि च विकल्पस्यानुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणावधारणपरता न्याय्या। स्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तरपरिग्रहो न्याय्य इति।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वाकाशादिषु क्रमादिद्वारके विगाने न स्रष्टरि किंचिद्विगानमस्ति।

प्रश्नः—कुतः ?

प्रत्युत्तरम्—यथाव्यपदिष्टोक्तेः। यथाभूतो ह्येकस्मिन्वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टस्तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते। तद्यथा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति। अत्र तावज्ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृत्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयदपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत्। तद्विषयेणैव परेणात्मशब्देन शरीरादिकोशपरंपरया चान्तरनुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तः प्रत्यगात्मानं निरधारयत्। 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति चात्मविषयेण बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टर्यभेदमभाषत। तथा 'इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच' (तै० २।६) इति समस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीयं स्रष्टारमाचष्टे। तदत्र यल्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातं तल्लक्षणमेवान्यत्रापि विज्ञायते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।१,३) इति। तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र

नामरूपात्मक जगत् बना' (बृ० १।४।७), इस प्रकार अनेक प्रकारसे विप्रतिपत्ति—(विरुद्ध ज्ञान) होती है, एक वस्तुमें 'यह है या वह है' ऐसा विकल्प ज्ञान उचित नहीं, इसलिये वेदान्तवाक्य, जो (ब्रह्मको) जगत्का कारण होना बोध करानेवाले हैं, न्याययुक्त नहीं हो सकते। स्मृति और न्यायकी प्रसिद्धिसे तो कारणान्तरका ग्रहण करना उचित होता है।

(इतना पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, इसका प्रतिसमाधान)

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहते हैं—प्रत्येक वेदान्तमें उत्पन्न किये जानेवाले आकाश आदियोंमें क्रम आदिद्वारा विरोध होनेपर भी स्रष्टा ब्रह्ममें विरोध नहीं होता है।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—जैसा उपदेश किया गया है वैसे ही कथन किया जाता है। एक वेदान्तवाक्यमें जिस स्वरूपवाला सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वात्मा, एक—अद्वितीय इस प्रकार कारणरूपसे उपदेश किया गया है उस स्वरूपवाला ही अन्य वेदान्तोंमें भी उपदेश किया जाता है, जैसे—'वह सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है' (तै० २।१)' इत्यादि। यहां इस श्रुतिवाक्यने ज्ञान शब्दसे और ब्रह्मविषयक अन्य कामना करनेवाले वचनसे ब्रह्मको चैतनत्वका निर्देश करता हुवा स्वतन्त्ररूपसे ईश्वरको कारण बतलाया, तथा ब्रह्मविषयक ही दूसरे आत्मा शब्दसे शरीरादियोंके कोशपरम्परासे भीतर अनुप्रवेश करनेके कारण सर्वव्यापक आत्माको सर्वान्तर्यामी होना निश्चय किया। और 'मैं अनेक हो जाऊँ' (तै० २।६). यहां आत्मविषयक अनेक होनेके कथन करनेसे उत्पन्न हुवे विकारोंका स्रष्टा ब्रह्मसे अभिन्न होना बतलाया, तथा 'यह जो कुछ है सबको उत्पन्न किया' (तै० २।२), यहां यह श्रुति समग्र जगत्की सृष्टिको निर्देश करनेसे सृष्टिसे पूर्व अद्वितीय स्रष्टा परमात्माको बतलाती है। इसलिये यहां जिस लक्षणयुक्त ब्रह्म कारणरूपसे जाना गया है वही लक्षणयुक्त ब्रह्म अन्यत्र भी जाना जाता है, जैसे—'हे सौम्य ! आदिमें एक अद्वितीय सत् ही था उसने विचार किया कि मैं अनेक हो जाऊँ।

आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजै' ( ऐ० उ० ४।१।१,२ ) इति च । एवंजातीयकस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगीतार्थत्वात् । कार्यविषयं तु विगानं दृश्यते क्वचिदाकाशादिका सृष्टिः क्वचित्तेजआदिकेत्येवंजातीयकम् । नच कार्यविषयेण विगानेन कारणमपि ब्रह्म सर्ववेदान्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितं भवितुमर्हतीति शक्यते वक्तुम् । 'अतिप्रसङ्गात् । समाधास्यति चाचार्यः कार्यविषमपि विगानं 'न वियदश्रुतेः' ( ब्र० सू० २।३।१ ) इत्यारभ्य । भवेदपि कार्यस्य विगीतत्वमप्रतिपाद्यत्वात् । नह्ययं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः । नहि तत्प्रतिबद्धः कश्चित्पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा । नच कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात् । दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्—'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' ( छा० ६।८।४ ) इति । मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाभेदं वदितुं 'सृष्ट्यादिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते । तथा च सम्प्रदायविदो वदन्ति—'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा । उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥' ( माण्डू० ३।१५ ) इति । ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते— 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ( तै० २।१ ) 'तरति शोकमात्मवित्' ( छा० ७।१।३ ) 'तमेव

---

तब उसने तेजको उत्पन्न किया' ( छा० ६।२।१–३ ), तथा 'आदिमें एक आत्मा ही थी और कुछ नहीं था उसने विचार किया कि लोकोंको बनाऊँ' ( ऐ० उ० ४।१।१–२ ), इत्यादि, इस प्रकार कारणके स्वरूपको निरूपण करनेवाले वाक्योंका प्रत्येक वेदान्तमें विरोध नहीं पड़ता है। कार्यविषयक विरोध तो देखा जाता है जैसे—कहीं आकाश आदि क्रमसे और कहीं तेज आदि क्रमसे सृष्टि देखी जाती है। कार्यविषयक विरोधसे सब वेदान्तोंमें अविरुद्ध ज्ञायमान कारण ब्रह्म भी विवक्षित नहीं हो सकता है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इससे अन्य दोषोंका प्रसङ्ग होगा. आचार्य व्यासजी 'न वियदश्रुतेः' ( ब्र० सू० २।३।१ )' यहांसे आरम्भ कर कार्यविषयक विरोधका भी समाधान करेंगे। अच्छा-कार्यविषयक विरोध हो तो होने दो, क्योंकि इस सृष्टि आदि प्रपञ्चका प्रतिपादन करना अभीष्ट नहीं है, न इस प्रपञ्चसे सम्बद्ध होना कहीं पुरुषार्थ देखा वा सुना गया है, और न इसकी कल्पना कर सकते हो, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे वहां २ ब्रह्मविषयक वाक्योंके साथ ( सृष्टि आदि प्रपञ्चकी ) एकवाक्यताका ज्ञान होता है, वेदान्तवाक्य सृष्ट्यादि प्रपञ्चको ब्रह्मज्ञान करनेके लिये दिखाता है, जैसे—'हे सोम्य ! अन्नरूप शुङ्ग—कार्यसे जलके कारणको जानो, जलके कार्यसे तेजके कारणको जानो, और तेजरूप कार्यसे सत् मूल कारणको जानो'(छा० ६।८।४)इत्यादि। और इस वाक्यसे पूर्व मिट्टी आदिके दृष्टान्तोंसे कार्यका कारणके साथ अभेद प्रतिपादन करनेके लिये यह सृष्ट्यादि प्रपञ्च सुनाया जाता है ऐसा प्रतीत होता है, और सम्प्रदाय धर्मको जाननेवाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि—'मिट्टी, लोहे—सुवर्ण और अग्निकी चिनगारी आदि होनेके कारण यह सृष्टि अन्यथा कही गई है, यही जगत् ब्रह्मात्मभाववालेका साधन

---

—स्वप्नकी बातें प्रतिदिन मिथ्या प्रतीत होती हैं इस मिथ्यात्व प्रतीतिसे वह मैं हूं इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा किये जानेवाले द्रष्टामें भी नानात्वका प्रसङ्ग होगा, इसलिये कहते हैं—**अतिप्रसंगादिति—रत्नप्रभा ।**

स्थाणु आदिके विरुद्ध ज्ञानसे विशेषरूपसे बतलाये जाने वाले घट आदि पदार्थोंमें भी विरुद्ध बुद्धिका प्रसङ्ग होगा—**आनन्दगिरीय न्यायनिर्णय ।**

विदित्वाऽतिमृत्युमेति' ( श्वे० ३।८ ) इति । प्रत्यक्षावगमं चेदं फलम् । 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः ॥ १४ ॥

प्रश्नः—यत्पुनः कारणविषयं विगानं दर्शितम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि तत्परिहर्तव्यम् ?

प्रत्युत्तरम्–अत्रोच्यते—

## समाकर्षात् ॥ १५ ॥

'असद्वा इदमग्र आसीत्' ( तै० २।७ ) इति नासत्स्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते । यतः 'असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यसद्वादापवादेनास्तित्वलक्षणं ब्रह्मान्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मानं निर्धार्य 'सोऽकामयत' इति तमेव प्रकृतं समाकृष्य सप्रपञ्चां सृष्टिं तस्माच्छ्रावयित्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति चोपसंहृत्य 'तदप्येष श्लोको भवति' इति तस्मिन्नेव प्रकृतेऽर्थे श्लोकमिममुदाहरन्ति—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति । यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिञ्छ्लोकेऽभिप्रेयेत ततोऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसंबद्धं वाक्यमापद्येत । तस्मा-

---

है, इसलिये प्रतिपादनीय ब्रह्ममें कोई भेद—विरोध नहीं है' ( [1]माण्डू० ३।१५ ) इत्यादि । तथा ब्रह्मज्ञान होनेका फल तो सुना जाता है:—

"ब्रह्मको जाननेवाला कल्याणको प्राप्त होता है ( तै० २।१ )" "आत्माको जाननेवाला शोकसे पार हो जाता है ( छा० ७।१।३ )" 'उसी ब्रह्मको जान कर मृत्युसे पार होता है' ( श्वे० ३।८ )' इस प्रकार यह फल तो प्रत्यक्ष विदित होता है । और "तत्त्वमसि" इस तरह असंसारी आत्माका बोध हो जानेपर संसारी जीवात्मत्व हट जाता है ॥ १४ ॥

प्रश्न—और जो कारणविषयक विरोध दिखाया था कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि, उसका परिहार होना चाहिये ?

प्रत्युत्तर—अब यहां कहा जाता है:—

## समाकर्षात् ॥ १५ ॥

'आदिमें असत् था' ( तै० २।७ ), यहां सत्तारहित निरात्मक अवस्तुको कारणरूपसे नहीं सुनाया है, क्योंकि—'जो ब्रह्म नहीं है ऐसा मानता है वह अभावरूप असत्—नष्ट ही हो जाता है, और जो 'ब्रह्म है' ऐसा मानता है उसे ही विद्वज्जन सन्त—भावरूप श्रेष्ठ मानते हैं' ( तै० ३।६ ), इस प्रकार असद्वादको निराकरण कर अस्तित्व लक्षणवाले ब्रह्मको अन्नमय आदि कोशोंकी परम्परामें सर्वव्यापक आत्मा निश्चित कर "सोऽकामयत" यहांसे उसी प्रकृत विषयको खींच कर समग्र प्रपञ्चयुक्त सृष्टिकी उत्पत्ति उसी ब्रह्मसे होती है यह सुना कर 'वह आत्मा सत्य है' ऐसा उपसंहार (समाप्ति) कर 'ब्रह्मविषयक यह भी श्लोक है' इससे उसी प्रकृत ब्रह्मके विषयमें इस श्लोकको उदाहरणरूपसे पेश करते हैं कि—'सृष्टिके आरम्भमें असत् था' इत्यादि ।

यदि सत्तारहित निरात्मक अवस्तुका इस श्लोकमें अभिप्राय होता तो अन्य किसीके समाकर्षण ( अनुवर्त्तन ) मे अन्य किसीके उदाहरण देनेमे वाक्य असम्बद्ध हो जाता, इस कारण नामरूपात्मक उत्पन्न वस्तु विषय ही प्रायः सत् शब्दसे प्रसिद्ध होता है, इसलिये उत्पत्ति न होनेकी अपेक्षासे सृष्टिसे

---

१—यह मन्त्र न माण्डूक्योपनिषद्में है और न मुण्डकमें, अन्यत्र कहींका प्रतीत होता है—अनुवादक ।

नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यते । एषैव 'असदेवेदमग्र आसीत्' । ( छा० ३।१९।१ ) इत्यत्रापि योजना । 'तत्सदासीत्' इति समाकर्षणात् । अत्यन्ताभावाभ्युपगमे हि तत्सदासीदिति किं समाकृष्येत । 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' ( छा० ६।२।१ ) इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणायमेकीयमतोपन्यासः । क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्यासंभवात् । तस्माच्छ्रुतिपरिगृहीतसत्पक्षदार्ढ्यायैवायं मन्दमतिपरिकल्पितस्यासत्पक्षस्योपन्यस्य निरास इति द्रष्टव्यम् । 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' ( बृ० १।४।७ ) इत्यत्रापि न निरध्यक्षस्य जगतो व्याकरणं कथ्यते, 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात् । निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इत्यनेन सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत । चेतनस्य चायमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः श्रूयते । प्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात् 'पश्यँश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति । अपिच यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्साध्यक्षं व्याक्रियत एवमादिसर्गेऽपीति गम्यते । दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः । श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' ( छा० ६।३।२ ) इति साध्यक्षामेव जगतो व्याक्रियां दर्शयति । व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः । यथा लूयते

---

पहले विद्यमान ब्रह्म भी अविद्यमान सा था इस प्रकार उपचार ( मान लेना ) होता है, और यही योजना 'आदिमें असत् ही था' ( छा० ३।१९।१ ), यहां भी लगानी चाहिये, क्योंकि 'वह ब्रह्म विद्यमान था' इस प्रकार प्रथमस्थानसे अनुकर्षण ( अनुवृत्ति ) किया जाता है । अत्यन्ताभावको स्वीकार करने पर 'वह सत् था' इससे किसको अनुकर्षण करते अर्थात् ले आते ? और 'लोग कहते हैं कि आदिमें असत् ही था' ( छा० ६।२।१ ), यहां भी श्रुत्यन्तरके अभिप्रायसे किसी एक असद्वाद मतका उल्लेख नहीं है, क्योंकि वस्तुमें क्रियाके समान विकल्प नहीं होता है । इस कारण श्रुतिद्वारा ग्रहण किये हुवे सत्पक्षकी दृढ़ताके लिये ही अल्प बुद्धिवालोंकी कल्पना किये हुवे असद्वाद पक्षको दिखा कर खण्डन किया गया है इस प्रकार देख लेना चाहिये । 'तब यह जगत् उत्पत्तिरहित था' (बृ० १।४।७), यहां भी किसी अध्यक्ष अधिष्ठाताके विना जगत्का उत्पन्न होना नहीं कहा जाता है, क्योंकि 'वह ब्रह्म सिरसे लेकर नाखूनके अग्रभाग पर्यन्त प्रविष्ट हो रहा है ।' ब्रह्म उत्पन्न हुवे जगत् रूप कार्यमें अनुप्रवेश करता है, इस प्रकार ब्रह्मको अधिष्ठातृत्वेन अनुकर्षण किया है । यदि अध्यक्ष ( सञ्चालक ) रहित उत्पत्तिको मानें तो समीप ही ऊपर कहे हुवे विषयको संकेत करनेवाला 'सः—वह' यह सर्वनामवाचक शब्द कार्य जगत्में अनुप्रवेश करनेवालेरूपसे किसे अनुकर्षण करता अर्थात् ले आता ? चेतन आत्माका ही शरीरमें अनुप्रवेश सुना जाता है, क्योंकि प्रवेश करनेवालेका ही चेतन होना सुना गया है, और 'देखनेवाली आंख, सुननेवाला कान और मनन करनेवाला मन है' इत्यादि । और दूसरी बात यह है कि आज कल जैसा यह नामरूपसे उत्पन्न होनेवाला जगत् अध्यक्षयुक्त ही उत्पन्न होता है वैसे ही आदि सृष्टिकालमें भी साध्यक्ष जगत् उत्पन्न हुवा था यह निश्चय होता है. क्योंकि देखी हुई चीजकी विपरीत कल्पना नहीं कर सकते, और श्रुत्यन्तरका भी प्रमाण है कि—'इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश कर नाम और रूपको उत्पन्न करूं' ( छा० ६।३।२ ), इस तरह श्रुति जगत्की सृष्टिको साध्यक्ष ही बतलाती है । 'व्याक्रियते' यह क्रियापद कर्मकर्तामें प्रत्यय होकर बना है, व्याकर्ता—उत्पादक परमेश्वरके होनेपर ही सौकर्य—सरलरूपसे करना देखा जाता है, जैसे काटनेवाले पुरुषके पूर्व विद्यमान होनेपर ही कहा जाता है कि—यह खेत स्वयं—अपने आप ही कटता है, अथवा यह लकार

केवाटः स्वयमेवेति सत्येव 'पूर्वके लवितरि[1] । यद्वा कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्तारमपेक्ष्य द्रष्टव्यः । यथा गम्यते ग्राम इति ॥ १५ ॥

## ५ बालाक्यधिकरणम् । सू० १६–१८

### जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः' ( कौ० ब्रा० ४।१६ ) इति । तत्र किं जीवो वेदितव्यत्वेनोपदिश्यत उत मुख्यः प्राण उत परमात्मेति विशयः ।

प्रश्नः—किं तावत्प्राप्तम् ?

उत्तरम्—प्राण इति ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—'यस्य वैतत्कर्म' इति श्रवणात् । परिस्पन्दलक्षणस्य च कर्मणः प्राणाश्रयत्वात् । वाक्यशेषे च 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इति प्राणशब्ददर्शनात् । प्राणशब्दस्य च मुख्ये प्राणे प्रसिद्धत्वात् । ये चैते पुरस्ताद्बालाकिना 'आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः' इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टास्तेषामपि भवति प्राणः कर्ता प्राणावस्थाविशेषत्वादादित्यादिदे-

---

कर्म ( Passive voice ) में है जो अर्थसे निर्देश किये हुवे कर्त्ताको अपेक्षा कर देख लेने योग्य है, जैसे—ग्राममें जाया जाता है ( ऐसा कहने पर जानेवाला कर्त्ताका होना प्रतीत होता है ) ॥ १५ ॥ यह चौथा कारणत्वाधिकरण समाप्त हो गया ।

## ५ बालाक्यधिकरणम् । सू० १६–१८

### जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

कौशीतकी ब्राह्मणमें बालाकि और अजातशत्रुके संवादमें सुना जाता है—'हे बालाके ! यह जो इन पुरुषोंका कर्त्ता है, और जिसका यह कर्म है वह जानने योग्य है' ( कौ० ब्रा० ४ । १६ ) इत्यादि । अब यहां सन्देह होता है कि क्या यहां जीवात्माको जानने योग्य रूपसे उपदेश किया है ? अथवा मुख्य प्राणको ? अथवा परमात्माको ?

प्रश्न—तो किसकी प्राप्ति है ?

उत्तर—प्राणकी है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—जिसका यह कर्म है ऐसा सुना जाता है, क्योंकि इधर उधर भ्रमण करना इस लक्षणयुक्त कर्मका आधार प्राण ही है, वाक्यशेषमे भी—'इसके अनन्तर इसी प्राणमे एक हो जाता है ।' इसमें भी प्राण शब्द देखा गया है, और प्राण शब्द मुख्य प्राणमे प्रसिद्ध भी है । और जो पहिले बालाकिने 'सूर्यमें जो पुरुष है और चन्द्रमामे जो पुरुष है ।' इत्यादि पुरुषोंको निर्देश किया है उनका भी कर्त्ता प्राण हो सकता है, क्योंकि आदित्य आदि देवगण भी प्राणोंके अवस्थाविशेषवाले होते हैं, तथा 'वह एक देव कौनसा है ? वह एक प्राण ब्रह्म है ऐसा कहा जाता है' ( बृ० ३ । ६ । ६ ), इस प्रकार प्राण ही श्रुत्यन्तरमें भी प्रसिद्ध है । अथवा यहां जीवको ही जानने योग्य रूपसे उपदेश किया है, क्योंकि

---

१—कहीं 'पूर्णके' ऐसा पाठ मिलता है—अनुवादक ।

वतात्मनाम् । 'कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' ( बृ० ३।९।९ ) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः जीवो वायमिह वेदितव्यतयोपदिश्यते । तस्यापि धर्माधर्मलक्षणं कर्म शक्यते श्रावयितुम् 'यस्य वैतत्कर्म' इति । सोऽपि भोक्तृत्वाद्भोगोपकरणभूतानामेतेषां पुरुषाणां कर्तोपपद्यते । वाक्यशेषे च जीवलिङ्गमवगम्यते । यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य पुरुषाणां कर्तुर्वेदनायोपेतं बालाकिं प्रति बुबोधयिषुरजातशत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्यामन्त्रणशब्दाश्रवणात्प्राणादीनामभोक्तृत्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थानात्प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं भोक्तारं प्रतिबोधयति । तथा परस्तादपि जीवलिङ्गमवगम्यते— 'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति' ( कौ० ब्रा० ४ । २० ) इति । प्राणभृत्त्वाच्च जीवस्योपपन्नं प्राणशब्दत्वम् । तस्माज्जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इह ग्रहणीयो न परमेश्वरः, तल्लिङ्गानवगमादिति ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवायमेतेषां पुरुषाणां कर्ता स्यात् ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—उपक्रमसामर्थ्यात् । इह हि बालाकिरजातशत्रुणा सह 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति संवदितुमुपचक्रमे । स च कतिचिदादित्याद्यधिकरणान्पुरुषानमुख्यब्रह्मदृष्टिभाज उक्त्वा तूष्णीं बभूव । तमजातशत्रुः 'मृषा वै खलु मा संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि' इत्यमुख्यब्रह्मवादितयापोद्य तत्कर्तारमन्यं वेदितव्यतयोपचिक्षेप । यदि सोऽप्यमुख्यब्रह्मदृष्टिभाक् स्यादुपक्रमो बाध्येत । तस्मात्परमेश्वर एवार्थं भवितुमर्हति । कर्तृत्वं चैतेषां

"यस्य वैतत्कर्म" इससे उसके भी धर्म-अधर्म लक्षणयुक्त कर्मोंको सुना सकते हैं । वह जीवात्मा भी भोक्ता होनेसे भोगोंके साधनरूप इन पुरुषोंका कर्ता हो सकता है, और वाक्यशेषमें भी जीवात्माका चिह्न पाया जाता है, कारण कि जानने योग्यरूपसे बतलाये हुवे पुरुषोंका कर्ता जीवात्माको जाननेके लिये उपस्थित हुए बालाकिको ज्ञान करानेकी कामना करनेवाला अजातशत्रु सोते हुवे पुरुषको बुला कर बुलाये हुवे सम्बोधनको न सुननेके कारण प्राण आदियोंको अभोक्तृत्व बता कर डंडेकी चोटसे पुरुषको उठानेसे प्राण आदिसे भिन्न भोक्ता जीवात्माको बोध कराते हैं, तथा बादके वाक्यमें भी जीवात्माका चिह्न प्रतीत है, जैसे—प्रधान पुरुष घरका स्वामी अपने नौकरद्वारा लाये हुवे वस्तुओंको भोग करते हैं, अथवा जैसे 'अपने कुटुम्बी बन्धु भृत्यवर्ग स्वामीके आश्रयसे जीते हैं, इसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा जीव भोगके साधन सूर्य आदि प्रकाशसे भोग करता है, ऐसे ही ये सूर्य आदि जीवात्माके आश्रयसे हवि आदि ग्रहण कर जीते हैं ।' ( कौ० ब्रा० ४ । २० ), इत्यादि । प्राणधारक होनेसे जीवात्माका प्राण शब्दसे कहा जाना उचित है, इसलिये जीव और मुख्यप्राण इन दोनोंमें एकका ग्रहण करना चाहिये, परमेश्वरका नहीं, क्योंकि ब्रह्मचिह्न प्रतीत नहीं होता है ।

( इतना पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीका समाधान )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहते हैं—परमेश्वर ही इन पुरुषोंका कर्ता है ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—आरम्भसामर्थ्यसे, यहां बालाकि अजातशत्रुके साथ 'तुम्हें ब्रह्मको कहता हूं' यह संवाद करनेको गया, वह सूर्यादिस्थ अमुख्यमें ब्रह्मदृष्टि करनेवाले कतिपय पुरुषोंको बता कर चुप हो गया । उसे अजातशत्रुने -'तुम झूठ न कहो, तुम्हें ब्रह्मको कहता हूं इस प्रकार अमुख्यको ब्रह्म कहने रूपसे निन्दा कर उनको उत्पन्न करनेवाले किसी अन्यका ज्ञातव्यतया संकेत किया । यदि वह अमुख्यमें ब्रह्मदृष्टि करनेवाला हुवा तो उपक्रम बाधित होता, इसलिये परमेश्वर ही यह हो सकता है । इन पुरुषोंका कर्ता होना भी परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीको स्वतन्त्रासे कल्पना नहीं कर सकते

पुरुषाणां न परमेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्येणावकल्पते । 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यपि नायं परिस्पन्दलक्षणस्य धर्माधर्मलक्षणस्य वा कर्मणो निर्देशः । तयोरन्यतरस्याप्यप्रकृतत्वात् । असंशब्दितत्वाच्च । नापि पुरुषाणामयं निर्देशः । एतेषां पुरुषाणां कर्तेत्येव तेषां निर्दिष्टत्वात् । लिङ्गवचनविगानाच्च । [1]नापि पुरुषविषयस्य करोत्यर्थस्य क्रियाफलस्य वायं निर्देशः, कर्तृशब्देनैव तयोरुपात्तत्वात् । पारिशेष्यात्प्रत्यक्षसंनिहितं जगत्सर्वनाम्नैतच्छब्देन निर्दिश्यते । क्रियत इति च तदेव जगत्कर्म ।

प्रश्नः—ननु जगदप्यप्रकृतमसंशब्दितं च ?

प्रत्युत्तरम्—सत्यमेतत् । तथाप्यसति विशेषोपादाने साधारणेनार्थेन संनिधानेन संनिहितवस्तुमात्रस्यायं निर्देश इति गम्यते न विशिष्टस्य कस्यचित् । विशेषसंनिधानाभावात् । पूर्वत्र च जगदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादविशेषितं जगदेवेहोपादीयत इति गम्यते । एतदुक्तं भवति—य एतेषां पुरुषाणां जगदेकदेशभूतानां कर्ता, किमनेन विशेषेण, यस्य कृत्स्नमेव जगदविशेषितं कर्मेति । वाशब्द एकदेशावच्छिन्नकर्तृत्वव्यावृत्त्यर्थः । ये बालाकिना ब्रह्मत्वाभिमताः पुरुषाः कीर्तितास्तेषामब्रह्मत्व

'जिसका यह कर्म है' यह वचन भी गमनशील प्राणको अथवा धर्म-अधर्म लक्षणयुक्त जीवात्माके कर्मको निर्देश नहीं करता है, क्योंकि इन दोनोंमें किसी एकका उपक्रम नहीं किया गया है, और न इन दोनोंके विषयमें कुछ कहा गया है, यह निर्देश पुरुषोंका भी नहीं है, क्योंकि—'इन पुरुषोंका कर्त्ता' इतना ही उनको निर्देश किया है। और ('एतत्कर्म' में नपुंसक लिङ्ग तथा एकवचन है, और 'पुरुषाणां कर्त्ता' में पुंलिङ्ग तथा बहुवचन है इसलिये) लिङ्ग तथा वचनोंके विरोध होनेसे भी—(यह निर्देश आदित्यादि पुरुषोंका नहीं है) और न पुरुषविषयक 'करोति' इस क्रियाके अर्थका अथवा क्रियाफलका निर्देश है, क्योंकि 'कर्त्ता' शब्दसे ही इन दोनों करोति क्रियाके अर्थका और क्रियाफलका ग्रहण हो जाता है (अन्यथा पुनरुक्ति होती), परिशेषसे प्रत्यक्षरूपसे समीपोपस्थित जगत्‌को सर्वनामवाचक 'एतत्' शब्दसे निर्देश किया है, वही जगत्‌रूप कर्म 'किया जाता है' इस क्रियापदसे गृहीत हो जाता है।

प्रश्न—जगत् भी तो प्रकृत न था और न इसके विषयमें कुछ कहा गया था ?

प्रत्युत्तर—यह ठीक है, तथापि किसी विशेषके ग्रहण न होनेपर सामान्य अर्थात् समीपताके कारण समीपस्थ वस्तुमात्रका यह निर्देश है, किसी विशेष वस्तुका नहीं क्योंकि यहां कोई विशेष वस्तु समीपमें उपस्थित नहीं है, पहले तो जगत्‌के एकदेशमें रहनेवाले आदित्यादि पुरुषोंका विशेषरूपसे ग्रहण किया है, इसलिये यहां अविशिष्ट साधारण जगत्‌का ही लिया जाना प्रतीत होता है. अभिप्राय यह है कि—जो जगत्‌के एकदेशस्थ इन आदित्यादि पुरुषोंका कर्त्ता है, यहां विशेषरूपसे कहनेका अभिप्राय क्या है.? यह वह है कि—विशेषरूपसे नहीं कहे हुवे सम्पूर्ण ही जगत् कर्म है यह सिद्ध होता है। 'यस्य वा एतत्कर्म' में जो 'वा' शब्द है वह एकदेशस्थ पुरुषोंके कर्तृत्वको हटानेके लिये है। और बालाकिने जिन पुरुषोंको ब्रह्मत्वके अभिप्रायसे कीर्त्तन किया है उनको

---

१—पुरुषोंका उत्पादक कर्त्ताका काम करना यह अर्थ है, करनाका अर्थ उत्पन्न करना है, उत्पत्तिका फल पुरुषोंका जन्म है ( एतत्कर्म में ) कर्मशब्द इन दोनोंमेंसे एकका वाचक हो जाय इसलिये कहते हैं—नापीति—रत्नप्रभा।

ख्यापनाय विशेषोपादानम् । एवं ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन सामान्यविशेषाभ्यां जगतः कर्ता वेदितव्यतयोपदिश्यते । परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः ॥ १६ ॥

## जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

प्रश्नः—अथ यदुक्तं वाक्यशेषगताज्जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तयोरेवान्यतरस्येह ग्रहणं न्याय्यं न परमेश्वरस्येति । तत्परिहर्तव्यम् ?

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—परिहृतं चैतत् 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' ( ब्र० सू० १।१।३१) इत्यत्र । त्रिविधं ह्यत्रोपासनमेवं सति प्रसज्येत जीवोपासनं मुख्यप्राणोपसानं ब्रह्मोपासनं चेति । न चैतन्न्याय्यम् । उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि ब्रह्मविषयत्वमस्य वाक्यस्यावगम्यते । तत्रोपक्रमस्य तावद्ब्रह्मविषयत्वं दर्शितम् । उपसंहारस्यापि निरतिशयफलश्रवणाद्ब्रह्मविषयत्वं दृश्यते—'सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' इति ।

प्रश्नः—नन्वेवं सति प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्यं निर्णीयेत ?

प्रत्युत्तरम्—न निर्णीयते । 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यस्य ब्रह्मविषयत्वेन तत्रानिर्धारितत्वात् । तस्मादत्र जीवमुख्यप्राणशङ्का पुनरुत्पद्यमाना निवर्त्यते । प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मविषयो

अब्रह्मत्व सिद्ध करनेके लिये पुरुषपदको विशेषरूपसे ग्रहण किया है, इस प्रकार 'ब्राह्मण-परिव्राजकन्यायसे सामान्य तथा विशेषरूप हेतुओंसे जगत्के कर्त्ताको ज्ञातव्यरूपसे उपदेश किया है, परमेश्वर तो सम्पूर्ण जगत्का कर्त्ता है, सब वेदान्तोंमे ऐसा निर्णय किया है ॥ १६ ॥

## जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

प्रश्न—और यह जो कहा था कि वाक्यशेषस्थ जीवलिङ्ग और मुख्यप्राणलिङ्गसे इन्हीं दोनोंमें एकका यहां ग्रहण करनां उचित है, परमेश्वरका नहीं, इसका परिहार करना चाहिये ?

प्रत्युत्तर—अब यहां कहा जाता है—इसका परिहार "नोपासात्रैविध्या० ( ब्र० सू० १ । १ । ३१ )" यहांपर कर दिया है । इस सूत्रमें तीन प्रकारकी उपासना है, ऐसी अवस्थामें तो जीवोपासन, मुख्य प्राणोपासन और ब्रह्मोपासनका भी प्रसङ्ग होगा । यह उचित नहीं है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे यह वाक्य ब्रह्मविषयक ही प्रतीत होता है, उपक्रमका तो ब्रह्मविषयत्व होना दिखा दिया है, उपसंहारका भी अतिशयफल सुने जानेसे यह ब्रह्मविषकक ही दीखता है, जैसे—'जो ब्रह्मको इस प्रकार जानता है वह सब पापोंको नाश कर सब भूतोंके श्रेष्ठ स्वर्गीय राज्यके आधिपत्यको प्राप्त कर लेता है ।'

प्रश्न—यदि ऐसा है तो प्रतर्दनके वाक्यनिर्णयसे इस वाक्यका भी निर्णय हो जावेगा ?

प्रत्युत्तर—नहीं निर्णय होता है, क्योंकि "यस्य वैतत्कर्म" इस वाक्यको वहां ब्रह्मविषयत्वरूपसे निश्चय नहीं किया है, इसलिये यहां जीव और मुख्यप्राणका सन्देह फिर उठा था वह हटाया जाता है । प्राण शब्द भी ब्रह्मविषयक देखा गया है, जैसे—'हे सोम्य ! यह मन प्राणमें बंधा हुवा है ( छा०

१—ब्राह्मणोंको खिलाना चाहिये और संन्यासीको भी, यहां ब्राह्मण शब्द संन्यासीका वाचक नहीं है चाहे वह संन्यासी ब्राह्मण ही हो, क्योंकि यहां साधारणरूपसे ब्राह्मण शब्द कहा गया है और संन्यासीको विशेषरूपसे कहा है, इस प्रकार साधारण और विशेषरूपसे कहनेका नाम है—ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय—अनुवादक ।

दृष्टः 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) इत्यत्र। जीवलिङ्गमप्युपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मविषयत्वादभेदाभिप्रायेण योजयितव्यम्॥ १७॥

**अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके॥ १८॥**

अपिच नैवात्र विवदितव्यं जीवप्रधानं वेदं वाक्यं स्याद्ब्रह्मप्रधानं वेति। यतोऽन्यार्थं जीवपरामर्शं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमस्मिन्वाक्ये जैमिनिराचार्यो मन्यते।

प्रश्नः—कस्मात्?

प्रत्युत्तरम्—प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्। प्रश्नस्तावत्सुप्तपुरुषप्रतिबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयो दृश्यते—'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क वा एतदभूत्कुत एतदागात्' (कौ० ब्रा० ४।१६) इति। प्रतिवचनमपि 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इत्यादि 'एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ब्रा० ४।२०) इति च। सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति। परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा। तस्माद्यत्रास्य जीवस्य निःसंबोधतास्वच्छतारूपः स्वाप उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहितं स्वरूपं, यतस्तद्भ्रंशरूपमागमनं, सोऽत्र परमात्मा वेदितव्यतया श्रावित इति गम्यते। अपिचैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति—'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत

६।८।२), यहापर। उपक्रम और उपसंहारमें ब्रह्मके विषय होनेसे जीवलिङ्गको भी अभेदाभिप्रायसे सङ्गति लगा लेनी चाहिये॥ १७॥

**अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके। १८॥**

दूसरी बात यह है कि यहा जीवप्रधान यह वाक्य है अथवा ब्रह्मप्रधान वाक्य है इस प्रकार विवाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि अन्यार्थ अर्थात् ब्रह्मज्ञानके निमित्त इस वाक्यमें जीवके परामर्शको जैमिनि आचार्य मानते हैं।

प्रश्न—कैसे?

प्रत्युत्तर—प्रश्न और व्याख्यानसे, प्रश्न तो यह है कि सोये हुए पुरुषको जगानेसे प्राण आदिसे भिन्न जीवात्माको निश्चय करानेपर फिर जीवातिरिक्त विषय देखा जाता है, यथाः—'हे बालाके! यह पुरुष कहा सोया था और यह कहा था तथा यह कहांसे आया है?' (कौ० ब्रा० ४।१६) उत्तर भी यह है कि—'जब यह सोता हुवा पुरुष किसी स्वप्नको नहीं देखता है तब इसमें प्राण एक हो जाता है।' इत्यादि, और फिर 'इसी आत्मासे प्राण अपने२ स्थानोंमें प्रतिष्ठित होते हैं, तब प्राणोंमें देव और देवोंमें लोक प्रतिष्ठित होते हैं' (कौ० ब्रा० ४।२०), इत्यादि सुषुप्ति कालमें परब्रह्मके साथ जीव एकताको प्राप्त हो जाता है, और परब्रह्मसे ही प्राण आदि जगत् उत्पन्न होते हैं यह वेदान्तकी मर्यादा है, इसलिये जहा इस जीवकी निःसंबोधता—विशेष बुद्धिरहित होना स्वच्छता—निर्मलरूप सुषुप्ति होती है और जब इसका स्वरूप उपाधिसे उत्पन्न हुवे विशेष ज्ञानसे रहित हो जाता है, और जहांसे (अविद्याके कारण फिर लोकमें) परमात्माके स्वरूपसे भ्रष्ट होनारूप आगमन होता है ऐसे परमात्माको यहा ज्ञातव्यरूपसे सुनाया है यह प्रतीत होता है।

और दूसरी बात यह है कि कोई वाजसनेयी शाखावाले इसी बालाकि और अजातशत्रुके संवादमें

एतदागात्' ( बृ० २ । १ । १६ ) इति प्रश्ने । प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' इति । आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' ( छा० ८ । १ । १ ) इत्यत्र । 'सर्वे एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' इति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युच्चरणमामनन्तः परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तीति गम्यते । प्राणनिराकरणस्यापि सुषुप्तपुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्तोपदेशोऽभ्युच्चयः ॥ १८ ॥

## ६ वाक्यान्वयाधिकरणम् । १९—२२

### वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणेऽधीयते—'न वा अरे पत्युः कामाय'—इत्युपक्रम्य 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' ( बृ० ४ । ५ । ६ ) इति । तत्रैतद्विचिकित्स्यते—किं विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यश्रोतव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित्परमात्मेति ?

स्पष्टरूपसे विज्ञानमय शब्दसे जीवको पढ़ कर जीवात्मासे भिन्न परमात्माको पढ़ते हैं—'जो यह विज्ञानमय पुरुष है वह कहां था और वह कहांसे आया था ?' ( बृ० २।१।१६ ), ये दो प्रश्न हैं, इनके दो उत्तर भी हैं—'हृदयके अन्दर जो यह आकाश है उसमें यह सोता है ।' यहां आकाश शब्द परमात्मामें प्रयुक्त हुवा है, जैसे 'इस ब्रह्मपुरमें दहर अन्तराकाश है' ( छा० ८।१।१ ) यहांपर । तथा 'ये सब जीव परमात्मासे कारण भ्रमण करते हैं ।' उपाधिवाले आत्माओंका अन्य निमित्तसे भ्रमण करना इस प्रकार पढ़ते हुवे परमात्माको ही कारणरूपसे पढ़ते हैं ऐसा विदित होता है, [1]सोते हुवे पुरुषको जगानेसे प्राणका हटाया जाना भी प्राण आदिसे भिन्न परमात्माका उपदेश अभ्युच्चय—अर्थात् हेत्वन्तर है । यह पांचवां बालाक्यधिकरण समाप्त हुवा ।

## ६ वाक्यान्वयाधिकरणम् । १९—२२

### वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

बृहदारण्यकके मैत्रेयीब्राह्मणमें पढ़ा जाता है कि—'अरे ! पतिकी कामनाके लिये अर्थात् पतिके सुखके लिये पति प्रिय नहीं होता है' इस प्रकार आरम्भ कर 'अरे ! सबकी कामनाके लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही स्वार्थके लिये सब प्रिय होते हैं, अरे ! वह आत्मा दर्शन, श्रवण, मनन और अनुभव करने योग्य है, हे मैत्रेयि ! इस आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञानसे ये सब विदित होते हैं' ( बृ० ४।५।६ ) ।

यहां यह सन्देह किया जाता है कि क्या यहां जीवात्मा ही द्रष्टव्य श्रोतव्यादि रूपसे उपदेश किया जाता है अथवा परमात्मा ?

१—बालाकि और अजातशत्रु सोते हुवे पुरुषके पास पहुंचे, अजातशत्रुने उसे "बृहत् पांडुरवासः सोमराजन्" इस प्रकार बुलाया, वह बुलानेपर भी नहीं उठा, उसे तब हाथसे दबा कर उठाने लगे, तब वह उठा, 'तब अजातशत्रु कहने लगे कि जहां यह पुरुष सोया था' इत्यादि, इस प्रकार इस सोते हुवे पुरुषको जगानेसे प्राण आदिसे अतिरिक्त परमात्माका उपदेश है—भामती ।

प्रश्नः—कुतः पुनरेषा विचिकित्सा ?

उत्तरम्—प्रियसंसूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्विज्ञानात्मोपदेश इति प्रतिभाति। तथात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशात्परमात्मोपदेश इति ।

प्रश्नः—किं तावत्प्राप्तम् ?

उत्तरम्—विज्ञानात्मोपदेश इति ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—उपक्रमसामर्थ्यात् । पतिजायापुत्रवित्तादिकं हि भोग्यभूतं सर्वं जगदात्मार्थतया प्रियं भवतीति प्रियसंसूचितं भोक्तारमात्मानमुपक्रम्यानन्तरमिदमात्मनो दर्शनाद्युपदिश्यमानं कस्यान्यस्यात्मनः स्यात्। मध्येऽपि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन ब्रुवन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति । तथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहरन्विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं दर्शयति । तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचनं भोक्त्रर्थत्वाद्भोग्यजातस्यौपचारिकं द्रष्टव्यमिति ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मोपदेश एवायम् ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

---

प्रश्न—यह सन्देह क्यों होता है ?

उत्तर—'प्रिय' इस शब्दसे सूचित भोक्ता आत्मासे आरम्भ किये जानेके कारण जीवात्माको ही यहां उपदेश किया हुआ प्रतीत होता है, तथा एक आत्माके विज्ञानसे सब विज्ञानोंके जाननेका उपदेश किये जानेसे परमात्माका भी उपदेश प्रतीत होता है ।

प्रश्न—तो किसकी प्राप्ति है ?

उत्तर—जीवात्माका ही उपदेश प्राप्त है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—पति, पत्नी, पुत्र, धन आदि उपभोगके सब सामग्रीयुक्त जगत् आत्माके निमित्त प्रिय होते हैं इस प्रकार प्रिय शब्दसे सूचित भोक्ता आत्माको आरम्भ कर तत्पश्चात् इस आत्माके दर्शन आदि करनेका उपदेश दिया जाना किस और आत्माका हो सकता है ? बीचमें भी 'यह ब्रह्मरूप आत्मा बड़ा है, नित्य है, सर्वगत है, विज्ञानघन है, वह जब कार्यकारणभावसे युक्त जगत्से उठता है तब अनित्य जगत्के साथ आत्माका दुःखशोकयुक्त होना भी नष्ट हो जाता है, कार्यकारणात्मक जगत्के नष्ट होनेपर रूप गन्ध आदिकी संज्ञायें भी नहीं होती हैं ।' इस प्रकार उसी प्रकृत महान् दर्शनीय आत्माको जीवात्मभावसे जगत्से उठना कह कर यह श्रुति जीवात्माको ही द्रष्टव्यरूपसे दिखाती है। तथा 'विज्ञाताको किससे जाने ?' यहां भी आत्माको विज्ञाता—जाननेवाला इस तरह कर्तृरूप शब्दसे उपसंहार कर जीवात्माका ही यहां उपदेश किया जाना निर्देश करती है। इसलिये आत्मविज्ञानसे सबका ज्ञान होना यह वचन भी औपचारिक—गौणरूप है, क्योंकि सब भोग्यसमुदाय भोक्ता आत्माके निमित्त होते हैं ।

( यहां तक पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीका समाधान )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहते हैं—परमात्माका ही यह उपदेश है ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तरम्—वाक्यान्वयात् । वाक्यं हीदं पौर्वापर्येणावेक्ष्यमाणं परमात्मानं प्रति अन्वितावयवं लक्ष्यते ।

प्रश्नः—कथमिति ?

प्रत्युत्तरम्—तदुपपाद्यते—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' इति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि' इत्यमृतत्वमाशासानाया मैत्रेय्या याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञानमिदमुपदिशति । नचान्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वमस्तीति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति । तथा चात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्यमानं नान्यत्र परमकारणविज्ञानान्मुख्यमवकल्पते । नचैतदौपचारिकमाश्रयितुं शक्यं, यत्कारणमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायानन्तरेण ग्रन्थेन तदेवोपपादयति—'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादिना । यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगदात्मनोऽन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति तं मिथ्यादर्शिनं तदेव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्पराकरोतीति भेददृष्टिमपोद्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति सर्वस्य वस्तुजातस्यात्माव्यतिरेकमवतारयति । दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च ( बृ० ४।५।८ ) तमेवाव्यतिरेकं द्रढयति । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदः' ( बृ० ४।५।११ ) इत्यादिना च प्रकृतस्यात्मनो नामरूपकर्मप्रपञ्चकारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं

---

प्रत्युत्तर—वाक्योंके साथ अन्वय लगानेसे । पूर्वोत्तर आलोचना करनेपर यह वाक्य परमात्माके लिये ही अन्वित होना प्रतीत होता है ।

प्रश्न—कैसे प्रतीत होता है ?

प्रत्युत्तर—इसका प्रतिपादन करते हैं—'धनसे तो मोक्षकी आशा नहीं है' इस प्रकार याज्ञवल्क्यसे सुन कर 'यदि मैं मोक्षको प्राप्त नहीं हूंगी तो उस धनसे मैं क्या करूंगी, इसलिये आप जिस मोक्षको जानते हैं उसे ही आप मुझसे कहें ।' इस प्रकार उस अमृतत्वकी आशा करनेवाली मैत्रेयीके लिये याज्ञवल्क्य आत्माके ज्ञानको उपदेश करते हैं, परमात्माके विज्ञानसे अन्यत्र अमृतत्व नहीं है इस तरह श्रुतिवाद और स्मृतिवाद कहते हैं, तथा आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञान होना यह वचन भी परमकारण ब्रह्मके विज्ञानसे अन्यत्र मुख्य नहीं हो सकता है, और यहां उपचाररूपसे-अप्रधानरूपसे आश्रयण कर नहीं सकते, कारण कि आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा कर इसके बादके ग्रन्थमें उसी परमात्माको प्रतिपादन करते हैं—'ब्रह्म उससे दूर होता है जो आत्मासे अन्यत्र ब्रह्मको जानता है', इत्यादि । जो ब्राह्मण क्षत्रिय आदि युक्त जगत्की आत्मासे अन्यत्र स्वतन्त्रतासे सत्ताको देखता है उस मिथ्यादर्शी पुरुषको वही मिथ्यारूपसे देखे हुये ब्राह्मण क्षत्रिय आदि युक्त जगत् दूर करता है अर्थात् श्रेष्ठ मार्गसे गिराता है इस प्रकार भेददृष्टिकी निन्दा कर 'यह सब आत्मा है' इस प्रकार सब सांसारिक वस्तुसमूहको आत्मासे अभिन्न बतलाता है । और [1]नगाड़े आदिके दृष्टान्तसे भी ( बृ० ४ । ५ । ८ ) उसी ब्रह्मको अभिन्नरूपसे दृढ़ करता है । 'इस महान् ब्रह्मके श्वाससे निकले हुवे ये ऋग्वेद आदि हैं ( बृ० ४ । ५ । ११ )' इत्यादि भी प्रकृत आत्माको नाम-रूप-

---

१—"स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य० ( बृ० ४ । ५ । ८ )" 'जैसे कोई नगाड़े बजानेसे बाहरके शब्दोंको नगाड़ेसे पृथक् ग्रहण नहीं कर सकते, किन्तु नगाड़ेके ग्रहणसे नगाड़ेके आघातसे उत्पन्न हुवे शब्दका भी ग्रहण हो जाता है' इत्यादि—अनुवादक ।

गमयति । तथैवैकायनप्रक्रियायामपि ( बृ० ४।५।१२ ) सविषयस्य सेन्द्रियस्य सान्तःकरणस्य प्रपञ्चस्यैकायनमनन्तरमबाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनं व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति । तस्मात्परमात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति गम्यते ॥ १९ ॥

प्रश्नः—यत्पुनरुक्तं प्रियसंसूचितोपक्रमाद्विज्ञानात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति ?

प्रत्युत्तरम्—अत्र ब्रूमः—

## प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

अस्त्यत्र प्रतिज्ञा 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति', 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति च । तस्याः प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यत्प्रियसंसूचितस्यात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसंकीर्तनम् । यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽन्यः स्यात्ततः परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं यत्प्रतिज्ञातं तद्धीयेत । तस्मात्प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २० ॥

## उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातोपाधिसंपर्कात्कलुषीभूतस्य ज्ञानध्यानादि-

---

कर्मप्रपञ्चका कारण कह कर परमात्माको ही बोध कराता है, तथा इसी प्रकार [1]एकायनप्रकरणमे भी (बृ० ४ । ५ । १२) विषय, इन्द्रिय, अन्तःकरणसहित सब प्रपञ्चका एकरूप आधार अनन्तर-प्रकट, अबाह्य-गुप्त, सम्पूर्ण प्रज्ञानघनको व्याख्यान कर इस परमात्माको बोध कराता है । इस कारण परमात्माका ही यह दर्शन आदिका उपदेश प्रतीत होता है ॥ १९ ॥

प्रश्न—फिर जो यह कहा था कि प्रिय शब्दसे सूचित कर आरम्भ करनेसे जीवात्माका ही यहां दर्शन आदिका उपदेश है ?

प्रत्युत्तर—यहां कहते हैं:—

## प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

यहां प्रतिज्ञा है कि—'आत्माके जान लेनेपर यह सब कुछ जाना जाता है', 'यह सब आत्मा है।' यह लिङ्ग प्रमाण उसी प्रतिज्ञाकी सिद्धिको सूचित करता है जो प्रियशब्दसे सूचित आत्माका द्रष्टव्यत्व आदि संकीर्तनरूप है । यदि जीवात्मा परमात्मासे अन्य होता तो परमात्माके जान लेनेपर भी जीवात्मा नहीं जाना जाता, इस तरह एक विज्ञानसे सबका ज्ञान होता है यह जो प्रतिज्ञा की थी वह नष्ट होती, इसलिये प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिये जीवात्मा और परमात्मामे अभेदरूप अंशसे आरम्भ किया गया है, यह आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥ २० ॥

## उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इस समुदायरूप उपाधिदोषसे संयुक्त होकर कलुषित—मलिन होनेवाला,

---

[1]—"स यथा सर्वासामपा ँ समुद्र एकायनम्० ( बृ० ४ । ५ । १२ )" 'जैसे सब जलका एक आधार समुद्र है, सब स्पर्शोंका एक आधार त्वचा है, सब गन्धोंका नाक, सब रसोंका जिह्वा, सब रूपोंका आंख, सब शब्दोंका कान, सब संकल्पोंका मन, सब विद्याओंका हृदय, सब कर्मोंका हाथ, आनन्दोंका उपस्थ, सब त्यागोंका गुदा, सब मार्गोंका पैर और इसी प्रकार सब वेदोंका एकायन एक आश्रय आधार वाणी है । वैसे सबका एकायन एक आश्रय आधार ब्रह्म है । यह एकायनप्रकरणका अभिप्राय है—अनुवादक ।

साधनानुष्ठानात्संप्रसन्नस्य देहादिसंघातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मैक्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रमणमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। श्रुतिश्चैवं भवति—'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१२।३) इति। क्वचिच्च जीवाश्रयमपि नामरूपं नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्ड० ३।२।८) इति। यथा लोके नद्यः स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय समुद्रमुपयन्त्येवं जीवोऽपि स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय परं पुरुषमुपैतीति हि तत्रार्थः प्रतीयते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यतायै ॥ २१ ॥

## अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदेनोपक्रमणमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते। तथा च ब्राह्मणम्—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' ( छा० ६।३।२ ) इत्येवंजातीयकं परस्यैवात्मनो जीवभावेनावस्थानं दर्शयति। मन्त्रवर्णश्च—'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७ ) इत्येवंजातीयकः। न च तेजःप्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य पृथक्सृष्टिः श्रुता, येन परस्मादात्मनोऽन्यस्तद्विकारो जीवः स्यात्। काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो

---

ज्ञान तथा ध्यान आदि साधनोंके अनुष्ठानसे प्रसन्न होनेवाला और देह आदि समूहसे निकलनेकी इच्छा करनेवाला जीवात्माका ही परमात्माके साथ ऐक्य होना सिद्ध होता है, इस प्रकार अभेदरूपसे यह आरम्भ किया गया है, यह औडुलोमि आचार्य मानते हैं। इसमें श्रुति भी प्रमाण है—

'यह सुषुप्तावस्थामें प्रसन्न होनेवाला जीवात्मा इस शरीरसे निकल कर पर—उत्कृष्ट ज्योतिको प्राप्त होकर अपने निजरूपसे युक्त हो जाता है' ( छा० ८। १२। ३ )

कहीं नाम और रूपको नदीके दृष्टान्तसे जीवाधीन भी बतलाता है 'जैसे बहती हुई नदियां नाम और रूपको छोड़ कर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं वैसे यह विद्वान् जीवात्मा नामरूपसे रहित होकर, अत्यन्त सूक्ष्म उत्कृष्ट दिव्य परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है' ( मु० ३। २। ८ )

जैसे लोकमें नदियां स्वाश्रित ही नामरूपको छोड़ कर समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भी स्वाश्रित ही नामरूपको छोड़ कर उत्कृष्ट पुरुषको प्राप्त हो जाता है, यही अर्थ वहां पूर्वप्रकरणमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तको समानरूप दिखानेके लिये प्रतीत होता है ॥ २१ ॥

## अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः[1] ॥ २२ ॥

इसी परमात्माका इस जीवात्मस्वरूपसे भी अवस्थित होनेसे यह अभेदरूपसे आरम्भ किया जाना ठीक ही है, यह काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं, इसमें वह ब्राह्मण वचन है—'इस जीवरूप आत्मासे फिर प्रविष्ट होकर नाम और रूपको उत्पन्न करूं' ( छा० ६। ३। २ ) इस प्रकार यह वचन परमात्माका ही जीवरूपसे अवस्थित होना दिखाता है। इस विषयमें मन्त्रका भी वर्णन मिलता है—'धीर परमात्मा सब रूपोंको इकट्ठे कर पृथक् नामोंको उच्चारण कर अवस्थित रहता है ( तै० आ० ३। १२। ७ )' तेज आदियोंकी सृष्टिमें जीवात्माकी पृथक् सृष्टि नहीं सुनी गयी है, जिस कारण परमात्मासे अन्यका विकाररूप जीव सिद्ध हो। काशकृत्स्न आचार्यका यह मत है कि अविकृत

---

१—इस प्रकार आचार्योंके एकदेशीय दो मतोंको कहकर यहां सन्तुष्ट न होकर सूत्रकार काशकृत्स्न आचार्यके मतको कहते हैं—अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः—भामती।

जीवो नान्य इति मतम् । आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं, तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात्कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते । औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते । तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते, प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवंच सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते । विकारात्मकत्वे हि जीवस्याभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसम्बन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पेत । अतश्च स्वाश्रयस्य नामरूपस्यासंभवादुपाध्याश्रयं नामरूपं जीव उपचर्यते । अतएवोत्पत्तिरपि जीवस्य क्वचिदग्निविस्फुलिङ्गोदाहरणेन श्राव्यमाणोपाध्याश्रयैव वेदितव्या । यदप्युक्तं प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन दर्शयन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयतीति, तत्रापीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या । 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः' । इदमत्र प्रतिज्ञातम्—'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' ( बृ० २।४।६ ) इति च । उपपादितं च, सर्वस्य नामरूपकर्मप्रपञ्चस्यैकप्रसवत्वादेकप्रलयत्वाच्च दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च कार्यकारणयोरव्यतिरेकप्रतिपादनात् । तस्या एव प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यन्महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन कथितमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । अभेदे हि सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमवकल्पत इति । 'उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः' । उत्क्रमिष्यतो विज्ञानात्मनो ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात्संप्रस-

परमेश्वर ही जीव है अन्य नहीं, आश्मरथ्य आचार्यके मतमें तो यद्यपि जीवात्माका परमात्माके साथ अनन्यत्व—एकत्व इष्ट है, तथापि 'प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिये' इस प्रकार सापेक्ष वचन कहनेसे किसी रूपसे कार्यकारणभाव उन्हें इष्ट है यह बोध होता है, और फिर औडुलोमि आचार्यके मतमें स्पष्ट ही अवस्थान्तरको अपेक्षा करनेवाले भेद और अभेद प्रतीत होते हैं । इन तीनोंमें काशकृत्स्न आचार्यका मत श्रुतिके अनुकूल प्रतीत होता है, क्योंकि "तत्त्वमसि०" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा जिस तत्त्वार्थको प्रतिपादन करना अभिमत है तदनुकूल काशकृत्स्न आचार्यका मत है, ऐसी अवस्थामें उसके ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त होना सिद्ध होता है । जीवात्माको विकारात्मक स्वीकार करनेपर प्रकृति—कारणके सम्बन्धमें विकारके लय होनेसे उस विकारात्मक जीवके ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति न होगी, इस कारण स्वाश्रित नामरूपके न होनेसे जीवात्मामें नाम और रूप उपाध्याश्रित हैं, यह उपचार किया जाता है अर्थात् माना जाता है, इसीलिये कहीं अग्नि और चिनगारीके दृष्टान्तमें सुनी हुई जीवात्माकी उत्पत्ति भी उपाध्याश्रित ही जान लेनी चाहिये ।

और जो यह कहा था कि प्रकृत महान् द्रष्टव्य ब्रह्मका ही जीवात्मभावमें उत्थान दिखाती हुई जीवात्माको ही द्रष्टव्यरूपसे श्रुति बतलाती है वहांपर भी इन तीनों आचार्योंके सूत्रोंको लगा लेना चाहिये—

**प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ।**

यहां यह प्रतिज्ञा की गयी थी कि 'आत्माके जान लेनेपर सब कुछ विदित हो जाता है, 'यह जो कुछ है वह आत्मा है' ( बृ० २।४।६ ) और इसका प्रतिपादन भी कर दिया गया है, क्योंकि सब नाम रूप-कर्मोंका प्रपञ्च आडम्बर एक वस्तुतत्त्वसे उत्पन्न होता है, इन सबोंका एकमें ही लय होता है, तथा नगाड़े आदिके दृष्टान्तोंसे भी कार्य और कारणमें अभेद प्रतिपादन कर दिया गया है । वह पूर्वोक्त श्रुति उसी प्रतिज्ञाकी सिद्धिको सूचित करती है कि उसी महान दर्शनीय ब्रह्मका ही जीवात्मभावसे भूतोंसे उत्थान होना ब्रह्मका लिङ्ग कथन किया गया है, यह आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं, अभेद होनेपर ही एकके जाननेपर सबके ज्ञात होनेकी प्रतिज्ञा सिद्ध होती है ।

अस्य परेणात्मनैक्यसंभवादिदमभेदाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' । अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदाभिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते ।

प्रश्नः—ननूच्छेदाभिधानमेतत् एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति ( बृ० २।४।१२ ) इति, कथमेतदभेदाभिधानम् ?

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः । विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं नात्मोच्छेदाभिप्रायम् । 'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्यार्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति । एतदुक्तं भवति—कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा नास्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति । मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति । संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य संज्ञास्तीत्युक्तमिति । यदप्युक्तम्—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहारात्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यमिति, तदपि काशकृत्स्नीयेनैव दर्शनेन परिहरणीयम् । अपिच 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' ( बृ० २।४।१३ ) इत्यारभ्याविद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणं विशेषवि-

---

**उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ।**

शरीरसे निकलनेवाले, ज्ञान-ध्यान आदि सामर्थ्यसे प्रसन्न होनेवाले जीवात्माका परमात्माके साथ ऐक्य होना सम्भव होनेसे यह अभेद कथन किया गया है, इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं ॥

**अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।**

इसी परमात्माका इस जीवात्मरूपसे अवस्थित होनेके कारण यह अभेद कथन ठीक है, इस तरह काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं ।

प्रश्न—'इन भूतोंसे निकल कर उसीमें पश्चात् नष्ट होता है, नष्ट होनेपर नाम नहीं रहता है' (बृ० २।४।१२) यहां तो नाश होना कथन किया गया है, आप कैसे कहते हैं कि यह अभेद कथन किया गया है ?

प्रत्युत्तर—यह दोष ठीक नहीं है, ( उपाधिकृत ) विशेषज्ञानके नाश होनेके अभिप्रायसे यह नाश होना कथन किया गया है आत्माके उच्छेद—विनाश होनेके अभिप्रायसे नहीं । 'यहीं आपने मुझे मोहित कर दिया कि नष्ट होकर नाम नहीं रहता' इस प्रकार कह कर श्रुति स्वयं ही अर्थान्तरको दिखाती है, जैसे—'अरे ! मैं मोहको प्राप्त होनेकी बात नहीं कहता हूं, यह आत्मा तो अविनाशी है, इस आत्माका उच्छेद कभी नहीं होता है, किन्तु प्रकृतिकी मात्रासे आत्माका संसर्ग तो होता है ।' अभिप्राय यह है कि कूटस्थ नित्य ही यह विज्ञानघन आत्मा है, इसका विनाशप्रसङ्ग कभी नहीं होता है, अविद्याकृत भूतेन्द्रियलक्षणवाली मात्राओंसे इसका संयोग होता है, यह संयोग विद्यासे निवृत्त हो जाता है, ( मात्राके साथ ) संसर्ग न होनेपर मात्राजन्य विशेषज्ञान न होनेसे विनाश होनेके पश्चात् नाम नहीं रहता है ऐसा कहा था ।

और जो यह कहा था कि—'अरे ! विज्ञाताको किससे जाने ?' 'विज्ञाता' ऐसा कर्तृवचन शब्दसे उपसंहार ( समाप्ति ) करनेके कारण यहां जीवात्मा ही दर्शनीय है । इसे भी काशकृत्स्न आचार्यके मतसे परिहार कर लेना चाहिये ।

और दूसरी बात यह है कि—'जहां द्वैत—द्वितीय जैसा प्रतीत होता है वहां अन्य अन्यको

ज्ञानं प्रपञ्च्य 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिना विद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणस्य विशेषविज्ञानस्याभावमभिदधाति । पुनश्च विषयाभावेऽपि आत्मानं विजानीयात् इत्याशङ्क्य 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्याह । ततश्च विशेषविज्ञानाभावोपपादनपरत्वाद्वाक्यस्य विज्ञानधातुरेव केवलः सन्भूतपूर्वगत्या कर्तृवचनेन तृचा निर्दिष्ट इति गम्यते । दर्शितं तु पुरस्तात्काशकृत्स्नीयस्य पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम् । अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्वैर्वेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' ( छा० ६।२।१ ) 'आत्मैवेदं सर्वम्' ( छा० ७ । २५ । २ ), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' ( मुण्ड० २ । २ । ११ ), इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३।८।११ ) इत्येवंरूपाभ्यः श्रुतिभ्यः । स्मृतिभ्यश्च 'वासुदेवः सर्वमिति' ( गी० ७।१९ ), 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' ( गी० १३।२ ) 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' ( गी० १३।२७ ) इत्येवंरूपाभ्यः । भेददर्शनापवादाच्च 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' ( बृ० १।४।१० ), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' ( बृ० ४।४।१९ ) इत्येवंजातीयकात् । 'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' ( बृ० ४।४।२५ ) इति चात्मनि सर्व-

देखना है' ( बृ० २।४।१३ ) इस तरह आरंभ कर अविद्याविषयमें उसी आत्माका देखना आदि लक्षणयुक्त विशेषज्ञानको विस्तृत कर, 'जहां इस आत्माके सब आत्मा ही हों वहां कौन किसको किससे देखे ?' इत्यादिसे विद्याविषयमें उसी आत्माका देखना आदि लक्षणयुक्त विशेषज्ञानका अभाव होना कथन किया जाता है । और फिर विषयके न होनेपर भी आत्माको जानेगा इस प्रकार आशंका कर 'अरे ! विज्ञाता आत्माको किससे जाने' ऐसा कहा जाता है । तब तो यह वाक्य विशेष विज्ञानका अभाव प्रतिपादन करता है, इस कारण यह विज्ञानधातु परमेश्वर ही केवल भूतपूर्वगतिसे कर्तृवाचक तृच् प्रत्ययसे निर्देश किया गया है यह प्रतीत होता है । और काशकृत्स्न आचार्यका पक्ष श्रुतिके अनुकूल है यह तो पहले दिखा दिया है, इसी कारण जीवात्मा और परमात्माका भेद अविद्याविहित नाम रूपसे बने हुवे शरीर आदि उपाधिनिमित्त है, वास्तविक भेद नहीं, सब वेदान्तवादियोंको यही अर्थ स्वीकार कर लेना चाहियेः—

'आरंभमें एक सत् पदार्थ था' ( छा० ६।२।१ ) । 'यह सब आत्मा ही है' (छा० ७।२५।२)" 'यह सब ब्रह्म है' ( मु० २।२।११ ) । 'यह सब कुछ आत्मा है' ( बृ० २।४।६ ) । 'इससे अन्य द्रष्टा —देखनेवाला नहीं है' ( बृ० ३ । ७ । २३ ) । 'इस कारण अन्य द्रष्टा नहीं है' ( बृ० ३।८।११ ) । इस प्रकारकी श्रुतियोंद्वारा । स्मृतियोंमें भी ( यही सिद्ध होता है ):—

'यह सब वासुदेव है' ( गी० ७।१९ ) । 'हे भारत ! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो' ( गी० १३।२ ) । 'समरूपसे सब भूतोंमें रहनेवाले परमेश्वरको' ( गी० १३ । २७ ) । इस प्रकारकी स्मृतियोंद्वारा । और दूसरी बात यह है कि भेददर्शनकी निन्दा भी की गयी हैः—

'यह और है, मैं और हूं ऐसा जो जानता है वह पशुतुल्य कुछ नहीं जानता है' (बृ० १।४।१०) ।

'वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है जो अनेकको देखता है' ( बृ० ४।४।१९ ) । इस प्रकारके निन्दावचनसे ।

विक्रियाप्रतिषेधात्। अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः, सुनिश्चितार्थत्वानुपपत्तेश्च। निरपवादं हि विज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमात्मविषयमिष्यते, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' ( मुण्ड० ३।२।६ ) इति च श्रुतेः। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ( ईशा० ७ ) इति च। स्थितप्रज्ञलक्षणस्मृतेश्च ( गी० २।५४ )। स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात्, क्षेत्रज्ञोऽयं परमात्मनो भिन्नः परमात्मायं क्षेत्रज्ञाद्भिन्न इत्येवंजातीयक आत्मभेदविषयो निर्बन्धो निरर्थकः। एको ह्ययमात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयत इति। नहि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायाम्' ( तै० २।१ ) इति काञ्चिदेवैकां गुहामधिकृत्यैतदुक्तम्। नच ब्रह्मणोऽन्यो गुहायां निहितोऽस्ति, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेव प्रवेशश्रवणात्। ये तु निर्बन्धं कुर्वन्ति ते वेदान्तार्थं बाधमानाः श्रेयोद्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते। कृतकमनित्यं च मोक्षं कल्पयन्ति। न्यायेन च न संगच्छन्त इति ॥ २२ ॥

'वह महान् आत्मा अजन्मा है, अजर-अमर-अमृत और अभय ब्रह्म है' ( बृ० ४।४।२५ ) इस श्रुतिमें आत्मामें सब विकारोंका निषेध किया गया है, अन्यथा ( यदि सब विकारोंका निषेध न होता तो ) मुमुक्षुओंको निन्दारहित विज्ञानकी प्राप्ति न होती, और न सुनिश्चित अर्थकी प्राप्ति होती। विज्ञान ( ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपत्ति ) तो अनिन्दित होता है, जो सब आकांक्षाओंको हटानेवाला होता है, वेदान्तियोंको ऐसा आत्मविषयक विज्ञान इष्ट है, जैसे:—'वेदान्ती लोग वेदान्तके तात्त्विक ज्ञानसे ठीक२ अर्थोंको निश्चय करनेवाले होते हैं' ( मु० ३।२।६ ) यह श्रुतिका प्रमाण है। तथा और प्रमाण यह भी है:—'ब्रह्मात्मैकत्व निश्चय कर लेनेपर कोई मोह और शोक नहीं होते हैं' ( ई० ७ ) और स्मृतिमें भी स्थितप्रज्ञके लक्षण करनेसे यही सिद्ध होता है जैसे—

'हे पार्थ ! जब यह जीवात्मा मनोगत सब इच्छाओंको छोड़ देता है, और जब आत्मामें आत्मासे सन्तुष्ट हो जाता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है' ( गी० २।५५ )

जीवात्मा और परमात्मामें एकत्व ज्ञान ठीक निश्चय होनेपर जीवात्मा और परमात्मा इस प्रकार केवल नाममात्र भेद रहता है। यह जीवात्मा परमात्मासे भिन्न है और परमात्मा जीवात्मासे भिन्न है इस प्रकार आत्मभेदविषयक बाध व्यर्थ है। एक ही यह आत्मा केवल नाममात्र भेदसे अनेक कहा जाता है।

'वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त है जो हृदयरूप गुफामें रहता है' ( तै० २।१ ) इत्यादि ब्रह्मके किसी एक गुफामें स्थिर होनेके अभिप्रायसे नहीं कहा गया है।

ब्रह्मसे भिन्न अन्य कोई हृदयरूप गुफामें नहीं होता है, कारण कि 'जगत्को बना कर ब्रह्म स्वयं प्रविष्ट होता है ( तै० २।६ )' इस प्रकार स्रष्टाका ही प्रवेश होना सुना जाता है। और जो आत्मभेद करते हैं वे वेदान्तके अर्थसे बाधित होते हैं, उनके लिये सत्यज्ञानरूप कल्याणमार्ग ही रुक जाता है, वे अनित्य मोक्षकी कल्पना करते रहते हैं, और कभी न्यायसे संगत नहीं होते हैं ॥ २२ ॥ यह छठा वाक्यान्वयाधिकरण समाप्त हो गया।

## ७ प्रकृत्यधिकरणम् । सू० २३–२७

### प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

यथाभ्युदयहेतुत्वाद्धर्मो जिज्ञास्य एवं निःश्रेयसहेतुत्वाद्ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम् । ब्रह्म च 'जन्माद्यस्य यतः' ( ब्र १।१२ ) इति लक्षितम् । तच्च लक्षणं घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिवत्प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वे च समानमित्यतो भवति विमर्शः ।

प्रश्नः—किमात्मकं पुनर्ब्रह्मणः कारणत्वं स्यादिति ?

उत्तरम्—तत्र निमित्तकारणमेव तावत्केवलं स्यादिति प्रतिभाति ।

प्रश्नः—कस्मात् ।

उत्तरम्—ईक्षापूर्वककर्तृत्वश्रवणात् । ईक्षापूर्वकं हि ब्रह्मणः कर्तृत्वमवगम्यते—'स ईक्षांचक्रे' ( प्र० ६।३ ) 'स प्राणमसृजत' ( प्र० ६।४ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ईक्षापूर्वकं च कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु दृष्टम् । अनेककारकपूर्विका च क्रियाफलसिद्धिर्लोके दृष्टा । स च न्याय आदिकर्तर्यपि युक्तः संक्रमयितुम् । ईश्वरत्वप्रसिद्धेश्च । ईश्वराणां हि राजवैवस्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं प्रतीयते तद्वत्परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वमेव युक्तं प्रतिपत्तुम् । कार्यं चेदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यं, कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनात् । ब्रह्म च नैवंलक्षण-

## ७ प्रकृत्यधिकरणम् । सू० २३–२७

### प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

जैसे अभ्युदय सुखके हेतु—कारण होनेसे धर्म जिज्ञासा करने योग्य है वैसे मोक्षके हेतु—कारण होनेसे ब्रह्म जिज्ञास्य है यह कह दिया । "जन्माद्यस्य यतः ( ब्र० १।१।२ )" इस सूत्रमें ब्रह्मका लक्षण कर दिया । वह ब्रह्मका लक्षण घट और कुण्डल आदियोंका मिट्टी और सुवर्ण आदिके तुल्य उपादान होनेमें और कुम्हार तथा सुनार आदिके तुल्य निमित्त कारण होनेमें समान है, इसलिये यहां संशय होता है ।

प्रश्न—तो फिर यहां ब्रह्म किस प्रकारका कारण है ?

उत्तर—केवल निमित्त कारण ही होना प्रतीत होता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—विचारपूर्वक कर्तृत्व सुने जानेसे । विचारपूर्वक ही ब्रह्मका कर्तृत्व होना प्रतीत होता है यथा:—'उसने विचार किया' ( प्र० ६ । ३ )—'उसने प्राणको उत्पन्न किया' ( प्र० ६ । ४ ) इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें सिद्ध होता है । विचारपूर्वक कर्तृत्व होना कुम्हार आदि निमित्त कारणोंमें ही देखा गया है, लोकमें भी अनेक कर्ताओंके द्वारा ही क्रियाके फलकी सिद्धि देखी गई, उस न्यायको आदि कर्त्ता ब्रह्ममें भी लगाना उचित ही है, तथा ब्रह्म ईश्वररूपसे भी प्रसिद्ध है, राजा और वैवस्वत आदि ईश्वर ( शक्तिसम्पन्न ) तो केवल निमित्त कारण ही जाने जाते हैं उसी प्रकार परमेश्वरको भी निमित्त कारण जानना युक्तियुक्त ही है । और दूसरी बात यह है कि यह कार्य जगत् सावयव, जड़ और अशुद्ध देखा जाता है, उसका कारण भी वैसा ही होना चाहिये, क्योंकि कार्य—कारण समानरूप देखा जाता है । ब्रह्म तो ऐसा अशुद्ध आदि लक्षणयुक्त नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि वह तो 'शब्द वा विभागरहित, परिस्पन्दादि क्रियारहित, शान्त, अनिन्दित और निर्लेप ब्रह्म है' ( श्वे० ६ । १९ ) इत्यादि अनेक

मवगम्यते 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' ( श्वे० ६।१९ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । पारिशेष्याद्‌ब्रह्मणोऽन्यदुपादानकारणमशुद्ध्यादिगुणकं स्मृतिप्रसिद्धमभ्युपगन्तव्यम् । ब्रह्मकारणत्वश्रुतेर्निमित्तत्वमात्रे पर्यवसानादिति ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्त ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च । न केवलं निमित्तकारणमेव ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । एवं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते । प्रतिज्ञा तावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' ( छा० ६।१।२ ) इति । तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते । तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य । निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति, लोके तक्ष्णः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात् । दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादानकारणगोचर एवाम्नायते । तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' 'एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्' ( छा० ६।१।४,५,६ ) इति च । तथान्यत्रापि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' ( मुण्ड० १।१।३ ) इति प्रतिज्ञा । 'यथा पृथिव्यामो-

श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है । इस कारण पारिशेष्यसे ब्रह्मसे अन्य अशुद्धि आदि गुणोंवाला, स्मृति शास्त्रमें प्रसिद्ध प्रधान—प्रकृतिको उपादानकारण मानना चाहिए क्योंकि ब्रह्मको कारण बतानेवाली श्रुति निमित्तकारणमात्रमें समाप्त होती है ।

( इतना पूर्वपक्षीकी शङ्का समाधान है, अब सिद्धान्तीका प्रतिसमाधान )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर कहते हैं—ब्रह्मको उपादानकारण और निमित्तकारण दोनों स्वीकार करना चाहिए, न कि केवल निमित्तकारणमात्र ही ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—'**प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्**' दोनो माननेपर श्रुत्युक्त प्रतिज्ञा और दृष्टान्त विरुद्ध नहीं होते हैं ।

प्रतिज्ञा तो यह है:—

'आरुणि मुनिने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा कि 'क्या तुमने उस उपदेशको पूछा जिस उपदेशको जान लेनेपर नहीं सुना हुआ सुना जाता है, मनन नहीं किया हुवा मनन किया जाता है और नहीं जाना हुवा जाना जाता है'' (छा० ६ । १ । २)

इस श्रुतिमें एकके जान लेनेसे अन्य सब अज्ञात भी ज्ञात हो जाना प्रतीत होता है, यह तो उपादान कारणके जान लेनेपर ही सबका जानना सम्भव होता है, क्योंकि उपादानकारण कार्यसे पृथक् नहीं होता है, निमित्तकारण कार्यसे अभिन्न नहीं होता है अर्थात् पृथक् ही होता है, क्योंकि लोकमें बढ़ई महलसे पृथक् ही देखा जाता है और दृष्टान्त भी:—

'हे सोम्य ! जैसे एक मिट्टीके ढेलेको जान लेने पर मिट्टीके ही बने हुवे अन्य सब जाने जाते हैं, जगत्‌के सब पदार्थोंको वाणीसे ही कहते हैं कि यह विकार है, और इसका यह नाम है, किन्तु यथार्थमें तो सब मिट्टी ही है' ( छा० ६ । १ । ४ ) इस तरह श्रुतिमे उपादानकारण होना ही पढ़ा जाता है,

तथाः—'जैसे एक सुवर्णके टुकड़ेको जान लेनेसे अन्य सुवर्ण धातुके बने हुवे सब सुवर्ण जाने जाते हैं,' 'जैसे लोहेका बना हुवा नाखून काटनेका नहन्ना वा लोहेके टुकड़ेको जान लेनेसे अन्य लोहेके बने हुवे

पधयः संभवन्ति' ( मुण्ड० १।१।७ ) इति दृष्टान्तः। तथा 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' इति प्रतिज्ञा। 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' ( बृ० ४।५।८,८ ) इति दृष्टान्तः। एवं यथासंभवं प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ प्रकृतित्वसाधनौ प्रत्येतव्यौ। यत इतीयं पञ्चमी 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'जनिकर्तुःप्रकृतिः' ( पा० सू० १।४।३० ) इति विशेषस्मरणात्प्रकृतिलक्षण एवापादाने द्रष्टव्या। निमित्तत्वं त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम्। यथा हि लोके मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीनधिष्ठातॄनपेक्ष्य प्रवर्तते नैवं ब्रह्मण उपादानकारणस्य सतोऽन्योऽधिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्। अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेवोदितो वेदितव्यः। अधिष्ठातरि ह्युपादानादन्यस्मिन्नभ्युपगम्यमाने पुनरप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्यासंभवात्प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोध एव स्यात्। तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मनः कर्तृत्वमुपादानान्तराभावाच्च प्रकृतित्वम् ॥ २३ ॥

प्रश्नः—कुतश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे ?

सबका ज्ञान हो जाता है ( छा० ६ । १ । ४–६ ) तथा अन्यत्र भी —

'हे भगवन्! किसको जान लेनेपर यह सब कुछ जाना जाता है?' ( मुण्ड० १ । १ । ३ ) यह प्रतिज्ञा हुई।

'जैसे पृथिवीसे ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ( मुण्ड० १ । १ । ७ ) यह दृष्टान्त है। तथा —

'अरे, इस आत्माके दर्शन श्रवण मनन करने और जान लेनेपर यह सब कुछ जाना जाता है।' यह प्रतिज्ञा हुई।

'जैसे कोई नगाड़ेके बजानेपर नगाड़ेसे पृथक् बाह्य शब्दोंको ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु नगाड़ेके ग्रहण कर लेनेसे नगाड़ेके आघातसे उत्पन्न हुए शब्दोंका भी ग्रहण हो जाता है', (बृ० ४।५।८,८) यह दृष्टान्त है, इस प्रकार जहाँतक सम्भव होता है सब वेदान्तोंमें प्रतिज्ञा और दृष्टान्त उपादानकारणके साधक जानना चाहिये।

"**यतो वा इमानि**" इस श्रुतिमें '**यतः**' यह पञ्चमी विभक्तिका निर्देश है, क्योंकि "**जनिकर्त्तुः प्रकृतिः** ( पा० सू० १ । ४ । ३० )' इस सूत्रमें यह विशेष स्मरण करनेसे उपादानकारणरूप लक्षण वाले अपादानमें ही पञ्चमी विभक्ति देखी जानी चाहिये।

ब्रह्म निमित्तकारण इसलिये है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य कोई अधिष्ठाता—स्वामी नहीं होता है, जैसे कि लोकमें कुम्हार और सुनार आदि अधिष्ठाताओंको—निमित्तकारणोंको अपेक्षा करके ही मिट्टी और सुवर्ण आदि उपादान कारण होते हैं, ऐसे उपादान कारणरूप ब्रह्मको अन्य अधिष्ठाता अपेक्षित नहीं होता है क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व 'ब्रह्म एक ही था दूसरा कोई नहीं था' इस प्रकार निश्चय किया जाता है। अन्य अधिष्ठाता निमित्तकारणका न होना भी प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके विरोध न होने रूपसे ही कह दिया गया यह जान लेना चाहिये। यदि उपादानकारणसे अतिरिक्त अन्य निमित्तकारणरूप अधिष्ठाताको मान लेनेपर फिर एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होना असम्भव होनेसे प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका विरोध ही होगा। इसलिये निमित्तकारणरूप अन्य अधिष्ठाताके न होनेसे वह ब्रह्म कर्त्ता है, और अन्य उपादानकारणान्तर न होनेसे वह प्रकृति—उपादानकारण भी है ॥ २३ ॥

प्रश्न—कैसे फिर वह ब्रह्म निमित्तकर्त्ता और उपादानकारण हो सकता है ?

## अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

प्रत्युत्तरम्—अभिध्योपदेशश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति', 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च । तत्राभिध्यानपूर्विकाया स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते । बहु स्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद्बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते ॥ २४ ॥

## साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

प्रकृतित्वस्यायमभ्युच्चयः । इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं साक्षाद्ब्रह्मैव कारणमुपादायोभौ प्रभवप्रलयावाम्नायेते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' ( छा० १।९।१ ) इति । यद्धि यस्मात्प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम् । यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी । साक्षादिति चोपादानान्तरानुपादानं दर्शयत्याकाशादेवेति । प्रत्यस्तमयश्च नोपादानान्यत्र कार्यस्य दृष्टः ॥ २५ ॥

## आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायाम् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' ( तै० २।७ ) इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति । आत्मानमिति कर्मत्वं स्वयमकुरुतेति कर्तृत्वम् ।

## अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

प्रत्युत्तर—सृष्टि संकल्प करनेका उपदेश भी परमात्माको निमित्त और उपादान कारण बतलाता है, जैसेः—'परमात्माने इच्छाकी कि मैं बहुत हो जाऊं और जगत्को उत्पन्न करूं, 'उसने विचार किया कि मैं बहुत हो जाऊं और जगत्को उत्पन्न करूं ।' इत्यादि । इस श्रुतिमें सृष्टि संकल्पपूर्वक स्वतन्त्रताकी प्रवृत्तिका कर्त्ता—निमित्तकारण प्रतीत होता है, और 'बहुत होऊँ' यह व्यापक आत्माका विषय—कर्म होनेसे बहुत होना रूप संकल्पकी प्रकृति उपादानकारण है यह भी बोध होता है ॥ २४ ॥

## साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

इस सूत्रस्थ हेतु प्रकृतित्वका—उपादानकारणत्वका अभ्युच्चय—अर्थात् हेत्वन्तर है । यहांसे भी ब्रह्म उपादान कारण है, कारण कि साक्षात ब्रह्मको ही उपादान कारण मान कर दोनों उत्पत्ति और प्रलय पढ़े जाते हैं, जैसेः—'ये सब प्राणी आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं, और आकाशमें ही लय होते हैं' ( छा० १ । ९ । १ ) इत्यादि, जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें प्रलय होता है उस पदार्थका वह उपादान कारण है, यह प्रसिद्ध ही है, जैसे गेहूं और जौ आदिका उपादान कारण पृथिवी है । सूत्रमें 'साक्षात' यह पद अन्य किसी उपादान कारणका ग्रहण न होना दिखाता है कि आकाश—ब्रह्मसे ही ( सब उत्पन्न होते हैं ), और कार्यका लय होना भी उपादान कारणसे अन्यत्र नहीं देखा गया है ॥ २५ ॥

## आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

यहांसे आगे भी ब्रह्म उपादान कारण है, कारण कि ब्रह्मप्रक्रियामें—'उसने अपनेको स्वयं प्रकट किया' ( तै० २ । ७ ), यह श्रुति आत्माको कर्म और कर्त्ता दिखलाती है, 'आत्माको' यह कर्म ( Object ) है, और 'स्वयं प्रकट किया' यह कर्त्ता ( Subject ) है ।

प्रश्नः—कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं संपादयितुम् ?

प्रत्युत्तरम्—परिणामादिति ब्रूमः । पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति । विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः । स्वयमिति च विशेषणान्निमित्तान्तरानपेक्षत्वमपि प्रतीयते । परिणामादिति वा पृथक्सूत्रम् । तस्यैषोऽर्थः—इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मण एव विकारात्मनां परिणामः सामानाधिकरण्येनाम्नायते 'सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च' ( तै० २।६ ) इत्यादिनेति ॥ २६ ॥

## योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म योनिरित्यपि पठ्यते वेदान्तेषु 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्' ( मुण्ड० ३।१।३ ) इति, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' ( मुण्ड० १।१।६ ) इति च । योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके 'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्' इति । स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवावयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम् । क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः—'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' ( ऋ० सं० १।१०४।१ ) इति । वाक्यशेषात्त्वत्र प्रकृतिवचनता परिगृह्यते 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' ( मु० १।१।७ ) इत्येवंजा-

---

प्रश्न—प्रथमसे ही सिद्ध, [1]सत्—विद्यमान, कर्तृरूपसे अवस्थित ब्रह्मका कार्य होना फिर कैसे संपादन कर सकते हो ?

प्रत्युत्तर—हम कहते हैं कि परिणाम होनेसे यह हो सकता है । पूर्व—सिद्ध नित्य आत्मा होने पर भी विशेष विकार रूपसे अपने आपको परिवर्त्तन कर दिया । विकाररूपसे परिवर्त्तन होना मिट्टी आदि प्रकृतिमें उपलब्ध होता है, और 'स्वयं—अपने आप' ऐसे विशेषण करनेसे यह प्रतीत होता है कि वह किसी अन्य निमित्तान्तर कारणकी अपेक्षा नहीं करता है । अथवा 'परिणामात्' यह पृथक् सूत्र है, इसका यह अर्थ है—यहांसे आगेभी ब्रह्म उपादान कारण है, कारण कि ब्रह्मसे ही विकारवालोंका परिणाम होना समानाधिकरण—एकाधार पूर्वक पढ़ा जाता है—'विद्यमान और परोक्षरूपसे ब्रह्मके रूप दो प्रकारके हैं, पृथिवी, जल और तेज ये स्थूल निर्वाच्य अर्थात् ये ऐसे हैं इस प्रकार कथन करने योग्य हैं, वायु और आकाश परोक्ष सूक्ष्म अनिर्वाच्य है, ये इस प्रकारके हैं ऐसे नहीं कह सकते' ( तै० २ । ६ ) इत्यादि श्रुतिद्वारा ॥ २६ ॥

## योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

यहांसे आगे भी ब्रह्म उपादान कारण है, कारण कि ब्रह्म योनि—आदिकारण है ऐसा भी वेदान्तोंमें पढ़ा जाता है—

'वह कर्त्ता, ईश, पुरुष, ब्रह्म है, वह योनि—कारण है ऐसेको' ( मुण्ड० ३ । १ । ३ ) 'धीरजन उस भूतोंके योनि—कारणको देखते हैं' ( मुण्ड० ३ । १ । ६ ) लोकमें योनि शब्द उपादान कारणवाचक माना जाता है, जैसे—'पृथिवी ओषधि और वनस्पतियोंकी योनि है ।' स्त्रीयोनि भी गर्भके प्रति अवयवद्वारा उपादान कारण होती ही है, कहीं स्थानवाचक भी योनिशब्द देखा गया है, जैसे इस मन्त्रमें—'हे इन्द्र ! तुम्हारे निषदे—बैठनेके लिये यह योनि—स्थान बना दिया' ( ऋ० सं० १ । १०४ । १ ) किन्तु वाक्यशेषसे तो यहां उपर्युक्त श्रुतिमें योनि शब्द प्रकृतिवाचक है, यथा—

---

१—क्योंकि सिद्ध और साध्यका (ब्रह्म सिद्ध—नित्य, साध्य—कार्य अनित्यका) विरोध होनेसे एकत्र संमेलन नहीं हो सकता—भामती ।

नीयकात । एवं प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम् । यत्पुनरिदमुक्तमीक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टं नोपादानेष्वित्यादि, तत्प्रत्युच्यते—न लोकवदिह भवितव्यम् । नह्ययमनुमानगम्योऽर्थः । शब्दगम्यत्वात्त्वस्यार्थस्य यथाशब्दमिह भवितव्यम् । शब्दश्चेक्षितुरीश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयतीत्यवोचाम । पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः ॥ २७ ॥

## ८ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् । सू० २८

## एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' ( ब्र० सू० १।१।५ ) इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन्प्रतिभान्तीति । स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य । देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नाणवादिकारणवादप्रतिषेधे । तेऽपि तु ब्रह्मकारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात्प्रतिषेद्धव्याः । तेषामप्युपोद्बलकं वैदिकं किंचिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन्प्रति भायादिति । अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति— एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽणवादिकारणवादा अपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वेदितव्याः । तेषामपि प्रधानवदश-

'जैसे मकड़ी तन्तुओंको उत्पन्न करती और फिर ग्रहण कर लेती है' ( मु० १ । १ । ७ ) इत्यादि । इसी प्रकार ब्रह्मका प्रकृतित्व होना प्रसिद्ध ही है ।

और जो यह कहा था कि विचारपूर्वक कर्ता होना कुम्हार आदि निमित्त कारणोंमें ही लोकमें देखा जाता है, उपादान कारणोंमें नहीं इत्यादि । इसका परिहार करते हैं—

यहा वेदान्तमें लोकके तुल्य नहीं होना चाहिये, वेदान्तार्थ अनुमानगम्य अर्थात् अनुमानसे नहीं जाना जाता है, किन्तु वह अर्थ तो श्रुतिगम्य होता है, इस लिये जैसा श्रुतिमें कहा है वैसा ही होना चाहिये, श्रुति तो विचार करनेवाले ईश्वरका उपादान कारण होना प्रतिपादन करती है, यह हमने कह दिया, फिर इन सबका विस्तरशः परिहार करेंगे ॥ २७ ॥ यह सातवा प्रकृत्यधिकरण समाप्त होगया ॥

## ८ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् सू० ॥ २८ ॥

## एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

"ईक्षतेर्नाशब्दम् ( ब्र० सू० १ । १ । ५ )" यहांसे आरम्भ करके सूत्रोंसे ही बार२ शंका कर प्रधानकारणवादको खण्डन कर दिया, उस प्रधानकारणवादपक्षके पोषक कतिपय वैदिक प्रमाणाभास वेदान्तोंमें आजानेसे मन्दमति मूढोंको प्रतीत होते हैं, कार्य और कारणमें अभेद माननेसे वह प्रधान कारणवादपक्ष वेदान्तवादके समीपस्थ ही होता है देवल आदि धर्मसूत्रकारोंने भी उस पक्षको अपने ग्रन्थोंमें आश्रित किया है, इसलिये उसके निराकरण करनेमें बहुत प्रयास किया गया है, किन्तु अणु आदि कारणवादोंके खण्डन करनेमें कुछ प्रयत्न नहीं किया गया है, अणु आदि कारणवाद भी ब्रह्मकारणवादपक्षके विरोधी होनेसे खण्डनीय है, उनके भी पक्षके पोषक कोई वैदिक प्रमाण पाये जानेसे मूर्खोंको प्रतीत होने लगे । इस कारण जैसे मुख्य पहलवान्को पछाड़नेसे अन्य छोटे मोटे पहलवानोंका भी पछाड़ा जाना सिद्ध होता है, इसलिये इस न्यायसे अतिदेश करते हैं कि—इस प्रधानकारणवाद पक्षके खण्डनमें प्रयुक्त तर्कयुक्तिसमुदायसे सब अणु आदि कारणवाद भी निषिद्धरूपसे व्याख्यान कर

शब्दत्वाच्छब्दविरोधित्वाच्चेति। व्याख्याता व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २८ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दिया गया यह जान लेना चाहिये, क्योंकि अणु आदि कारणवाद भी प्रधानकारणवादके समान शब्दप्रमाण रहित और शब्दप्रमाणविरोधी हैं। 'व्याख्याताः व्याख्याताः' यह दो बार पढ़ा जाना अध्यायकी समाप्तिको सूचित कराता है ॥ २८ ॥ यह आठवां सर्व व्याख्यानाधिकरण समाप्त हो गया।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यमें समन्वयात्मक यह प्रथम अध्याय समाप्त हुवा



# द्वितीयोऽध्यायः ।

[ द्वितीये अविरोधाख्याध्याये प्रथमपादे सांख्ययोगकाणादिस्मृतिभिः
सांख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च वेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारः ]

## स्मृत्यधिकरणम् । सू० १—२

प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणं, मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम् । उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणं, मायावीव मायायाः । प्रसारितस्य च जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणं, अवनिरिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य । स एव च सर्वेषां न आत्मेत्येतद्वेदान्तवाक्यसमन्वयप्रतिपादनेन प्रतिपादितम् । प्रधानादिकारणवादाश्चाशब्दत्वेन निराकृताः । इदानीं स्वपक्षे स्मृतिन्यायविरोधपरिहारः, प्रधानादिवादानां च न्यायाभासोपबृंहितत्वं, प्रतिवेदान्तं च सृष्ट्यादिप्रक्रियाया अविगीतत्वमित्यस्यार्थजातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । तत्र प्रथमं तावत्स्मृतिविरोधमुपन्यस्य परिहरति—

**स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥**

यदुक्तं ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमिति, तदयुक्तम् ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् । स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारिण्यः स्मृतयः, एवं सत्यनवकाशाः प्रसज्येरन् । तासु ह्यचेतनं

---

## १ स्मृत्यधिकरणम् । सू० १–२

प्रथम अध्यायमे सर्वज्ञ सर्वेश्वर जगत्की उत्पत्तिका उपादान कारण है, जैसे मिट्टी और सुवर्ण आदि घड़े और कुण्डल आदिके उपादान कारण होते हैं । वह सर्वज्ञ ईश्वर नियन्तृरूपसे उत्पन्न हुवे जगत्की स्थितिका कारण है, जैसे मायाका मायावी छली कारण होता है । फैले हुवे जगत्का फिर अपने स्वरूपमें प्रलय करनेमे वह कारण है, जैसे चार प्रकारके भूतसमुदायका पृथिवी कारण होती है, और वही परमेश्वर सबोंकी आत्मा है इत्यादि वेदान्तवाक्यों के समन्वय करनेसे प्रतिपादन हो चुका है । प्रधान आदि कारणवादको शब्दप्रमाणागम्य न होनेसे खण्डन कर दिया है । अब अपने पक्षमें स्मृतिशास्त्र और न्यायके विरोधोंका परिहार, प्रधान आदि कारणवादोंका न्यायाभासोंसे परिवर्द्धित होना और प्रत्येक वेदान्तमें सृष्टि आदि प्रक्रियाका अविरोध होना इत्यादि इन सबको प्रतिपादन करनेके लिये यह द्वितीय अध्याय आरम्भ किया जाता है । प्रथम तो स्मृतिशास्त्रके विरोधको दिखा कर समाधान करते हैं—

**स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥**

जो यह कहा था कि सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है, वह ठीक नहीं ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्योंकि स्मृतिशास्त्रको अनवकाश ( उसको न माननेसे व्यर्थ होना ) रूप दोष प्रसक्त होगा, तन्त्र नामक स्मृति ( शास्त्र ) है जिसे परमर्षि कपिलदेवने बनायी जिसे शिष्ट पुरुषोंने भी माना

प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारणमुपनिबध्यते। मन्वादिस्मृतयस्तावच्चोदनालक्षणेनाग्निहोत्रादिना धर्मजातेनापेक्षितमर्थं समर्पयन्त्यः सावकाशा भवन्ति। अस्य वर्णस्यास्मिन्कालेऽनेन विधानेनोपनयनं, ईदृशश्चाचारः, इत्थं वेदाध्ययनम्, इत्थं समावर्तनं, इत्थं सहधर्मचारिणीसंयोग इति। तथा पुरुषार्थांश्च वर्णाश्रमधर्मान्नानाविधान्विदधति। नैवं कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति। मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ताः प्रणीताः। यदि तत्राप्यनवकाशाः स्युरानर्थक्यमेवासां प्रसज्येत। तस्मात्तदविरोधेन वेदान्ता व्याख्यातव्याः।

प्रश्नः—कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन पुनराक्षिप्यते?

उत्तरम्—भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्रप्रज्ञानाम्। परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकासु स्मृतिष्ववलम्बेरन्। तद्बलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन्। अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु। कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—ऋषिं प्रसूतं [1]'कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५। २) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं

है, इस प्रकार (शङ्का) के प्रतिकूल अन्य स्मृतियाँ भी हैं, ऐसी अवस्थामें (यदि ब्रह्मको जगत्का कारण मानें) तो वे सब स्मृतियाँ व्यर्थ हो जायँगी। इन स्मृतियोंमें अचेतन जड़ प्रधानको स्वतन्त्ररूपसे जगत्का कारण माना है। मनु आदि स्मृतियाँ तो विधिवाक्यलक्षणयुक्त अग्निहोत्र आदि धर्मसमुदायमें आवश्यक कर्तव्य कर्मोंका समर्पण करती हुई सावकाश सार्थक हो जाती हैं, जैसे—इस ब्राह्मण आदि वर्णोंका इस समयमें इस विधिसे उपनयन संस्कार करना, ऐसा आचरण करना, इस प्रकार वेदोंको पढ़ना, इस प्रकार समावर्तन संस्कार करना और इस (अनुकूल) विधिसे धर्मका आचरण करनेवाली धर्मपत्नीसे संयोग करना इत्यादि, तथा पुरुषार्थसाधक अनेक प्रकारके वर्णाश्रम धर्मोंका विधान करती हैं। इस तरह (मनुस्मृति आदिके समान) कपिल आदि स्मृतियोंको अनुष्ठान करने योग्य विषयमें अवकाश मिलता नहीं, क्योंकि मोक्षके साधनको ही सम्यक् दर्शन अर्थात् परम पुरुषार्थ मानकर स्मृतियाँ बनायी गयी, यदि उन स्मृतियोंको मोक्षसाधन विषयमें भी अवकाश न मिले तो वे स्मृतियाँ व्यर्थ हो जायँगी। इस कारण कपिल आदि कृत स्मृतियोंके अनुकूल ही वेदान्तकी व्याख्या करनी चाहिये।

प्रश्न—विचार करने आदि हेतुओंसे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है, इस तरह श्रुत्यर्थका तो निर्णय हो चुका है, फिर क्यों स्मृतिके अनवकाशदोषप्रसङ्गसे यह आक्षेप किया जाता है?

उत्तर—स्वतन्त्र बुद्धिवाले धुरन्धर पण्डितोंके लिए यह आक्षेप न हो तो न होने दो, किन्तु परतन्त्र बुद्धिवाले मन्दमति लोग तो स्वतन्त्रतासे श्रुतियोंके अर्थका निर्णय नहीं कर सकते, न तो प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ताओंकी बनाई हुई स्मृतियोंमें ही निर्भर रहेंगे, उन स्मृतियोंके अनुसार ही श्रुत्यर्थको जानेंगे। और हमारे व्याख्यानमें वे विश्वास नहीं रखेंगे, क्योंकि स्मृतियोंके प्रणेताओंमें मनुष्यलोग बहुत आदर भाव रखते हैं। कपिल आदि ऋषियोंका ज्ञान आर्ष और अप्रतिहत (बेरोकटोक) होना स्मरण किया जाता है, इसमें श्रुतिका प्रमाण है—'जो सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न हुए कपिल ऋषिको देखता है और

---

१—प्रथम सृष्टिके आदिमें जो ब्रह्म अपनेसे उत्पन्न हुए कपिलऋषिको, सुवर्ण समान वर्णवाले हिरण्यगर्भको, ज्ञानोत्पन्न करानेवाले वेदोंसे पोषण करता है, यह हिरण्यगर्भ सकल वेदार्थको जाने, इस प्रकार कृपाकटाक्षसे उत्पन्न होनेकी अवस्थामें ही देखता है, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' 'हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानम्' इत्यादि मन्त्रोंका समान अर्थ है—कल्पतरुपरिमल।

शक्यं संभावयितुम् । तर्कावष्टम्भेन चैतेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति । तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः ।

प्रत्युत्तरम्—तस्य समाधिः । नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति । यदि स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन् । ता उदाहरिष्यामः—'यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह । तथान्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे संप्रलीयते' इत्याह । 'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः । स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥' इति पुराणे । भगवद्गीतासु च 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' ( भ० गी० ७ । ६ ) इति । परमात्मानमेव च प्रकृत्यापस्तम्बः पठति—'तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः' ( ध० सू० १।८।२३।२ ) इति । एवमनेकशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते । स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृतिबलेनैवोत्तरं वक्ष्यामीत्यतोऽयमन्यस्मृत्यनवकाशदोषोपन्यासः । दर्शितं तु श्रुतीनामीश्वरकारणवादं प्रति तात्पर्यम् । विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे

उस [illegible] ज्ञानसे पूर्ण करता है ( श्वे० ५ । २ ) इसलिए [illegible] मत असत्य है [illegible] नहीं कर सकते। [illegible] तर्कके अवलम्बनसे भी [illegible] स्थापन करते हैं। इस कारण [illegible] स्मृतिबलसे [illegible] फिर आक्षेप होता है।

( [illegible] )

प्रत्युत्तर—[illegible] समाधान है—[illegible] ठीक नहीं [illegible] अन्य स्मृतियोंमें भी अनवकाश [illegible] प्रसङ्ग [illegible] ईश्वरकारणवाद ( [illegible] ) आक्षेप [illegible] है [illegible] ईश्वरकारणवाद बतलानेवाली स्मृतियाँ अनवकाश व्यर्थ हो जायँगी, [illegible] उदाहरण [illegible]—'जो वह ब्रह्म सूक्ष्म और अज्ञेय है' [illegible] भूतोंका अन्तरात्मा है, वही क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है' ऐसा [illegible] 'द्विजसत्तम ! उस ब्रह्मसे [illegible] उत्पन्न हुआ जो त्रिगुणरूप है।' ऐसा कहा है, तथा अन्यत्र भी—'हे ब्रह्मन् ! [illegible] निर्गुण पुरुषमें लय हो जाता है।' ऐसा कहा जाता है। और पुराणमें भी '[illegible] मनो यह सब कुछ पुरातन नारायण ही है, वह सृष्टि[illegible] सब कुछ उत्पन्न करता है और प्रलयकालमें फिर सबका प्रलय करता है।' तथा भगवद्गीतामें भी—'मैं सम्पूर्ण जगत्का उत्पादक और प्रलयकर्ता हूँ' ( भ० गी० ७ । ६ ), [illegible] प्रकृत करके आपस्तम्ब [illegible]—'उस ब्रह्मसे [illegible] उत्पन्न होते हैं, वही [illegible] शाश्वत और नित्य है [illegible] सू० [illegible] । २३ । [illegible] ) इस प्रकार स्मृतियोंमें अनेक [illegible] निमित्त और उपादान कारणरूपसे प्रकाशित किया है। स्मृतिबलसे खण्डन करनेवालेको [illegible] उत्तर दूँगा इस [illegible] अन्य स्मृतियोंके अनवकाशरूप दोषका यह निरूपण है। श्रुतियोंका तात्पर्य तो ईश्वरकारणवादकी ओर है यह दिखला दिया है। स्मृतियोंका परस्पर विरोध होनेपर किसीके ग्रहण और किसीके त्याग करनेमें श्रुतिके अनुकूल स्मृतियाँ प्रामाण्य होती हैं, अन्य श्रुति विरोधिनी स्मृतियाँ त्याज्य होती हैं, प्रमाणके लक्षणमें यह कहा है—"**विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्** ( जै० सू० १ । ३ । ३ ) 'श्रुतिसे विरोध होता हो तो स्मृति

च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणमनपेक्ष्या इतराः । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' ( जै० सू० १।३।३ ) इति । नचातीन्द्रियानर्थाञ्श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं संभावयितुं निमित्ताभावात् ।

**प्रश्नः**—शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत् ?

**प्रत्युत्तरम्**— न । सिद्धेरपि सापेक्षत्वात् । धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः । स च धर्मश्चोदनालक्षणः । ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशेनातिशङ्कितुं शक्यते । सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात्सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृतिविप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति । परतन्त्रप्रज्ञस्यापि नाकस्मात्स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः । कस्यचित्क्वचित्पक्षपाते सति [1]पुरुषमतिवैश्वरूप्येण तत्त्वाव्यवस्थानप्रसङ्गात् । तस्मात्तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्युपन्यासेन श्रुत्यनुसाराननुसारविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा संग्रहणीया । या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात् । अन्यस्य च कपिलस्य

त्याज्य है, यदि वेदविरुद्ध न हो तो अनुमानसे सङ्गति लगानी चाहिये' इत्यादि । अतीन्द्रिय—सूक्ष्म विषयोंको श्रुतिके बिना कोई प्राप्त करे यह संभव नहीं, क्योंकि निमित्तके बिना कोई काम नहीं हो सकता ।

प्रश्न—सिद्ध कपिल आदि ऋषियोंको ( श्रुतिके बिना भी सूक्ष्मविषयोंका ज्ञान ) हो सकता है, क्योंकि उनके ज्ञानमें कोई रोक टोक नहीं होता है ?

प्रत्युत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि सिद्धि भी धर्मको अपेक्षा करती है. सिद्धि धर्मके अनुष्ठानको अपेक्षा करती है, और वह धर्म वेदवाक्य निरूप्य है, अतः तो पूर्वसिद्ध वैदिकविधिके अर्थको बादके सिद्ध महात्माओंके वचनद्वारा शङ्कित—शङ्कायुक्त नहीं कर सकते हो । और दूसरी बात यह है कि सिद्ध महात्माओंके वचनोंको आश्रयण कर वेदार्थोंकी कल्पना करनेपर भी बहुतसे सिद्ध महात्माओंके होनेसे दिखाये हुए प्रकारसे स्मृतिविरोध होनेपर श्रुतिको आश्रयण किये बिना अन्य कोई निर्णयका कारण नहीं है । परतन्त्र बुद्धिवाले मन्दमतियोंको भी यकायक स्मृतिविशेषविषयक पक्षपात नहीं करना चाहिये, क्योंकि किसीका कहीं पक्षपात होनेपर पुरुषोंकी बुद्धि बहुरूप होनेसे सत्य असत्यका निर्णय नहीं हो सकता. इसलिये श्रद्धा भक्तिसे जड़वत् होनेवाले मन्दमतियोंको भी चाहिये कि परस्पर स्मृतिविरोध होनेपर श्रुतिके अनुकूल और प्रतिकूल विषयोंकी विवेचना करते हुवे असन्मार्गसे बुद्धिको लगाना चाहिये ।

और जो श्रुति कपिलमुनिके अतिशय ज्ञानको दिखलानेवाली दिखाई थी उससे श्रुतिविरुद्ध भी कपिलमतको श्रद्धा नहीं कर सकते, क्योंकि श्रुतिमें सामान्यरूपसे 'कपिल' ऐसा कहा गया है ( अर्थात् श्रुतिमें सांख्यशास्त्रप्रणेता कपिलका ही ग्रहण है यह निश्चयरूपसे नहीं कहा जा सकता ), क्योंकि सगरके पुत्रोंको दहन करनेवाले वासुदेव नामक अन्य पुरुषका भी नाम कपिल स्मरण किया

---

१—कई पुस्तकोंमें '**पुरुषमतिवैश्वरूप्येण**' ऐसा पाठ है, हमने भी यही पाठ रख कर सङ्गति लगा दी है । किन्तु '**पुरुषमतिवैरूप्येण**' यह पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है, क्योंकि भाष्यकारने '**तर्काप्रतिष्ठानाद्०**' ( ब्र० सू० २ । १ । ११ ) इस सूत्रमें तर्कोंके खण्डनमें '**पुरुषमतिवैरूप्यात्**' ऐसा कहा है । उभयत्र बुद्धिविषयक तर्कोंका खण्डन समान होनेसे '**वैरूप्येण**' पाठ ही अधिक संगत होता है—

**अनुवादक ।**

सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्। भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—'यद्वै किंच मनुरवदत्तद्भेषजम्' ( तै० सं० २।२।१०।२ ) इति। मनुना च 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥' ( १२।९१ ) इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात्। महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' इति विचार्य 'बहवः पुरुषा राजन्सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन—'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते। तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम्॥' इत्युपक्रम्य 'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित्॥ विश्वमूर्धा विश्वभुजा विश्वपादाक्षिनासिकः। एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम्॥' इति सर्वात्मतैव निर्धारिता। श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति—'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ( ई० ७ ) इत्येवंविधा। अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारिमनुवचनविरुद्धं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति। वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये। पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं [1] चेति

जाता है, तथा प्राप्तिरहित अन्यार्थदर्शनवाला ( कपिल ) साधक नहीं हो सकता।

मनुका भी माहात्म्य प्रसिद्ध करनेवाली यह दूसरी श्रुति मिलती है—'मनुने जो कुछ कहा है वह औषध है' ( तै० सं० २।२।१०।२ ) और मनुने भी—'सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता हुआ आत्मयाजी स्वाराज्य—ब्रह्मभावको प्राप्त करता है' ( मनु० १२।९१ ) इस तरह सर्वात्मत्वदर्शनकी प्रशंसा कर कपिलमतकी निन्दा की है यह प्रतीत होता है। कपिलजी सर्वात्मत्वदर्शनको नहीं मानते, क्योंकि वे आत्मभेद ( जीवात्म—परमात्मभेद ) का स्वीकार करते हैं।

महाभारतमें भी 'ब्रह्मन्! पुरुष बहुत हैं अथवा एक ही?' ऐसा विचार कर 'हे राजन्! सांख्य और योगके माननेवाले बहुत पुरुषोंको मानते हैं।' इस प्रकार दूसरोंके पक्षको दिखा कर उसके प्रत्युत्तरमें 'जिस प्रकार बहुत पुरुषोंकी एक योनि कही जाती है उस प्रकार अतिशय गुणवाले उस विश्व पुरुषको कहूँगा।' ऐसा उपक्रम कर 'मेरा आत्मा, तेरा है और तुम्हारी भी, और अन्य शरीरमें जो स्थित हैं उनकी भी वही आत्मा है और वह सबका साक्षीरूप है, उसे कोई कभी ग्रहण कर नहीं सकता। उसका सब जगत् सिर है, सब भुजाएँ हैं, सब पैर हैं और सब जगत् आँख और नाक है, वह एक सब भूतोंमें सुखपूर्वक विचरता है।' इस प्रकार सर्वात्मताको ही निश्चय किया है। श्रुति भी सर्वात्मत्वमें प्रमाणरूप होती है—'जो पुरुष सब भूतोंमें आत्माको ही होना मानता है इस प्रकार एकत्व देखनेवाले मनुष्यको कहाँ मोह और शोक हो सकते हैं।' ( ई० ७ ) इस प्रकारकी श्रुति है। इस कारण यह सिद्ध हो गया कि आत्माके भेदकी कल्पना करनेसे भी कपिलका तन्त्र शास्त्र वेदविरुद्ध है, और वेदानुकूल मनुस्मृतिवचनोंके विरुद्ध भी है, न कि केवल स्वतन्त्र प्रकृतिकी कल्पनासे ही ( कपिल-मत वेदविरुद्ध है )। वेदका प्रामाण्य अपने अर्थमें निरपेक्ष है अर्थात् वेद किसीकी अपेक्षा नहीं करता है, जैसे रूपके विषयमें सूर्यका प्रामाण्य है। पुरुषोंके वचन ( कापिलस्मृति ) तो किसी मूलकी अपेक्षा करते हैं, और वक्ताओंकी स्मृतिसे वचन अर्थपूर्वक व्यवहित—परतः प्रमाण होते हैं। ( वेदोंके

१—व्यवहितका अर्थ परतः प्रामाण्य है—रत्नप्रभा।

[1]विप्रकर्षः । तस्माद्वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः ॥ १ ॥

प्रश्नः—कुतश्च स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः ?

**इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥**

प्रत्युत्तरम्—प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके वोपलभ्यन्ते । भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम् । अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते । यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' ( ब्र० १।४।१ ) इत्यत्र । कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात्कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः । तस्मादपि न स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो दोषः । तर्कावष्टम्भं तु 'न विलक्षणत्वात्' ( ब्र० २।१।४ ) इत्यारभ्योन्मथिष्यति ॥ २ ॥

## २ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् । सू० ३

**एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥**

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति । तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते ।

---

प्रमाणोंमें और परस्परचनोंमें ) यह विशेषता है इस कारण वेदविरुद्ध विषयमें स्मृत्यनवकाशरूप दोष लग नहीं सकता ॥ १ ॥

प्रश्न—फिर क्यों स्मृत्यनवकाशरूप दोष नहीं हो ? ॥

**इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥**

प्रत्युत्तर—प्रधानसे अन्य जो प्रधानके परिणामरूपसे स्मृतिमें कल्पित महत् आदि हैं वे वेद और लोकमें मिलते नहीं हैं, लोक और वेदोंमें प्रसिद्ध होनेसे भूतेन्द्रिय तो स्मरण की जा सकती हैं, वेद और लोकमें प्रसिद्ध न होनेसे महत् आदियोंके स्मरण करनेकी कल्पना नहीं हो सकती जैसे छठी इन्द्रियके अर्थकी कल्पना नहीं होती । और जहां भी कहीं महदादिपरक सुना जाना भासित होता है वह भी महदादिपरक नहीं है इसका व्याख्यान '**आनुमानिकमप्येकेषाम्**० ( ब्र० सू० १ । ४ । १ )' यहां पर हो चुका है, अभिप्राय यह है कि महदादि कार्यस्मृतिके अप्रामाण्य होनेसे प्रधान कारणस्मृतिका भी अप्रामाण्य होना युक्तियुक्त है, इस कारण भी स्मृत्यनवकाशरूप दोष प्रसंग नहीं होता । ( जो यह कहा था कि सांख्य लोग तर्कोंका भी अवलम्बन करते हैं ) उस तर्कके अवलम्बन वा दृष्टान्तको तो "**न विलक्षणत्वाद्**० ( ब्र० २ । १ । ४ )" यहांसे आरम्भ करके सूत्रकार मथ डालेंगे ॥ २ ॥ यह पहिला स्मृत्यधिकरण समाप्त हो गया ।

## २ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् । सू० ३

**एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥**

इस सांख्यस्मृतिके खण्डनसे योगस्मृतिका खण्डन भी समझ लेना चाहिये, सूत्रकार यह पूर्वोक्त हेतुओंसे निर्देश करते हैं, योगस्मृतिमें भी श्रुतिको विरोध करके प्रधानको ही स्वतन्त्र कारण और लोक तथा वेदमें अप्रसिद्ध महदादि कार्यको कल्पना करते हैं ।

---

१—विप्रकर्षका अर्थ विशेष है—अर्थात् श्रुति और स्मृतिमें यह विशेष है—आनन्दगिरीय न्यायनिर्णय ।

**प्रश्नः**—नन्वेवं सति समानन्यायत्वात्पूर्वेणैवैतद्गतं किमर्थं पुनरतिदिश्यते ?

**उत्तरम्**—अस्ति ह्यत्राभ्यधिकाशङ्का। सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ( बृ० २।४।५ ) इति। 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' ( श्वे० २।८ ) इत्यादिना चासनादिकल्पनापुरःसरं बहुप्रपञ्चं योगविधानं श्वेताश्वतरोपनिषदि दृश्यते। लिङ्गानि च वैदिकानि योगविषयाणि सहस्रश उपलभ्यन्ते 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' ( का० २।६।११ ) इति 'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्' ( का० २।६।१८ ) इति चैवमादीनि। योगशास्त्रेऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः' इति सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते। अतः संप्रतिपन्नार्थैकदेशत्वादष्टकादिस्मृतिवद्योगस्मृतिरप्यनपवदनीया भविष्यतीति। इयमप्यधिकाशङ्काऽतिदेशेन निवर्त्यते। अर्थैकदेशसंप्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्तेः पूर्वोक्ताया दर्शनात्। सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः। सांख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ। 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' ( श्वे० ६।१३ ) इति। निराकरणं तु न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमा-

**प्रश्न**—यदि ऐसा है तो समान न्याय होनेसे पहलेके सांख्यके खण्डनसे ही योगका खंडन भी सिद्ध हो चुका था फिर क्यों सूत्रकार अतिदेश ( पूर्वोक्त हेतुओंसे निर्देश )—करते हैं ?

**उत्तर**—यहां और अधिक शंका है, सम्यग् दर्शनके उपायरूप योगको वेदमें विधान किया है, जैसे—'श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये' ( बृ० २ । ४ । ५ ) 'छाती, गरदन और सिर ये तीन उन्नत ऊंचा किये हुये शरीरको बराबर सीधा रख कर' ( श्वे० २ । ८ ) इत्यादिसे आसन आदिकी कल्पनापूर्वक बहुत विस्तृत योगका विधान श्वेताश्वतरोपनिषद्में देखा जाता है, और योगविषयक वैदिक लिङ्ग भी हजारों मिलते हैं, जैसे—'जो इन्द्रियोंको स्थिर रूपसे धारण करता है उसे विद्वान् लोग योग मानते हैं' ( का० २ । ६ । ११ ) 'इस विद्याको और सम्पूर्ण योगविधिको' ( का० २।६।१८) इत्यादि। योगशास्त्रमें भी—"**अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः**" इस प्रकार सम्यग् दर्शनके उपायरूप योगको माना है, इसलिये किसी अर्थके एक देशके प्रामाणिक सिद्ध होनेसे [1]अष्टक आदि स्मृतिके समान योगस्मृति भी अखंडनीय होगी, इस अधिक शंकाको इस अतिदेश ( पूर्वोक्त हेतुओंके निर्देश ) से निवृत्त करते हैं, क्योंकि किसी अर्थके एकदेश प्रामाणिक सिद्ध होनेसे भी पूर्वोक्त स्मृतिके अर्थोंका एक भाग वेदविरुद्ध देखा गया है। अध्यात्मविषयक अन्य बहुत सी स्मृतियोंके होनेपर भी सांख्ययोगस्मृतियोंके खंडनमें ही प्रयत्न किया गया है, कारण कि—परमपुरुषार्थके साधनरूपसे लोकमें सांख्य और योग प्रसिद्ध हैं, शिष्ट लोगोंने भी इन दोनोंको स्वीकार किया है, और ये दोनों वैदिक लिंगोंसे भी परिवर्द्धित किये गये हैं, जैसे—'सांख्य और योगसे प्राप्त होनेवाले उस कारणस्वरूप देवको जान कर सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है' ( श्वे० ६ । १३ ) इत्यादि। इसका खंडन तो यह है कि वेदोंकी अपेक्षा न करनेवाले सांख्यज्ञानसे अथवा योगमार्गसे मोक्ष नहीं मिल सकता है, क्योंकि श्रुति वैदिक आत्मै

१—'**अष्टक**' करना चाहिये, गुरुके पीछे चलना चाहिये, तालाब खोदना चाहिये इत्यादि विषयोंको प्रतिपादन करनेवाली अष्टक आदि स्मृतियां हैं—**अनुवादक**।

'**अष्टक**' शब्द पाणिनिकृत अष्टाध्याययुक्त ग्रन्थमें, कोई और प्रत्येक आठ अध्याययुक्त ग्रन्थमें तथा ऋग्वेदके भागमें आता है। किन्तु स्त्रीलिङ्ग अष्टका शब्द पितृदैवत्य कर्ममें और पितृश्राद्धमें आता है—**शब्दस्तोममहानिधि**।

गैण वा निःश्रेयसमधिगम्यत इति। श्रुतिर्हि वैदिकादात्मैकत्वविज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ( श्वे० ३।८ ) इति। द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च नात्मैकत्वदर्शिनः। यत्तु दर्शनमुक्तं 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम्। येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम्। तद्यथा—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' ( बृ० ४।३।१६ ) इत्येवमादिश्रुतिप्रसिद्धमेव पुरुषस्य विशुद्धत्वं निर्गुणपुरुषनिरूपणेन सांख्यैरभ्युपगम्यते। तथाच योगैरपि 'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' ( जाबा० ५ ) इत्येवमादि श्रुतिप्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्युपदेशेनानुगम्यते। एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि। तान्यपि तर्कोपपत्तिभ्यां तत्त्वज्ञानायोपकुर्वन्तीति चेदुपकुर्वन्तु नाम। तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' ( तै० ब्रा० ३।१२।९।७ ) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' ( बृ० ३।९।२६ ) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः॥ ३॥

## ३ विलक्षणत्वाधिकरणम्। सू० ४—१२

### न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्॥ ४॥

ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याक्षेपः स्मृतिनिमित्तः

कत्व विज्ञानके अतिरिक्त अन्यको मोक्षका साधन होना हटाती है जैसे—'उसी ब्रह्मको जान कर मुमुक्षु मृत्युसे मुक्त होते हैं, मोक्षके लिये और दूसरा रास्ता नहीं है' ( श्वे० ३। ८ ) इत्यादि।

सांख्य और योग द्वैतवादको मानते हैं, वे आत्मैकत्वदर्शी नहीं हैं। और जो "तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्" यह दर्शन कहा था इसका उत्तर यह है कि वहांपर प्रकरणसंगतिसे सांख्य और योग शब्दसे ज्ञान और ध्यान कहे जाते हैं। जिस अंशमें विरोध नहीं होता है उस अंशसे सांख्य और योगस्मृतिका सावकाश होना इष्ट ही है, जैसे कि—'यह पुरुष असङ्ग है' ( बृ० ४। ३। १६ ) इत्यादि श्रुतिमें प्रसिद्ध ही पुरुषके विशुद्धत्वको निर्गुण पुरुषके निरूपणसे सांख्य लोग मानते हैं। तथा योगवाले भी 'संन्यासीको सुन्दर वस्त्रोंसे रहित मुंडाये हुवे तथा अलुब्ध होना चाहिये' ( जाबा० ५ ) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध ही निवृत्ति मार्गमें श्रद्धाभक्ति करनेको संन्यासी होना आदि उपदेशसे स्वीकार करते हैं। इस सांख्ययोगस्मृतिके खण्डनसे अन्य सब वैशेषिक आदियोंके तर्क और स्मरणोंको खण्डन करना चाहिये। यदि वे तर्क स्मरण भी तर्क और युक्तिसे तत्त्वज्ञानके लिये उपकार करते हैं तो करें, किन्तु तत्त्वज्ञान तो वेदान्तवाक्योंसे ही होता है, जैसे—'वेदको न जाननेवाला पुरुष उस महान् परमेश्वरको नहीं जानता है' ( तै० ब्रा० ३। १२। ९। ७ ) 'उस उपनिषद्में बताये हुवे पुरुषको पूछता हूं' ( बृ० ३। ९। २६ ) इत्यादि॥ ३॥ यह योगप्रत्युक्त्यधिकरण समाप्त हो गया।

## ३ विलक्षणत्वाधिकरणम्। सू० ४-१२.

### न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्॥ ४॥

इस जगत्का ब्रह्म निमित्त कारण तथा उपादान कारण है इस पक्षके स्मृतिनिमित्तक आक्षेपका परिहार हो चुका। अब तर्कनिमित्तक परिहार किया जाता है।

परिहृतः । तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेपः परिह्रियते ।

प्रश्नः—कुतः पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्तस्याक्षेपस्यावकाशः । ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति ?

उत्तरम्–तार्किकः—भवेदयमवष्टम्भो यदि प्रमाणान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थः स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्मः । परिनिष्पन्नरूपं तु ब्रह्मावगम्यते । परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणामस्त्यवकाशो यथा पृथिव्यादिषु । यथाच श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते एवं प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत । दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते । विप्रकृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात् । अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यते । श्रुतिरपि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयति । अतस्तर्कनिमित्तः पुनराक्षेपः क्रियते 'न विलक्षणत्वादस्य' इति । यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिरिति तन्नोपपद्यते ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्–तार्किकः—विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः । इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेना-

( चौथे और पांचवे सूत्रमें पूर्वपक्षी तार्किकके प्रधानवादकी स्थापना )

प्रश्न—श्रुतिके अर्थ निश्चित किये जानेपर फिर तर्कनिमित्तक आक्षेपका अवकाश कहां है ? जैसे धर्मविषयमें किसीकी अपेक्षा न कर श्रुति प्रामाण्य मानी जाती है ऐसे ही ब्रह्मविषयमें भी अपेक्षारहित श्रुतिका प्रामाण्य हो सकता है । ( इसलिये तर्क करनेकी गुञ्जाइश नहीं है )

उत्तर–तार्किक—यह [1]अवष्टम्भ–दृष्टान्त तब हो सकता है यदि प्रमाणान्तरोंसे असाधनीय वेद मात्रका ज्ञेय यह विषय हो जैसा कि धर्म केवल अनुष्ठेयरूपमात्र होता है, किन्तु ब्रह्म तो परिनिष्ठित स्वयं सिद्ध माना जाता है, सिद्ध वस्तुमें प्रमाणोंको अवकाश मिल सकता है जैसे पृथिवी आदि सिद्ध पदार्थोंमें । जैसे श्रुतियोंके परस्पर विरोध होनेपर एक श्रुतिके वशमें अन्य श्रुतियां लगाई जाती हैं इसी प्रकार प्रमाणान्तरोंसे विरोध होनेपर भी प्रमाणान्तरवशसे ही श्रुति लगा लेनी चाहिये । और दूसरी बात यह है कि देखे हुएकी समतासे अदृष्ट अर्थको समर्थन करनेवाली अनुभवकी युक्ति सन्निहित ( समीप ) की जाती है (अर्थात्-प्रत्यक्ष दृष्ट विषयको बतानेवाले अनुमानगम्य प्रधान परोक्षविषयको बतानेवाले शब्द ज्ञानसे बलवान् होता है ), श्रुति तो दूर कर दी जाती है, क्योंकि केवल इतिहासरूपसे अर्थात् परोक्षरूपसे स्वार्थमात्रको श्रुति कहती है । अनुभवके अन्तमें ब्रह्मका विज्ञान होता है, वह अविद्याको हटानेवाला तथा मोक्षका साधन है, और वह फलके देखे जानेसे सबको इष्ट है । श्रुति भी 'श्रवण मनन करना चाहिये' इस प्रकार सुननेके अतिरिक्त मनन करनेको भी विधान करती हुई यहां तर्कको भी आदर करना चाहिये यह दिखलाती है । इसलिये **"न विलक्षणत्वादस्य"** इस सूत्रसे तर्कनिमित्तक यहां आक्षेप किया जाता है:—

यह जो कहा था कि चेतन ब्रह्म जगत्का निमित्त और उपादान कारण है वह नहीं हो सकता ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर–तार्किक—क्योंकि उपादान कारणरूप ब्रह्मसे यह विकार विलक्षण होता है । ब्रह्मका विकार-

---

१—**अवष्टम्भ–दृष्टान्त—रत्नप्रभा ।**

किन्तु यह **'अवष्टम्भ'** शब्द सुवर्ण, खम्भा, प्रारम्भ, रोकने और अभिमान अर्थमें भी आता है—

**शब्दस्तोममहानिधि ।**

भिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते । ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते । न च विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः । नहि रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका भवन्ति शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः । मृदैव तु मृदन्विता विकारा क्रियन्ते सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः । तथेदमपि जगदचेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हतीति न विलक्षणस्य ब्रह्मणः । ब्रह्मविलक्षणत्वं चास्य जगतोऽशुद्ध्यचेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम् । अशुद्धं हि जगत्सुखदुःखमोहात्मकतया प्रीतिपरितापविषादादिहेतुत्वात्स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्वाच्च । अचेतनं चेदं जगच्चेतनं प्रति कार्यकारणभावेनोपकरणभावोपगमात् । नहि साम्ये सत्युपकार्योपकारकभावो भवति । नहि प्रदीपौ परस्परस्योपकुरुतः ।

प्रश्नः—ननु चेतनमपि कार्यकारणं स्वामिभृत्यन्यायेन भोक्तुरुपकरिष्यति ?

उत्तरम्–तार्किकः—न । स्वामिभृत्ययोरप्यचेतनांशस्यैव चेतनं प्रत्युपकारकत्वात् । यो ह्येकस्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिरचेतनभागः स एवान्यस्य चेतनस्योपकरोति न तु स्वयमेव चेतनश्चेतनान्तरस्योपकरोत्यपकरोति वा । निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना इति सांख्या मन्यन्ते । तस्मादचेतनं कार्यकारणम् । न च काष्ठलोष्टादीनां चेतनत्वे किंचित्प्रमाणमस्ति । प्रसिद्धश्चायं चेतनाचेतनविभागो लोके । तस्माद्ब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगत्तत्प्रकृतिकम् । योऽपि कश्चिदाचक्षीत श्रुत्वा जगतश्चेतनप्रकृतिकतां तद्बलेनैव समस्तं जगच्चे-

रूप माना जानेवाला यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण है, अचेतन तथा अशुद्ध देखा जाता है, और ब्रह्म जगत्से विलक्षण, चेतन और शुद्ध सुना जाता है, विलक्षण होनेपर उपादान कारण प्रकृतिका विकाररूप कार्य नहीं देखा जाता, कुण्डल आदि मिट्टीके और सकोरे आदि विकार सुवर्णके बने हुये नहीं होते हैं, मिट्टीसे ही मिट्टीके और सुवर्णसे ही सुवर्णके विकार उत्पन्न होते हैं, वैसे ही यह सुख दुःख मोहान्वित अचेतन जगत् भी किसी अचेतन सुखदुःखमोहात्मक कारणका कार्य हो सकता है, विलक्षण ब्रह्मका कार्य नहीं हो सकता है। जगतको ब्रह्मसे विलक्षण इसलिये जानना चाहिये कि यह जगत् अशुद्ध तथा अचेतन देखा गया है। यह जगत् अशुद्ध है क्योंकि यह सुख, दुःख, मोहरूपसे प्रीति, ताप, शोक आदिका तथा स्वर्ग नरक आदि उच्च नीच प्रपञ्चोंका कारण होता है। यह जगत् अचेतन है, क्योंकि यह चेतनके प्रति कार्यकारणभावसे उपकार करनेका साधन माना गया है। दोनों समान होनेपर उपकार्य और उपकारकभाव नहीं होता है, दो दीपक एक दूसरेको उपकार नहीं करते है।

प्रश्न—कार्यका कारण चेतन भी स्वामिभृत्यन्यायसे भोक्ता चेतनको उपकार करेगा ( जैसे चेतन मालिक और नौकर एक दूसरेको उपकार करते हैं ) ?

उत्तर–तार्किक—यह ठीक नहीं, क्योंकि मालिक और नौकरमें भी अचेतनांश ही चेतनका उपकारक होता है, जो एक चेतनका परिवार बुद्धि आदि अचेतन भाग है वह ही अन्य चेतनको उपकार करता है, न कि स्वयं ही चेतन अन्य किसी चेतनको उपकार वा अपकार करता है, क्योंकि सांख्यलोग मानते हैं कि चेतन अकर्त्ता और निरतिशय—वृद्धिक्षयधर्मरहित होते हैं, इसलिये जगत्रूप कार्यका कारण अचेतन होता है, काठ और ढेले आदिके चेतन होनेमें कोई प्रमाण नहीं है, और यह चेतन तथा अचेतनका विभाग लोकमें प्रसिद्ध है, इस कारण ब्रह्मसे विलक्षण होनेसे यह जगत् ब्रह्म प्रकृतिक नहीं है।

और जो कोई भी यह कहे कि जगत् चेतन प्रकृतिसे बना है यह सुन कर उसी बलसे समस्त जगत्को चेतन मानूंगा, क्योंकि उपादानकारणका रूप कार्यमें होना यह अन्वय देखा गया है, किन्तु चैतन्यका न होना तो परिणामविशेषसे हो जावेगा, जैसे जिन आत्माओंका

तनमवगमिष्यामि । प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयदर्शनात् । अविभावनं तु चैतन्यस्य परिणामविशेषाद्भविष्यति । यथा स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वापमूर्च्छाद्यवस्थासु चैतन्यं न विभाव्यत एवं काष्ठलोष्टादीनामपि चैतन्यं न विभावयिष्यते । एतस्मादेव च विभाविताविभावितत्वकृताद्विशेषाद्रूपादिभावाभावाभ्यां च कार्यकारणानामात्मनां च चेतनत्वाविशेषेऽपि गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते । यथा च पार्थिवत्वाविशेषेऽपि मांससूपौदनादीनां प्रत्यात्मवर्तिनो विशेषात्परस्परोपकारित्वं भवत्येवमिहापि भविष्यति । प्रविभागप्रसिद्धिरप्यत एव न विरोत्स्यत इति । तेनापि कथंचिच्चेतनाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह्रियेत । शुद्ध्यशुद्धित्वलक्षणं तु विलक्षणत्वं नैव परिह्रियते । नचेतरदपि विलक्षणत्वं परिहर्तुं शक्यत इत्याह—तथात्वं च शब्दादिति । अनवगम्यमानमेव हीदं लोके समस्तस्य वस्तुनश्चेतनत्वं चेतनप्रकृतिकत्वश्रवणाच्छब्दशरणतया केवलयोत्प्रेक्षेत, तच्च शब्देनैव विरुध्यते । यतः शब्दादपि तथात्वमवगम्यते । तथात्वमिति प्रकृतिविलक्षणत्वं कथयति । शब्द एव 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' ( तै० २ । ६ ) इति कस्यचिद्विभागस्याचेतनतां श्रावयंश्चेतनाद्ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगच्छ्रावयति ॥ ४ ॥

प्रश्नः—ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते । यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' ( श० प० ब्रा० ६ । १ । ३ । २ । ४ ) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' ( छा० ६ । २ । ३ , ४ ) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः । इन्द्रियविषयाणि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' ( बृ० ६ । १ । ७ ) इति,

चैतन्य होना प्रकट है उनको भी निद्रा और मूर्छा आदि अवस्थाओंमें चैतन्य प्रतीत नहीं होता है, वैसे ही काष्ठ लोष्ट आदियोंका भी चैतन्य प्रतीत न होगा, इसी चैतन्यके प्रतीत होने और न होने रूप विशेषसे तथा चेतनरूपके होने और न होनेके कारणसे कार्यके कारण और आत्माओंका चेतनत्व होना समान होनेपर भी गौण और प्रधानभाव होना विरोध न होगा, और जैसे मांस, दाल और भात आदिका पार्थिव पृथिवी विकाररूपसे समान होनेपर भी इनका प्रत्येकको विशेषरूपसे परस्पर उपकारित्व होना सिद्ध होता है, इस प्रकार यहां जगत्के विषयमें भी होगा, और ( चेतन–अचेतनके ) विभागकी प्रसिद्धि भी इसलिये विरुद्ध न होगी ।

तो इसका उत्तर यह है कि वह चेतन–अचेतनरूप लक्षणका विलक्षण होना भी किसी तरहसे परिहार कर सके तो करे । किन्तु शुद्धि–अशुद्धिरूप लक्षणका विलक्षण होना तो वह किसी प्रकार भी खण्डन नहीं कर सकता । यह अन्य वि[illegible]गुणरूप होना भी परिहार नहीं कर सकते, इसलिये सूत्रकार कहते हैं कि—**'तथात्वं च शब्दात्'** । चेतन प्रकृतिके सुने जानेसे केवल शब्द प्रमाणके आधारसे लोकमें समस्त वस्तुओंका चेतनत्व प्रतीत न होना ही कोई मान लेवे , किन्तु यह तो श्रुतिसे ही विरोध होता है, क्योंकि श्रुतिसे ही वैसा प्रतीत होता है, सूत्रमें जो **'तथात्वं'** कहा है उसका यह अर्थ है कि ब्रह्मरूप प्रकृतिसे यह जगत् विलक्षण होता है । श्रुति ही 'चेतन और अचेतन हैं' ( तै० २ । ६ ) , इस प्रकार किसी भागको अचेतन होना सुनाती हुई चेतन ब्रह्मसे यह जगत् विलक्षण और अचेतन है यह सुनाती है ॥ ४ ॥

प्रश्न—कहीं जड़रूपसे माने हुवे भौतिक इन्द्रियोंका चेतनत्व होना सुना जाता है, जैसे— 'मिट्टी बोली, जल बोले' ( श० प० ब्रा० ६ । १ । ३ । २ । ४ ) और 'तेज ने देखा, उन जलोंने देखा' ( छा० ६ । २ । ३,४ ) इत्यादि इस प्रकार भूतविषयक चेतनत्वको बतानेवाली श्रुति है । और इन्द्रियविषयक चेतनत्व भी ' वे ये प्राण अपनेको श्रेष्ठ बतानेके लिये विवाद करते हुवे ब्रह्मको प्राप्त

'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति' ( बृ० १ । ३ । २ ) इत्येवमाद्येन्द्रियविषयेति ?

उत्तरम्-तार्किकः—अत उत्तरं पठति—

## अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

तुशब्द आशङ्कामपनुदति । न खलु मृदब्रवीदित्येवंजातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयम् । यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः । मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते न भूतेन्द्रियमात्रम् ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्-तार्किकः—विशेषानुगतिभ्याम् । विशेषो हि भोक्तृणां भूतेन्द्रियाणां च चेतनाचेतनप्रविभागलक्षणः प्रागभिहितः। सर्वचेतनतायां चासौ नोपपद्येत। अपिच कौषीतकिनः प्राणसंवादे करणमात्राशङ्काविनिवृत्तयेऽधिष्ठातृचेतनपरिग्रहाय देवताशब्देन विशिंषन्ति—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति । 'ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' ( २ । १४ ) इति च । अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' ( ऐ० आ० २।४।२।४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति । प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' ( छा० ५।१।७ ) इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजा-

हुये' (बृ० ६ । १ ।७) और 'उन देवोंने वाणीसे कहा कि तुम हमारे लिये गान करो' ( बृ० १ । ३ । २ ) इत्यादि इन्द्रियविषयक चेतनत्व सुना जाता है ?

उत्तर-तार्किक—इसलिये सूत्रकार उत्तर पढ़ते हैं कि—

## अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

सूत्रस्थ तुशब्द आशंकाको हटाता है, 'मिट्टी बोली' इस प्रकारकी श्रुतिसे भौतिक इन्द्रियोंका चेतनत्व होनेकी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह तो अभिमानी देवताका निर्देश है, मिट्टी आदिकी अभिमानी और वाणी आदिकी अभिमानी—अधिष्ठात्री चेतन देवतायें ही वाद विवाद आदि चेतनोचित व्यवहारोंमें निर्देश की जाती हैं, न कि भौतिक इन्द्रियमात्रका यह निर्देश है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर-तार्किक—विशेषसे और अनुगतिसे—सर्वत्र मिले रहनेसे। भोक्ता आत्माओंके और भौतिक इन्द्रियोंके चेतन और अचेतन विभागका लक्षण पहले कह दिया, यह चेतन—अचेतनरूप विशेष विभागका लक्षण सबको चेतन माननेमें नहीं हो सकता है। और दूसरी बात यह है कि कौषीतकी शाखावाले प्राण संवादमें इन्द्रिय मात्रोंकी आशंका हटानेके लिये और अधिष्ठाता चेतनके ग्रहण करनेके लिये देवता शब्दसे विशेषण करते हैं कि—'ये प्राण देवता अपने कल्याणके लिये विवाद करती हुई...' अथवा वे सब देवता प्राणमें कल्याण जान कर...' ( कौ० २ । १४ ) इत्यादि। अभिमानी चेतन देवतायें मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराण आदियोंसे सब जगह मिली हुई जानी जाती हैं, जैसे—'अग्नि वाणी होकर मुखमें घुस गया' ( ऐ० आ० २ । ४ । २ । ४ ) इत्यादि श्रुति इन्द्रियोंमें अनुग्रह करनेवाली देवताका उनमें मिले रहना दिखाती है, और प्राणसंवादके वाक्यशेषमें भी 'वे प्राण पिता प्रजापतिके पास पहुंच कर बोले' ( छा० ५ । १ । ७ ), इस प्रकार प्राणको श्रेष्ठ बतानेके लिये प्रजापतिके पास जाना कहा है, और इस प्राणके वचनसे ही एक२ के निकलनेपर अन्वय—व्यतिरेकसे प्राणका श्रेष्ठ

पतिगमनं, तद्वचनाच्चक्रोत्क्रमणेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रैष्ठ्यप्रतिपत्तिः । 'तस्मै बलिहरणम्' ( बृ० ६।१।१३ ) इति चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति । 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यत इति द्रष्टव्यम् । तस्माद्विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत् । विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकम् ॥५॥

प्रत्युत्तरम्—इत्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते—

## दृश्यते तु ॥ ६ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद्ब्रह्मप्रकृतिकमिति । नायमेकान्तः । दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम् ।

प्रश्नः—नन्वचेतनान्येव पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति ?

प्रत्युत्तरम्—उच्यते—एवमपि किंचिदचेतनं चेतनस्यायतनभावमुपगच्छति किंचिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम् । महांश्चायं पारिणामिकः स्वभावविप्रकर्षः पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादिभेदात् । तथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च । अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत । अथोच्येतास्ति कश्चित्पार्थिवत्वादिस्वभावः पुरुषादीनां

होना निश्चय होता है । 'उसके लिये बलि ले जाना' ( बृ० ६ । १ । १३ ), इस प्रकार हम मनुष्य आदियोंके समान अनुगत व्यवहार होना अभिमानी देवताके निर्देशको दृढ़ करता है । 'उस तेजने देखा' यह भी दूसरी ही अपने विकारमें मिले रहनेवाली अधिष्ठात्री देवताका यह विचार करना निर्देश किया जाता है यह देख लेना चाहिये । इस कारण यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण ही है विलक्षण होनेसे ही यह जगत् ब्रह्मरूप उपादान कारणसे बना हुवा नहीं है ।

( यहां तक पूर्वपक्षी तार्किकका प्रश्नोत्तर है, अब इसका परिहार ) ।

प्रत्युत्तर—इस प्रकार आक्षेप किये जानेपर समाधान किया जाता है:—

## दृश्यते तु ॥ ६ ॥

'तु' शब्द पूर्वपक्षको हटाता है, यह जो कहा था कि विलक्षण होनेसे यह जगत् ब्रह्मसे बना हुवा नहीं है, सो यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि चेतनरूपसे प्रसिद्ध पुरुष आदियोंसे विलक्षण केश और नख आदियोंकी उत्पत्ति होती है, और अचेतनरूपसे प्रसिद्ध गोबर आदियोंसे बिच्छू आदियोंकी उत्पत्ति होती है ।

प्रश्न—अचेतन ही मनुष्योंके शरीर अचेतन केश और नख आदियोंके कारण होते हैं, और अचेतन ही तो बिच्छू आदियोंके शरीर अचेतन गोबर आदियोंके कार्य होते हैं ?

प्रत्युत्तर—तो भी कोई अचेतन चेतनका आश्रयस्थान हो जाता है, कोई नहीं होता यही विलक्षणता है । परिणामविषयक स्वभावोंकी विशेषता बड़ी भारी है, क्योंकि पुरुष आदियोंके केश और नख आदियोंके स्वरूप आदिका भेद होता है, तथा गोबर आदियोंके स्वरूपसे बिच्छू आदियोंके स्वरूप भिन्न होते हैं । ( यदि कार्य—कारणमें ) अत्यन्त समानता मानें तो प्रकृतिका विकारभाव ही नष्ट हो जाता ।

**केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां वृश्चिकादिष्विति। ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्त्तमानो दृश्यते। विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किमशेषस्य ब्रह्मस्वभावस्याननुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत उत यस्य कस्यचिदथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम्। प्रथमे विकल्पे समस्तप्रकृतिविकारोच्छेदप्रसङ्गः। नह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकार इति भवति। द्वितीये चासिद्धत्वम्। दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमान इत्युक्तम्। तृतीये तु दृष्टान्ताभावः। किं हि यच्चैतन्येनानन्वितं तद्ब्रह्मप्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मवादिनं प्रत्युदाह्रियेत। समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात्। आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव। चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात्। यत्तूक्तं परिनिष्पन्नत्वाद्ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुरिति। तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम्।**

यदि कहा जाय कि कोई पृथिवीके विकारसम्बन्धी स्वभाव पुरुष आदियोंके केश—नख आदियोंमें विद्यमान रहता है, और वैसे ही गोबर आदियोंका स्वभाव बिच्छू आदियोंमें होता है, तो ब्रह्मका भी तो होना रूप स्वभाव आकाश आदियोंमें विद्यमान देखा जाता है। आपने विलक्षण होनेके कारण जगत् ब्रह्मसे बना नहीं यह दोष दिया था, आप यह बतलाइये कि क्या सम्पूर्ण ब्रह्मस्वभावका कार्यमें न होना विलक्षणका अभिप्राय है, अथवा किसी ब्रह्मस्वभावका न आना विलक्षण है, अथवा चैतन्यका न होना विलक्षणका अभिप्राय है?

इन तीनों विकल्पोंमें प्रथम विकल्प इसलिये ठीक नहीं कि (यदि सम्पूर्ण ब्रह्मका स्वभाव जगत्-रूप कार्यमें माने तो) समस्त प्रकृतिके विकारोंका ही नाश हो जायगा, क्योंकि [1]अतिशय—विशेषता न होनेपर प्रकृतिका विकार नहीं होता है। और किसी ब्रह्मस्वभावका न आना विलक्षण है यह जो दूसरा विकल्प है वह तो सिद्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि सत्ताका लक्षण—विद्यमानरूप ब्रह्मका स्वभाव आकाश आदियोंमें होता है, यह कह दिया। (ब्रह्मका चैतन्यरूप स्वभाव जगत्रूप कार्यमें नहीं होता) इस तीसरे विकल्पमें तो दृष्टान्त ही नहीं है, क्या प्रधानवादी ब्रह्मवादीको यह प्रत्युदाहरण दिखला सकता है कि जो चेतनतासे रहित है वह ब्रह्मप्रकृतिक नहीं देखा गया है? क्योंकि समस्त वस्तुसमुदाय ही ब्रह्मप्रकृतिक माना गया है।

प्रधानवादीका वेदविरोधी होना तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि चेतन ब्रह्म जगत्का निमित्त और उपादान कारण है, यह वेदोंका तात्पर्य सिद्ध कर दिया है।

और जो यह कहा था कि सिद्ध वस्तु होनेसे ब्रह्ममें प्रमाणोंका प्रयोग करना संभव हो सकता है, यह भी केवल मनोरथमात्र ही है, क्योंकि रूप आदि न होनेसे ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं होता है, ब्रह्ममें लिङ्ग आदि न होनेसे वह अनुमानगम्य भी नहीं होता है, केवल वेदोंसे ही वह ब्रह्म जाना जाता है जैसा कि [2]धर्म, तथा इसमें श्रुतिका प्रमाण भी है—

---

[1]—(कारणके) सब स्वभाव (कार्यमें) न आना प्रकृतिविकारभावका विरोधक नहीं होता है, यदि कारणके सब स्वभावोंको कार्यमें आना मानें तो तादात्म्य—साधर्म्य से (दोनों कारणकार्यमें समानस्वभाव पाये जानेसे) प्रकृतिविकार भावका लोप हो जावेगा—**भामती**।

[2]—जैसे कर्त्तव्य कर्मरूपसे समानता होनेपर भी "आरोग्य चाहनेवाले पथ्य करे" "स्वरको चाहनेवाले बालुको खावे" इत्यादियोंमें प्रमाणान्तरोंकी अपेक्षा होती है, किन्तु "दर्श और पूर्णमाससे स्वर्गकी

आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत् । तथाच श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' ( का० १।२।९ ) इति । 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' । 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' ( ऋ० सं० १।३०।६ ) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः । स्मृतिरपि भवति—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति । 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' ( गी० २।२५ ) इति च । 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः । अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः' ( गी० १०।२ ) इति चैवंजातीयका । यदपि श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयतीत्युक्तम् । नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः संभवति । श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते । स्वप्नान्तबुद्धान्तयोरुभयोरितरेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वं, संप्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना संपत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मत्वं, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात्कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इत्येवंजातीयकः । 'तर्काप्रतिष्ठानाद्' ( ब्र० २।१।११ ) इति च केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति ।

'हे प्रियतम नचिकेता ! तर्कसे इस बुद्धिको नष्ट न करो, यह किसी आचार्यके उपदेशसे बतलाई हुई बुद्धि तत्त्वज्ञानके लिए होती है' ( का० २ । २ । ६ )

'किसने तत्त्वसे जाना और किसने किससे कहा ?' 'यह सृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुई' ( ऋ० सं० १ । ३० । ६ )

ये दोनों ऋचायें सिद्ध ईश्वरोंके विषयमें भी जगत्कारणको दुर्बोधता दिखलाती हैं । तथा इसमें स्मृति भी प्रमाण है:—

'जो विषय विचारसे सिद्ध नहीं हैं उनको तर्कसे दूषित नहीं करना चाहिए ।

'वह ब्रह्म अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है । ( गी० २ । २५ )

'मेरी उत्पत्तिको न देवगणोंने जाना और न महर्षियोंने, मैं ही देवोंमें और महर्षियोंमें प्रथम हूँ' ( गी० १० । २ ) इत्यादि ।

और जो यह कहा था कि श्रवणसे अतिरिक्त मननका भी विधान करनेसे श्रुति ही तर्कको भी आदर करना चाहिए यह दिखलाती है, इस बहानेसे केवल शुष्क तर्कको स्थान नहीं मिल सकता है, कारण कि श्रुत्यनुगृहीत तर्क ही अनुभवके अङ्गरूपसे आश्रयण किया जाता है ।

स्वप्नान्त और जागरितान्त अवस्थायें बदलती रहती हैं, इसलिए आत्मा इन अवस्थाओंसे पृथक् ही रहता है, और सुषुप्ति अवस्थामें सब प्रपञ्चोंके त्याग करनेसे सत् आत्माके साथ संयुक्त हो जाता है, क्योंकि वह आत्मा प्रपञ्चरहित है । और वह प्रपञ्च भी ब्रह्मका कार्य है, कार्य और कारणोंमें भेद न होनेसे यह प्रपञ्च ब्रह्मसे अतिरिक्त पृथक् भी नहीं है ।

'तर्काप्रतिष्ठानात्०' ( ब्र० २ । १ । ११ ) इस सूत्रमें सूत्रकार केवल तर्क छलरूप होता

---

कामना करनेवाला यज्ञ करे' इत्यादियोंमें किसी प्रमाणान्तरोंकी अपेक्षा नहीं रहती है, यह किसलिये है ? यह इसलिये है कि यह जो स्वर्गविषयक कर्त्तव्य कर्मभेद है वह अन्य प्रमाणोंसे नहीं जाना जाता है, ऐसे ही सिद्धवस्तुत्वेन समान होनेपर भी पृथिवी आदि प्रमाणान्तरगोचर होती हैं, किन्तु ब्रह्म सिद्धस्वरूप होनेपर भी प्रमाणान्तरगोचर नहीं होता है, क्योंकि ब्रह्म केवल वेदमात्रसे जानने योग्य होनेसे उसमें सब प्रमाणोंका अवसान हो जाता है, इसीलिये स्मृति और आगममात्रसे ब्रह्म सिद्ध होता है—भामती ।

योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षेत तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावनाविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम् । परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवणं न युज्यते ।

**प्रश्नः**—कथम् ?

**प्रत्युत्तरम्**—परमकारणस्य ह्यत्र समस्तजगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते 'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' इति । तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते विलक्षणत्वात्, एवमचेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते । प्रत्युक्तत्वात्तु [1]विलक्षणत्वस्य यथाश्रुत्यैव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति ॥ ६ ॥

## असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

**प्रश्नः**—यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येतासत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत । अनिष्टं चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत् ?

**प्रत्युत्तरम्**—नैष दोषः । प्रतिषेधमात्रत्वात् । प्रतिषेधमात्रं हीदं नास्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति । नह्ययं प्रतिषेधः प्रागुत्पत्तेः सत्त्वं कार्यस्य प्रतिषेद्धुं शक्नोति ।

**प्रश्नः**—कथम ?

**प्रत्युत्तरम्**—यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सदेवं प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते । नहीदानी-

से यह दिखायेंगे । और जो कोई चेतनकारणके श्रवणमात्रसे समस्त जगतको चेतनरूपसे देखता है उसके मतमें भी 'चेतन और जड़' इस प्रकार यह जो चेतन—अचेतनका विभाग सुना जाता है वह भी चेतनका कहीं प्रकट होना और कहीं अप्रकट होनेसे चैतन्यकी संगति लगा सकता है, किन्तु प्रधानवादी परपक्षमें ही इस चेतन—अचेतन विभागकी संगति लगा नहीं सकता ।

**प्रश्न**—क्यों ?

**प्रत्युत्तर**—परम कारण ब्रह्मका ही यहां समस्त जगत्‌रूपसे स्थित होना सुनाया जाता है, जैसा—'ब्रह्म चेतन और अचेतन रूप हो गया' इत्यादि । उसपर जैसे चेतनका अचेतन होना विलक्षण रूप होनेसे नहीं हो सकता है, इसी प्रकार अचेतनका भी चेतन होना विलक्षण होनेसे नहीं हो सकता है, किन्तु विलक्षणत्वको खण्डन कर देनेसे जैसे श्रुतिमें कहा है वैसे ही चेतन कारणका ग्रहण होना चाहिये ॥ ६ ॥

## असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

**प्रश्न**—यदि चेतन, शुद्ध और शब्द आदि रहित ब्रह्म है और इस ब्रह्मसे विपरीत अचेतन, अशुद्ध, शब्द आदि युक्त कार्यका कारण होना तुम्हें इष्ट है तो उत्पत्तिसे पहले कार्यको असत्—अविद्यमान मानना पड़ेगा, ( अर्थात फिर तुम्हें अभावसे भाव मानना पड़ेगा ) यह तो तुम जैसे सत्कार्यवादीके लिये अनिष्ट होगा ? .

**प्रत्युत्तर**—यह दोष ठीक नहीं, क्योंकि यह केवल निषेधमात्र है, निषेधमात्र ही तो यह है, इस निषेधका अन्य निषेध्य—निषेध करने योग्य नहीं है, यह निषेध उत्पत्तिसे पूर्व कार्यकी सत्ताको निषेध कर नहीं सकता ।

**प्रश्न**—कैसे ?

**प्रत्युत्तर**—जैसे इस समय भी यह कार्य कारणरूपसे सत् है वैसे ही उत्पत्तिसे पूर्व भी सत् प्रतीत होता है, इस

1—निर्णयसागरकी छपी टीकासहित भाष्यमें 'वैलक्षण्यस्य' ऐसा पाठभेद है ।

मपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेव नास्ति। 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६) इत्यादिश्रवणात्। कारणात्मना तु सत्त्वं कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम्।

प्रश्नः—ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगतः कारणम्?

प्रत्युत्तरम्—बाढम्। न तु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वास्ति। तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यमिति। विस्तरेण चैतत्कार्यकारणानन्यत्ववादे वक्ष्यामः॥७॥

## अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्॥८॥

प्रश्नः—अत्राह—यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादिधर्मकं कार्यं ब्रह्मकारणमभ्युपगम्येत तदपीतौ प्रलये 'प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाशुद्ध्यादिरूपप्रसङ्गात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम्। अपि च समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद्भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम्। अपि च भोक्तॄणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं गतानां कर्मादिनिमि-

समय भी यह सारा जगत् बिना कारण आत्माके बिना स्वतन्त्ररूपसे नहीं है, क्योंकि 'जो सबको ब्रह्मात्मासे पृथक् जानता है उससे सब लाभ दूर हो जाते हैं (बृ० २।४।६), ऐसा सुना जाता है। कारणरूपसे तो कार्यकी सत्ता उत्पत्तिसे पहले थी।

प्रश्न—जगत्का कारण ब्रह्म तो शब्द आदिसे हीन है?

प्रत्युत्तर—हाँ ठीक है, परन्तु शब्द आदिसे युक्त यह कार्य कारणरूपसे हीन न तो उत्पत्तिके पूर्व था और न अब है, इसलिये उत्पत्तिके पूर्व कार्य असत्—अविद्यमान है यह नहीं कह सकते। इस बातको विस्ताररूपसे कार्य और कारणके अनन्यत्ववादमें कहेंगे॥७॥

## अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्॥८॥

प्रश्न—(उत्पत्तिके पूर्व कार्यको कारणरूपसे विद्यमान माननेपर) यह जो कहा जाता है कि—यदि स्थूल, सावयव, अचेतन, परिच्छिन्न तथा अशुद्ध आदि धर्मयुक्त कार्यका ब्रह्म कारण मानो तो अपीति अर्थात् प्रलयमें विभागको न प्राप्त होनेवाला कार्य कारणमें अविभक्त होनेपर कारण ब्रह्मको अपने स्थूलत्व आदि धर्मसे दूषित करेगा, इससे कार्य जगत्के समान कारण ब्रह्म भी अशुद्धि आदि रूपयुक्त हो जावेगा, इस कारण सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है यह उपनिषत् फिलासफी संकटमें पड़ जायेगी। और दूसरी बात यह है कि यदि समस्त विभाग अविभक्त होकर फिर उत्पन्न होता है ऐसा मानें तो फिर उत्पत्तिमें नियम कारण न होनेसे भोक्ता और भोग्य आदि विभागसे उत्पत्ति होना प्राप्त नहीं होता है, इसलिये भी यह उपनिषद् दर्शन ठीक नहीं, तथा और भी दूसरी बात यह है कि परब्रह्मके साथ अविभक्त—अभिन्न होनेवाले भोक्ताओंका कर्म आदि निमित्तसे प्रलय होनेपर भी फिर उत्पत्ति माने जानेपर मुक्तात्माओंकी भी पुनरुत्पत्तिका प्रसंग होगा, इसलिये भी यह ब्रह्मको जगत्का कारण बतानेवाला औपनिषद् दर्शन

---

१—'प्रतिसंसृज्यमान' पदकी व्याख्या—(कारणके साथ विभागको प्राप्त न होनेवाला कार्य, इसलिये कहते हैं)—कारणेति। जैसे दूधमें मिला हुआ जल दूधको दूषित करता है, अथवा जैसे जलमें घुला हुआ नमक जलको दूषित करेगा वैसे कार्य जगत् भी कारण ब्रह्ममें मिलाये जानेपर अपने (अशुद्धि आदि) धर्मसे कारण ब्रह्मको दूषित करेगा यह कहते हैं—कारणमिति—आनन्दगिरीय न्यायनिर्णय।

सम्प्रलयेऽपि पुनरुत्पत्त्यभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न संभवति, 'कारणव्यतिरिक्तं च कार्यं न संभवतीत्यसमञ्जसमेवेति ? ॥ ८ ॥

प्रत्युत्तरम्—अत्रोच्यते—

**न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥**

नैवास्मदीये दर्शने किंचिदसामञ्जस्यमस्ति । यत्तावदभिहितं कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदिति, तददूषणम् ।

प्रश्नः—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—दृष्टान्तभावात् । सन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयन्ति । तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावचमध्यमप्रभेदाः सन्तः पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति । रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति । पृथिवीविकारश्चतुर्विधो भूतग्रामो न पृथिवीमपीतावात्मीयेन धर्मेण संसृजति । त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद्दृष्टान्तोऽस्ति । अपीतिरेव हि न संभवेद्यदि कारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत । अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं नतु कारणस्य कार्या-

ठीक नहीं । यदि यह जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मके साथ विभक्त—पृथक् रूपसे ही रहता है तो प्रलय ही न होगा, कारणसे व्यतिरिक्त—भिन्न कार्य नहीं होता है यह कहना असंगत ही है ?

प्रत्युत्तर—यहां कहते हैं—

**न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥**

हमारे दर्शन सिद्धान्तमें कोई असङ्गति नहीं होती है, जो यह कहा था कि कारणमें लय होनेवाला कार्य अपने अशुद्धि आदि धर्मसे कारणको दूषित करेगा सो वह दोष ठीक नहीं ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—क्योंकि इसमें दृष्टान्त मिलता है । ये दृष्टान्त हैं कि कारणमें लय होनेवाला कार्य अपने अशुद्धि आदि धर्मसे कारणको दूषित नहीं करता, जैसे—मिट्टीसे बने सकोरे आदि विकार विभाग होनेकी अवस्थामें ( स्थितिकालमें ) बड़े, छोटे और मध्यम रूपसे भिन्न होकर फिर कारणमें लय होनेपर उस प्रकृतिरूप उपादान कारणको अपने ( छोटे बड़े आदि ) धर्मसे नहीं बनाते हैं । कुण्डल आदि सुवर्णके विकार सुवर्णमें लय होनेपर अपने ( कुण्डल आदि नामरूपके ) धर्मसे सुवर्णको दूषित नहीं करते हैं । चार प्रकारके भूतसमुदाय पृथिवीके विकार कारणमें लय होनेपर पृथिवीको अपने धर्मसे दूषित नहीं करता है, तुम्हारे पक्षका तो कोई दृष्टान्त नहीं है, लय ही न होता यदि कारणमें कार्य अपने धर्मसे ही स्थिर रहे, कार्य और कारणमें अभेद होनेपर भी कार्य जो है वह

१—निर्णयसागरमें छपी हुई मूल पुस्तकमें और टीकासहित पुस्तकमें "कारणाव्यतिरिक्तं" इस प्रकार 'अव्यतिरिक्त' पाठ है, जिसका अर्थ 'अभिन्न' है, इस पाठमें ऐसा अन्वय लगा लेना चाहिये—'कारणसे कार्य अव्यतिरिक्त—अभिन्न होता है यह सिद्धान्त ( प्रलयमें कार्यको कारणमें पृथक् माननेपर ) संभव न होगा ।' किन्तु थीबोने अपने अंग्रेजी अनुवादमें 'व्यतिरिक्तं' ऐसा पाठ मान कर अर्थ किया है । श्रीवेङ्कटेश्वरमें छपी टीकासहित पुस्तकमें भी 'अव्यतिरिक्त' पाठ है—अनुवादक ।

त्वमर्थं 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इति वक्ष्यामः ( ब्र० सू० २।१।१४ ) । अत्यल्पं चेदमुच्यते कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण कारणं संसृजेदिति । स्थितावपि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युपगमात् । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' ( बृ० २।४।६ ), 'आत्मैवेदं सर्वम्' ( छा० ७।२५।२ ), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' ( मु० २।२।११ ), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ( छा० ३।१४।१ ) इत्येवमाद्याभिर्हि श्रुतिभिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणानन्यत्वं श्राव्यते । तत्र यः परिहारः कार्यस्य तद्धर्माणां चाविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यत इति, अपीतावपि स समानः । अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति । यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न संस्पृश्यत इति । प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात् । एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते । मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति । अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिराचार्यैः—'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते । अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा' ( गौडपा० कारि० १।१६ ) इति । तत्र यदुक्तमपीतौ कारणस्यापि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग इत्येतदयुक्तम् । यत्पुनरेतदुक्तं समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नोपपद्यत

---

कारणरूप होता है, न कि कारण जो है वह कार्यरूप, यह हम "आरम्भणशब्दादिभ्यः ( ब्र० सू० २ । १ । १४ )" यहांपर कहेंगे । आप तो बहुत कम दोष देते हैं कि प्रलयमें कार्य अपने धर्मसे कारणको दूषित करता है, सृष्टिकी स्थितिमें भी समान ही यह प्रसंग है, क्योंकि कार्य और कारणमें ( तीनों कालोंमें ) अभेद माना जाता है, जैसेः—

'यह सब कुछ आत्मा है' ( बृ० २ । ४ । ६ ), 'यह सब आत्मा ही है' ( छा० ७ । २५ । २ ), 'पहले अविनाशी ब्रह्म ही था' ( मु० २ । २ । ११ ), 'यह सब ब्रह्म है' ( छा० ३ । १४ १ ) ।

इत्यादि श्रुतियां अविशेषरूपसे तीनों ही कालोंमें भी कार्यका कारणसे अभेद सुनाती हैं, सृष्टिकी स्थिति अवस्थामें जो परिहार है कि कार्यरूप विकार और कार्यके अशुद्धि आदि धर्म अविद्यानिमित्त होनेसे उन धर्मोंसे कारण दूषित नहीं होता है, सो यह तो प्रलयमें भी समान ही है । और यह दूसरा दृष्टान्त है—जैसे अपनी ही फैलाई हुई मायासे मायावी छली तीनों ही कालोंमें छुवा नहीं जाता है, अर्थात् पृथक् ही रहता है, क्योंकि माया कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, इसी प्रकार परमात्मा भी सांसारिक मायासे नहीं छुवा जाता है । जैसे स्वप्नदर्शी कोई लौकिक पुरुष स्वप्न देखनारूप मायासे छुवा नहीं जाता अर्थात अलग ही रहता है, क्योंकि वह स्वप्नमाया जागरित और सुषुप्तिमें होती नहीं, वैसे ही तीनों अवस्थाओंका साक्षी एक कूटस्थ नित्य परमात्मा अनित्य नाशवान् तीनों अवस्थाओंसे संश्लिष्ट नहीं होता है, परमात्माका जो यह तीनों अवस्थारूपसे भासमान होना है वह तो मायामात्र ही है, जैसे डोरीका सर्प आदि रूपसे भासमान होता है ।

अब यहां वेदान्तार्थके सम्प्रदायको जाननेवाले आचार्योंने कहा है कि—'अनादि मायासे सोया हुआ जीव जब जाग जाता है तब वह अजन्मा अनिद्र—अज्ञानरहित, अस्वप्न—भ्रमरहित अद्वैत ब्रह्मको जान लेता है' ( गौडपा० कारिका १ । १६ ) । इसलिये जो यह कहा था कि प्रलयमें कार्यके समान कारण भी स्थूलता आदि दोषयुक्त हो जावेगा सो अयुक्त ही है ।

और फिर जो यह कहा था कि प्रलयमें अविभक्त होनेवाले समस्त विभागकी फिर विभागसे

इति । अयमन्यदोषः । दृष्टान्तभावादेव । यथाहि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभागप्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्यानपोदितत्वात्पूर्ववत्पुनः प्रबोधे विभागो भवत्येवमिहापि भविष्यति । श्रुतिश्चात्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' (छा० ६।९।२,३) इति । यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धो विभागव्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते । एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः । सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्यापोदितत्वात् । यः पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितोऽथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेतेति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिषिद्धः । तस्मात्समञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम् ॥ ९ ॥

**स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥**

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः ।

प्रश्नः—कथमिति ?

प्रत्युत्तरम्—उच्यते । यत्तावदभिहितं विलक्षणत्वान्नेदं जगद्ब्रह्मप्रकृतिकमिति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दादिहीनात्प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्यभ्युपगमात् । अत एव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवाद-

उत्पत्ति होनेपर कोई नियम कारण होता नहीं, सो यह भी दोष नहीं आता, क्योंकि इसमें भी दृष्टान्त मिलते हैं—जैसे सुषुप्ति और समाधि आदिमें भी स्वभावतः ही अविभक्त रहनेपर मिथ्याज्ञानके खण्डन न किये जानेपर फिर पहलेके समान जाग्रत् अवस्थामें नियमरूपसे विभाग हो जाता है, ऐसा ही यहांपर भी 'नियम रूपसे विभाग' हो जावेगा। इस विषयमें श्रुति भी है—"ये सब प्रजायें सत् ईश्वरको प्राप्त होकर नहीं जानतीं कि हम सत् ईश्वरमें मिली हुई हैं, इस लोकमें वे बाघ वा सिंह, भेडिये, सूअर, कीड़े, पतंगे, दंशक वा मच्छर जो२ हैं तब वे२ ही सब विद्यमान रहते हैं' ( छा० ६ । ९ ।२-३ ), जैसे विभाग न होनेपर भी परमात्मामें मिथ्याज्ञानसे प्रतिबद्ध विभागव्यवहार स्वप्नसमान बेरोकटोक स्थिर देखा जाता है, इसी प्रकार प्रलयावस्थामें भी मिथ्याज्ञानप्रतिबद्ध ही विभागशक्तिका अनुमान किया जावेगा, इससे मुक्तोंकी पुनरुत्पत्तिका प्रसंग खण्डित हो गया, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानका खण्डन कर दिया गया है । और फिर जो यह अन्तमें दूसरा विकल्प उठाया था कि यह जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मसे विभक्त होकर ही रहेगा । सो यह स्वीकार न किये जानेसे निषिद्ध है, इस कारण यह औपनिषद दर्शन न्याययुक्त ही है ॥ ९ ॥

**स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥**

अपने पक्षमें इन प्रतिवादी प्रतिपक्षियोंके ये साधारण दोष उत्पन्न होते हैं ।

प्रश्न—कैसे ?

प्रत्युत्तर—कहते हैं, जो यह कहा था कि विलक्षण होनेसे यह जगत ब्रह्मप्रकृतिक नहीं है, इस जगत्को प्रधानप्रकृतिक माननेपर भी समान ही है ( अर्थात् विलक्षण होना यह वैसा ही समानरूपसे बना रहता है ) क्योंकि शब्दादिहीन प्रधानसे शब्दादियुक्त जगत्की उत्पत्ति स्वीकार किया जाता है, इसी कारण विलक्षण कार्यकी उत्पत्तिको स्वीकार करनेसे उत्पत्तिसे पहले असत्कार्यवादका प्रसङ्ग हो

प्रसङ्गः। तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणाविभागाभ्युपगमात्तद्वत्प्रसङ्गोऽपि समानः। तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्प्रलयात्प्रतिपुरुषं ये नियता भेदा न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते कारणाभावात्। विनैव कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभावसाम्यान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्गः। अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमापद्यन्ते केचिन्नेति चेत्। ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारणत्वान्नान्यतरस्मिन्पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषतामेवैषां द्रढयति। अवश्याश्रयितव्यत्वात्॥ १०॥

## तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः॥ ११॥

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्। यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति। उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्। तथाहि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत। एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव। प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्पर-

जावेगा ( अर्थात् जो विलक्षणत्व उत्पत्तिसे पूर्व न था, फिर विलक्षणत्व उत्पन्न हो गया तो अभावसे भाव होना यह असत्कार्यवाद दोष आ जायगा ), तथा प्रलयमें कार्यको कारणसे अविभक्त—अभिन्न माननेसे ( जो आठवें सूत्रमें दोष दिया था ) उस प्रकार प्रसङ्ग होना भी समान ही है, तथा सर्व विशेषताओंसे रहित, प्रलयमें कारणसे अभिन्नताको प्राप्त होनेवाले विकारोंमें यह इस पुरुषका उपादान कारण है और यह इस पुरुषका है इस प्रकार प्रलयसे पूर्व प्रत्येक पुरुषके जो भेद नियत थे वे उसी प्रकार फिर उत्पत्तिमें नियम नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें कोई कारण विद्यमान नहीं है, और बिना ही कारणसे नियम माननेपर तो कारणका न होना रूप समतासे मुक्तात्माओंका भी फिर बन्ध होना दोष आवेगा। यदि कोई भेद प्रलयमें अभिन्न रहेंगे और कोई नहीं ऐसा माना जाय तो जो अभिन्न नहीं रहते ( अर्थात् जो भिन्न हैं ) वे प्रधानके कार्य न होंगे, इस कारण ये दोष उभयपक्षमें साधारण होनेसे किसी पक्षमें इन दोषोंको लगा नहीं सकते, इसलिये ये दोष दोष नहीं हैं यही दृढ़ निश्चय कराता है, क्योंकि ( उपर्युक्त वेदान्तविषयोंका ) आश्रयण अवश्य करने योग्य है।

## तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः॥ ११॥

यहांसे आगे भी वेदप्रमाणसे जानने योग्य विषयमें केवल शुष्क तर्कसे खण्डन करना उचित नहीं है, कारण कि वेद प्रमाणरहित तथा पुरुषोंके विचार मात्रको अवलम्बन करनेवाले तर्क अप्रतिष्ठित—सत्कारके अयोग्य होते हैं, क्योंकि पुरुषोंका विचार निरंकुश होता है अर्थात् अनिश्चित होता है। जैसे—किसी प्रतिवादीके यत्नपूर्वक विचारसे निश्चित किये हुवे तर्कोंको और दूसरे विद्वान्वादी खण्डन करते हुवे देखे जाते हैं, और उन विद्वान् वादियोंके भी निश्चित किये हुवे तर्कोंको फिर उनसे भी अधिक विद्वान् प्रतिवादी खण्डन कर देते हैं, इसलिये तर्कोंकी प्रतिष्ठा न रहनेसे इनको आश्रयण नहीं कर सकते, क्योंकि पुरुषोंकी बुद्धि भिन्न २ अनिश्चित होती है। यदि किसी प्रसिद्ध महिमावाले कपिलके अथवा अन्य किसीके संमत—माने हुवे तर्क प्रतिष्ठित होते हैं यह आश्रयण करते हो तो भी वह तर्क अप्रतिष्ठित ही रहता है, क्योंकि तीर्थंकर कपिल और कणाद आदि प्रसिद्ध महिमावालोंके माने हुवे

विप्रतिपत्तिदर्शनात् ।

प्रश्नः—अथोच्येतान्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति । नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम् । एतदपि हि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते । केषांचित्तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शनेनान्येषामपि तज्जातीयकानां तर्काणामप्रतिष्ठितत्वकल्पनात् । सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको दृश्यते । श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेण क्रियते । मनुरपि चैवं मन्यते—'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥' इति । 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥' ( १२।१०५,१०६ ) इति च ब्रुवन् । अयमेव तर्कस्यालंकारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम । एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति । नहि पूर्वजो मूढ आसीदित्यात्मनापि मूढेन भवितव्यमिति किंचिदस्ति प्रमाणम् । तस्मान्न तर्काप्रतिष्ठानं दोष इति चेत् ?

प्रत्युत्तरम्—एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः । यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलभ्यते तथापि प्रकृते तावद्विषये प्रसज्यत एवाप्रतिष्ठितत्वदोषादनिर्मोक्षस्तर्कस्य । नहीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम । अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः । तच्च सम्यग्ज्ञानमे-

तर्कोंमें भी परस्पर विप्रतिपत्ति—विरोध देखे गये हैं ।

प्रश्न—यदि कहा जाय कि हम अन्य ही प्रकारसे अनुमान करेंगे जिससे तर्क अप्रतिष्ठित रूप दोषयुक्त न होगा. कोई प्रतिष्ठित तर्क ही नहीं है ऐसे नहीं कह सकते । यह तर्कोंका अप्रतिष्ठित होना भी तर्कसे ही प्रतिष्ठित किया जाता है क्योंकि जो तर्क अप्रतिष्ठित देखे जाते हैं उसी तरहके और तर्क ही अप्रतिष्ठित होते हैं ( न कि सभी तर्क ), सब तर्कोंकी अप्रतिष्ठा होनेसे लौकिक व्यवहार ही नष्ट हो जायगा । भूत और वर्त्तमान मार्गकी समतासे ( इन कालोंमें सुख दु.खोंका अनुभव होनेसे ) भविष्यत् मार्गमें भी सुख दुःखसे पृथक् होनेके लिये लगी हुई दुनिया देखी जाती है, श्रुतियोंके अर्थोंके परस्पर विरोध होनेपर अर्थाभासोंको खण्डन करनेसे सत्य अर्थका निर्णय तर्क ही से वाक्यवृत्तियोंको निरूपण करने रूपसे किया जाता है । मनु भी यह मानते हैं कि—

'प्रत्यक्ष, अनुमान और त्रिविध श्रुतियों से युक्त शास्त्र इन तीनोंको धर्मशुद्धि चाहनेवाले धर्मात्मा लोग अच्छी प्रकारसे जानें । वेद शास्त्रोंके अनुकूल तर्कसे ऋषियोंकी बातोंको और धर्मोपदेशको जो अनुसन्धान करता है वही धर्मको जानता है और नहीं' ( मनु० १२ । १०५–१०६ ) इस प्रकार कहते हुवे । तर्कका भूषण यही है कि वह अप्रतिष्ठित रहता है, इस प्रकार गर्हित तर्कको त्याग कर अनिन्दित तर्कको ग्रहण करना चाहिये । पूर्वज लोग मूर्ख थे इसलिये स्वयं भी मूर्ख ही रहना चाहिये यह कोई प्रामाणिक विषय नहीं है, इस कारण तर्क अप्रतिष्ठित होते हैं यह दोष ठीक नहीं यदि ऐसा माना जाय ?

प्रत्युत्तर—इस प्रकार माननेपर भी मोक्षाभाव दोष आवेगा । यद्यपि किसी विषयमें तर्कका प्रतिष्ठित होना पाया जाता है, तथापि प्रकरणासक्त विषयमें तो अप्रतिष्ठितत्व दोषसे तर्क उन्मुक्त नहीं हो सकता । इस अत्यन्त गंभीर, सत्‌रूप तात्त्विक, मोक्षका आश्रयस्थान परमेश्वरको वेदके विना चिन्तन भी नहीं कर सकते, क्योंकि रूप आदि न होनेसे यह परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं होता है, और लिङ्ग आदि न होनेसे अनुमान आदियोंका भी प्रयोग नहीं होता यह हमने कहा था । और दूसरी बात यह है कि

करूपं वस्तुतत्त्वात् । एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः । लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते यथाग्निरुष्ण इति । तत्रैवं सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना । तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधात्प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः । यद्धि केनचित्तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादितं तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति प्रसिद्धं लोके । कथमेकरूपानवस्थितविषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत् । न च प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतो येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि । न च शक्यन्तेऽतीतानागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन्देशे काले च समाहर्तुं येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात् । वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेस्तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम् । अतः सिद्धमस्यैवौपनिषदस्य ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम् । अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः संसाराविमोक्ष एव प्रसज्येत । अत आगमवशेनागमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥ ११ ॥

## ४ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् । सू० १२

**एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥**

वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद्गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद्वेदानुसारिभिश्च कैश्चिच्छिष्टैः

तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है यह सब मोक्षवादियोंका सिद्धान्त है। उस तात्त्विक ज्ञानमें एकरूपता है, क्योंकि वह तत्त्वज्ञान वस्त्वधीन होता है, एकरूपसे जो विषय अवस्थित रहता है वही परमार्थ—असल तत्त्व है, लोकमें एकरूपसे स्थित हुए ज्ञानको असल ज्ञान कहते हैं जैसे—अग्नि गरम है। ऐसी अवस्थामें तात्त्विक ज्ञानमें पुरुषोंका परस्पर विरोध अनुचित है, तर्कज्ञानोंका तो परस्परविरोध होनेसे विरुद्ध ज्ञान होना प्रसिद्ध ही है। जिस विषयको किसी तार्किकने यही तत्त्वज्ञान है ऐसा स्थिर निश्चय किया हो उसे दूसरे प्रतिपक्षी खण्डन कर देते हैं, उससे भी स्थापित किये हुए पक्षको फिर अन्य खण्डन कर देते हैं यह लोकमें प्रसिद्ध है। तर्कसे उत्पन्न एक रूपसे स्थिर न होनेवाला विषय कैसे सम्यग् ज्ञान हो सकता है? तर्कको जाननेवालोंमें प्रधानवादी उत्तम है इस तरह सभी तार्किकोंने नहीं स्वीकार किया है, जिससे उसका मत ठीक है ऐसा हम मानें। भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके तार्किकोंको एक देश और कालमें ला नहीं सकते, जिससे उनकी बुद्धि एकरूप है, एकार्थविषयवाली है, इसीलिये यथार्थ बुद्धि है ऐसा सिद्ध हो। वेदके नित्य होनेसे और विज्ञानोत्पत्तिमें कारण होनेसे तो सब विषयोंकी व्यवस्था बन जाती है, वेदजनित ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है इसे भूत, भविष्यत् और वर्तमानके सभी तार्किक छिपा नहीं सकते, इसलिये यह सिद्ध है कि यही औपनिषद ज्ञान सम्यग् ज्ञान है इससे विपरीत ज्ञान सम्यग् ज्ञान नहीं हो सकता, इसीलिये संसारसे उन्मुक्त हो नहीं सकते, इस कारण श्रुतिवशसे और श्रुत्यनुकूल तर्कवशसे चेतन ब्रह्म जगत्का निमित्त और उपादान कारण है यह निश्चय हो गया ॥ ११ ॥ यह तीसरा विलक्षणत्वाधिकरण समाप्त हुआ।

## ४ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् । सू० १२

**एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥**

वैदिक शास्त्रके समीपस्थ होनेसे, दृढतर तर्कबलसे युक्त होनेसे और वेदोंके अनुकूल चलनेवाले

केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात्प्रधानकारणवादं तावदुपाश्रित्य यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो वेदान्तवाक्येषूद्भावितः स परिहृतः। इदानीमण्वादिवादव्यपाश्रयेणापि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्यत इत्यतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति। परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः न परिग्रहा अपरिग्रहाः शिष्टानाम परिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः। एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः। तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य, नात्र पुनराशङ्कितव्यं किंचिदस्ति। तुल्यमत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वमन्यथानुमानेऽप्यविमोक्ष आगमविरोधश्चेत्येवंजातीयकं निराकरणकारणम् ॥ १२ ॥

## ५ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् । सू० १३

## भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कबलेनैवाक्षिप्यते। यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति। यथा मन्त्रार्थवादौ।

किसी शिष्ट पुरुषके द्वारा किसी अंशमें स्वीकार किए जानेके कारण प्रधानकारणवादको आश्रयण कर जो तर्कनिमित्तक आक्षेप वेदान्तवाक्योंपर प्रकाशित किया था उसका परिहार हो चुका। अब अणु आदि वादका भी आश्रयण करके कुछ मन्दमति लोग वेदान्तवाक्योंमें फिर तर्कनिमित्त आक्षेप करनेकी आशंका करते हैं इसलिए मुख्य पहलवानको पछाड़ देने रूप न्यायसे सूत्रकार ( पूर्वोक्त हेतुओंसे ) अतिदेश करते हैं। जो माने जाते हैं वे परिग्रह और जो मानने योग्य नहीं वे 'अपरिग्रह' कहलाते हैं, जो शिष्ट पुरुषोंसे मानने योग्य नहीं वे 'शिष्टापरिग्रह' होते हैं। इस प्रकृत प्रधानकारणवादको खण्डन करनेके कारण शिष्ट मनु व्यास आदियोंने किसी अंशमें न माने हुए जो अणु आदि कारणवाद हैं वे भी निषिद्धरूपसे व्याख्यान कर दिये अर्थात उनका भी खण्डन हो गया समझना चाहिये, क्योंकि खण्डन करनेके कारण समान है, फिर यहां आशंका करने योग्य कोई शेष बचा नहीं है, यहां भी अति गंभीर जगतके कारण ब्रह्मका तर्कसे जानने योग्य न होना, तर्कका अप्रतिष्ठित होना, अन्य प्रकारसे अनुमान करनेपर भी मोक्षाभाव होना और श्रुतिविरोध होना इत्यादि खण्डनके कारण समान ही हैं ॥ १२ ॥ यह चौथा शिष्टापरिग्रहाधिकरण समाप्त हो गया।

## ५ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् । सू० १३

## भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

फिर ब्रह्मकारणवादको अन्य प्रकारके तर्कबलसे ही आक्षेप करते हैं—यद्यपि श्रुति अपने विषयमें प्रामाण्य मानी जाती है, तथापि प्रमाणान्तर तर्कबलसे श्रुतिके विषयको हटानेपर वह श्रुति अन्यार्थपरक गौण हो सकती है, जैसे मन्त्र और अर्थवाद ( स्तुति—निन्दा आदि अन्यार्थपरक होते हैं ) वैसे ही तर्क भी अपने विषयमें अन्यत्र अप्रतिष्ठित हो तो होने दो, जैसे धर्म और अधर्म विषयमें ( तर्क

---

१—जैसे बहुतसे पहलवानोंमें सबसे बड़े नामी मुख्य पहलवानको पछाड़ देनेसे अन्य अवशिष्ट छोटे मोटे पहलवान भी पछाड़े हुवे जैसे समझे जाते हैं, इसको 'प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय' कहते हैं। यहां प्रधानवाद ही प्रधान मल्लरूप है, सब वादोंमें प्रधानवाद ही बड़ा है, इसको खण्डन कर देनेसे अन्य वादोंका भी खण्डन आ जाता है—अनुवादक।

तर्कोऽपि स्वविषयादन्यत्राप्रतिष्ठितः स्यात् यथा धर्माधर्मयोः । किमतो यद्येवम् । अत इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थबाधनं श्रुतेः ।

प्रश्नः—कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः श्रुत्या बाध्यत इति ?

उत्तरम्—अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके भोक्ता चेतनः शारीरो भोग्याः शब्दादयो विषया इति । यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति तस्य च विभागस्याभावः प्रसज्येत यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत । भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत । तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वात्प्रसज्येत । नचास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम् । यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः । तस्मात्प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणम् ।

प्रत्युत्तरम्—इति चेत्कश्चिच्चोदयेत्तं प्रति ब्रूयात् स्याल्लोकवदिति । उपपद्यत एवायमस्मत्पक्षेऽपि विभागः एव लोके दृष्टत्वात् । तथाहि—समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते । नच समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति । नच तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति । एवमिहापि नच भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः, नच परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति । यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' ( तै० २।६ ) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि

अप्रतिष्ठित होते हैं ), तो इतने मात्रसे क्या होता है ? इसलिये श्रुतिद्वारा प्रमाणान्तरसे प्रसिद्धार्थका बाध करना अयुक्त है ।

प्रश्न—कैसे फिर प्रमाणान्तरसे प्रसिद्ध अर्थ श्रुतिसे बाधित किया जाता है ?

उत्तर—यहां कहा जाता है—भोक्ता और भोग्यका विभाग लोकमें प्रसिद्ध है, भोक्ता चेतन जीवात्मा है, शब्दादि विषय भोग्य हैं, जैसे भोक्ता देवदत्त है और भोग्य भात है, उस विभागका अभाव होगा यदि भोक्ता भोग्य हो जाय, और भोग्य भोक्ता, इन दोनों भोक्ता और भोग्यका अन्य२ भावको प्राप्त होना यह दोष परम कारण ब्रह्मसे अनन्यत्व—अभेद होनेसे आ जावेगा, इस प्रसिद्ध विभागको बाध करना उचित नहीं, जैसे आजकल भोक्ता और भोग्योंका विभाग देखा जाता है उस विभागको भूत और भविष्यत् कालमें भी कल्पना कर लेनी चाहिये, इस कारण इस प्रसिद्ध भोक्ता और भोग्यविभागका अभाव प्रसंग होनेसे यह ब्रह्मकारणवादको निश्चय करना अयुक्त है ।

( यह पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है अब सिद्धान्तीका समाधान )

प्रत्युत्तर—इस प्रकार कोई कहे तो उससे कहना चाहिये कि—यह भी लोकके समान हो जावेगा । हमारे वेदान्त पक्षमें भी यह विभाग बनता है, क्योंकि इस प्रकार लोकमें देखा गया है, जैसे—जलरूप समुद्रमें उसके विकार भिन्न न होनेपर भी फेन, लहरोंकी परम्परा जलके बबूलोंका पृथक्२ विभाग होना और परस्पर मिले रहना आदि लक्षणरूप व्यवहार पाये जाते हैं, जलरूप समुद्रमें उसके विकार अभिन्न होनेपर भी फेन और तरङ्ग आदि समुद्र नहीं हो सकते, उन विकारोंका समुद्रभाव न होनेपर भी वे विकार समुद्रसे अन्य न होंगे, ऐसा ही यहांपर भी भोक्ता और भोग्यका इतरेतरभाव ( अर्थात् भोक्ताका भोग्य हो जाना और भोग्यका भोक्ता ) होनेकी आपत्ति नहीं हो

कार्यमनुप्रविष्टस्यास्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम् ॥ १३ ॥

## ६ आरम्भणाधिकरणम् सू० १४-२०

**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥**

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति परिहारोऽभिहितः । नत्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते । कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात्कारणात्परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—आरम्भणशब्दादिभ्यः । आरम्भणशब्दस्तावत् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' ( छा० ६।१।४ ) इति । एतदुक्तं भवति—एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत् । यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं

सकती है, और जो परब्रह्मसे अन्य भोक्ता भी नहीं होता। जीवरूप भोक्ता ब्रह्मका विकार नहीं है क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' ( तै० २।६ ) इस वचनसे अविकृत निर्विकार ब्रह्मका ही कार्यमें अनुप्रवेश करके भोक्तृरूप हो जाना सुना जाता है। तथापि कार्यमें अनुप्रविष्ट हुए ब्रह्मका विभाग होना उपाधिनिमित्त है, जैसे आकाशका विभाग घट आदि उपाधिनिमित्त होता है, इसलिये परमकारण ब्रह्मसे अभिन्न होनेपर भी भोक्ता और भोग्य लक्षणरूप विभाग समुद्र-तरङ्ग आदि न्यायसे हो सकता है यह कह दिया ॥१३॥ यह पाँचवाँ भोक्त्रापत्त्यधिकरण समाप्त हो गया।

## ६ आरम्भणाधिकरण । सू० १४-२०

**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥**

इस व्यावहारिक भोक्तृ-भोग्यलक्षणरूप विभागको स्वीकार कर यह विभाग लोकवत् हो सकता है इसका परिहार कह दिया है। किन्तु यह विभाग परमार्थरूपसे—तात्त्विकरूपसे नहीं है, क्योंकि उन दोनों कार्यकारणोंका अनन्यत्व ( अभिन्नत्व—एकत्व ) होना जाना जाता है. आकाश आदि कार्य है जो बहुत प्रपञ्चरूप जगत् है, कारण परब्रह्म है, इसलिये कारणमें कार्य **परमार्थतः तत्त्वतः** अनन्य है अर्थात् भिन्न रूपसे नहीं है ऐसा निश्चय होता है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—आरम्भण आदि शब्दोंसे। आरम्भण शब्द तो एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा कर दृष्टान्तकी अपेक्षा (आकाङ्क्षा—आवश्यकता) होनेपर कहा जाता है—'हे सोम्य ! जैसे एक मिट्टीके ढेलेको जान लेनेपर अन्य सब वस्तु मिट्टीका बनी हुई मालूम हो जाती है, केवल वाणीसे कहा जाता है कि यह विकार है यह नाम है, किन्तु अन्ततः मिट्टी ही सत्य है' ( छा० । १ । १ ) इत्यादि। भाव यह है कि एक मिट्टीके ढेलेको परमार्थतः मिट्टीरूपसे जान लेनेपर शेष सब घड़े, सकोरे, डोल, आदि वस्तु भी मिट्टीरूप ही जानी जाती हैं, क्योंकि ये सब वस्तु मिट्टीरूपसे कोई विशेष नहीं हैं,

वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते । विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति नतु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति । नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः । तत्र श्रुताद्वाचारम्भणशब्दाद्दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति गम्यते । पुनश्च तेजोबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोबन्नकार्याणां तेजोबन्नव्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति—'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' ( छा० ६।४।१ ) इत्यादिना । आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' ( छा० ६ । ८ । ७ ), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' ( बृ० २ । ४ । ६ ), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' ( मु० २ । २ । ११ ), 'आत्मैवेदं सर्वम्' ( छा० ७ । २५ । २ ), 'नेह नानास्ति किंचन' ( बृ० ४ । ४ । १९ ) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम् । नचान्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं संपद्यते । तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथाच मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम् ।

प्रश्नः—नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म । अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति नानात्वम् । यथाच समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम् । यथा च मृदात्मनैकत्वं घटशरावाद्या-

कारण कि केवल वाणीसे ही यह विकार है यह नाम है ऐसा आरम्भ किया जाता है ।' यह विकार घट है, सकोरे हैं, यह डोल है, किन्तु वस्तुरूपसे विकार कोई नहीं है, यह नाममात्र तो मिथ्यारूप है, मिट्टी ही सत्य है यह ब्रह्मका दृष्टान्त श्रुतिमें पढ़ा गया है, इस सुने हुवे **'वचारम्भण'** शब्दसे दार्ष्टान्तमें भी ब्रह्मसे भिन्न यह कार्यसमुदाय अभाव है ऐसा निश्चय होता है । फिर भी तेज, जल और अन्नोंको ब्रह्मका कार्य कह कर तेज, जल, और अन्नरूप कार्यको अग्नि, जल और अन्नरूप कारणसे अतिरिक्त अभाव कहा है, जैसे—

अग्निका अग्निपन चला गया, वाणीसे आरम्भ किया जाता है यह विकार है यह नाम है, तीन रूप ही सत्य हैं' (छा० ६।४।१) इत्यादिसे । सूत्रस्थ **'आरम्भणशब्दादिभ्यः'**में आदि शब्दसे 'ये सब इस आत्मासे बने हुवे हैं वह सत्य है, वह आत्मा तू है' ( छा० ६।८।७ ), 'ये सब जो है यह आत्मा है' (बृ०२।४।६),'यह सब ब्रह्म ही है' (मु०२।२।११), 'यह सब आत्मा ही है' (छा०७।२५।२), 'यहां कुछ अनेकता नहीं है' (बृ०४।४।१९), इत्यादि आत्माको एकत्व प्रतिपादन करनेवाले वचनसमूहको उदाहरण रूपसे दिखाना चाहिये, यदि इस प्रकार न मानें तो एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान नहीं हो सकता, इस कारण जैसे घड़ेके आकाश और कमण्डलु आदिके आकाश महाकाश ( Universal etherical space ) से अन्य नहीं और जैसे मृगतृष्णा (mirage) के जल आदि ऊपर अर्थात् मरुस्थलीय मरीचिका (salty stappe) से अन्य नहीं होते, क्योंकि इनके स्वरूप प्रथम देखे गये हैं, फिर नष्ट होजाते हैं, इसलिये ये सब स्वरूपतः 'ये पदार्थ ये है' ऐसे वस्तुवृत्त्या नहीं कहे जाते हैं, इसप्रकार भोग्य-भोक्ता आदि प्रपञ्चसमुदाय ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं हैं, यह देख लेना चाहिये ।

प्रश्न—ब्रह्म तो अनेकात्मक है, जैसे वृक्ष अनेक शाखाओंसे युक्त होता है, वैसे ही ब्रह्म अनेक शक्तियोंकी प्रवृत्तिसे युक्त है, इसलिये एकत्व और अनेकत्व-दोनों ही सत्य ही हैं, जैसे वृक्ष यह एक है, किन्तु शाखा अनेक हैं, और जैसे जलसमुदायात्मक समुद्र समुद्ररूपसे एक है, किन्तु फेन तरङ्ग रूपसे अनेक

त्मना नानात्वम् । तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति । नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति । एवंच मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति ?

उत्तरम्—नैवं स्यात् । 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात् । वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात् । दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात् 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात् । स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम् । अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम् । बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत । दर्शयति च—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' ( बृ० ४ । ५ । १५ ) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम् । न चायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात् । तस्करदृष्टान्तेन चानृताभिसंधस्य बन्धनम् सत्याभिसंधस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति ( छा० ६ । १६ ) । मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम् । उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसंध इत्युच्येत । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति

है, और जैसे मिट्टीरूपसे एक है, किन्तु घड़े और सकोरे आदि रूपसे अनेक हैं, यहांपर एकत्व अंशके ज्ञानसे मोक्षका व्यवहार सिद्ध होगा, अनेकांशसे तो कर्मकाण्डाश्रित लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध होंगे, और इस प्रकार मिट्टी आदिके दृष्टान्त भी अनुरूप ही होंगे ?

उत्तर—ऐसा नहीं होगा, 'क्योंकि मिट्टी ही सत्य है' इस प्रकार केवल उपादान कारणरूप प्रकृतिमात्रका ही सत्यत्व निश्चय किया जाता है, और वाचारम्भण शब्दसे विकारसमूहको मिथ्या कहा है, दार्ष्टान्तमें भी 'यह सब कुछ आत्मा है, यह सत्य है' इस प्रकार परम कारण एक आत्मका ही सत्यत्व निश्चय किया जाता है और 'हे श्वेतकेतो ! यह आत्मा तू है' इस प्रकार जीवात्माको ब्रह्मभाव से उपदेश किया जाता है । इस जीवात्माके स्वयं प्रसिद्ध हुये ब्रह्मात्मत्वका उपदेश किया जाता है, यह किसी प्रयत्नान्तरोंसे साध्य नहीं है, इसलिये शास्त्रीय ब्रह्मात्मत्वका ज्ञान स्वाभाविक जीवात्मत्वका बाधक हो जाता है, जैसे डोरी आदिका यथार्थ ज्ञान सर्प आदि भ्रान्तिज्ञानके बाधक होते हैं । जीवात्मत्वके बाधित होनेपर जीवात्माके आश्रित समस्त स्वाभाविक व्यवहार बाधित हो जाते हैं, जिन व्यवहारोंकी प्रसिद्धिके लिये नानात्व अंशरूप अपर ब्रह्मकी कल्पना की जाती । और श्रुति दिखाती है—'जहां इस आत्माकी सब आत्मा ही आत्मायें हैं वहां कौन आत्मा किस आत्माको देखे !' (बृ० ४।५। १५ ), इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मात्मत्वदर्शी महात्माको समस्त क्रिया, कारक, फल लक्षणयुक्त व्यवहारका अभाव दिखाती है । और यह व्यवहारका अभाव अवस्थाविशेषसे संबद्ध है ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि **'तत्त्वमसि'** इत्यादिसे ब्रह्मात्मभावको अवस्थाविशेषके सम्बन्धसे रहित कहा है, और चोरके दृष्टान्तसे भी मिथ्यावादीका बन्धन और सत्यवादीका मोक्ष होना दिखाती हुई श्रुति एक ही पारमार्थिक रूपको दिखाती है ( छा० ६।१६ ), मिथ्याज्ञानसे विकसित किया हुवा यह नानात्व है, यदि एकत्व और नानात्व इन दोनोंको सत्य मानें तो कैसे व्यवहारसे देखे जानेवाला भी प्राणी

य इह नानेव पश्यति' ( बृ० ४। ४। १९ ) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेवैतद्दर्शयति। नचास्मिन्दर्शने ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनानभ्युपगमात् उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते।

प्रश्नः—नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात्प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि। तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याहन्येत, मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याघातः स्यात्। कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति ?

उत्तरम्—अत्रोच्यते—नैष दोषः। सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः। स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते। विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा। तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्ने उच्चावचान्भावान्पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक्प्रबोधात्, नच प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति तद्वत्।

मिथ्याज्ञानसे कहा जायगा ? 'जो यहां अनेक जैसा को देखता है वह एकके बाद दूसरी मृत्युको प्राप्त होता रहता है' ( बृ० ४।४।१९ ), यह श्रुति भेददृष्टिको खण्डन कर एकत्वको ही दिखाती है। भेददृष्टिरूप दर्शनमें ज्ञानसे मोक्ष होता है यह कहना बनता नहीं है, क्योंकि सत्यज्ञानसे नाश किये जाने योग्य किसी मिथ्याज्ञानको संसारका कारण नहीं माना है। और एकत्व और अनेकत्व दोनोंको सत्य मानें तो एकत्वज्ञानसे नानात्व ज्ञान हटाया जाता है यह कैसे कहा जाता है ?

प्रश्न—एकत्व सिद्धान्तको मान लेनेपर अनेकत्व न रहनेसे प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण न रह सकेंगे, क्योंकि अनेकत्व न रहनेसे इन प्रमाणोंका कोई विषय ही नहीं रहेगा, जैसे ठूंठ आदिमें पुरुष आदिका ज्ञान आखिर रहता नहीं। तथा विधि और निषेध रूप शास्त्र भी भेदको अपेक्षा करनेवाले होनेसे भेद न होनेपर व्यर्थ सिद्ध होंगे ( भेदाभाव होनेपर यह शास्त्र किसकी विधि और किसको निषेध करेगा ? ) शिष्य और शासिता गुरु आदि भेदकी अपेक्षासे मोक्षशास्त्रकी प्रवृत्ति होती है, भेद न होनेपर यह मोक्षशास्त्र भी व्यर्थ हो जावेगा, और दूसरी बात यह है कि मिथ्या लौकिक मोक्षशास्त्रमें बताया हुवा एकत्व ज्ञान कैसे सत्य हो सकता है ?

उत्तर—यह दोष ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मात्मत्वका ज्ञान होनेसे पहिले सब ही व्यवहार सत्य होते हैं, जैसे जागनेसे पहले स्वप्नके व्यवहार सत्य होते हैं। जब तक सत्य आत्मैकत्वका ज्ञान नहीं होता है तब तक प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और इन प्रमाणोंसे जानने योग्य विषय प्रमेय इन फलरूप लक्षणोंसे युक्त विकारोंमें मिथ्यात्व बुद्धि किसीकी उत्पन्न नहीं होती, सब ही प्राणिवर्ग 'मैं मेरा' इस तरह अविद्यासे अपने२ आत्मीय भावसे स्वाभाविक ब्रह्मात्मत्वको छोड़ कर विकारोंको प्राप्त करते हैं, इसलिये ब्रह्मात्मत्वके बोध होनेसे पहले सब लौकिक और वैदिक व्यवहार होते ही हैं, जैसे स्वप्नमे उच्च नीच भावोंको देखते हुवे सोये हुवे किसी ग्रामीण जनका निश्चित ही प्रत्यक्षरूपसे मानने योग्य ज्ञान जागनेसे प्रथम होता है, और उस स्वप्नकालमें जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षाभास नहीं होता उस तरह ( यह लौकिक और वैदिक विषय सत्य होते हैं )।

**प्रश्नः**—कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत । नहि रज्जुसर्पेण दष्टो म्रियते । नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादिप्रयोजनं क्रियत इति ?

**उत्तरम्**—नैष दोषः । शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः । स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात् ।

**प्रश्नः**—तत्कार्यमप्यनृतमेवेति चेद्ब्रूयात् ?

**उत्तरम्**—तत्र ब्रूमः—यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलं, प्रतिबुद्धस्याप्यबाध्यमानत्वात् । नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवगतिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित् । एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः। तथा च श्रुतिः—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' ( छा० ५।२।९ ) इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति । तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा '[1]अथ स्वप्ने यः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेन तेनासत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति । प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यत ईदृशेना-

प्रश्न—असत्य वेदान्तवाक्यसे सत्य ब्रह्मात्मत्वका ज्ञान कैसे हो सकता है ? डोरीके सांपसे डसा हुवा मनुष्य मरता नहीं है, और न मृगतृष्णाके जलसे पीने और स्नान करने आदि काम किये जाते हैं ?

उत्तर—यह दोष ठीक नहीं, विष आदिकी शङ्का रूप निमित्तसे भी मरना आदि काम होते हैं, और स्वप्न देखनेवाले पुरुषको भी सर्पसे काटा जाना तथा जलमें स्नान करना आदि काम देखे जाते हैं ।

प्रश्न—यह काम भी तो झूठे ही है यदि कोई ऐसा कहे तो ?

उत्तर—यहां हम कहते हैं—यद्यपि स्वप्न देखनेवाले पुरुषके सर्पसे काटा जाना और जलमें स्नान करना आदि काम झूठे होते हैं, तथापि काटा जाना और स्नान करना रूप ज्ञान सत्य ही है, क्योंकि यह ज्ञान तो जागृत पुरुषको भी बना ही रहता है । स्वप्नसे उठ कर स्वप्नमें देखे हुवे सर्पसे काटा जाना और जलसे स्नान करना आदि काम मिथ्या ही है ऐसे माननेवाला कोई पुरुष इनका ज्ञान भी मिथ्या ही है ऐसा नहीं मानता । इससे स्वप्न देखनेवाले पुरुषके ज्ञान बने रहनेसे शरीरको आत्मा माननेवाले देहात्मवादका खण्डन जान लेना चाहिये । श्रुति भी है कि—

'जब कामना करने योग्य कामोंमें स्त्रीको स्वप्नमें देखता है, तब उस स्वप्नको देखनेमें समृद्धि—ऐश्वर्यको जाने' ( छा० ५ । २ । ९ ) इस प्रकार असत्य स्वप्नदर्शनसे सत्य ऐश्वर्यका बोध होना श्रुति दिखाती है । तथा किसीको अरिष्ट होना प्रत्यक्ष देखे जानेपर 'अब बहुत दिन नहीं जीवेगा यह जान लेना चाहिये ।' ऐसा कह कर 'अब स्वप्नमें जो पुरुष काले और काले दांतवालेको देखता है वह इसे मारता है ।' इत्यादि प्रमाणोंसे उस उस असत्य स्वप्नदर्शनसे ही सत्य ही मरना सूचित किया जाता है यह श्रुति दिखाती है । यह लोकमें प्रसिद्ध है कि [2]अन्वय और व्यतिरेकमें कुशल पुरुषोंके इस प्रकारके स्वप्न दर्शनमें शुभ होना सूचित होता है और इस प्रकारके स्वप्न दर्शनसे अशुभ होना । तथा रेखा—लकीर

१—निर्णयसागरकी छपी मूल और टीकासहित पुस्तकोंमे **'अथ स्वप्नाः'** ऐसा पाठभेद है ।

२—किसी कारणके होनेसे जो कार्य बनता है वह **अन्वय है,** और किसी कारणके न होनेसे जो कार्य नहीं होता है वह **व्यतिरेक होता है,** जैसे मिट्टीसे घड़ा बनता है, और मिट्टीके न होनेसे घड़ा नहीं बनता है, यहां मिट्टी होना **अन्वय है,** और मिट्टी न होना **व्यतिरेक है—अनुवादक ।**

साध्वागम इति । तथाकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः । अपिचान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किंचिदाकाङ्क्ष्यमस्ति । यथाहि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्ते किंचिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः । सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थ आकाङ्क्षा स्यात् । नत्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणावशिष्यमाणोऽन्योऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत । न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्,' तद्धास्य विजज्ञौ' (छा० ६।१६ ३)इत्यादिश्रुतिभ्यः । अवगतिसाधनानां च श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात् । नचेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम् । अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात, बाधकज्ञानान्तराभावाच्च । प्राक्चात्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम । तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादित आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति ।

प्रश्नः—ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात्परिणामवद्ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते । परिणामिनो हि मृदाद्योऽर्था लोके समधिगता इति ?

उत्तरम्—नेत्युच्यते । 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' ( बृ० ४।४।२५ ) 'स एष नेति नेत्यात्मा' ( बृ० ३।६।२६ ), 'अस्थूलमनणु' ( बृ० ३।८।८ ) इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात् । नह्येकस्य ब्रह्मणः

रूप झूठे अक्षरज्ञानसे अकार आदि सत्य अक्षरोंका बोध होना देखा गया है ।

और दूसरी बात यह है कि आत्मैकत्वको प्रतिपादन करनेवाला जो यह प्रमाण है वही आखिरी है, इससे पर कोई आकांक्षा करने योग्य प्रमाण नहीं है, जैसे कि लोकमें 'यज्ञ करे' ऐसे कहे जानेपर 'क्यों, किससे, कैसे ?' इस तरह आकांक्षा रहती है वैसे 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' ऐसे कहनेपर किसी अन्यकी आकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि सर्वात्माके साथ एकताका ज्ञान हो जाता है । किसी विषयके शेष रहनेपर आकांक्षा रहती है, आत्मैकत्वके अतिरिक्त अन्य कोई विषय अवशिष्ट नहीं है जिसकी आकांक्षा की जावे । और यह तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता यह नहीं कह सकते, क्योंकि 'उद्दालक आरुणिका बताया हुआ वह आत्मविषयक ज्ञान श्वेतकेतु जान गया' ( छा० ६ । १६ । ३ ) इस प्रकार श्रुतियोंद्वारा कहा जाता है । और ज्ञानके साधन श्रवण मनन आदि वेदके वचन आदिके भी विधान पाये जाते हैं । यह अवगति रूप ज्ञान व्यर्थ तथा भ्रान्ति है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति रूप फल देखा जाता है, तथा इसके बाधक अन्य ज्ञान भी नहीं है । आत्मैकत्व ज्ञान होनेसे पहिले सभी लौकिक वैदिक सत्य और झूठ व्यवहार निर्बाध रूपसे होते हैं यह हमने कहा था, इस कारण 'तत्त्वमसि' आदि आखिरी प्रमाणसे आत्मैकत्व प्रतिपादन किये जानेपर समस्त प्राचीन भेदव्यवहार बाधित होनेसे अनेकात्मक ब्रह्मकी कल्पना करनेका अवकाश नहीं रहता है ।

प्रश्न—मिट्टी आदिके दृष्टान्त दिये जानेसे शास्त्र परिणामी ब्रह्मको मानता है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि मिट्टी आदि वस्तु लोकमें परिणामी देखी जाती है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहा जाता है, क्योंकि:—

'अथवा वह यह आत्मा महान्, अजन्मा, जरामरण धर्मसे रहित, अविनाशी, निर्भय है, वह ब्रह्म है' ( बृ० ४ । ४ । २५ ) 'वह यह आत्मा लौकिक विनाशी पदार्थ नहीं है. नाशवान् नहीं है' ( बृ० ३ । ६ । २६ ) 'वह मोटा नहीं, छोटा नहीं है' ( बृ० ३ । ८ । ८ ) ।

इत्यादि सब विकारोंको निषेध करनेवाली श्रुतियोंसे ब्रह्म कूटस्थ नित्य माना गया है । एक

परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम्।

प्रश्नः—स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत् ?

उत्तरम्—न। कूटस्थस्येति विशेषणात्। नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं संभवति। कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम। नच यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनमेवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित्फलायाभिप्रेयते। प्रमाणाभावात्। कूटस्थब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्—'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' ( बृ० ४।२।४ ) इत्येवंजातीयकम्। तत्रैतत्सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत्तत्राफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद्ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्। नतु स्वतन्त्रं फलाय कल्प्यत इति। नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात्परिणामवत्त्वमात्मनः फलं स्यादिति वक्तुं युक्तं, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य।

प्रश्नः—कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभाव ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत् ?

उत्तरम्—न। अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात्सर्वज्ञत्वस्य। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' ( तै० २।१ ) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थितिप्रलया नाचेतनात्प्रधानादन्यस्माद्वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः

ब्रह्मका परिणाम धर्म होना और परिणामसे रहित होना इन दोनोंका प्रतिपादन नहीं कर सकते।

प्रश्न—जैसे ठहरना और चलना एकमें होते हैं वैसे ही दोनों धर्म ब्रह्ममें होते हैं यदि ऐसा मान लो ?

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि 'कूटस्थ' अर्थात् अपने स्वभावसे च्युत न होना ऐसा ब्रह्मको विशेषण दिया गया है, ऐसे कूटस्थ नित्य ब्रह्मका ठहरने और चलनेरूप स्थिति गतिके तरह अनेक धर्मोंका आश्रय करना संभव नहीं होता, ब्रह्म कूटस्थ नित्य है, क्योंकि उसमें सब प्रकारके विकारोंका निषेध किया जाता है यह हमने कहा था। जैसे ब्रह्मको आत्मैकत्व रूपसे देखना मोक्षका साधन है वैसे उसको जगत्की आकृतीके रूपसे परिणामी देखना भी स्वतन्त्र ही किसी फलके लिये अभिप्रेत नहीं होता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है, उसको कूटस्थ नित्य ब्रह्मात्मरूपसे जाननेसे ही शास्त्र फल दिखाता है जैसे—'यह विकाररूप आत्मा नहीं है' ऐसा उपक्रम कर 'हे जनक! तुम अभय अर्थात् भयरहित आत्माको प्राप्त हो गये हो।' ( बृ० ४। २। ४ ) इत्यादि। यहां यह सिद्ध होता है कि—ब्रह्म प्रकरणमें सर्व प्रकारके विशेष धर्मरहित ब्रह्मके दर्शनसे ही फल सिद्ध होनेपर जो वहां सुना जाता है कि ब्रह्मको जगदाकार रूपमें परिणामी देखना अफल है, उस अफलको ब्रह्मके दर्शन करनेमें उपायरूपसे ही विनियोग करते हैं, जैसे फलवान्के सन्मुख फलरहित उसका अङ्ग होता है, किन्तु वह स्वतन्त्ररूपसे फलके लिये नहीं माना जाता है। परिणामी वस्तुको जाननेसे आत्माका परिणाम होना भी फल है इस प्रकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि मोक्ष तो कूटस्थ नित्य है।

प्रश्न—कूटस्थ नित्य ब्रह्मात्मवादीके पक्षमें जीवात्मा—परमात्माके एकत्वरूप अन्तिम सिद्धान्त होनेपर शासक और शास्यका अभाव होगा, तथा जगत्का उपादानकारण ईश्वर है इस प्रतिज्ञाका भी विरोध होगा ?

उत्तर—कोई विरोध न होगा, क्योंकि अविद्यात्मक जो नाम और रूप हैं वे ही बीज हैं उसका व्याकरण—अर्थात् विस्तृत हुवे कार्य प्रपञ्चको सर्वज्ञ ब्रह्म अपेक्षा करता है, कारण कि 'उस आत्मासे यह आकाश उत्पन्न हुवा' ( तै० २। १ ) इत्यादि वाक्योंसे नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्,

'जन्माद्यस्य यतः' ( ब्र० सू० १।१।४ ) इति । सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते ।

प्रश्नः—कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता ?

उत्तरम्—शृणु यथा नोच्यते । सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते । ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' ( छा० ८।१४।१ ) इति श्रुतेः । 'नामरूपे व्याकरवाणि' ( छा० ६।३।२ ), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' ( तै० आ० ३।१२।७ ), 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' (श्वे० ६।१२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि । स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान्विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये । तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते । तथा चोक्तम्—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' ( छा० ७।२४।१ ) इति, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' ( बृ० ४।५।१५ ) इत्यादिना च । एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति

---

ईश्वरसे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं, अचेतन प्रधानसे अथवा अन्यसे नहीं, इस विषयकी प्रतिज्ञा 'जन्माद्यस्य यतः' ( ब्र० सू० १ । १ । ४ ) इसमें की गई थी, यह प्रतिज्ञा उसी अवस्थामें है, उससे विरुद्ध फिर यहां नहीं कहा जाता ।

प्रश्न—जब कि तुम आत्माको एक और अद्वितीय कहते हो ( तथा शासक—शासित भाव भी मानते हो ) तो कैसे कहते हो कि हम विरोध नहीं कहते ?

उत्तर—यह विरोध क्यों नहीं कहा जाता उसे सुनो—सर्वज्ञ ईश्वरके नाम और रूप निजात्मरूपके समान हैं, जो कि अविद्याकल्पित हैं, ये तत्त्व और अतत्त्वरूपसे अनिर्वचनीय है, ये ही संसार प्रपंचके बीजरूप हैं, ये ही सर्वज्ञ ईश्वरकी मायाशक्ति तथा प्रकृति हैं, इस प्रकार श्रुति और स्मृतिमें कहे जाते हैं, इन अविद्याकल्पित नाम और रूपसे अन्य भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि 'आकाश नाम और रूपको वहन करनेवाला सञ्चालक है, इनमें पृथक् ब्रह्म है' ( छा० ८ । १४ । १ ), ऐसा श्रुतिमें कहा है । तथा 'नाम और रूपको उत्पन्न करूं' ( छा० ६ । ३ । २ ), 'सब रूपोंको एकत्रित करके नाम रख कर वह धीर आत्मा स्थित होता है' ( तै० आ० ३ । १२ । ७ ), 'जो एक बीजको अनेक प्रकार करता है' ( श्वे० ६ । १२ ) इत्यादि श्रुतियोंमें भी यही सिद्ध होता है । इस प्रकार अविद्याकृत नाम और रूपकी उपाधिको अनुरोध करनेवाला ईश्वर होता है, जैसा आकाश घड़ा और कमण्डलु रूप उपाधिको अनुरोध करता है, वह सर्वज्ञ ईश्वर निजात्मरूप, घटाकाशस्थानीय, अविद्याकृत नाम-रूपसे बने हुवे कार्य और कारण समुदायको अनुरोध करने वाले, जीवनामक विज्ञानात्माका ही व्यवहार विषयमें शासक होता है, इस प्रकार अविद्यात्मक उपाधिसमुदायको अपेक्षा करना ही ईश्वरका ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व है, वास्तविक नहीं, विद्यासे सब उपाधियोंसे पृथक् हुवे आत्मामें शासक, शास्य और सर्वज्ञत्व आदिका व्यवहार हो सकता है, तथा कहा भी हैः—

'कोई जहां कुछ देखता सुनता जानता नहीं वह भूमा अर्थात् महान् है' ( छां० ७।२४।१ )

वेदान्ताः सर्वे । तथेश्वरगीतास्वपि—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' ( गी० ५ । १४-१५ ) इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते । व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) इति । तथा चेश्वरगीतास्वपि—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' ( गी० १८ । ६१ ) इति सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह । व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति ॥ १४ ॥

## भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्यमुपलभ्यते, नाभावे । तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते सत्सु च तन्तुषु पटः । न च नियमेनान्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा । न ह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते । न च कुलालभाव एव

'जहाँ तो इसके सब आत्मा ही है वहाँ कौन किससे किसको देखे ?' ( बृ० ४ । ५ । १५ ) इत्यादि । एवं परमार्थ अवस्थामें सभी वेदान्त सब प्रकारके व्यवहारोंको अभाव कहते हैं, तथा ईश्वर गीतामें भी:—

'वह प्रभु परमात्मा न कर्ता है, न लोकके कर्मोंको करता है, और न कर्मफलका संयोग करता है, स्वभाव ही तो प्रवृत्त होता है । वह विभु ईश्वर किसीके पापको नहीं लेता है, न पुण्यको, ज्ञान अज्ञानसे ढका हुवा है, इसलिये सब प्राणी मोहमें पड़े हुए हैं ( गी० ५ । १४ १५ )

इस प्रकार परमार्थ अवस्थामें ईशिता ईशितव्य अर्थात् शासक और शास्य आदि व्यवहारका अभाव दिखाया जाता है, व्यवहार अवस्थामें तो ईश्वर आदि व्यवहारको श्रुतिमें भी कहा है:—

'यह सर्वेश्वर है यह सब प्राणियोंका अधिपति है, यह प्राणियोंका पालनेवाला है, इन सब लोकोंको स्थिर रखनेके लिये वह परमात्मा पुलरूपसे सबको धारण कर रहा है ( बृ० ४ । ४ । २२ ) तथा ईश्वरगीतामें भी:—

'हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयस्थानमें रहता है, अपनी यन्त्ररूप मायाशक्तिसे सब भूतोंको घुमा रहा है' ( गी० १८ । ६१ ) सूत्रकार व्यासजी भी तत्त्वदृष्टिके अभिप्रायसे 'तदनन्यत्वं' अर्थात् कार्यरूप जगत् कारणरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं ऐसा कहते हैं, व्यवहार दृष्टिके अभिप्रायसे तो यह सब व्यवहार लोकवत् है, इस प्रकार ब्रह्मको महासमुद्ररूप कहते हैं । कार्य प्रपञ्चको और परिणामप्रक्रियाको खण्डन न कर सगुणोपासनमें इनको आश्रयण और उपयोग करते हैं ॥ १४ ॥

## भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

यहांसे आगे भी कारणसे कार्य पृथक् नहीं है, कारण कि भावमें ही कारणका कार्य उपलब्ध होता है, अभावमें नहीं । जैसे—मिट्टी होनेपर घट उत्पन्न होता है, और तागोंके होनेपर कपड़े बनते हैं, नियमसे किसीके होनेपर अन्य किसीका होना नहीं देखा गया है, घोड़ा गायसे अन्य होकर गायरूप नहीं होता है । और कुम्हारके होनेपर ही घट उपलब्ध होता है यह बात नहीं, क्योंकि निमित्त–

घट उपलभ्यते । सत्यपि निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात ।

प्रश्नः—नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपलब्धिर्नियता दृश्यते, यथाग्निभावे धूमस्येति ?

उत्तरम्—[1]नेत्युच्यते । उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात् । [2]अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिंष्यादीदृशो धूमो नासत्यग्नौ भवतीति । नैवमपि कश्चिद्दोषः तद्भावानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः । नचासावग्निधूमयोर्विद्यते । 'भावाच्चोपलब्धे' रिति वा सूत्रम् । न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः । भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे । तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोऽशुषु तदवयवाः । अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं चेत्यनुमेयम् । ( छा० ६।४ ) ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं, तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम ॥ १५ ॥

## सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

इतश्च कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं, यत्कारणं प्रागुत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ( छा० ६ । २ । १ ), 'आत्मा

नैमित्तिक-भाव होनेपर भी ( कुम्हार निमित्त कारण, उस निमित्त कारणसे बना हुआ घट नैमित्तक ) घट अन्य ही होता है ।

प्रश्न—अन्यके होनेपर भी किसी अन्यकी उपलब्धि नियत रूपसे देखी गई है, जैसे अग्निके होनेपर धूमकी उपलब्धि होती है ?

उत्तर—ऐसा नहीं देखा जाता, क्योंकि अग्निको बुझानेपर भी ग्वालोंके अग्निकुण्डस्थित धूम देखा गया है । यदि धूमको किसी अवस्थासे विशेषण दे कि ऐसा धूम अग्निके न होनेपर नहीं होता है, तो भी यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य कारणके अभिन्न होनेमें सत्रूप भाव पदार्थमें अनुरक्त हुई बुद्धिको हम हेतु कहते हैं, ऐसा हेतु अग्नि और धूममें नहीं है ।

अथवा **'भावाच्चोपलब्धेः'** ऐसा सूत्र है, न केवल शब्दमात्रसे कार्य और कारण अभिन्न हैं, किन्तु प्रत्यक्षरूपसे उपलब्धि होनेपर ही वे दोनों अभिन्न हैं, कार्य-कारणके अभिन्न होनेमे प्रत्यक्ष ही उपलब्धि होती है, जैसे—तागे बिछाये हुए कपड़ेमे तागोंके अतिरिक्त कपड़ा नामक कार्य नहीं प्राप्त होता है, केवल तागे ही तो लम्बाई चौड़ाईरूपमें तने हुवे प्रत्यक्ष प्राप्त होते हैं, तथा तागोंमें रुईके जरें और उन जरोंमे उनके अवयव हैं, इस प्रत्यक्ष प्राप्तिसे लोहित, शुक्ल, कृष्ण ये तीन रूप और फिर वायु और आकाशमात्र अनुमान करने योग्य हैं ( छा० ६ । ४ ), इससे परे ब्रह्म ही एक अद्वितीय है, वहां सब प्रमाणोंकी समाप्ति है ॥ १५ ॥

## सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

यहांसे आगे भी कारणमे कार्य अपृथक् है, कारण कि उत्पत्तिसे पूर्व कारणरूपसे ही बादमे उत्पन्न हुवा कार्य कारणमे सुना जाता है:—'हे सोम्य ! सृष्टिके आरम्भमें सत् ही था' ( छा० ६।२।१ )

१—एकदेशीय मतमे खण्डन करते हैं—**नेत्युच्यत इति—भामती ।**

२—अब शङ्कासे ही एकदेशीय खण्डनको दूषित कर परमार्थ परिहार करते हैं—**अथेति—भामती ।**

वा इदमेक एवाग्र आसीत्' ( ऐ० आ० २ । ४ । १ । १ ) इत्यादाविदंशब्दगृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात् । यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम् । तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात्कार्यमित्यवगम्यते । यथाच कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत्त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति । एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात्कार्यस्य ॥ १६ ॥

**असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥**

प्रश्नः—ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—'असदेवेदमग्र आसीत्' ( छा० ३ । १९ । १ ) इति, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' ( तै० २ । ७ । १ ) इति च । तस्मादसद्व्यपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत् ?

उत्तरम्—नेति ब्रूमः—नह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः ।

प्रश्नः—किं तर्हि ?

उत्तरम्—व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य ।

प्रश्नः—कथमेतदवगम्यते ?

उत्तरम्—वाक्यशेषात् । यदुपक्रमे संदिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते । इह च तावत् 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत्तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि 'तत्सदासीत्' इति । असतश्च पूर्वापरकालासंबन्धादासीच्छब्दानु-

---

'अथवा यह आत्मा ही आरम्भमें थी' ( ऐ० आ० २ । ४ । १ । १ ),

इत्यादि श्रुतियोंमें इदं शब्दवाच्य कार्य कारणके साथ समान आधार होता है, जो जिस रूपमें जहां नहीं होता है वह वहांसे उत्पन्न नहीं होता है, जैसे बालुओंसे तेल उत्पन्न नहीं होता है, इस कारण उत्पत्तिसे पहिले कारणसे कार्य अपृथक् होनेसे उत्पन्न हुआ कार्य भी कारणसे अभिन्न है, ऐसा निश्चय होता है, और जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालोंमें सत्ताको नहीं छोड़ता है वैसे यह कार्य जगत् भी तीनों कालोंमें सत्ताको नहीं छोड़ता है सत्ता तो एक ही होती है, इससे भी कारणसे कार्य अभिन्न है ॥१६॥

**असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥**

प्रश्न—कहीं उत्पत्तिसे पहिले भी कार्यकी सत्ता नहीं होती है, श्रुति यह निर्देश करती है, जैसे:—
'सृष्टिके आरम्भमें असत् ही था' (छा० ३।१९।१) 'अथवा आरम्भमें असत् था' (तै० २।७।१) इस कारण असत् निर्देश करनेसे उत्पत्तिसे पहले कार्यकी सत्ता नहीं रहती ?

उत्तर—हम कहते है—यह ठीक नहीं, यह कोई अत्यन्ताभावके अभिप्रायसे उत्पत्तिसे प्रथम कार्यकी सत्ता नहीं रहती यह श्रुति निर्देश नहीं करती ।

प्रश्न—तो किसको निर्देश करती है ?

उत्तर—उत्पन्न किये हुवे नाम रूप धर्मसे उत्पन्न न किये हुवे नाम-रूप जो धर्मान्तर है उस धर्मान्तरसे उत्पत्तिसे प्रथम कारणरूपसे पृथक् न होनेवाले सत् कार्यका ही यह असत् रूपसे निर्देश है ।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर—वाक्यशेषसे, आरम्भमें संदिग्ध अर्थोंसे युक्त जो वाक्य है उसका निश्चय वाक्यशेषसे होता है, यहां 'प्रथम असत् ही था' इस प्रकार आरम्भमें असत् शब्दसे जिसको निर्देश किया फिर उसी असत्को 'तत्—वह असत्' ऐसे तत् शब्दसे निर्देश कर वह सत् है ऐसा विशेषण कर 'वह सत था' ऐसा कहा जाता है । और दूसरी बात यह है कि अभावका प्रथम और पश्चात् कालसे सम्बन्ध न रहनेके

पपत्तेश्च। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम्। तस्माद्धर्मान्तरेणैवायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य। नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम्। अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवासीदित्युपचर्यते॥ १७॥

## युक्तेः शब्दान्तराच्च॥ १८॥

युक्तेश्च प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते, शब्दान्तराच्च। युक्तिस्तावद्वर्ण्यते—दधिघटरुचकाद्यर्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुवर्णादीन्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते। नहि दध्यर्थिभिर्मृत्तिकोपादीयते न घटार्थिभिः क्षीरं तदसत्कार्यवादे नोपपद्येत। अविशिष्टे हि प्रागुत्पत्तेः सर्वस्य सर्वत्रासत्त्वे कस्मात्क्षीरादेव दध्युत्पद्यते न मृत्तिकायाः, मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते न क्षीरात्। अथाविशिष्टेऽपि प्रागसत्त्वे क्षीर एव दध्नः कश्चिदतिशयो न मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्येत, तर्ह्यतिशयवत्त्वात्प्रागवस्थाया असत्कार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च। शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्याऽसती वा कार्यं नियच्छेत्। असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च। तस्मात्कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्। अपिच कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाश्वमहिषवद्भेदबुद्ध्यभावात्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्। समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः संबन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्यान्योन्यः संबन्धः

कारण 'आसीत्-था' इस शब्दका प्रयोग नहीं हो सकता। 'यह प्रथम असत् था' यहांपर भी 'तब अपने आपको स्वयं उत्पन्न किया' इस प्रकार वाक्यशेषमें विशेषण देनेसे अत्यन्त असत् नहीं है, इस कारण उत्पत्तिसे प्रथम कार्यका धर्मान्तरसे ही यह असत् होना निर्देश है, कारण कि यह लोकमें प्रसिद्ध है कि जो वस्तु नाम रूपमें बनी हुई होती है वह सत् शब्दसे कहे जाने योग्य होती है, इस कारण नाम रूपके बननेसे पहले यह कार्य असत्के तुल्य था ऐसा उपचार होता है॥ १७॥

## युक्तेः शब्दान्तराच्च॥ १८॥

युक्तिसे भी उत्पत्तिसे प्रथम कार्यका होना तथा कारणसे अभिन्न होना निश्चय होता है, तथा यह शब्दान्तरसे भी निश्चय होता है, प्रथम युक्तिका वर्णन किया जाता है—दही घड़े और कुण्डल आदिको चाहनेवाले पुरुष प्रतिनियत कारण होनेवाले दूध, मिट्टी और सुवर्ण आदि को लेते हुये लोकमें देखे जाते हैं, दहीको चाहनेवाले मिट्टीको नहीं लेते हैं, न घड़ेको चाहनेवाले दूधको, यह असत्कार्यवाद पक्षमें बनता नहीं, क्योंकि उत्पत्तिसे प्रथम सबकी सब जगह असत्ताकी विशेषता न रहनेपर क्यों दूधसे ही दही उत्पन्न होता है मिट्टी नहीं? और क्यों मिट्टीसे ही घड़ा उत्पन्न होता है दूधसे नहीं होता?

यदि कहा जाय कि प्रथम असत्ताकी विशेषता न रहनेपर भी दूधमें ही दहीका कोई विशेष गुण रहता है मिट्टीमें नहीं, और मिट्टीमें ही घटका विशेष गुण रहता है दूधमें नहीं, तबतो प्रथम अवस्थाके अतिशय-विशेष गुण होनेसे असत्कार्यवादकी हानि और सत्कार्यवादकी सिद्धि होगी, कारणकी जो शक्ति कार्यको नियमपूर्वक बनानेके लिये कल्पना की जाती है वह शक्ति अन्य होकर वा बिलकुल न होकर कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि उस कारणकी शक्ति न होनेमें वा अन्य प्रकार होनेमें कोई विशेषता नहीं रहती है। इस कारण कारणकी निजात्मरूपा शक्ति होती है और शक्तिका निजात्मरूप कार्य होता है। और दूसरी बात यह है कि कार्य और कारणका तथा द्रव्य और गुण आदियोंका घोड़े और भैंसोंके भेद तुल्य भेद बुद्धि न होनेसे तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेना चाहिये।

( अब समवाय सम्बन्धको खण्डन करते हैं )—समवाय सम्बन्धकी कल्पना कर लेनेपर भी

कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः । अनभ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः ।

प्रश्नः—अथ समवायः स्वयं संबन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं संबन्धं सबध्यते ?

उत्तरम्—संयोगोऽपि तर्हि स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैव समवायं संबध्येत । तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनां समवायकल्पनानर्थक्यम् । कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तेत । किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेतोत प्रत्यवयवम् । यदि तावत्समस्तेषु वर्तेत ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत, समस्तावयवसंनिकर्षस्याशक्यत्वात् । नहि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते । [1]अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन् यैरारम्भकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत । कोशावयवव्यतिरिक्तैर्ह्यवयवैरसिः कोशं व्याप्नोति । अनवस्था चैवं प्रसज्येत । तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात् । अथ प्रत्यवयवं वर्तेत तदैकत्र व्यापारेऽन्यत्राव्यापारः स्यात् । नहि देवदत्तः स्रुघ्ने संनिधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयेत । युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्व-

समवायका समवायियोंके साथ सम्बन्ध स्वीकार किये जानेपर उस २ का अन्य २ के साथ सम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ेगी, इस तरह अनवस्था दोष आ जायगा। यदि ऐसा सम्बन्ध न माने तो ( अवयवोंका अवयवीके साथ तथा द्रव्यका गुण आदियोंके साथ परस्पर सम्बन्धका ) विच्छेद होगा।

प्रश्न-समवायवादी—समवाय स्वयं सम्बन्धरूप होनेसे अन्य किसी सम्बन्धकी अपेक्षा न करके ही सम्बन्ध करेगा ?

उत्तर—स्याद्वादवादी—तब तो संयोग भी स्वयं सम्बन्धरूप होनेसे समवायकी अपेक्षा न करके ही सम्बन्ध करेगा। तादात्म्य सम्बन्धकी प्रतीति होनेसे द्रव्य गुण आदियोंका समवायसम्बन्धकी कल्पना करना अनर्थ है। अच्छा तो यह बताओ कि कार्य जो अवयववाला द्रव्य है वह अवयवी द्रव्य कारण स्वरूप अवयव द्रव्योंमें किस प्रकार रहता है ? क्या समस्त अवयवोंमें अवयवी रहता है अथवा प्रत्येक अवयवमें ? यदि समस्त अवयवोंमें अवयवीको मानो तो अवयवीकी प्राप्ति ही न होगी, क्योंकि समस्त अवयवोंके साथ सन्निकर्ष ( Contact—इन्द्रियोंका अर्थके साथ सम्बन्ध ) नहीं हो सकता, समस्त आश्रयोंमें रहनेवाला बहुत्व धर्म किसी एक भागके आश्रयमें रहनेवालेके ग्रहणसे गृहीत नहीं होता। यदि एक २ अवयव करके समस्त अवयवोंमें अवयवी रहता है तो भी आरम्भक अवयवोंके अतिरिक्त अवयवीके अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी, जिन अतिरिक्त अवयवोंद्वारा आरम्भक अवयवोंमें एक २ अवयव करके अवयवी रहे। म्यानगत अवयवोंके अतिरिक्त अन्य अवयवोंसे तलवार म्यानको व्याप्त करेगी, इस तरह अनवस्था दोष आ जायगा, क्योंकि उन २ अवयवोंमें रहनेके लिये अन्य २ अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ती है। यदि प्रत्येक अवयवोंमें अवयवीको मानो तो एक जगह काम होनेपर वह अन्यत्र न होगा, क्योंकि देवदत्त आगरेमें रहता हुआ उसी दिन पटनेमें नहीं रह सकता, यदि एकसाथ दोनों जगह मानें तो अनेक देवदत्त मानने पड़ेंगे जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों आगरे

१—अथावयवश इति। बहुत्व संख्या स्वरूपसे ही फैल कर संख्येय पदार्थोंमें रहती है, इसलिये वह एक संख्येयके ग्रहण न होनेपर भी गृहीत नहीं होती, क्योंकि बहुत्व संख्याका स्वरूप समस्त स्थानोंमें फैला हुआ होता है। अवयवी तो स्वरूपसे अवयवोंको व्याप्त नहीं करता, किन्तु एक २ अवयवमात्रको व्याप्त करता है। इस कारण जैसे तागा अवयवोंसे फूलोंको व्याप्त करता हुआ समस्त फूलोंको ग्रहण करनेकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि कतिपय फूलोंके स्थानमें रहनेवाले उस तागेकी भी उपलब्धि होती है। इसी प्रकार अवयवी भी है यह भाव है—भामती।

प्रसङ्गः स्यात्। देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनोः।

प्रश्नः—गोत्वादिवत्प्रत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत्?

उत्तरम्—न। तथा प्रतीत्यभावात्। यदि गोत्वादिवत्प्रत्येकं परिसमाप्तोऽवयवी स्याद्यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति प्रत्यक्षं गृह्येत। एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं प्रत्यक्षं गृह्येत। नचैवं नियतं गृह्यते। प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात्तस्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम्। नचैवं दृश्यते। प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्व उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका च स्यात्। उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति गत्यादिवत्। क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिषिध्येत। घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न घटकर्तृका।

प्रश्नः—किं तर्हि?

उत्तरम्—अन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात्। तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानान्यकर्तृकैव कल्प्येत। तथाच सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात्। नच लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलालादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते। उत्पन्नताप्रतीतेश्च।

प्रश्नः—अथ स्वकारणसत्तासंबन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्?

उत्तरम्—कथमलब्धात्मकं संबध्येतेति वक्तव्यम्। सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः सम्भवति न सदसतोरसतोर्वा। अभावस्य च निरुपाख्यत्वात्प्रागुत्पत्तेरिति मर्यादाकरणमनुपपन्नम्।

---

और पटना में रहनेवाले अनेक होते हैं।

प्रश्न—समवायवादी—जैसे गोत्व आदि सामान्य जाति प्रत्येक व्यक्तिकी समाप्ति पर्यन्त रहती है वैसे ही अवयवत्व भी जातिकी तरह प्रत्येक कार्य व्यक्तिकी समाप्ति पर्यन्त रहेगा, इसलिये दोष न होगा?

उत्तर—खण्डनवादी—यह ठीक नहीं, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती है, यदि गोत्व आदि सामान्य जातिकी तरह प्रत्येक व्यक्तिके साथ समाप्ति पर्यन्त रहनेवाला अवयवी हो तो जैसे गोत्व सामान्य जाति प्रत्येक व्यक्तिके साथ प्रत्यक्ष होती है इसी प्रकार अवयवी भी प्रत्येक अवयवके साथ प्रत्यक्ष होता, ऐसा नियतरूपसे प्रत्यक्ष तो नहीं होता है, अवयवीको प्रत्येक व्यक्तिके साथ समाप्ति पर्यन्त माननेपर उसका कार्यके साथ सम्बन्ध होनेसे तथा वह एक होनेसे सींगसे भी स्तनका कार्य करे और छातीसे पीठका, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। उत्पत्तिसे प्रथम कार्यकी सत्ता न होनेपर उत्पत्ति कर्तृरहित होनेसे निरात्मक होगी। उत्पत्ति नाम जो क्रिया है, वह कर्तृपूर्वक ही होती है जैसे गति-गमन आदि ( कर्तृयुक्त होता है ) क्रिया भी हो और कर्तृरहित भी हो यह परस्पर विरुद्ध बात है। घटकी उत्पत्ति कहनेपर घटरूप कर्ताकी उत्पत्ति नहीं।

प्रश्न—तो किसकी?

उत्तर—वह अन्यकर्ताकी उत्पत्ति है ऐसी कल्पना करनी पड़ती, तथा कपाल आदियोंकी भी उत्पत्ति कही जानेपर अन्यकर्तृक ही कल्पना की जाती, ऐसे होनेपर तो घट उत्पन्न होता है ऐसे कहनेपर कुम्हार आदि कारण भी उत्पन्न होते हैं ऐसा कहा जाता, लोकमें तो घटकी उत्पत्ति होती है ऐसे कहनेपर कुम्हार आदियोंका उत्पन्न होना प्रतीत नहीं होता है, और न उत्पन्न होनेकी प्रतीति होती है।

प्रश्न—यदि कहा जाय कि अपने कारणकी सत्ताके साथ सम्बन्ध होना ही उत्पत्ति है यही कार्यका उत्पन्न होना रूप आत्मलाभ है?

उत्तर—तुम्हें कहना चाहिये कि अविद्यमानका कैसा सम्बन्ध होगा? क्योंकि दो विद्यमान वस्तुओंका ही सम्बन्ध सम्भव है, न विद्यमान और अविद्यमानका, न दोनों अविद्यमानोंका सम्बन्ध होना सम्भव

सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा नाभावस्य । नहि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक्पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादाकरणेन निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भवति भविष्यतीति वा विशेष्यते । यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत्तत इदमप्युपापत्स्यत कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति । वयं तु पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभावस्य चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति ।

प्रश्नः—नन्वेवं सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत । यथैव हि प्राक्सिद्धत्वात्कारणस्वरूपसिद्धये न कश्चिद्व्याप्रियते । एवं प्राक्सिद्धत्वात्तदनन्यत्वाच्च कार्यस्य स्वरूपसिद्धयेऽपि न कश्चिद्व्याप्रियेत । व्याप्रियते च । अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वाय मन्यामहे प्रागुत्पत्तेरभावः कार्यस्येति ?

उत्तरम्—नैष दोषः । यतः कार्याकारेण कारणं व्यवस्थापयतः कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते । कार्याकारोऽपि कारणस्यात्मभूत एवानात्मभूतस्यानारभ्यत्वादित्यभाणि । नच विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति । नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति, स एवेति प्रत्यभिज्ञानात् । तथा प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति, मम पिता मम भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात् ।

प्रश्नः—जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात्तत्र युक्तं नान्यत्रेति चेन्न ।

[illegible] प्रथम [illegible] । [illegible] और [illegible] है, [illegible] प्रथम [illegible] था, है, या होगा इस प्रकार [illegible] प्रथम होगा तो यह भी [illegible] कि [illegible] क्रिया [illegible] प्रथम [illegible] । हम तो देखते हैं कि वन्ध्यापुत्रका और कार्यके अभावका अभावरूपसे समानता [illegible] क्रिया करनेसे प्रथम न होगा इस प्रकार कार्यका अभाव भी कर्ताके क्रिया करनेसे प्रथम न होगा ।

प्रश्न—असत्कार्यवादी—यदि ऐसा हो तो कर्ताका काम करना [illegible] हो जायगा, [illegible] प्रथमसिद्ध कारणस्वरूपकी सिद्धिके लिये कोई प्रयत्न नहीं करता है [illegible] प्रथम सिद्ध होनेसे और कारणसे अभिन्न होनेसे कार्यके स्वरूपकी सिद्धिके लिये भी कोई प्रयत्न न करेगा ( क्योंकि वह कार्य पूर्व ही विद्यमान था तो क्यों उसके बनानेके लिये प्रयत्न [illegible] ) किन्तु उस कार्यकी सिद्धिके लिये लोग प्रयत्न करते हैं । इस कारण कर्ताकी क्रियाको सफल बनानेके लिये हम मानते हैं कि उत्पत्तिसे प्रथम कार्यका अभाव था ?

उत्तर—सत्कार्यवादी—यह दोष ठीक नहीं, क्योंकि कार्यरूपसे कारणको व्यवस्था करना तो कर्ताकी क्रियाको सफल बनाना है, कार्याकार होना भी कारणका निजी रूप है, क्योंकि अविद्यमान वस्तुसे किसीका आरम्भ नहीं होता है यह कह दिया था । विशेषरूपसे देखे जानेमात्रसे वस्तु अन्य नहीं होता है, हाथ पैर सिकोड़े हुए तथा हाथ पैर फैलाये हुए देवदत्त विशेषरूपसे देखे जानेपर भी वह अन्य नहीं होता है, क्योंकि यह वही देवदत्त है ऐसी प्रत्यभिज्ञा—पुनः स्मृति होती है, तथा प्रतिदिन अनेक स्थानोंमें रहने पर भी पिता आदि अन्य नहीं हो जाते हैं । क्योंकि ये मेरे पिता हैं, मेरे भाई हैं, मेरे पुत्र हैं इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा होती है ।

प्रश्न—असत्कार्यवादी—यदि माना जाय कि जन्मोच्छेदके भेद न होनेसे देवदत्त और पिता आदिमें प्रत्यभिज्ञा होना उचित है, अन्यत्र नहीं ?

**उत्तरम्—न।** क्षीरादीनामपि दध्याद्याकारसंस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्। अदृश्यमानानामपि वटधानादीनां समानजातीयावयवान्तरोपचितानामङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्तौ जन्मसंज्ञा। तेषामेवावयवानामपचयवशाददर्शनापत्तावुच्छेदसंज्ञा। तत्रेदृग्जन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसतः सत्त्वापत्तिस्तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः। तथाच बाल्ययौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च। एतेन क्षणभङ्गवादः प्रतिवदितव्यः। [1]यस्य पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निर्विषयः कारकव्यापारः स्यात्। अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशहननप्रयोजनखड्गाद्यनेकायुधप्रयुक्तिवत्।

**प्रश्नः—समवायिकारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति चेत्?**

**उत्तरम्—** [2]**न। अन्यविषयेण कारकव्यापारेणान्यनिष्पत्तेरतिप्रसङ्गात्।**

**प्रश्नः—समवायिकारणस्यैवात्मातिशयः कार्यमिति चेत?**

उत्तर-सत्कार्यवादी—तो भी ठीक नहीं, (स्वरूप भिन्न हो जाने पर भी) दूध आदिका भी दही आदि आकारको प्राप्त होना प्रत्यक्ष देखा गया है। समानजातीय अवयवोंके उपचयसे वृद्धिको प्राप्त हुवे, न देखे जानेवाले, वटधान आदियोंके अङ्कुर आदि रूपसे देखे जाने पर जन्म संज्ञा होती है, और उन्हीं अवयवोंके क्षीण होनेसे न देखे जानेपर नाश संज्ञा होती है। इस प्रकारकी उत्पत्ति और नाशके भेदसे यदि असत्की सत्ता मानी जाय तो ऐसे भेद माने जाने पर गर्भवासी तथा चित होकर सोनेवाले एक ही जीवात्माका भी भेद होगा, तथा बाल्य यौवन और वृद्धावस्थामें भी जीवात्माका भेद मानना पड़ेगा, यदि ऐसे भेद मानें तो पिता आदियोंके साथ व्यवहारोंका भी लोप हो जायगा। इससे क्षणभङ्गवादका निराकरण करना चाहिये।

और जो उत्पत्तिसे प्रथम कार्यको असत् मानता है उसके पक्षमें कर्ताकी क्रिया निर्विषयक होगी, क्योंकि अभावका कोई विषय अर्थात् कर्म नहीं होता है जैसे—[3]आकाशको मारनेके लिये खड्ग आदि अनेक हथियारोंके प्रयोग करनेके समान हैं।

प्रश्न—समवायिकारण विषयक कर्ताका क्रिया करना व्यापार हो सकता है यदि ऐसा मानें तो?

उत्तर—यों भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसे मानें तो अन्यविषयक कर्ताके व्यापारसे अन्यके बननारूप दोष आ जावेगा।

प्रश्न—यदि यह मानले कि समवायिकारणका ही अपना अतिशय- अधिक होना ही कार्य है?

---

१—इस भाष्यको हमारे अनुवाद और टिप्पणीके समान ही प्रोफेसर थीबोने अनुवाद किया है:—

The doctrine that the effect is non—existing previously to its actual origination, moreover, leads to the conclusion that the activity of the causal agent has no object; for what does not exist cannot possibly be an object; not any more than the ether can be cleft by swords and other weapons for striking or cutting. (P. 340)

२—समवायिकारणमें कार्य भिन्न है? वा अभिन्न? इस प्रकार विकल्प दिखा कर प्रथम पक्षको खण्डन करते हैं—**न** इत्यादिसे। दूसरे (अभिन्न)को शङ्का कर इष्टापत्ति बतलाते हैं—**समवायि** इत्यादिसे—**रत्नप्रभा।**

३—अर्थात् आकाश कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो खड्ग आदि शस्त्रसे कट सके इसलिये जैसे आकाशको काटने और चीरफाड़ करनेके लिये शस्त्रका प्रयोग व्यर्थ है एवं उत्पत्तिके पहले कार्यको अभाव माननेवालेके पक्षमें क्रिया निर्विषयक होनेसे व्यर्थ हो जावेगी—**अनुवादक।**

उत्तरम्—न । सत्कार्यतापत्तेः । तस्मात्क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनावतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत्कार्यं वर्षशतेनापि शक्यं निश्चेतुम् । तथा मूलकारणमेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते । एवं युक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते । शब्दान्तराच्चैतदव गम्यते । पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात्ततोऽन्यः सद्व्यपदेशी शब्दः शब्दान्तरम्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि । 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इति चासत्पक्षमुपक्षिप्य 'कथमसतः सज्जायेत' इत्याक्षिप्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' ( छा० ६ । २ । १ ) इत्यवधारयति । तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दवाच्येन कारणेन सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात्सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः । यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात्पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात्तदान्यत्कारणात्स्यात् । तत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' ( छा० ६ । १ । ३ ) इतीयं प्रतिज्ञा पीड्येत । सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्वियं प्रतिज्ञा समर्थ्यते ॥ १८ ॥

## पटवच्च ॥ १९ ॥

यथा च संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते किमयं पटः किं वान्यद्द्रव्यमिति । स एव प्रसारितो यत्संवेष्टितं द्रव्यं तत्पट एवेति प्रसारणेनाभिव्यक्तो गृह्यते । यथा च संवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते स एव प्रसारणसमये विशिष्टाया

उत्तर—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसे मानोगे तो सत्कार्यवाद ही तो हो जायेगा, इस कारण दूध आदि द्रव्य ही दही आदि रूपसे अवस्थित होकर कार्य नामको प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये कारणसे कार्य अन्य है इस प्रकार सौ वर्षसे भी निश्चय नहीं कर सकोगे। तथा मूलकारण ब्रह्म ही आखिरी कार्यसे उस उस कार्याकार रूपसे नटके समान सब व्यवहारोंका अधिष्ठान होता है। इस युक्तिसे भी उत्पत्ति होनेसे पहले कार्यकी सत्ता रहती है और वह कारणसे पृथक् भी प्रतीत नहीं होती है, और यह शब्दान्तरसे भी निश्चय होता है। पूर्वसूत्रमें असत्का निर्देश करनेवाले शब्दको उदाहरण कर देनेसे उससे अन्य सत्का निर्देश करनेवाला शब्द शब्दान्तर है, जैसे—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि। 'कोई कहते हैं कि प्रथम असत् ही था' इस प्रकार असत् पक्षको निर्देश कर 'क्यों असत्से सत् हो सकता है ?' इस प्रकार आक्षेप करके 'हे सोम्य ! सृष्टिके आरम्भमें सत् ही था' ( छा० ६ । २ । १ ) इस तरह शास्त्र सत्पक्षको निश्चय करता है। यहां 'इदं—यह' इस शब्द वाच्य कार्यका उत्पन्न होनेसे प्रथम 'सत्—है' इस शब्दवाच्य कारणके साथ समान अधिकरण—समान आधार सुने जानेसे कार्यके सत्त्व होना और कारणसे अभिन्न होना दोनों सिद्ध होते हैं। यदि उत्पत्तिसे पहिले कार्य असत् हो और पश्चात् उत्पन्न होकर कारणमें मिल जाय तो कार्य कारणसे अन्य होगा, यदि कारणसे कार्य अन्य हो तो 'जिससे नहीं सुना हुवा सुना जाता है' ( छा० ६ । १ । ३ ) यह प्रतिज्ञा पीड़ित होगी, किन्तु कार्यकी सत्ता तथा कार्यका कारणसे अभिन्न होना निश्चय होनेसे ही इस प्रतिज्ञाका समर्थन होता है ॥ १८ ॥

## पटवच्च ॥ १९ ॥

जैसे तै किया हुवा कपड़ा स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है कि क्या यह कपड़ा है या अन्य कुछ वस्तु है, उसी कपड़ेको फैलानेपर जो तै किया हुवा द्रव्य है वह कपड़ा ही है इस प्रकार फैलानेसे प्रकट होता है। जैसे तै करनेके समय यह कपड़ा है यह जान लेनेपर भी विशेष लम्बाई चौड़ाईका ग्रहण नहीं होता है, और फैलानेके समय उसी कपड़ेकी विशेष लम्बाई चौड़ाईका ग्रहण होता है यह तै किये हुवे कपड़ेसे

मविस्तारो गृह्यते न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति । एवं तन्त्वादिकारणावस्थं पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते । अतः संवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवानन्यत्कारणात्कार्यमित्यर्थः ॥ १९ ॥

## यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्रेण रूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते नाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यान्तरम् । तेष्वेव प्राणभेदेषु पुनः प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं निर्वर्त्यते । न च प्राणभेदानां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वं, समीरणस्वभावाविशेषात् । एवं कार्यस्य कारणादनन्यत्वम् । अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात्तदनन्यत्वाच्च सिद्धैषा श्रौती प्रतिज्ञा 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' ( छा० ६ । १ । ३ ) इति ॥ २० ॥

## ७ इतरव्यपदेशाधिकरणम् । सू० २१–२३

## इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते । चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—इतरव्यपदेशात् । इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः—'स

अन्य कोई भिन्न कपड़ा नहीं है । इसी प्रकार तागे आदि कारणमें स्थित रहनेवाले कपड़ा आदि कार्य अस्पष्ट होकर तुरी वेम—बुननेके औजार, जुलाहे आदि कर्त्ताकी क्रिया आदियोंसे स्पष्टरूपसे ग्रहण किये जाते हैं, इस कारण से किये हुवे और फैलाये हुवे कपड़ेके न्यायसे ही कारणसे कार्य अनन्य—अभिन्न है ॥ १९ ॥

## यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

जैसे लोकमें प्राण और अपान आदि प्राणभेद प्राणायामसे रोके जाने और कारणमात्रमें विद्यमान होनेपर केवल जीवनमात्र कार्य होता है, उस समय सिकोड़ने और फैलाने आदि कार्यान्तर नहीं होता है, और फिर वे ही प्राणभेद प्रवृत्त होनेपर जीवनसे अधिक सिकोड़ना और फैलाना आदि कार्यान्तर भी होता है । ये प्राणभेद भेदवाले प्राणसे अन्य नहीं हैं, क्योंकि गमनशील वायुके स्वभावसे इन प्राण भेदोंकी कोई विशेषता नहीं होती, इस प्रकार कार्य कारणसे अभिन्न है, इसीलिये यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मके कार्य होनेसे ब्रह्मसे अभिन्न—अपृथक् है, इस कारण यह वैदिकी—श्रौती प्रतिज्ञा सिद्ध होती है 'जिससे नहीं सुना हुवा सुना जाता है, नहीं माना हुवा माना जाता है, और न जाना हुवा जाना जाता है' ( छा० ६ । १ । ३ ) इत्यादि ॥ २० ॥ यह छठा आरम्भणाधिकरण समाप्त हुआ ।

## ७ इतरव्यपदेशाधिकरणम् । सू० २१–२३

## इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१

फिर चेतनकारणवादको अन्य प्रकारसे आक्षेप करते हैं । चेतनसे जगत् बनता है यह मान लेनेपर हित न करने आदि दोष आवेंगे ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—'इतरव्यपदेशात्' दूसरेको निर्देश करनेसे, इतर जीवात्माको ब्रह्मात्मत्वरूपसे श्रुति निर्देश

आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' ( छा० ६ । ७ । ८ ) इति प्रतिबोधनात् । यद्वा इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' ( तै० २ । ६ ) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरात्मत्वप्रदर्शनात् । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' ( छा० ६ । ३ । २ ) इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति । तस्माद्यद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति । अतः स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम् । नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वानुप्रविशति । न च स्वयमत्यन्तनिर्मलः सन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात् । कृतमपि कथंचिद्यद्दुःखकरं तदिच्छया जह्यात् । सुखकरं चोपाददीत । स्मरेच्च मयेदं जगद्बिम्बं विचित्रं विरचितमिति । सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरति मयेदं कृतमिति । यथाच मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयानायासेनैवोपसंहरति, एव शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत् । स्वमपि तावच्छरीरं शारीरो न शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम् । एवं हितक्रियाद्यदर्शनादन्याय्या चेतनाज्जगत्प्रक्रियेति गम्यते ॥ २१ ॥

## अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

प्रत्युत्तरम्—तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः । न तस्मिन्हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते ।

करती है, जैसे—'हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू है' ( छा० ६ । ८ । ७ ), इस तरह ज्ञान कराया गया है । अथवा—इतर ब्रह्मको जीवात्मस्वरूपसे श्रुति निर्देश करती है, जैसे—'जगत्को बना कर उसीमें पश्चात् प्रवेश किया' ( तै० २ । ६ ) इस प्रकार स्रष्टा विकाररहित ब्रह्मको ही कार्यमें अनुप्रवेश करनेसे जीवात्मस्वरूपसे दिखाया है । और 'इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश कर नाम और रूपको उत्पन्न करूं' ( छां० ६ । ३ । २ ) इस प्रकार परा देवता जीवात्माको आत्मशब्दसे निर्देश करती हुई, ब्रह्मसे भिन्न जीवात्मा नहीं है यह दिखाती है, ब्रह्मका जो स्रष्टृत्व है वह जीवात्माका ही है, इस कारण वह स्वतन्त्र कर्त्ता होता हुआ वह अपना आनन्ददायक हित ही करेगा, न कि जन्म, मरण, वृद्धत्व, रोग आदि अनेक अनर्थ जालयुक्त अहित करेगा । कोई स्वाधीन पुरुष अपने लिये कारागार बना कर पश्चात् प्रवेश नहीं करता है, और स्वयं अत्यन्त निर्मल होकर अत्यन्त मलिन देहको आत्मत्वरूपसे कोई स्वीकार न करेगा । किया हुवा भी कार्य यदि दुःखकर हो तो उसे अपनी इच्छासे छोड़ देवे, सुखदायी वस्तुको प्राप्त करे । और स्मरण करे कि मैंने यह विचित्र जगत्रूपको बनाया है । सब ही लोग स्पष्टरूपसे काम कर स्मरण करते हैं कि मैंने यह काम किया, जैसे मायावी—छली पुरुष स्वयं फैलायी हुई मायाको इच्छासे विना ही प्रयत्न किये सिकोड़ लेता है अर्थात् हटा देता है, इस प्रकार जीवात्मा भी इस सृष्टिको हटा देवे, जीवात्मा तो अपने ही शरीरको विना प्रयत्नसे दूर नहीं कर सकता है, इस प्रकार हित करने आदि क्रियाके न देखे जानेसे प्रतीत होता है कि चेतनसे जगत् बनना युक्तियुक्त नहीं है ॥ २१ ॥

( यह पूर्वपक्षीका शंका समाधान है, अब सिद्धान्तीका प्रतिसमाधान ) ।

## अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

पुत्तर—'तु' शब्द पूर्वपक्षको हटाता है, जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है और वह जीवात्मासे अधिक उत्कृष्ट है, उसीको हम जगत्का स्रष्टा कहते हैं, उसमें हित न करने

नहि तस्य हितं किंचित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्तव्यं, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्। न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वाच्च। शारीरस्त्वनेवंविधस्तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः। नतु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः।

प्रश्नः—कुत एतत्?

प्रत्युत्तरम्—भेदनिर्देशात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ( बृ० २।४।५ ), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' ( छा० ८।७।१ ), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' ( छा० ६।८।१ ), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' ( बृ० ४।३।३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति।

प्रश्नः—नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः। कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्?

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः। आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। अपिच यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवत्यपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वं, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। तत्र कुत एव सृष्टिः कुतो वा हिताकरणादयो दोषाः। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिर्हिताकरणादिलक्षणः संसारो नतु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम।

आदि दोष नहीं आ सकते, उसका कोई करने योग्य हित नहीं है, न उसका त्यागने योग्य अहित है, क्योंकि वह नित्य मुक्त स्वभाव है उसके ज्ञानका रुकावट अथवा शक्तिका रुकावट कहीं नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, जीवात्मा तो ऐसा नहीं है, उसीमें हित न करने आदि दोष हो सकते हैं, उस जीवात्माको जगत्का स्रष्टा हम नहीं कहते हैं।

प्रश्न—यह कैसे?

प्रत्युत्तर—क्योंकि यहां भेद निर्देश किया है। जैसे:—

'अहो! यह आत्मा देखने, सुनने, मनन करने और साक्षात्कार करने योग्य है' ( बृ० २।४।५ )
'हे सौम्य! तब वह सत् ब्रह्मसे सम्पन्न हो जाता है अर्थात् साक्षात्कार हो जाता है' ( छा० ६।८।१ )
'शरीरमें रहनेवाला जीवात्मा अपनेसे अधिक विद्वान् परमात्मासे संयुक्त होकर' ( बृ० ४।३।३५ )

इस प्रकार कर्ता—कर्म आदि भेदका निर्देश जीवसे अधिक उत्कृष्ट ब्रह्मको दिखाता है।

प्रश्नः—अभेदका निर्देश भी दिखलाया गया है जैसे—'**तत्त्वमसि**' इत्यादि, ये दोनों विरुद्ध भेद और अभेद कैसे संभव हो सकता है?

प्रत्युत्तर—यह दोष ठीक नहीं, क्योंकि आकाश और घटाकाश न्यायसे दोनोंका ही संभव होना उन२ स्थानोंमे सिद्ध कर दिया गया है। और दूसरी बात यह है कि जब '**तत्त्वमसि**' इस प्रकारके अभेदनिर्देशसे अभेदका ज्ञान कराया जाता है तब जीवात्माका संसारी होना और ब्रह्मका स्रष्टा होना हट जाता है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे बढ़े हुवे समस्त भेदव्यवहार सम्यग्ज्ञानसे बाधित होता है, तब कहां तो यह सृष्टि है? और कैसे हित न करने आदि दोष हो सकते हैं? कारण कि अविद्यासे स्थापित नाम रूपसे बने हुवे कार्य और कार्यके साधन है इनका समूह ही उपाधिरूप अज्ञानसे बनी हुई भ्रान्ति है कि हित न करने आदि दोषयुक्त संसार है न कि वास्तविक, यह हम बार२ कह चुके, जैसे कि

जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत्। अबाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन भेदनिर्देशेनावगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि ॥ २२ ॥

## अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः वायसश्वप्रक्षेपणार्हाः पाषाणा इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते। यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि बीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं चन्दनकिंपाकादिषूपलक्ष्यते। यथा चैकस्याप्यन्नरसस्य लोहितादीनि केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्ति। एवमेकस्यापि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्तिः। परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः। श्रुतेश्च प्रामाण्याद्विकारस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात्स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः ॥ २३ ॥

## ८ उपसंहारदर्शनाधिकरणम्। सू० २४-२५

## उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते।

जन्म मरण और छेदन भेदन आदिका मिथ्या अभिमान होता है। और भेदव्यवहार अबाधित होनेपर तो 'वह अन्वेषणीय है, वह जिज्ञासा करने योग्य है' इस प्रकारके भेद निर्देशसे ज्ञायमान ब्रह्मकी अधिकता—उत्कृष्टता हित न करने आदि दोषोंको हटाता है ॥ २२ ॥

## अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

जैसे लोकमें पृथिवीके कठोर होना आदि सामान्य धर्मोंसे युक्त पत्थरोंमें कोई बहुत मूल्यके मणि रत्न और हीरे आदि, कोई मध्यम शक्तिवाले सूर्यकान्त आदि मणि और कोई हीनतेजवाले कुत्ते और कौवोंके लिये फेंकने योग्य पत्थर होते हैं, इस तरह अनेक प्रकारकी विचित्रता देखी जाती है, और जैसे एक ही पृथिवीको आश्रय करनेवाले बीजोंके भी बहुत प्रकारके पत्ते, फूल, फल, गन्ध और रस आदियोंसे विचित्रता चन्दन तथा [1]किंपाक आदि वृक्षोंमें प्राप्त होती है और जैसे एक ही अन्नरसके रक्त आदि तथा केश और रोम आदि विचित्र कार्य हो जाते हैं, इसी प्रकार एक भी ब्रह्मके जीवात्मा और परमात्मा रूपसे पृथक् होना और कार्यकी विचित्रता होना दोनों हो सकते हैं, इसलिये उपर्युक्त दोष व्यर्थ हैं, अर्थात् दूसरोंके कल्पित दोष लग नहीं सकते। श्रुतिके प्रमाण होनेसे तथा विकार केवल वाणीमात्रसे आरम्भ किये जानेसे जैसे स्वप्नके दृश्यभावोंकी विचित्रता होती है (वैसे ब्रह्मकी भी विचित्रता जान लेनी चाहिये)। यह सूत्रस्थ चकार अभ्युच्चय-हेत्वन्तर है ॥ २३ ॥ यहां सातवां इतरव्यपदेशाधिकरण समाप्त होगया।

## ८ उपसंहारदर्शनाधिकरणम्। सू० २४-२५

## उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

चेतन ब्रह्म अद्वितीय है, यह जगत्का कारण है, यह जो कहा था वह ठीक नहीं।

---

१—किंपाको महातालफलम्-रत्नप्रभा।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—उपसंहारदर्शनात् । इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्दण्डचक्रसूत्राद्यनेककारकोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते । ब्रह्म चासहायं तवाभिप्रेतं तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्येत । तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत् ।

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः । यतः क्षीरवद्द्रव्यस्वभावविशेषादुपपद्यते । यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं तथेहापि भविष्यति ।

प्रश्नः—ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकं कथमुच्यते क्षीरवद्धीति ?

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः । स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वार्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय । यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद्दधिभावमापद्येत । नहि वायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद्दधिभावमापद्यते । साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते । परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म । न तस्यान्येन केनचित्पूर्णता संपादयितव्या । श्रुतिश्च भवति—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥' ( श्वे० ६।८ ) इति तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात्क्षीरादिवद्विचित्रपरिणाम उपपद्यते ॥ २४ ॥

---

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—'**उपसंहारदर्शनात्**' सामग्री आदि साधन देखे जानेसे, इस लोकमें घट पटादियोंको बनानेवाले कुम्हार आदि मिट्टी, दण्ड, चक्र तथा तागे आदि अनेक साधन सामग्रियोंसे संयुक्त होकर ही उन २ कार्योंको करते हुये देखे जाते हैं, और तुम्हारा तो अभिप्राय यह है कि ब्रह्म असहाय है, जब उसके साधन नहीं रहेंगे तो वह कैसे स्रष्टा हो सकता है ? इसलिये ब्रह्म जगत्का कारण नहीं ।

(यह पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीका प्रत्युत्तर)

प्रत्युत्तर—यदि इस प्रकार कहते हो तो यह दोष ठीक नहीं । कारण कि दूधके समान द्रव्यके स्वभावविशेषसे यह हो सकता है । जैसे कि लोकमें दूध वा जल स्वयं दही और बर्फ रूपसे किसी बाह्यसाधनको अपेक्षा न करे बदल जाते हैं, वैसे ही यहांपर भी होगा ।

प्रश्न—दही आदि रूपमें बदलनेवाले दूध आदि भी गर्मी आदि बाह्यसाधनोंको अपेक्षा करते ही हैं तो कैसे कहते हो दूधकी तरह ?

प्रत्युत्तर—यह दोष नहीं आता, स्वयं दूध भी जिस और जितनी परिमाणकी मात्राको अनुभव करता है उतनी ही मात्राको दही बनानेके लिये अग्नि आदि शीघ्रतासे गर्म करते हैं । यदि दूधमें स्वतः दही होनेका स्वभाव न होता तो अग्नि आदि भी बलसे दही नहीं बना सकते, वायु वा आकाश अग्नि आदिद्वारा बलपूर्वक भी दही नहीं बनाया जा सकता, साधन सामग्रीसे उसकी पूर्णता की जाती है, ब्रह्म तो परिपूर्ण शक्तिमान् है, उसकी पूर्णता किसी अन्यद्वारा होनेकी आवश्कता नहीं, इस विषयमें श्रुतिका भी प्रमाण है:—

'ब्रह्मका परिणामरूप कार्य तथा इन्द्रियादि साधन नहीं हैं, न उसके तुल्य वा अधिक कोई है, उसकी बहुत बड़ी शक्ति सुनी जाती है, उसके ज्ञान, बल तथा क्रिया स्वाभाविक हैं' ( श्वे० ६ । ८ ) इसलिये एक भी ब्रह्मके विचित्र शक्तियोगसे दूध आदिके समान विचित्र परिणाम होता है ॥२४॥

## देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

प्रश्नः—स्यादेतत् । उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनानामनपेक्ष्यापि बाह्यं साधनं दध्यादिभावः, दृष्टत्वात् । चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रीमपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमाना दृश्यन्ते । कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्तेतेति ?

प्रत्युत्तरम्—देवादिवदिति ब्रूमः । यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात् । तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून्सृजति । बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते । पद्मिनी चानपेक्ष्य किंचित्प्रस्थानसाधनं सरोन्तरात्सरोन्तरं प्रतिष्ठते । एवं चेतनमपि ब्रह्मानपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति । स यदि ब्रूयाद्य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समाना भवन्ति । शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादन उपादानं न तु चेतन आत्मा । तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति । बलाका च स्तनयित्नुरवश्रवणाद्गर्भं धत्ते । पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव शरीरेण सरोन्तरात्सरोन्तरमुपसर्पति वल्लीव वृक्षं, न तु स्वयमेवाचेतना सरोन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते । तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता

## देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

प्रश्न—अच्छा यह हो जाने दो, दूध आदि अचेतनोंका बाह्य साधनोंकी अपेक्षा न रहनेपर भी दही आदि हो जाना सम्भव हो तो होने दो, कारण कि ये तो देखे ही जाते हैं, किन्तु चेतन कुम्हार आदि तो साधन और सामग्री आदियोंकी अपेक्षा करके ही उन २ कार्योंके निमित्त लगे हुये देखे जाते हैं, चेतन ब्रह्म असहाय होकर कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?

प्रत्युत्तर—हम तो कहते हैं कि देव आदियोंके तुल्य ब्रह्म भी प्रवृत्त हो सकता है, जैसे कि लोकमें देव, पितर और ऋषि आदि बड़े प्रभाव रखनेवाले चेतन होकर भी किसी बाह्य साधनोंकी अपेक्षा न करके ही विशेष ऐश्वर्ययोगसे केवल ध्यानमात्रसे अपने अन्दरसे अनेक स्थानोंमें स्थिर रहनेवाले अनेक शरीर, अनेक भवन और रथ आदि बनाते हुये पाये जाते है. यह बात मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणोंके प्रमाणोंसे सिद्ध है मकड़ी अपने अन्दरसे ही तागोंको उत्पन्न करती है, बलाका नामक चिड़िया बिना ही वीर्यके गर्भ धारण करती है, और पद्मिनी भी रथ आदि सवारीके साधनोंको बिना ही अपेक्षा किये एक तालाबसे दूसरे तालाबमें जाकर स्थिर होती है, इसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधनोंकी अपेक्षा न कर अपने अन्दरसे ही जगत्को बनायेगा । यदि वह प्रतिपक्षी यह कहे कि जिन देव आदियोंको ब्रह्मके दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किये हैं वे दार्ष्टान्तरूप ब्रह्मके साथ समान नहीं होते हैं, जैसे देवादियोंके अचेतन शरीर ही शरीरान्तरादि विभूतियोंके उत्पादनमें उपादान कारण है, चेतन आत्मा तो उपादान कारण नहीं है, छोटे २ क्षुद्रजन्तुओंको खानेसे मकड़ीकी लार कठिन होकर तागा बन जाती है, बलाका नामक चिड़िया भी बादलके शब्दोंको सुन कर गर्भ धारण करती है, और पद्मिनी भी चेतनद्वारा प्रयुक्त होकर अचेतन ही शरीरसे एक तालाबसे दूसरे तालाबमें चली जाती है जैसे कि लता वृक्षके पास चली जाती है, न कि स्वयं अचेतन तालाबोंमें जानेके लिये

इति । तं प्रति ब्रूयादयं दोषः । कुलालादिदृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षितत्वादिति । यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद्वयं देवाद्युदाहरणेन विवक्षामः । तस्माद्यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हतीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

## ६ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् । सू० २६–२९

### कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा । २६ ॥

चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम् । शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति ।

प्रश्नः—कृत्स्नप्रसक्तिः कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति, निरवयवत्वात् । यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत्सावयवमभविष्यत्ततोऽस्यैकदेशः पर्यणंस्यदेकदेशश्चावास्थास्यत् । निरवयवं तु ब्रह्म श्रुतिभ्योऽवगम्यते—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' ( श्वे० ६।१९ ) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' ( मु० २।१।२ ), 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' ( बृ० २।४।१२ ), 'स एष नेति नेत्यात्मा' ( बृ० ३।९।२६ ), 'अस्थूलमनणु' ( बृ० ३।८।८ ) इत्याद्याभ्यः सर्वविशेषप्रतिषेधिनीभ्यः । ततश्चैकदेशपरिणामासंभवात्कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत ।

प्रवृत्त होती है, इस कारण ब्रह्मके ये दृष्टान्त नहीं हैं । उस प्रतिपक्षीसे कहे कि यह दोष ठीक नहीं, क्योंकि कुम्हार आदियोंके जो दृष्टान्त दिये गये हैं वे केवल विलक्षणतामात्रकी विवक्षासे हैं, जैसे कुम्हार आदियोंका और देव आदियोंका चेतन होना समान होनेपर भी कुम्हार आदि कार्यके आरम्भमें बाह्य साधनोंकी अपेक्षा करते हैं, किन्तु देव आदि नहीं करते हैं, वैसे ही चेतन भी ब्रह्म बाह्य साधनोंकी अपेक्षा न करेगा, हम इतनामात्र ही देवादियोंके उदाहरणसे विवक्षा करते हैं, जैसे एकका सामर्थ्य देखा जाता है वैसा ही अन्योंका भी होना चाहिये यह कोई सिद्धान्त नहीं है यह अभिप्राय है ॥ २५ ॥ यह आठवां उपसंहारदर्शनाधिकरण समाप्त हो गया ।

## कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् । सू० २६–२९

### कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

एक, चेतन, अद्वितीय ब्रह्म दूध आदि और देव आदियोंके समान बाह्य साधनकी अपेक्षा न कर स्वयं बदल कर जगत्‌का कारण हो जाता है, यह सिद्ध हो गया । किन्तु शास्त्रार्थको शोधन करनेके लिये फिर आक्षेप करते हैं—

प्रश्न—सम्पूर्ण ब्रह्मका कार्यरूपसे परिणाम होना प्राप्त हो जाता है, क्योंकि ब्रह्म तो निरवयव है । यदि पृथिवी आदि समान सावयव होता तो ब्रह्मका एक देश परिणामी होनेपर भी उसका एक देश बचा रहता, किन्तु ब्रह्म निरवयव है यह श्रुतियोंसे जाना जाता है—

'अखण्ड, निष्क्रिय, शान्त, अनिन्दित, निष्पाप ब्रह्म है' ( श्वे० ६ । १९ ), 'वह पुरुष परमात्मा दिव्य गुणोंसे युक्त, सबके बाहर और भीतर रहनेवाला अजन्मा है' ( मु० २ । १ । २ ), 'यह सबसे महान् आत्मा अनन्त, सीमारहित तथा विज्ञानोंसे युक्त ही है' ( बृ० २ । ४ । १२ ), 'वह यह आत्मा लौकिक नाशवान् पदार्थ नहीं है' ( बृ० ३ । ९ । २६ ), 'वह मोटा नहीं है छोटा नहीं है' । ( बृ० ३ । ८ । ८ )

इत्यादि सभी विशेषताओंको निषेध करनेवाली श्रुतियां प्रमाण हैं । तब तो एक देशका परिणाम

द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चाप्रयत्नदृष्टत्वात्कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य च ब्रह्मणोऽसंभवात् अजत्वादिशब्दकोपश्च। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्माभ्युपगम्येत तथापि ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः। सावयवत्वे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति। सर्वथायं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

उत्तरम्—तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति। न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति।

प्रश्नः—कुतः?

उत्तरम्—श्रुतेः। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात् 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' ( छा० ६।३।२ ) इति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' ( छा० ३।१२।६ ) इति चैवंजातीयकात्। तथा हृदयायतनत्ववचनात्सत्संपत्तिवचनाच्च। यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात् 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' ( छा० ६।८।१ ) इति सुषुप्तिगतं विशेषणमन-

समस्त न होनेपर समग्र भागका परिणाम होनेपर ब्रह्मका मूलोच्छेद—समूलनाश हो जायगा। मूलोच्छेद हो जानेपर द्रष्टव्य, आत्मव्यः इत्यादि उपदेश भी व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि सावयव कार्य पदार्थको देखनेके लिए प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं होती है, और परिणामस्वरूप कार्यके अतिरिक्त ब्रह्मके शेष न रहनेसे अज आदि शब्द भी दूषित हो जायँगे। यदि इन दोषोंको हटानेकी इच्छासे ब्रह्मको सावयव स्वीकार करोगे तो भी जो ब्रह्मको निरवयव प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंके उदाहरण दिये गये हैं वे प्रकुपित होंगे, यदि सावयव मानोगे तो ब्रह्म अनित्य होगा। सर्वथा यह पक्ष घट नहीं सकता, इस प्रकार पूर्वपक्षी आक्षेप करता है ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

उत्तर—'तु' शब्द पूर्वपक्षका खण्डन करता है, हमारे पक्षमें कुछ भी दोष नहीं है, ब्रह्मका सम्पूर्ण भाग परिणत नहीं हो सकता है।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—श्रुतिप्रमाणसे। जैसे ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति सुनी जाती है वैसे विकारके अतिरिक्त भी ब्रह्मका अवस्थित होना सुना जाता है, क्योंकि प्रकृति और विकार इन दोनोंको भेदरूपसे निर्देश किया है, जैसे—

'उस देवताने विचार किया कि ये तेज, जल और पृथिवी तीन देवतायें हैं, इस जीवरूप आत्मामें अनुप्रवेश कर नाम और रूपको उत्पन्न करूँ' ( छा० ६। ३। २ )

'इस जगत्की जितनी महिमा है इससे अधिक महिमा इस पुरुषकी है, ये सब लोक इस ब्रह्मके एक भाग हैं, और तीन भाग इस द्युतनात्मक अमृत स्वरूप ब्रह्ममें रहते हैं' ( छा० ३। १२। ६ ) '( इससे जगत्के अतिरिक्त ब्रह्मका अवस्थित होना सिद्ध होता है। )

तथा ब्रह्मको हृदयायतन कहा है अर्थात् हृदयमें प्रतिष्ठित होता है और उसे सत्संपत्ति भी कहा है, यदि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्यरूपसे बदल जावे तो **'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'** (छा०६। ८।१) इस श्रुतिद्वारा जीवको सुषुप्त होनेका विशेषण देना अनुचित होता, क्योंकि वह तो विकृत ब्रह्मके साथ

पपन्नं स्यात् । विकृतेन ब्रह्मणा नित्यसंपन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात् । तथेन्द्रियगोचरत्वप्रतिषेधाद्ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः । तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म । नच निरवयवत्वशब्दकोपोऽस्ति, श्रूयमाणत्वादेव निरवयवत्वस्याप्यभ्युपगम्यमानत्वात् । शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम् । शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च । लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते । ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्तय इति । किमुताचिन्त्यस्वभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत । तथाचाहुः पौराणिकाः—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् । प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।।' इति । तस्माच्छब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः ।

प्रश्नः—ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च ब्रह्म परिणमते नच कृत्स्नमिति । यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव परिणमेत । कृत्स्नमेव वा परिणमेत । अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चावतिष्ठेतेति रूपभेदकल्पनात्सावयवमेव प्रसज्येत । क्रियाविषये हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहारकारणं भवति पुरुषतन्त्रत्वाच्चानुष्ठानस्य । इह तु विकल्पाश्रयणेनापि न विरोधपरिहारः संभवत्यपुरुषतन्त्रत्वाद्व-

नित्य सम्पन्न रहता है, और अविकृत ब्रह्म तो होगा ही नहीं, तथा ब्रह्मको इन्द्रियोंका गोचर होना निषेध किया है, और ब्रह्मका विकार तो इन्द्रियोंका गोचर होता है, इस कारण अविकृत ब्रह्म भी रहता है। निरवयवत्व शब्दोंका भी कोप नहीं होगा, क्योंकि सुने जानेसे ही ब्रह्मका निरवयवी होना स्वीकार किया जाता है, ब्रह्म तो शब्दमूल है अर्थात् शब्द प्रमाणसे सिद्ध होता है, इन्द्रियादि प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता, इस कारण जैसा शास्त्रमें कहा हो वैसा ही मानना चाहिये। शब्द शास्त्र तो दोनों प्रकार के ब्रह्मको प्रतिपादन करता है सम्पूर्ण ब्रह्मका परिणाम न होना और निरवयत्व होना, लौकिक भी मणि, मन्त्र और औषधि आदियोंकी शक्तियां देशकाल निमित्तके विचित्रतावशसे विरुद्ध तथा अनेक कार्यविषयमें युक्त देखी गई हैं, उन शक्तियोंको भी उपदेशके विना केवल तर्कसे जान नहीं सकते कि इस वस्तुकी इतनी शक्ति है, इतने सहायक हैं, इतने विषय हैं, और इतनी प्रयोजनवाली शक्तियां हैं, तो उसके विषयमें क्या कहना है जो अचिन्तनीय स्वभाववाला ब्रह्म है, उसके रूपको विना शब्द प्रमाणके निरूपण नहीं कर सकते, पौराणिक लोग कहते हैं कि:—

'जो भाव अचिन्तनीय हैं उनको तर्कोंसे सिद्ध नहीं करना चाहिये, जो प्रकृतिसे भी सूक्ष्म है वही अचिन्त्यका लक्षण है' इसलिये अतीन्द्रिय सूक्ष्म विषयोंको शब्दमूलसे ही यथार्थ जान सकते हैं।

प्रश्न—शब्दसे भी विरुद्ध अर्थको निश्चय नहीं करा सकते कि निरवयव ब्रह्म परिणामी हो जाता है, सब नहीं, यदि ब्रह्म निरवयव है तो वह परिणामी न होता अथवा सम्पूर्णभाग परिणामी होता, यदि ब्रह्म किसी रूपसे परिणामी हो और किसी रूपसे अपरिणामी होकर स्थिर रहे तो वह रूपभेद की कल्पनासे वह सावयवी हो जावेगा। क्रियाके विषयमें रात बीतनेपर षोडशी याग करते हैं, रात बीतनेपर षोडशी याग नहीं करते है' इस प्रकार विरोध प्रतीत होनेपर भी विकल्पका आश्रयण करना विरोधके खण्डन करनेका कारण हो जाता है, क्योंकि यागका अनुष्ठान करना पुरुषोंके अधीन है, यहांपर तो विकल्पको आश्रयण करनेपर भी विरोधका परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु पुरुषाधीन नहीं होती है,

स्तुनः तस्माद्दुर्घटमेतदिति ?

उत्तरम्—नैष दोषः । अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात् । नह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु संपद्यते । नहि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति । अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते । पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते । वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति । नचेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात् । सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात् । 'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याह—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' ( बृ० ४।२।४ ) इति । तस्मादस्मत्पक्षे न कश्चिदपि दोषप्रसङ्गोऽस्ति ॥ २७ ॥

## आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

अपिच नैवात्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन्ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः स्यादिति । यत आत्मन्यप्येकस्मिन्स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' ( बृ० ४।३।१० ) इत्यादिना । लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादि-

इस कारण तुम्हारा कहना दुर्घट है ।

उत्तर—यह दोष नहीं, क्योंकि यह रूपभेद अविद्याकल्पित माना जाता है, अविद्याकल्पित रूपभेदसे ब्रह्म सावयव नहीं हो सकता, तिमिर रोगसे जिसकी आंखकी शक्ति नष्ट हो गई है यदि वह अनेक चन्द्रके समान चन्द्रमाको देखे तो अनेक ही चन्द्रमा नहीं होता । इस व्याकृत और अव्याकृत, तत्त्व और अन्यत्व रूपसे अनिर्वचनीय अविद्याकल्पित नामरूप भेदसे ब्रह्म परिणाम आदि सब व्यवहारोंका अधिष्ठान हो सकता है, और वास्तविकरूपसे तो सभी व्यवहारोंसे रहित परिणत न होकर स्थिर रहता है, और यह अविद्याकल्पित नामरूप तो केवल वाणीमात्रसे आरम्भ किया जाता है, इस कारण ब्रह्मका निरवयवी होना प्रकोपित न होगा । यह परिणामको बतानेवाली श्रुति परिणामको प्रतिपादनके लिये नहीं, क्योंकि परिणामी ब्रह्मकी प्राप्तिमें मोक्षरूप फलकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु यह श्रुति तो सभी व्यवहारोंसे रहित ब्रह्मात्मत्वको प्रतिपादन करनेके लिये है, उसको जान लेनेपर ही मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है, जैसे कि—'वह यह आत्मा नहीं है, नहीं है' इस प्रकार आरम्भ कर 'हे जनक ! तुम भयरहित ब्रह्मको प्राप्त हो गये हो' ( बृ० ४ । २ । ४ ) इत्यादि । इस कारण हमारे पक्षमें किसी दोषका प्रसङ्ग नहीं आता ॥ २७ ॥

## आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

और दूसरी बात यह है कि अब तो यहां विवाद नहीं करना चाहिये कि एक ब्रह्ममें स्वरूप नाश हुवे विना ही क्यों अनेक प्रकारकी सृष्टि बन जाती है ? कारण कि स्वप्नको देखनेवाले एक आत्मामें भी स्वरूप नाश हुवे विना ही अनेक प्रकारकी सृष्टि पढ़ी जाती है:—

'स्वप्नमें न रथ होते हैं, न घोड़े और न मार्ग, किन्तु रथोंको, घोड़ोंको और मार्गको जीव उत्पन्न करता है' ( बृ० ४ । ३ । १० ) इत्यादिसे । लोकमें भी देवादियोंमें और मायावी आदिमें स्वरूप नाश किये विना ही विचित्र हाथी घोड़े आदियोंकी सृष्टि देखी जाती है, वैसे ही एक ब्रह्म

सृष्टयो दृश्यन्ते । तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति ॥ २८ ॥

## स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

परेषामप्येष समानः स्वपक्षे दोषः । प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य कारणमिति स्वपक्षः । तत्रापि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात्प्रधानस्य प्राप्नोति निरवयवत्वाभ्युपगमकोपो वा ।

प्रश्नः—ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युपगम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानं तैरेवावयवैस्तत्सावयवमिति ?

उत्तरम्—नैवंजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते । यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम् । एकैकमेव चेतरद्वयानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात्स्वपक्षदोषप्रसङ्गस्य ।

प्रश्नः—तर्काप्रतिष्ठानात्सावयवत्वमेवेति चेत् ?

उत्तरम्—एवमप्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः । अथ शक्तय एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा इत्यभिप्रायः । तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः तथाणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद्यदि कार्त्स्न्येन संयुज्येत ततः प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गः । अथैकदेशेन संयुज्येत तथापि निरवयवत्वाभ्युपगमकोप इति स्वपक्षेऽपि समान

स्वरूप नाश किये बिना ही अनेक प्रकारकी सृष्टि हो जावेगी ॥ २८ ॥

## स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

प्रतिपक्षियोंका भी यह दोष अपने पक्षमें समान है । प्रधानवादियोंका यह स्वपक्ष है कि प्रधान शब्दादिहीन है, अपरिच्छिन्न तथा निरवयव है, वह प्रधान सावयव परिच्छिन्न शब्दादियुक्त कार्य जगत्का कारण है । इस पक्षमें भी प्रधानके निरवयव होनेसे सम्पूर्णका परिणामी होना तथा निरवयव माननेसे उन शब्दोंका कोप भी होगा ।

प्रश्न—सांख्यवादी तो प्रधानको निरवयव नहीं मानते, उनका सिद्धान्त तो यह है कि सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण नित्य हैं, उन तीनोंकी साम्यावस्था प्रधान है, उन्हीं तीनोंके अवयवोंसे यह सावयव जगत् बन जाता है ?

उत्तर—इस प्रकार सावयव माननेमें प्रकृत दोषको हटा नहीं सकते, क्योंकि सत्त्व, रज और तमोंके प्रत्येकका निरवयव होना समान ही है । सत्त्व आदि प्रत्येक अन्य दोनोंमें अनुगत होकर सजातीय प्रपञ्चरूप जगत्के कारण होते हैं, इसलिये उनके भी स्वपक्षमें दोषका प्रसंग होना समान है ।

प्रश्न—यदि कहा जाय तर्कोंकी अप्रतिष्ठा होनेसे प्रधानको सावयव मानना चाहिये ?

उत्तर—तो भी उसमें अनित्य होना आदि दोष आ जावेंगे । यदि यह अभिप्राय हो कि कार्योंकी विचित्रताओंसे सूचित शक्तियां ही अवयव रूप हैं तो वे शक्तियां तो ब्रह्मवादियोंकी भी हैं, इस अंशमें कोई विशेषता नहीं रहती । तथा अणुवादियोंका भी समान दोष होगा जैसे—किसी अणुको किसी अणुके साथ संयोग किया जाय तो यदि निरवयव होनेसे सम्पूर्ण भागसे संयुक्त हो तो वह संयोग उन्नत नहीं हो सकता, इससे अणुमात्र ही प्रसंग होगा, यदि एक देशसे संयोग हो तो भी निरवयव माने हुवे शब्दका कोप होगा, इस प्रकार स्वपक्षमें भी समान ही दोष होगा, समान होनेसे किसी एक पक्षमें

एव दोषः । समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन्नेव पक्ष उपक्षेप्तव्यो भवति । परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः ॥ २६ ॥

## १० सर्वोपेताधिकरणम् । सू० ३०–३१

### सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम् ।

**प्रश्नः**—तत्पुनः कथमवगम्यते विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति ?

**उत्तरम्**—तदुच्यते । सर्वोपेता च तद्दर्शनात् । सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

**प्रश्नः**—कुतः ?

**उत्तरम्**—तद्दर्शनात् । यथा हि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' छा० ३ । १४ । ४ ), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' ( छा० ८ । ७ । १ ), 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' ( मुण्ड० १ । १ । ९ ), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९ ) इत्येवंजातीयका ॥ ३० ॥

### विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

**प्रश्नः**—स्यादेतत् । विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनाः' ( बृ० ३ । ८ । ८ ) इत्येवंजातीयकम् । कथं सा सर्वशक्तियुक्तापि सती कार्याय प्रभवेत् ।

दोष लगाना उचित नहीं, ब्रह्मवादीने तो अपने पक्षमें दोषोंका परिहार कर दिया है ॥ २६ ॥ यह नौवां कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण समाप्त हो गया ।

## १० सर्वोपेताधिकरणम् । सू० ३०–३१

### सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

एक भी ब्रह्मके विचित्र शक्तियोंके योगसे विचित्र विकार प्रपंच हो सकता है यह कह दिया है ।

**प्रश्न**—तो फिर कैसे जाना जाता है कि परब्रह्म विचित्र शक्तियुक्त है ?

**उत्तर**—कहते हैं—'**सर्वोपेता च तद्दर्शनात्**' । वह पर देवता सर्वशक्तिमती है ऐसा जानना चाहिये ।

**प्रश्न**—कैसे ?

**उत्तर**—क्योंकि ऐसा देखा जाता है, जैसे श्रुति दिखाती है कि पर देवताकी सभी शक्तियोंका योग है—

'सब काम करनेवाला, सब कामनाओंसे युक्त, सब गन्ध रसोंसे सम्पन्न, सर्वतः व्यापक, वाणी आदि इन्द्रियोंसे रहित और अनादर—निष्काम है' ( छा० ३ । १४ । ४ ) 'वह सत्यकाम सत्यसंकल्प है' ( छा० ८ । ७ । १ ) 'जो सर्वज्ञ व सर्ववित् है' ( मुण्ड० १ । १ । ९ ) ।

'हे गार्गि ! इस अक्षर—अविनाशी परमात्माके शासनमें सूर्य और चन्द्रमा स्थिर रहते हैं और वह उनको धारण करता है' ( बृ० ३ । ८ । ९ ) इत्यादि ॥ ३० ॥

### विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

**प्रश्न**—अच्छा जाने दो, शास्त्र देवताको इन्द्रियरहित कहता है, जैसे—'वह नेत्ररहित है तथा श्रोत्र वाणी और मनसे रहित है' ( बृ० ३ । ८ । ८ ) इस प्रकारकी श्रुतियां हैं, वह सर्वशक्तिमती होनेपर भी क्यों काम करनेके लिये समर्थ हो सकती है ? कारण कि चेतन देव आदि सर्वशक्तिमान् होनेपर भी

देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिककार्यकरणसंपन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते । कथं च 'नेति नेति' ( बृ० ३ । ९ । २६ ) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषाया देवतायाः सर्वशक्तियोगः संभवेदिति चेत् ?

उत्तरम्—यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम् । श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम् । न च यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथान्यस्यापि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्तीति । प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्यापि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः संभवतीत्येतदप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव । तथा च शास्त्रम्—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' ( श्वे० ३ । १९ ) इत्यकरणस्यापि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति ॥ ३१ ॥

## ११ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् । सू० ३२–३३

### न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत आक्षिपति । न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—प्रयोजनवत्त्वात्प्रवृत्तीनाम् । चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत्प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः । किमुत

आध्यात्मिक कार्यसाधक इन्द्रियोंसे सम्पन्न होकर ही उन उन कार्योंको करनेके लिये समर्थ होते देखे गये हैं, तो फिर कैसे 'यह नहीं, यह नहीं' ( बृ० ३ । ९ । २६ ) इत्यादि श्रुतिसे जिस देवताकी सब विशेषताओंका निषेध किया जाता है उसका सर्वशक्तियोग होना संभव हो सकता है ?

उत्तर—जो कुछ यहां कहना चाहिये वह प्रथम ही कह दिया है, यह अतिगंभीर दुर्ज्ञेय ब्रह्म श्रुतिसे जानने योग्य है, तर्कसे जानने योग्य नहीं, जैसा एकका सामर्थ्य देखा जाता है वैसा अन्यका भी सामर्थ्य होना चाहिये यह कोई नियम नहीं है। सब विशेषताओंसे रहित ब्रह्मका भी सब शक्तियोंका योग होना संभव हो सकता है, यह भी अविद्याकल्पित रूपभेदके निर्देशसे कह दिया है। इसमें शास्त्रका भी प्रमाण है:—

'ब्रह्मके हाथ पैर नहीं होते हैं तथापि वह शीघ्रगामी तथा लेनेवाला है, नेत्र न होनेपर भी देखता है, कान न होनेपर भी सुनता है ( श्वे० ३ । १९ ) इस प्रकार इन्द्रियरहित ब्रह्मका भी सर्व सामर्थ्ययोगको श्रुति दिखाती है ॥ ३१ ॥ यह दसवां सर्वोपेताधिकरण समाप्त हो गया।

## ११ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् । सू० ३२–३३

### न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

फिर अन्य प्रकारसे जगत्के चेतनकर्त्ताको आक्षेप करते हैं—चेतन परमात्मा इस जगत्बिम्बको बना नहीं सकता।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्योंकि प्रवृत्ति प्रयोजनवाली होती है, बुद्धिपूर्वक करनेवाले काममें लगे हुवे चेतन पुरुष अपने प्रयोजनके अनुपयोगी स्वल्प भी प्रवृत्तिको करते हुवे नहीं देखे गये हैं, अधिक प्रयत्नसाध्य प्रवृत्तिके विषयमें तो कहना ही क्या है ? इसमें लोक प्रसिद्धिको कहनेवाली श्रुतिका प्रमाण है:—

गुरुतरसंरम्भाम्। भवति च लोकप्रसिद्ध्यनुवादिनी श्रुतिः—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' ( बृ० २ । ४ । ५ ) इति । गुरुतरसंरम्भा चेयं प्रवृत्तिर्यदुच्चावचप्रपञ्चं जगद्बिम्बं विरचयितव्यम् । यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत । प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात । अथ चेतनोऽपि सन्नुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेणैवात्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमात्मापि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत । तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत । तस्मादश्लिष्टा चेतनात्सृष्टिरिति ॥ ३२ ॥

## लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

प्रत्युत्तरम्—तुशब्देनाक्षेपं परिहरति । यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किंचित्प्रयोजनमभिसंधाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किंचित्प्रयोजनं स्वभावादेव संभवन्ति एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वाभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति । नहीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा संभवति । नच स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते । यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बविरचना गुरुतरसंरम्भेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं, अपरिमितशक्तित्वात् । यदि नाम लोके लीलास्वपि किंचित्सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत तथापि नैवात्र किंचित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः । नाप्यप्रवृत्ति-

'अरे सबके स्वार्थके लिये सब प्रिय नहीं होते हैं, किन्तु अपने स्वार्थके लिये सब प्रिय होते हैं' ( बृ० २ । ४ । ५ ) इत्यादि । उच्च नीच प्रपञ्चयुक्त जगत्बिम्बको बनाना तो अधिक आयाससाध्य प्रवृत्ति है । यदि चेतन परमात्माकी यह प्रवृत्ति भी निज स्वार्थके लिये उपयोगी मानी जाय तो परमात्माका सुने जानेवाला पूर्णकाम होना बाधित होगा, यदि उसका कुछ प्रयोजन नहीं तो प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती । यदि चेतन होकर भी बुद्धिके अपराधसे उन्मत्त–पागल होकर प्रयोजनके विना भी कोई प्रवृत्त होता हुवा पुरुष देखा गया है वैसा ही परमात्मा भी प्रवृत्त होगा ऐसा कहा जाय तब तो परमात्माका सुने जानेवाला सर्वज्ञत्व बाधित होगा, इस कारण चेतनसे सृष्टि होना असंगत है ॥ ३२ ॥

(इतना पूर्वपक्षीका प्रश्न–परिहार है, अब सिद्धान्तीका प्रतिपरिहार)

## लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

प्रत्युत्तर—'तु' शब्द आक्षेपको हटाता है, जैसे लोकमें किसी परितृप्तात्मा राजाकी वा राजमन्त्रीकी प्रवृत्तिया किसी प्रयोजनको विचार किये विना ही खेल कूदोंमें केवल लीलारूप होती हैं, और जैसे श्वास प्रश्वास आदि किसी बाह्य प्रयोजनको वास्ता न कर स्वभावसे ही चलते रहते हैं, वैसे ईश्वरकी भी स्वभावसे ही प्रवृत्ति किसी भी प्रयोजनको अपेक्षा न कर केवल लीलारूप होगी, ईश्वरके प्रयोजनोंको निरूपण करना न तो न्यायसे वा श्रुतिसे सुना गया है, यहां स्वभावको लगा नहीं सकते, यद्यपि हमें यह जगतबिम्बकी रचना महान् परिश्रमसाध्य कामकी तरह प्रतीत होती है, तथापि यह परमेश्वरकी केवल लीला ही है, क्योंकि परमात्माकी शक्ति परिमित नहीं है । यदि लोकमें लीलाओंमें भी कुछ सूक्ष्म प्रयोजनका विचार किया जाना संभव हो सकता है, तथापि यहां किसी प्रयोजनको विचार नहीं सकते, क्योंकि श्रुति परमात्माको पूर्णकाम बतलाती है, ब्रह्मकी अप्रवृत्ति भी नहीं होती, और न उसकी प्रवृत्ति पागलकी तरह हो सकती है, क्योंकि श्रुति सृष्टिको बताती

रुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा, सृष्टिश्रुतेः, सर्वज्ञश्रुतेश्च । नचेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥ ३३ ॥

## १२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् । सू ३४–३६

**वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ३४ ॥**

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य दृढीकरणाय । नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते ।

प्रश्नः—कुतः ?

उत्तरम्—वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात् । कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य [1]पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः । श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत । तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात्सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत । तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणम् ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते ।

है तथा ब्रह्मको सर्वज्ञ भी कहती है । यह सृष्टिविषयक श्रुति वास्तविक विषयको बतानेवाली नहीं है, क्योंकि यह सृष्टि तो अविद्याकल्पित नामरूप व्यवहारोंमें देखी जाती है, और ब्रह्मात्मत्वको प्रतिपादन करनेवाली भी श्रुति है, इसको भी नहीं भूलना चाहिये ॥३३॥ यह ग्यारहवां प्रयोजनवत्त्वाधिकरण समाप्त हो गया ।

## १२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् । सू० ३४–३६

**वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ३४ ॥**

फिर [2]स्थूणानिखननन्यायसे प्रतिज्ञात अर्थको दृढ़ करनेके लिये ईश्वरका जगत्की उत्पत्ति आदिमें कारण होना आक्षेप किया जाता है—ईश्वर जगत्का कारण नहीं हो सकता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्योंकि ब्रह्ममें विषम और निर्घृण–क्रूरता दोष आते हैं, जैसे—किन्हीं देवादियोंको अत्यन्त सुखी बनाता है, किन्हीं पशु आदियोंको अत्यन्त दुःखी और किन्हीं मनुष्योंको मध्यम सुखदुःखभागी, इस प्रकार नीच मूर्ख पुरुषके समान विषम सृष्टिको बनाते हुवे ईश्वरका रागद्वेषका होना संभव हो सकता है, श्रुति और स्मृतिद्वारा निर्धारित ईश्वरके स्वच्छ–निर्मल आदि स्वभावका लोप हो जावेगा, तथा दुःख देनेसे और सब प्रजाओंको संहार करनेसे दुष्ट जनोंसे भी गर्हित निर्घृण होना, अति क्रूर होना दोष प्रसंग होगा, इस कारण विषम और निर्घृण दोष प्रसंग होनेसे ईश्वर जगत्का कारण नहीं है ।

(इतना पूर्वपक्षीका प्रश्नोत्तर है, अब सिद्धान्तीका समाधान ।)

प्रत्युत्तर—ऐसे प्राप्त होनेपर कहते हैं, विषमता और अतिक्रूरता दोष ईश्वरमें नहीं आ सकते ।

---

१—पृथग्जन—पामर—रत्नप्रभा ।

२—जैसे खम्बेको दृढ़ रूपसे गाढ़नेके लिये बार२ हिला२ कर गाढ़ते हैं वैसे किसी विषयको बार२ प्रश्नोत्तररूपसे खण्डन मण्डन करनेसे वह पक्ष दृढ़ स्थिर हो जाता है, यहांपर भी बार२ चेतनकारणवादको आक्षेपरूपसे प्रसंग किया है जिससे यह पक्ष स्थिर हो, इसे स्थूणानिखननन्याय कहते हैं—अनुवादक ।

**प्रश्नः—कस्मात् ?**

**प्रत्युत्तरम्—सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यं च। न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति। सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते।**

**प्रश्नः—किमपेक्षत इति चेत् ?**

**प्रत्युत्तरम्—धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टव्यः। यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति।**

**प्रश्नः—कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्यमोत्तमं संसारं निर्मिमीत इति ?**

**प्रत्युत्तरम्—तथा हि दर्शयति श्रुतिः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो[1] लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ब्रा० ३।८) इति। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ३।२।१३) इति च। स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवेश्वरस्यानुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इत्येवंजातीयका ॥३४॥**

प्रश्न—क्यों ?

प्रत्युत्तर—**'सापेक्षत्वात्'** अपेक्षायुक्त होनेसे, यदि निरपेक्ष केवल ईश्वर विषम सृष्टिको बनावे तो विषमता और अतिक्रूरता ये दोनों दोष आ जायँ, निरपेक्ष होकर निर्माता हो नहीं हो सकता, सापेक्ष होकर ही ईश्वर विषम सृष्टिको बनाता है।

प्रश्न—बताओ ब्रह्म किसकी अपेक्षा करता है ?

प्रत्युत्तर—हम कहते हैं कि परमेश्वर धर्म और अधर्मकी अपेक्षा करता है। इसलिये यह बनाये जानेवाली विषम सृष्टि प्राणियोंके धर्म और अधर्मकी अपेक्षा करती है, इस कारण यह ईश्वरका अपराध नहीं है। ईश्वरको तो मेघके समान देखना चाहिये। जैसे मेघ धान और जौ आदिको उत्पन्न करनेमें साधारण कारण होता है, धान और जौ आदियोंकी विषमता होनेमें तो उन२ बीजगत विशेष सामर्थ्य ही कारण होते हैं, इसी प्रकार ईश्वर भी देव और मनुष्य आदियोंको उत्पन्न करनेमें साधारण कारण होता है। देव और मनुष्य आदियोंकी विषमता—उच्च नीच होनेमें तो उन२ जीवगत विशेष कर्म ही कारण होते हैं, इस प्रकार ईश्वर धर्म और अधर्मकी अपेक्षा करनेके कारण वैषम्य और नैर्घृण्य दोषोंसे दूषित न होगा।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि सापेक्ष ईश्वर नीच, मध्य और उत्तम संसारको बनाता है ?

प्रत्युत्तर—जैसे कि श्रुति दिखाती हैः—

'यह ही पुण्यात्माओंसे सत्कर्म कराता है, उन्हें इन लोकोंसे ऊपर उठाना चाहता है, यह ही पापात्माओंसे दुष्ट कर्म कराता है उसको नीचे गिराना चाहता है' (कौ० ब्रा० ३।८) 'धर्मसे पुण्य होता है और अधर्मसे पाप होता है' (बृ० ३।२।१३) स्मृति भी दिखाती है कि—ईश्वर का अनुग्रह करना और दण्ड देना प्राणियोंके कर्म विशेषोंकी अपेक्षा करते हैं, जैसेः—'मुझको जिस भावसे प्राणी प्राप्त होते हैं उनसे मैं उसी प्रकार वर्तता हूं' (गी० ४।११) इत्यादि ॥ ३४ ॥

---

१—श्रीवेङ्कटेश्वरकी टीकासहित पुस्तकमें 'यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो' पाठ है।

## न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

प्रश्नः—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' ( छा० ६।२।१ ) इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात्। सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत। अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम। प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत् ?

प्रत्युत्तरम्—नैष दोषः। अनादित्वात्संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान्संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ॥३५॥

प्रश्नः—कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति ?

प्रत्युत्तरम्—अत उत्तरं पठति—

## उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

उपपद्यते च संसारस्यानादित्वम्। आदिमत्त्वे हि संसारस्याकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः, अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुखदुःखादिवैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात्। नचेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम्। नचाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणं, एकरूपत्वात्। रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्यात्। नच कर्मान्तरेण शरीरं संभवति,

## न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

प्रश्न—'हे सोम्य ! सृष्टिके आदिमें केवल सत् ही एक अद्वितीय था' ( छा० ६। २। १ ) इससे सृष्टिके पहिले पृथक्२ विभागके निश्चय न होनेसे कर्म विद्यमान नहीं था जिसको अपेक्षा कर यह विषम सृष्टि बने, सृष्टिके पश्चात् ही शरीर आदियोंके पृथक्२ विभागको अपेक्षा करनेवाला कर्म हो सकता है, और शरीर आदिके पृथक्२ विभाग भी कर्मको अपेक्षा करता है, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष प्रसंग होगा। इस कारण विभागके पश्चात् कर्मको अपेक्षा करनेवाला ईश्वर प्रवृत्त हो तो होने दो। विभाग होनेसे पहिले सृष्टिकी विचित्रतामें निमित्त होनेवाले कर्मके न होनेसे आदिकी सृष्टितो समानरूप होनी चाहिये यदि ऐसा माना जाय ?

प्रत्युत्तर—यह दोष ठीक नहीं, क्योंकि संसार अनादि है, यह दोष तब हो सकता है यदि यह संसार आदिवाला हो, अनादि संसारमें तो बीज और अंकुरके समान हेतु—कर्म वा बीज हेतुमान्—संसार वा अंकुर इस हेतु-हेतुमद्भाव रूपसे सृष्टिकी विषमतामें निमित्त होनेवाले कर्मकी प्रवृत्ति होना विरोध नहीं हो सकता॥ ३५॥

प्रश्न—फिर कैसे जाना जाता है कि यह संसार अनादि है ?

प्रत्युत्तर—इस कारण अब उत्तर पढ़ते हैं:—

## उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

संसारका अनादि होना उचित ही है, सादि होनेपर संसारके अकस्मात् उत्पन्न होनेसे मुक्तात्माओंका भी फिर संसारमें उत्पन्न होनेका प्रसंग होगा, और इससे [१]अकृताभ्यागमरूप दोष भी आ जावेगा, क्योंकि सुख दुःख आदिकी जो विषमता है वह तो किसी निमित्तसे न होगी, और ईश्वर सृष्टिकी विषमतामें

---

१—न किये हुवे कर्मोंके फल पाना अकृत—अभ्यागम है, सृष्टिको सादि माननेपर यह अकृताभ्यागम दोष होगा, क्योंकि सृष्टिकी विषमता होनेमें कर्म तो थे ही नहीं जिन्हें विषमतामें कारण मानें, कर्म कारण न होनेसे सृष्टि आकस्मिक होगी, तब यह अकृताभ्यागम दोष अनिवार्य होगा—अनुवादक।

नच शरीरमन्तरेण कर्म संभवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः । अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति । उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः । श्रुतौ तावत् 'अनेन जीवेनात्मना' ( छा० ६।३।२ ) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिलपन्ननादिः संसार इति दर्शयति । आदिमत्त्वे तु प्रागनवधारितप्राणः सन् कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत । नच धारयिष्यतीत्यतोऽभिलप्येत । अनागताद्धि संबन्धादतीतः संबन्धो बलवान्भवति, अभिनिष्पन्नत्वात् । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' ( ऋ० सं० १०।१९०।३ ) इति च मन्त्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति । स्मृतावप्यनादित्वं संसारस्योपलभ्यते—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' ( गी० १५।३ ) इति । पुराणे चातीतानागतानां च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ॥ ३६ ॥

## १३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् । सू० ३७

### सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्तानिलक्षण-

---

कारण नहीं है यह कह दिया है । केवल अकेली अविद्या भी विषमताका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि [1]अविद्या तो एकरूप है किन्तु राग द्वेषादिसे उत्पन्न होनेवाले जो क्लेश हैं उनकी वासनाओंसे प्रवृत्त होनेवाले कर्मोंकी अपेक्षा करनेवाली अविद्या तो सृष्टिको विषम बना सकती है । कर्म बिना शरीर नहीं हो सकता, और शरीर बिना कर्म संभव नहीं, इस तरह सादि सृष्टि होनेपर इतरेतराश्रय दोष प्रसंग होगा । सृष्टि अनादि होनेपर तो बीजांकुर न्यायसे विषमता होनेका संभव होनेसे कोई दोष आता नहीं । संसारका अनादि होना श्रुति और स्मृतियोंमें भी पाया जाता है, श्रुतिमें जैसे:—

'इस जीवरूप आत्मासे' ( छा० ६ । ३ । २ )

यह श्रुति सृष्टिके आरंभमें शारीर आत्माको प्राणधारण करनेमें निमित्त होनेवाले जीव शब्दसे कह कर यह संसार अनादि है यह दिखाती है, संसारको सादि माननेपर तो यह जीवात्मा सृष्टिसे पहिले प्राणधारणरहित होता हुआ सृष्टिके आरंभमें प्राणधारणनिमित्तक जीव शब्दसे क्यों कहा जाता ? प्राण धारण करेगा इस भविष्यत्की अपेक्षासे जीव शब्द वाच्छित नहीं हो सकता, क्योंकि आगामी कालके सम्बन्धसे बीता हुआ भूतकालका सम्बन्ध बलवान् होता है, कारण कि संसार तो बन गया और:—

'सबको धारण करनेवाले परमेश्वरने जैसा पूर्वकल्पमें सूर्य और चन्द्रमाको बनाया' ( ऋ० सं० १० । १९० । ३ ) ।

यह मन्त्रवर्णन भी पूर्वकल्पका होना द्योतित करता है । स्मृतिमें भी संसारका अनादि होना मिलता है–

'इस संसार रूप अश्वत्थ वृक्षके वास्तविक स्वरूपका पता नहीं लगता है, न इसके आदि और अन्तका ठिकाना है, और न कहां प्रतिष्ठित होता है इसका निश्चय है' ( गी० १५ । ३ ) ।

और पुराणमें भी गत और अनागत कल्पोंका परिमाण नहीं है यह सिद्धान्त स्थापित किया है ॥ ३६ ॥ यह बारहवां वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण समाप्त हो गया ।

## १३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् । सू० ३७

### सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

चेतन ब्रह्म जगत्का निमित्त और उपादान कारण है इस प्रकार वेदोंका अर्थ निश्चित होनेपर

---

[1]—अविद्या सबके लिये समान है, इसलिये वह एकरूप है, यदि सृष्टिकी विषमतामें अविद्याको कारण मानें तो यह ठीक नहीं क्योंकि अविद्या एकरूप होनेसे समताका प्रतिपादिका होनी चाहिये, वह किसी प्रकार विषमतामें कारण नहीं हो सकती—अनुवादक ।

त्वादीन्दोषान्पर्यहार्षीदाचार्यः। इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समाणः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति। यस्मादस्मिन्ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति ॥ ३७ ॥ इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यशंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ ॥

प्रतिपक्षियोंद्वारा आक्षेप किये हुवे जगत्के विलक्षण होने आदि दोषोंको आचार्य वेदव्यासजीने खण्डन कर दिया। अब परपक्षके सिद्धान्तोंको मुख्यतया निषेध करनेवाले प्रकरणको आरंभ करनेकी इच्छा कर स्वपक्षके मुख्य सिद्धान्तयुक्त प्रकरणको उपसंहार करते हैं। जिस कारण इस ब्रह्मको कारण माननेपर बतलाये हुवे प्रकारसे सब कारण धर्म युक्तियुक्त होते हैं, जैसे—'ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्ति तथा महामाय है' इस कारण इस औपनिषद दर्शनशास्त्रके विषयमें अत्यधिक शंका करना उचित नहीं है ॥ ३७ ॥ यह तेरहवां सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण समाप्त हो गया।

यह द्वितीयाध्यायका प्रथम पाद समाप्त हो गया।



## द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः।

( अत्र पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम्। )

### १ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् सू० १-१०

### रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत्केवलाभिर्युक्तिभिः कंचित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्, तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थं परः पादः प्रवर्तते। वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात्तन्निर्णयेन स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतं, तद्धयभ्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति।

प्रश्नः—ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण?

उत्तरम्—बाढमेवम्। तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत्केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसंभवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु। इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते।

प्रश्नः—ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५), 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० १।१।१८) 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' (ब्र० सू० १।४।२८) इति च

### रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

यद्यपि वेदान्तवाक्य ब्रह्मपरक हैं केवल इतना ही निरूपण करनेके लिये यह शास्त्र प्रवृत्त हुवा है, तर्कशास्त्रके समान केवल युक्तियोंसे किसी सिद्धान्तको सिद्ध करने वा दूषित करनेके लिये प्रवृत्त नहीं हुवा है, तथापि वेदान्तवाक्योंको व्याख्यान करनेवालोंको यह उचित है कि सत् दर्शनशास्त्रके विरोधी सांख्य आदि दर्शनशास्त्रोंको खण्डन करें, इस निमित्त यह दूसरा पाद प्रवृत्त होता है। वेदान्तवाक्योंका निर्णय सत् सिद्धान्तको बतलानेके लिये होता है, इस निर्णयसे स्वपक्षकी स्थापना प्रथम की थी, कारण कि अन्यपक्षोंके खण्डनकी अपेक्षा स्वपक्षको प्रथम स्थापन करना उचित ही है।

प्रश्न—मुमुक्षुओंको चाहिये कि मोक्षके साधनरूपसे सत् दर्शनशास्त्रको निरूपण करनेके लिये केवल अपने पक्षको स्थापन करना ही उचित था, दूसरोंमें द्वेषभावको उत्पन्न करनेवाले अन्य पक्षके खण्डन करनेका क्या प्रयोजन था?

उत्तर—हां यह ठीक है, तथापि बड़े२ लोगोंद्वारा स्वीकार किये हुवे, सत्य सिद्धान्तोंको बतानेके बहानेसे प्रवृत्त हुवे बड़े२ सांख्य आदि तन्त्र शास्त्रोंको प्राप्त कर किन्हीं मन्दमतियोंको यह प्रतीत होने लगे कि ये शास्त्र भी सम्यग्दर्शन (ईश्वरका साक्षात्कार) के लिये ग्रहण करने योग्य हैं यह अपेक्षा हो जाय। तथा उन शास्त्रमें प्रबल युक्तियोंके कारण और सर्वज्ञके कहे हुवे होनेसे भी श्रद्धा होती है, इस कारण उन सबोंकी असारता दिखलानेके लिये प्रयत्न किया जाता है।

प्रश्न—"ईक्षतेर्नाशब्दम्' ब्र० सू० १।१।५", 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' ब्र० सू० १।१। १८," 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ब्र० सू० १।१।२८" इत्यादि सूत्रोंसे पहिले भी सांख्य आदि

पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिषेधः कृतः किं पुनः कृतकरणेनेति ?

उत्तरम्—तदुच्यते—सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत्पूर्वं कृतम्। इह तु वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियत इत्येष विशेषः। तत्र सांख्या मन्यन्ते—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनान्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः, तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयान्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति । यत्तत्सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत्त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तत इति । तथा [१]परिमाणादिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधान-

पक्षोंका खण्डन किया था, फिर यहां पिष्ट पेषण करनेका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—सांख्य आदि अपने पक्षकी स्थापनाके लिये वेदान्तवाक्योंको उद्धृत कर अपने पक्षके अनुकूल ही लगा कर व्याख्यान करते हैं उनका जो व्याख्यान है वह व्याख्यानाभास सत् व्याख्यान नहीं है यह पहिले सिद्ध कर चुके, यहां तो वेदान्तवाक्योंकी अपेक्षासे रहित स्वतन्त्रतापूर्वक उनकी युक्तियोंका निषेध किया जाता है यह विशेषता है ।

**सांख्यवादी** मानते हैं कि—जैसे घट और सकोरे आदियोंका भेद मिट्टीरूपसे अन्वित होकर मिट्टीरूपके समानतापूर्वक लोकमें देखे जाते हैं, वैसे ही ये सब बाह्य और आध्यात्मिक शरीर आदि भेद सुखदुःखमोहरूपसे अन्वित होकर सुखदुःखमोहरूपोंके समानतापूर्वक होने चाहिये । यह जो

१—सांख्यकारिकामें लिखा है:—

**भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।**
**कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥**
**कारणमस्त्यव्यक्तम् ॥**

सांख्यवादियोंने प्रधानसाधक ये हेतु दिखाये हैं:—

विश्वरूप ही वैश्वरूप है, त्रैलोक्य आदिके समान स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय है, इस विश्वरूप प्रपञ्चका कारण अव्यक्त है, क्योंकि कारणमें कार्यका विभाग होता है तथा अविभाग-लय भी होता है । सत्कार्यवादमें कारणमें सत्से ही कार्यकी अभिव्यक्ति होती है सत्का ही लय होता है इसीका नाम विभाग और अविभाग है, जैसे कछुवेके शरीरमें उसके सत् अवयव समुदायका ही ( संकोच और विकाश होता है ) तब फिर जहां कारणमें विद्यमान प्रपञ्चका विभाग और लय होता है वह कार्यावस्थायुक्त कारण अव्यक्त है । फिर भी वह प्रधान है, क्योंकि—**शक्तितः प्रवृत्तेश्च**, अर्थात् कारणशक्तिसे ही कार्य प्रवृत्त होता है, जिसमें शक्ति नहीं होती है उससे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, अर्थात् कारणगत शक्ति कार्यकी अव्यक्त अवस्थासे भिन्न प्रमाणवाली नहीं है ; परिमाण और समन्वय भाष्यमें स्पष्ट हैं-**कल्पतरुपरिमल** ।

इस कारिकामें प्रधानकी सिद्धिमें ५ हेतु दिये हैं, जिनमें प्रथम हेतु यह है कि—**भेदानां परिमाणात्**, लोकमें वस्तुओंके जितने भेद हैं, सबका परिमाण है, वह परिमाण किसीसे अवश्य उत्पन्न हुवा है इसलिये उसका कारण अव्यक्त प्रधान है । दूसरा हेतु है—**समन्वयात्**, जैसे सत्त्वरजस्तमोरूप प्रधान सुख दुःखमोहात्मक हैं वैसे सुखदुःख मोहका अन्वय सब लौकिक वस्तुओंमें समानतासे विद्यमान हैं, इसलिये इससे प्रधानका अव्यक्त होना निश्चय होता है । तीसरा हेतु—**शक्तितः प्रवृत्तेश्च**, चौथा—**कारणकार्यविभागात्**, पांचवां—**अविभागात्** । इन हेतुओंका व्याख्यान कल्पतरुपरिमल व्याख्यामें आ गया है—**अनुवादक** ।

मनुमिमते । तत्र वदामः—यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत, नाचेतनं लोके चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं किंचिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान्विकारान्विरचयद्दृष्टम्। गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते । तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः संभावितनमैः शिल्पिभिर्मनसाप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत्। लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात् । मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते तद्वत्प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः । न च मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण मूलकारणमवधारणीयं न बाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किंचिन्नियामकमस्ति । नचैवं सति किंचिद्विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते चेतनकारणसमर्पणात् । अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति । अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति चशब्देन हेतोरसिद्धिं समुच्चिनोति । नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयान्वय [1]उपपद्यते, सुखादीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः ।

सुखदुःखमोहात्मक सामान्य है वह तीन गुणोंवाला प्रधान है जो मिट्टीकी तरह अचेतन है और चेतन पुरुषके प्रयोजनोंको सिद्ध करनेके लिये स्वभावसे ही विचित्रतासे विकाररूपसे परिणत होता है, तथा परिमाण आदि लिङ्गोंसे भी उसी प्रधानको अनुमान कर लेते हैं ।

इसपर हम कहते हैं—यदि दृष्टान्त बलसे ही यह निरूपण करते हो तो लोकमें कोई चेतन प्रेरकके बिना अचेतन स्वतन्त्र वस्तु किसी विशेष पुरुषार्थको बनानेमें समर्थ होनेवाले विकारोंको बनाती हुई नहीं देखी गयी है, कारण कि बुद्धिमान् शिल्पियोंसे ही घर, भवन, बिस्तर, आसन, उद्यान आदि लोकमें यथासमय सुखसाधक तथा दुःखनाशक बनाये जाते हैं, तथा यह समस्त पृथिवी आदि जगत् भी नानाकर्मफलोंका उपभोगयोग्य बाह्य है, और आध्यात्मिक शरीरादि है जो अनेक जातियोंसे युक्त है, जिनके हस्त आदि अवयव ठीकर स्थानोंपर लगे हुवे हैं, जो अनेक कर्मफलोंके अनुभव करनेका आधार है, इस दृश्यमान शरीरको बड़े२ बुद्धिमान् कार्यसाधक शिल्पी कारीगर भी विचार नहीं कर सकते, ऐसे शरीरको अचेतन प्रधान कैसे बना सकता है ? क्योंकि ढेलों और पत्थरोंमें किसीको बनाते हुवे नहीं देखा है । मिट्टियोंमें भी कुम्हार आदि विद्यमान होनेपर विशेष आकारोंकी रचना देखी जाती है, इस प्रकार प्रधान भी किसी चेतनान्तरसे अधिष्ठित होगा । मिट्टी आदि उपादान स्वरूपके आश्रय होनेवाले धर्मसे ही मूल कारण निश्चय किया जाय और बाह्य कुम्हार आदि निमित्तरूप आश्रयसे नहीं इसमें कोई नियम नहीं है, कुम्हार आदि निमित्तको भी आश्रयण करना कोई विरोध नहीं होता है, किन्तु यह तो श्रुतिके अनुकूल है, क्योंकि इसमें चेतन निमित्त कारणको समर्पण किया जाता है, रचना न होनेके हेतुसे अचेतन प्रधानको जगत्के कारणरूपसे अनुमान नहीं कर सकते । सूत्रस्थ चकार सांख्यकारिकामें कहे हुवे अन्वय आदि हेतुकी असिद्धिका संग्रह करता है । बाह्य लौकिक वस्तु और आध्यात्मिक शरीर आदि भेदोंका सुख-दुःख-मोहरूपसे अन्वय होता नहीं है, क्योंकि सुख आदियोंकी प्रतीति

[1]—ये भीतरके सुख दुःख और विषाद अत्यन्त भिन्नरूपसे जानने योग्य चन्दन आदि बाह्य वस्तुओंसे अतिरिक्त होते हैं, और ये किसी अध्यक्ष चेतनको संकेत करते हैं । यदि ये ही सुख दुःख स्वभाववाले हो जांय तो स्वरूपतः हेमन्त ऋतुमें भी चन्दन सुखदायी होना चाहिये, चन्दन कभी अचन्दन तो नहीं होता है । तथा ग्रीष्मकालमें भी कुङ्कुम अर्थात् केशरका लेप सुखकारक होना चाहिये, यह कभी अकुङ्कुमलेप

**तन्निमित्तत्वप्रतीतेश्च । शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात्सुखादिविशेषोपलब्धेः । तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य 'सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसङ्गः परिमितत्वाविशेषात् । कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद्बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम् ॥ १ ॥**

आभ्यन्तरिक अर्थात् मानसिक होती है, शब्द आदियोंकी सुखदुःखमोहरूपसे प्रतीति नहीं होती, अर्थात शब्द स्पर्श आदि बाह्यरूपसे सुख दुःखसे भिन्न प्रतीत होते हैं । तथा शब्द निमित्तसे सुख दुःख मोहकी प्रतीति भी होती है; इस प्रकार शब्द आदियोंकी (सुख दुःख आदिके साथ) विशेषता न होनेपर भी भावनाविशेषसे सुख दुःख आदि विशेषकी उपलब्धि होती है, तथा मूल और अङ्कुर आदि परिमित भेदोंको संसर्गपूर्वक (परस्पर संमिश्रणपूर्वक) देख कर बाह्य और आध्यात्मिक भेदोंका परिमित होनेसे संसर्ग पूर्वक होना अनुमान करनेवाले सांख्योंके मतमे सत्त्व–रजः–तमोंका भी संसर्गपूर्वक होना मानना पड़ेगा, क्योंकि ये भी परिमित ही हैं, अर्थात् परिमितत्वरूपसे इनमे कोई विशेषता नहीं, 'कार्यकारणभाव तो बुद्धिपूर्वक बनाये हुवे शयन और आसन आदियोंका देखा गया है, इसलिये बाह्य और आध्यात्मिक भेदोंका कार्यकारणभाव अचेतनपूर्वक होनेकी कल्पना नहीं कर सकते ॥ १ ॥

तो नहीं होता, इसी प्रकार कांटा ऊंटके लिये सुखकर होता है, इससे वह मनुष्य आदि प्राणियोंके लिये भी सुखद होना चाहिये, कांटे किसीके लिये मात्र कांटे नहीं होते, इस कारण सुख आदि स्वभाव रहित भी चन्दन कुङ्कुम आदि जाति और कालोंकी अवस्थाकी अपेक्षासे सुख दुखादिमे हेतु होते हैं, किन्तु स्वयं सुखादि स्वभाव नहीं होते हैं, यही है भी ठीक, इसलिये विद्यमान वस्तुओंके सुखादिरूपोंका समन्वय होना असिद्ध हैं, इससे सुखादिरूप कारण अव्यक्तकी सिद्धि नहीं हो सकती—**भामती** ।

प्रोफेसर थीबोने भी हमारे भाष्यानुवादके समान ही इस भाष्यका अनुवाद किया है:—

For it cannot be maintained that all outward and inward effects are 'endowed' with the nature of pleasure, pain and dulness, because pleasure etc. are known as inward ( mental ) states, while sound, etc. ( *i.e.* the sense objects ) are known as being of a different nature ( *i. e.* as outward things ), and moreover as being the operative causes of the pleasure etc. And, further, although the sense-object such as sound and so on is one, yet we observe that owing to the difference of the mental impressions ( produced by it ) differences exist in the effects it produces, one person being affected by it pleasantly, another painfully, and so on.

(P. 366)

१—यह परिमितत्व सांख्यीय सिद्धान्तकी आलोचना करनेसे अनैकान्तिक–व्यभिचरित होता है, इस कारण भाष्यकार इसको दूषित करते हैं—**सत्त्वरजस्तमसाम्** इत्यादिसे । यदि परिणामका अर्थ इयत्ता—परिच्छिन्न होना है तो वह इयत्ता आकाशमें नहीं है, इसलिये (उपर्युक्त सांख्यकारिकामें) **परिमाणात्** यह जो हेतु दिया है वह अव्यापक है ( अर्थात् अव्याप्तिदोषयुक्त है ) यदि कहो कि आकाशको योजन आदिसे परिमित नहीं कहते, किन्तु उसको अव्यापित्व मानते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि शब्द-

## प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

आस्तां तावदियं रचना। तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते, मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते। दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः। अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति।

प्रश्नः—सांख्यवादी—ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा?

उत्तरम्—वेदान्तवादी—सत्यमेतत्। तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा।

प्रश्नः—सांख्यवादी—[1]नत्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा?

## प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

अच्छा इस रचनाको जाने दो, रचनाकी सिद्धिके लिये जो प्रवृत्ति साम्यावस्थासे आगे चलनेकी क्रिया है, जो सत्त्वरजस्तमोंका अङ्गाङ्गीभाव होना अर्थात् विशेष कार्यनिमित्त प्रवृत्त होना, यह प्रवृत्ति भी अचेतन स्वतन्त्र प्रधानकी नहीं हो सकती, क्योंकि मिट्टी आदिमें और रथ आदिमें ऐसी प्रवृत्ति नहीं देखी गयी है। मिट्टी आदि तथा रथ आदि अचेतन चेतन कुम्हार आदि और घोड़े आदिसे रहित होकर स्वयं विशेष कार्य करनेको प्रवृत्त होते नहीं देखे गये हैं, प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुसे अप्रत्यक्ष वस्तुकी सिद्धि होती है, इस कारण प्रवृत्ति न होना रूप हेतुसे भी अचेतन प्रधानको जगत्का कारण रूपसे अनुमान नहीं कर सकते।

प्रश्न-सांख्यवादी—केवल चेतनकी भी तो प्रवृत्ति नहीं देखी जाती?

उत्तर-वेदान्तवादी—यह ठीक है, तथापि चेतनसंयुक्त अचेतन रथादिकी प्रवृत्ति देखी गई।

प्रश्न-सांख्यवादी—अचेतनाश्रित प्रवृत्ति देखी गई चेतनाश्रित नहीं?

---

तन्मात्रादि कारण कार्य आकाशको व्याप्त नहीं करते, जो कार्य होता है वह कारण को व्याप्त नहीं करता है किन्तु जो कारण होता है वह कार्यको व्याप्त करता है, इस नियमसे शब्दतन्मात्रादि कारण अव्यापी—परिमित होनेसे कार्य आकाश भी परिमित होना चाहिये। यह आश्चर्य है कि सत्त्व रजः और तमः भी एक दूसरेको व्याप्त नहीं करते हैं और न ये अन्य तत्त्वान्तरपूर्वक बनते हैं इसलिये यह अनियम है। जैसे सत्त्व आदि गुणोंद्वारा कार्यसमुदाय व्याप्त होता है वैसे यह सत्त्व आदि परस्पर प्रविष्ट नहीं होते हैं, क्योंकि इनमें परस्पर कार्यकारणभाव नहीं होता है। चितिशक्तिमें तो परस्पर संसर्गरूप आवेश होता नहीं है, क्योंकि सत्त्व आदिद्वारा कूटस्थ नित्य चितिशक्ति बनती नहीं, तब फिर चितिशक्तिको व्याप्त न करनेवाले सत्त्व रजः तमोगुण परिमित हैं, एवं चितिशक्ति भी गुणोंसे बनती नहीं, वह भी परिमित है, इस कारण यह परिमितत्व हेतु अनैकान्तिक अर्थात व्यभिचरित है—**भामती**।

१—सांख्य कहते हैं—**न त्वचेतनसंयुक्स्येति**। **'तु'** शब्द औपनिषद वेदान्तपक्षको हटाता है। अचेतनाश्रित ही सब प्रवृत्ति देखी जाती है, चेतनाश्रित कोई भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। इस कारण जगत्की सृष्टिमें चेतनकी प्रवृत्ति नहीं होती है यह अर्थ है—**भामती**।

उत्तरम्—वेदान्तवादी—[1] किं पुनरत्र युक्तम् ? यस्मिन्प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्य सेति यत्संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति ?

प्रश्नः—सांख्यवादी—ननु यस्मिन्दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेति युक्तमुभयोः प्रत्यक्षत्वात् । न तु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन केवलश्चेतनो रथादिवत्प्रत्यक्षः । प्रवृत्त्याश्रयदेहादिसंयुक्तस्यैव तु चेतनस्य सद्भावसिद्धिः केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्टमिति । अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनाद्देहस्यैव चैतन्यमपीति लौकायतिकाः प्रतिपन्नाः । तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति ?

उत्तरम्—वेदान्तवादी—तदभिधीयते—न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति । भवतु तस्यैव सा । सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः । तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात् । यथा काष्ठादिव्यपाश्रयापि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियानुपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्संयोगे दर्शनात्तद्वियोगे चादर्शनात्तद्वत् । लौकायतिकानामपि चेतन एव देहोऽचेतनानां रथादीनां प्रवर्तको दृष्ट इत्यविप्रतिषिद्धं चेतनस्य प्रवर्तकत्वम् ।

प्रश्नः—सांख्यवादी—ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुप-

उत्तर—वेदान्तवादी—अच्छा, तो यहां क्या उचित है ? जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है उसकी यह प्रवृत्ति है अथवा जिसके द्वारा प्रेरित होकर प्रवृत्ति देखी जाती है उसकी यह प्रवृत्ति है ?

प्रश्न—सांख्यवादी—जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है उसीकी यह प्रवृत्ति है, क्योंकि प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनोंके प्रत्यक्ष होनेसे यही उचित है, नकि प्रवृत्तिके आश्रय होनेमें रथ आदिके समान केवल चेतन प्रत्यक्ष होता है, प्रवृत्तिके आश्रय देहादि संयुक्त चेतनका ही अस्तित्व सिद्ध होता है, जीवित शरीरकी केवल अचेतन रथादिसे विलक्षणता देखी गयी है, ( किन्तु चेतनका सद्भावमात्र प्रवृत्तिका कारण नहीं हो सकता ) इसीलिये प्रत्यक्ष शरीर होनेपर देखे जानेसे और न होनेपर न देखे जानेसे चेतनता भी देहकी है इस प्रकार लोकसिद्ध विषयको माननेवाले चार्वाक मानते हैं, इस कारण अचेतनकी ही प्रवृत्ति होती है ?

उत्तर—वेदान्तवादी—हम यह नहीं कहते हैं कि जिस अचेतन रथादिमें प्रवृत्ति देखी जाती है उसकी ( रथादिकी ) वह प्रवृत्ति नहीं है, उसीकी ( रथादिकी ) प्रवृत्ति होने दो, वह तो चेतनसे होती है यह हम कहते हैं, क्योंकि चेतनके होनेपर प्रवृत्ति होती है, न होनेपर नहीं होती है, जैसे लकड़ी आदिमें आश्रित रहनेवाले दाह और प्रकाशस्वरूप विकाररहित होनेपर भी केवल अग्निके जलनेसे ही होते हैं, क्योंकि अग्निके संयोगसे दाह और प्रकाश देखे जाते हैं, अग्निके वियोग होनेपर नहीं देखे जाते, उसी प्रकार ( चेतनमें जान लेना चाहिये ), लोकसिद्ध विषयको माननेवाले चार्वाकोंके मतमें भी चेतन देह ही अचेतन रथ आदिका प्रवर्त्तक देखा गया है, इसलिये चेतनका प्रवर्त्तकत्व होना विरुद्ध नहीं ।

प्रश्न—सांख्यवादी—तुम्हारे देहादिसंयुक्त आत्माकी भी केवल विज्ञानस्वरूपमात्र होनेसे प्रवृत्ति न हो सकनेके

१—दोनों मतोंको सुनकर मध्यस्थ पूछता है—**किं पुनरिति** । जिस अचेतन रथ आदिमें प्रवृत्ति देखी गई है उस रथकी वह प्रवृत्ति है, वहां प्रवृत्तिमें चेतन कारण नहीं है यह क्या सांख्यमत ठीक है अथवा जिस चेतन घोड़े आदिके संयोगसे अचेतन रथकी प्रवृत्ति होती है वह चेतनप्रयुक्त प्रवृत्ति है वह वेदान्तमत ठीक है ? यह प्रश्नका अर्थ है—**रत्नप्रभा** ।

पत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत् ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—न । अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। यथायस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति। एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्।

प्रश्नः-सांख्यवादी—एकत्वात्प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति चेत्?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—न । अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात्। तस्मात्संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे नत्वचेतनकारणत्वे ॥ २ ॥

## पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

प्रश्नः-सांख्यवादी—स्यादेतत्। यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दत एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—नैतत्साधूच्यते । यतस्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमीमहे । उभयवादिप्रसिद्धे रथादावचेतने केवले प्रवृत्त्यदर्शनात्। शास्त्रं च 'योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।४), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' (बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयकं समस्त

कारण उसका प्रवर्तक होना बनता नहीं ?

उत्तर-वेदान्तवादी—यह ठीक नहीं, अयस्कान्तमणि और रूप आदिकी तरह प्रवृत्तिरहित भी प्रवर्तक हो सकता है, जैसे अयस्कान्तमणि—चुम्बक पत्थर स्वयं प्रवृत्तिरहित होनेपर भी लोहेका प्रवर्तक होता है, अथवा जैसे रूप आदि विषय स्वयं प्रवृत्तिरहित होनेपर भी नेत्र आदियोंके प्रवर्तक होते हैं, इसी प्रकार प्रवृत्तिरहित भी परमात्मा सर्वगत सर्वात्मा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान होकर सबको प्रवृत्त कराता है ।

प्रश्न-सांख्यवादी—परमात्मा एक होनेसे प्रवर्तनीय—काममें लगाने योग्य दूसरेके न होनेसे उसका प्रवर्तक होना बनता नहीं ?

उत्तर वेदान्तवादी—यह ठीक नहीं, क्योंकि अविद्याकृत नामरूप और मायाके आवेशवशसे यह भेद हो सकता है, इस प्रकार बार२ परिहार कर दिया है. इस कारण सर्वज्ञको कारण माननेपर प्रवृत्ति संभव हो सकती है, अचेतनको कारण माननेपर प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥ २ ॥

## पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

प्रश्न-सांख्यवादी—अच्छा यह हो तो होने दो । जैसा अचेतन दूध स्वभावसे ही बछड़ेको बढ़ानेके लिये प्रवृत्त होता है, और जैसा अचेतन जल स्वभावसे ही लोकोंके उपकारके लिये बहता है, इस प्रकार अचेतन प्रधान स्वभावसे ही पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये प्रवृत्त होगा ?

उत्तर-वेदान्तवादी—यह कहना उचित नहीं है, कारण कि चेतनके अधिष्ठातृरूपसे अधिष्ठित होनेपर ही वहां दूध और जलमें प्रवृत्ति होती है यह हम अनुमान करते हैं, क्योंकि वादि—प्रतिवादी दोनोंके प्रसिद्ध केवल अचेतन रथ आदिमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, और शास्त्र भी:—

'जो जलोंमें रह कर जलोंसे पृथक् हो कर उनको नियममें रखता है' ( बृ० ३।७।४ )।

'इस अविनाशी परमात्माके शासनमें हे गार्गि ! अन्य नदियां पूर्वकी ओर बहती हैं' ( बृ० ३।८।९)।

इस प्रकारका शास्त्र समस्त लोकोंकी कम्पनरूप क्रियाका ईश्वरसे अधिष्ठातृरूपसे अधिष्ठित होनी

स्य लोकपरिस्पन्दितस्येश्वराधिष्ठिततां श्रावयति । तस्मात्साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात्पयोम्बुवदित्यनुपन्यासः । चेतनायाश्च धेन्वाः स्नेहेच्छया पयसः प्रवर्तकत्वोपपत्तेः । वत्सचोषणेन च पयस आकृष्यमाणत्वात् । नचाम्बुनोऽप्यत्यन्तमनपेक्षा, निम्नभूम्याद्यपेक्षत्वात्स्यन्दनस्य । चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम् । 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' ( ब्र० सू० २ । १ । २४ ) इत्यत्र तु बाह्यनिमित्तनिरपेक्षमपि स्वाश्रयं कार्यं भवतीत्येतल्लोकदृष्ट्या निदर्शितम् । शास्त्रदृष्ट्या तु पुनः सर्वत्रैवेश्वरापेक्षत्वमापद्यमानं न पराणुद्यते ॥ ३ ॥

## व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

सांख्यानां त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम् । न तु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद्बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति । पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानं, अनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत इत्येतदयुक्तम् । ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते ॥ ४ ॥

## अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

प्रश्नः-सांख्यवादी—स्यादेतत् । यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमत एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्षं तृणादीति गम्यते ?

---

बतलाता है, इस कारण साध्य कोटिमें प्रविष्ट होनेसे दूध और जलका दृष्टान्त देना उचित नहीं तथा चेतन गाय स्नेहयुक्त इच्छासे दूधका प्रवर्त्तक हो सकती है, और बछड़ेके चूसनेसे दूधखीं चा जाता है, और यह भी बात नहीं कि जल भी किसी दूसरेको बिलकुल अपेक्षा ही नहीं करता, क्योंकि बहना भी भूमिका नीचा होना आदिकी अपेक्षा करता है । चेतनकी अपेक्षाको तो सब जगह दिखा दिया है । **'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि'** ( ब्र० सू० २ । १ । २४ ) यहां पर तो बाह्य वस्तुको निमित्त माननेमें निरपेक्ष होनेपर भी स्वाश्रित कार्य होता है, इसको लोकदृष्टिसे दिखा दिया है, शास्त्रदृष्टिसे तो फिर सर्वत्र ही ईश्वरका अपेक्षित होना खण्डित नहीं होता है ॥ ३ ॥

## व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

सांख्योंके **सत्त्व-रजः-तमः** ये तीन गुण समानरूपसे रहनेपर प्रधान रूप हो जाते हैं, इनसे अतिरिक्त प्रधानका प्रवर्त्तक या निवर्त्तक कोई बाह्य वस्तु अपेक्षणीय नहीं रहती, पुरुष तो उदासीन है, न वह प्रवर्त्तक है न निवर्त्तक, इस कारण प्रधान अन्य किसीको अपेक्षा नहीं करता, अपेक्षा न करनेसे कभी प्रधान महान् आदि आकार रूपसे परिणत होता है और कभी नहीं होता यह ठीक नहीं, ईश्वर तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और महामायावान् होनेसे उसकी प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति विरुद्ध नहीं होती ॥ ४ ॥

## अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

प्रश्न—सांख्यवादी—अच्छा, यह हो जाने दो । जैसे तिनके, पत्ते और जल आदि किसी निमित्तान्तरोंकी अपेक्षा न कर स्वभावसे ही दूध आदि रूपसे परिवर्त्तन हो जाते हैं, इस प्रकार प्रधान भी महान् आदि आकारसे परिवर्त्तित होगा ?

उत्तर—वेदान्तवादी—तृण आदि किसी भी निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं करते यह कैसे विदित होता है ?

प्रश्नः-सांख्यवादी—निमित्तान्तरानुपलम्भात्। यदि हि किंचिन्निमित्तमुपलभेमहि ततो यथाकामं तेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयेमहि, न तु संपादयामहे। तस्मात्स्वाभाविकस्तृणादेः परिणामस्तथा प्रधानस्यापि स्यादिति ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—अत्रोच्यते—भवेत्तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्यापि परिणामो यदि तृणादेरपि स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगम्येत। नत्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः।

प्रश्नः-सांख्यवादी—कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—अन्यत्राभावात्। धेन्वैव ह्युपभुक्तं तृणादि क्षीरीभवति न प्रहीणमनडुहा-ह्युपभुक्तं वा। यदि हि निर्निमित्तमेतत्स्यात्धेनुशरीरसंबन्धादन्यत्रापि तृणादि क्षीरीभवेत। न च यथाकामं मानुषैर्न शक्यं संपादयितुमित्येतावता निर्निमित्तं भवति। भवति हि किंचित्कार्यं मानुषसंपाद्यं किंचिद्दैवसंपाद्यम्। मनुष्या अपि शक्नुवन्त्येवोचितेनोपायेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयितुम्। प्रभूतं हि क्षीरं कामयमानाः प्रभूतं घासं धेनुं चारयन्ति। ततश्च प्रभूतं क्षीरं लभन्ते। तस्मान्न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः ॥ ५ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

स्वाभाविकी प्रधानप्रवृत्तिर्न भवतीति स्थापितम्। अथापि नाम भवतः श्रद्धामनुरुध्यमानाः स्वाभाविकीमेव प्रधानस्य प्रवृत्तिमभ्युपगच्छेम तथापि दोषोऽनुषज्येतैव।

प्रश्न—सांख्यवादी—इस कारण कि किसी भी निमित्तोंकी उपलब्धि नहीं होती है, यदि किसी निमित्तकी उपलब्धि होती तो उस निमित्तसे जितने चाहें उतने तृण आदि लेकर दूध बना लेते, किन्तु बना तो नहीं सकते, इस कारण तृणादियोंका परिणाम स्वाभाविक है, वैसे ही प्रधानका भी परिणाम स्वाभाविक हो जावेगा ?

उत्तर-वेदान्तवादी—यहां कहा जाता है—तृण आदियोंके समान प्रधानका भी परिणाम स्वाभाविक तब हो यदि तृणादिका भी परिणाम स्वाभाविक माना जाय, माना तो नहीं जाता, क्योंकि किसी निमित्तान्तरकी उपलब्धि होती है।

प्रश्न—सांख्यवादी—कैसे निमित्तान्तरकी उपलब्धि होती है ?

उत्तर-वेदान्तवादी—अन्यत्र यह निमित्त उपलब्ध नहीं होता। गौवोंद्वारा खाये हुवे तृण आदि ही[1] दूध होता है, नष्ट तृणादि दूध नहीं बन जाता, और न बैलोंद्वारा खाया हुवा तृणादि दूध होता है। यदि तृणादि निर्निमित्तक होता तो गौवोंके शरीरसम्बन्धसे अन्यत्र भी तृणादि दूध हो जाता। मनुष्य अपने इच्छानुसार जितना चाहें उतना दूध नहीं बना सकते इतने मात्रसे तृणादि निर्निमित्तक नहीं हो सकता। कोई काम मनुष्योंके बनाने योग्य होते हैं और कोई परमेश्वरके बनाने योग्य। मनुष्य भी उचित उपायसे तृण आदि लेकर दूध बना सकते हैं। अधिक दूध चाहनेवाले लोग गायको पर्याप्त घास चराते हैं, तब पर्याप्त दूध प्राप्त करते हैं, इस कारण तृणादि समान प्रधानका परिणाम स्वाभाविक नहीं ॥ ५ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

प्रधानकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हो सकती इसकी स्थापना कर चुके। तथापि आपकी श्रद्धाको अनुरोध कर प्रधानकी प्रवृत्तिको हम स्वाभाविक ही मान लें तो भी दोष तो आवेगा ही।

---

१—निर्णयसागरकी छपी पुस्तकोंमें दोनों स्थानोंपर 'उपयुक्त' पाठ है। 'उपभुक्त' पाठ अधिक संगत है।

प्रश्नः-सांख्यवादी— कुतः ?

उत्तरम् वेदान्तवादी—अर्थाभावात्। यदि तावत्स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्येत ततो यथैव सहकारि किंचिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यते इत्यतः प्रधानं पुरुषस्यार्थं साधयितुं प्रवर्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स यदि ब्रूयात्सहकार्येव केवलं नापेक्षते न प्रयोजनमपीति। तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं भोगो वा स्यादपवर्गो वोभयं वेति। भोगश्चेत्कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत्। अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च। अपवर्गश्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्। शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च। उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। न चौत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः। न हि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यं संभवति। न च पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम्। दृक्शक्तिसर्गशक्तिवैयर्थ्यभयाच्चेत्प्रवृत्तिस्तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत्सर्गशक्त्यनुच्छेदात्संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। तस्मात्प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम् ॥६॥

## पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

प्रश्नः सांख्यवादी—स्यादेतत्। यथा कश्चित्पुरुषो दृक्शक्तिसंपन्नः प्रवृत्तिशक्तिविहीनः पंगुरपरं पुरुषं प्रवृत्तिशक्तिसंपन्नं दृक्शक्तिविहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति। यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा स्वयमप्रवर्तमानोऽप्ययः प्रवर्तयति। एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यतीति

प्रश्न—सांख्यवादी—कैसे ?

उत्तर वेदान्तवादी—क्योंकि कोई प्रयोजन दीखता नहीं। यदि कहते हो कि प्रधानकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, वह अन्य किसीकी यहां अपेक्षा—नहीं करता तो जैसे वह किसी सहकारी—सहायककी अपेक्षा नहीं करता वैसे ही वह किसी प्रयोजनकी भी अपेक्षा नहीं करेगा, इस कारण प्रधान पुरुषार्थको सिद्ध करनेके लिये प्रवृत्त होता है इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। यदि वह कहे कि केवल किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं करता, न कि प्रयोजनकी भी, तथापि प्रधानकी प्रवृत्तिका प्रयोजन विवेचनीय है कि वह प्रयोजन भोगके लिये है, या अपवर्ग—मोक्षके लिये है अथवा दोनोंके लिये ? यदि प्रयोजन भोगनिमित्त है तो सुख दुःखादि अतिशयरहित कूटस्थ नित्य पुरुषका भोग कैसे हो सकता है ? और भोगनिमित्त होनेसे मोक्षका अभाव प्रसंग होगा। यदि मोक्षनिमित्त है तो प्रवृत्तिसे प्रथम मोक्ष सिद्ध होनेसे प्रवृत्ति व्यर्थ होगी तथा इस पक्षमें शब्द प्रमाणोंकी अप्राप्तिका भी प्रसंग होगा। यदि भोग और मोक्ष दोनोंके लिये मानें तो भी भोक्तव्य प्रधानकी मात्रायें—भोग अनन्त है इसलिये मोक्षाभावका प्रसंग होगा ही। प्रधानकी प्रवृत्ति उत्सुकताकी निवृत्तिके लिये भी नहीं हो सकती, क्योंकि अचेतन प्रधानकी अभिलाषा नहीं हो सकती, और न निर्मल निर्दोष पुरुषकी इच्छा होती है। यदि कहो कि देखनेकी शक्ति और सृष्टि करनेकी शक्तिके व्यर्थ होनेके भयसे प्रवृत्ति होती है तो देखनेकी शक्तिके नाश न होनेके समान सृष्टिकी शक्तिके नाश न होनेसे संसारका भी उच्छेद नहीं होगा, इससे फिर मोक्षाभावप्रसङ्ग ही होगा, इस कारण प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषार्थ निमित्त है यह कहना उचित नहीं ॥ ६ ॥

## पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

प्रश्न-सांख्यवादी—यह यों होगा। जैसे कोई नेत्रशक्तिसम्पन्न तथा प्रवृत्तिशक्तिहीन लंगड़ा मनुष्य दूसरे प्रवृत्तिशक्तिसम्पन्न तथा नेत्रशक्तिहीन अन्धेपर बैठ कर उसे प्रवृत्त कराता है, अथवा जैसे चुम्बक पत्थर स्वयं अप्रवृत्त होकर लोहेको प्रवृत्त कराता है, वैसे ही पुरुष प्रधानको प्रवृत्त करावेगा अर्थात् काममें लगा-

दृष्टान्तप्रत्ययेन पुनः प्रत्यवस्थानम्?

उत्तरम्—वेदान्तवादी—अत्रोच्यते—तथापि नैव दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति। अभ्युपेतहानं तावद्दोष आपतति। प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। कथं चोदासीनः प्रधानं प्रवर्तयेत्। पंगुरपि ह्यन्धं वागादिभिः पुरुषं प्रवर्तयति। नैवं पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च। नाप्ययस्कान्तवत्संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत्। संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात्। अयस्कान्तस्य त्वनित्यसंनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः, परिमार्जनाद्यपेक्षा चास्यास्तीत्यनुपन्यासः पुरुषाश्मवदिति। तथा प्रधानस्याचैतन्यात्पुरुषस्य चौदासीन्यात्तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात्संबन्धानुपपत्तिः। योग्यतानिमित्ते च संबन्धे योग्यतानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। पूर्ववच्चेहाप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः। परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशयः॥ ७॥

## अङ्गित्वानुपपत्तेश्च॥ ८॥

इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते। यद्धि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुणप्रधानभावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं सा प्रधानावस्था। तस्यामवस्थायामनपेक्षस्वरूपाणां स्वरूपप्रणाशभयात्परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः। बाह्यस्य च कस्यचित्क्षोभयितुरभावाद्गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात्॥ ८॥

---

वेगा, इस दृष्टान्तज्ञानसे फिर खण्डन किया जाता है?

उत्तर वेदान्तवादी—तो भी दोषसे छूटना नहीं, और इसमें प्रतिज्ञाहानिरूप दोष आ गिरता है, क्योंकि स्वतन्त्र प्रधानकी प्रवृत्ति मानी जाती है और पुरुष प्रवर्तक नहीं माना जाता है। उदासीन पुरुष प्रधानको क्यों काममें लगावेगा? लंगड़ा भी अन्धेको वाणी आदि द्वारा प्रवृत्त करता है, इस प्रकार पुरुषका प्रवृत्त करानेका काम तो कोई नहीं है, क्योंकि पुरुष तो निष्क्रिय और निर्गुण है। और न चुम्बककी तरह सन्निकर्षमात्रसे (सम्मुख होने मात्रसे) पुरुष प्रधानको प्रवृत्त करा सकता है, क्योंकि सन्निकर्षके नित्य होनेसे प्रवृत्तिका भी नित्यत्व प्रसङ्ग होगा, अनित्य सन्निकर्षवाले चुम्बकका तो अपना क्रियानिमित्त सन्निकर्ष होता है। चुम्बक तो शुद्धि आदिकी अपेक्षा करता है, इसलिये **'पुरुषाश्मवत्'** यह दृष्टान्त देना उचित नहीं। तथा प्रधान अचेतन होनेसे, पुरुष उदासीन होनेसे और उन दोनोंको सम्बन्ध करनेवाले तीसरे पदार्थके न होनेसे प्रधान और पुरुषका सम्बन्ध नहीं हो सकता, यदि योग्यता निमित्तक सम्बन्ध माना जाय तो योग्यताके नाश न होनेसे मोक्षाभाव होगा, और पहलेकी तरह यहांपर भी प्रयोजनाभावको विकल्प करना चाहिये। परमात्माका उदासीन होना तो अपने स्वरूपाश्रित है, और उसका प्रवर्तक होना मायाश्रित है इतनी विशेषता है॥ ७॥

## अङ्गित्वानुपपत्तेश्च॥ ८॥

यहांसे आगे भी प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं होती है, सत्त्व-रजः-तमोंका एक दूसरेके गौण और प्रधानभावको छोड़ कर समानतासे स्वरूपमात्रमें जो अवस्थित रहना है वह प्रधानावस्था है, उस अवस्थामें किसीकी अपेक्षा न करनेवाले सत्त्व आदियोंका स्वरूपनाशभयसे एक दूसरेके प्रति अङ्गाङ्गीभाव नहीं हो सकता, और किसी बाह्य संचालकके न होनेसे गुणोंके विषमतानिमित्तक महान् आदिकी उत्पत्ति न होगी॥ ८॥

## अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

प्रश्नः-सांख्यवादी—अथापि स्यादन्यथा वयमनुमिमीमहे यथा नायमनन्तरो दोषः प्रसज्येत । न ह्यनपेक्षस्वभावाः कूटस्थाश्चास्माभिर्गुणा अभ्युपगम्यन्ते प्रमाणाभावात् । कार्यवशेन तु गुणानां स्वभावोऽभ्युपगम्यते । यथा यथा कार्योत्पाद उपपद्यते तथा तथैषां स्वभावोऽभ्युपगम्यते । चलं गुणवृत्तमिति चास्त्यभ्युपगमः । तस्मात्साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्या एव गुणा अवतिष्ठन्त इति ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव । ज्ञशक्तिमपि त्वनुमिमानः प्रतिवादित्वान्निवर्तेत । चेतनमेकमनेकप्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसङ्गात् । वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणा साम्यावस्थायां निमित्ताभावान्नैव वैषम्यं भजेरन् । भजमाना वा निमित्ताभावाविशेषात्सर्वदैव वैषम्यं भजेरन्निति प्रसज्यत एवायमनन्तरोऽपि दोषः ॥ ९ ॥

## विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः । कचित्सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश । तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहंकारात् । तथा क्वचित्त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति, क्वचिदेकमिति । प्रसिद्ध एव तु श्रुत्येश्वरकारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्या च स्मृत्या । तस्मादप्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति ।

प्रश्नः-सांख्यवादी—अत्राह—नन्वौपनिषदानामप्यसमञ्जसमेव दर्शनं तप्यतापकयोर्जात्यन्तर-

## अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

प्रश्न-सांख्यवादी—अन्यथा भी हम अनुमान करेंगे जिससे यह अनन्तर (अभी कहा हुआ) अङ्गाङ्गिभावानुपपत्ति दोष न आवे, हम ऐसे गुणोंको कूटस्थ नित्य नहीं मानते जो किसीकी अपेक्षा न करनेके स्वभावयुक्त हों, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है, कार्यवशसे ही गुणोंके स्वभावको मानते हैं, जैसे जैसे कार्यकी उत्पत्ति होती है वैसे२ इन सत्त्व आदियोंके स्वभावको मानते हैं, क्योंकि गुणोंका स्वभाव चल है यह सिद्धान्त है, इस कारण साम्यावस्थामें भी विषमता होने योग्य गुण रहते ही हैं ?

उत्तर-वेदान्तवादी—ऐसे माने जानेपर भी प्रधानकी चेतनशक्ति न होनेसे जगत्‌की रचना न होनेके पूर्वोक्त सब दोष वैसेके वैसे ही रह जाते हैं, चेतनशक्तिको भी अनुमान करनेपर चेतनताके प्रतिपक्षी होनेसे वह चेतन शक्ति हट जावेगी, क्योंकि यह चेतन अनेक प्रपञ्चयुक्त जगत्‌का उपादान कारण है ऐसे माननेसे ब्रह्मवादका प्रसङ्ग होगा, विषमता होने योग्य गुण भी साम्यावस्थामें निमित्तके न रहनेसे विषमताको प्राप्त नहीं कर सकते, अथवा गुण विषमतायुक्त माने जानेपर भी निमित्ताभावकी अविशेषतासे सदा ही विषमतायुक्त होंगे, इस कारण अभी कहा हुआ अङ्गाङ्गिभावानुपपत्ति रूप दोष आता ही है ॥ ९ ॥

## विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

सांख्योंका सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध है, कहीं सात इन्द्रियोंको बताते हैं, कहीं ग्यारह, तथा कहीं महान्‌से तन्मात्राओंकी सृष्टिको उपदेश देते हैं और कहीं अहङ्कारसे, और कहीं बुद्धि, अहङ्कार, मन इन अतःकरणोंको वर्णन करते हैं, कहीं बुद्धि एकको, इस तरह ईश्वर कारणवादिनी श्रुतिसे विरोध तो प्रसिद्ध ही है, तथा श्रुत्यनुसारिणी स्मृतिसे भी, इस कारण भी सांख्योंका दर्शनशास्त्र ठीक नहीं ।

प्रश्न-सांख्यवादी—वेदान्तियोंका दर्शनशास्त्र भी तो ठीक नहीं, क्योंकि तप्य और तापकमें ( दुःख

भावानभ्युपगमात् । एकं हि ब्रह्म सर्वात्मकं सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमभ्युपगच्छतामेकस्यैवात्मनो विशेषौ तप्यतापकौ न जात्यन्तरभूतावित्यभ्युपगन्तव्यं स्यात् । यदि चैतौ तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषौ स्यातां स ताभ्यां तप्यतापकाभ्यां न निर्मुच्यत इति तापोपशान्तये सम्यग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं स्यात् । नह्यौष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य प्रदीपस्य तदवस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते । योऽपि जलतरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः, तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भावतिरोभावरूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो वीच्यादिभिरनिर्मोक्षः । प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावो लोके । तथाहि—अर्थी चार्थश्चान्योन्यभिन्नौ लक्ष्येते । यद्यर्थिनः स्वतोऽन्योऽर्थो न स्यात्, यस्यार्थिनो यद्विषयमर्थित्वं स तस्यार्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं स्यात् , यथा प्रकाशात्मनः प्रदीपस्य प्रकाशाख्योऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं भवति । अप्राप्ते ह्यर्थेऽर्थिनोऽर्थित्वं स्यादिति ।तथार्थस्याप्यर्थत्वं न स्यात् । यदि स्यात्स्वार्थत्वमेव स्यात् । न चैतदस्ति । संबन्धिशब्दौ ह्येतावर्थी चार्थश्चेति । द्वयोश्च संबन्धिनोः संबन्धः स्यान्नैकस्यैव तस्माद्भिन्नावेता-

भोगनेवाले और दुःख देनेवालेमें ) पृथक्२ जातिको नहीं मानते हो । ब्रह्म एक है जो सर्वात्मक और सब प्रपञ्चका कारण है, ऐसे माननेपर एक ही आत्माके ये दोनों तप्य-तापक धर्म हैं, दोनों पृथक् जातीय नहीं ऐसा मानना पड़ेगा, यदि ये दोनों तप्य-तापक एक ही आत्माके विशेष गुण हैं तो वह इन दोनों तप्य तापक गुणोंमे नहीं छूटेगा, इसलिये उस तापकी शान्तिके लिये सत्यज्ञानको उपदेश करनेवाला शास्त्र व्यर्थ हो जावेगा । गर्मी और प्रकाश धर्मवाला दीपक इन दोनों गुणोंकी अवस्थाओंसे युक्त होनेपर इन दोनों गुणोंसे वह कभी उन्मुक्त नहीं हो सकता । और जो जलका तरङ्ग-लहर फेन आदि कहा जाता है यहांपर भी जलात्मक एकके लहर आदि विशेष आविर्भाव और तिरोभावरूपसे नित्य ही हैं, इसलिये जलात्माका लहर आदियोंसे उन्मुक्त न होना समान ही है । तप्य और तापक दोनों पृथक्२ जातीय हैं यह लोकमें प्रसिद्ध ही हैं । जैसे धनार्थी और धन ये दोनों परस्पर भिन्न देखे जाते हैं यदि धनाभिलाषीका धन अपनेसे अन्य-पृथक् नहीं है तो जो अभिलाषी जिसके लिये अभिलाषा करता है यदि वह अभिलषित वस्तु अभिलाषीका नित्य सिद्ध ही है तब तो उस अभिलाषीका अभिलषित वस्तुविषयक अर्थित्व—अभिलाषित्व होना न होगा, जैसे प्रकाशात्मक दीपकका प्रकाश नामक अर्थ नित्य सिद्ध ही है, इसलिये दीपकका प्रकाशविषयक अर्थित्व (चाह) नहीं होता है । धन अप्राप्त होनेपर ही धनार्थी धनको चाहेगा तथा ( प्राप्ति होनेपर तो ) धनका भी धनत्व न रहेगा, यदि रहेगा भी तो स्वार्थ ही होगा, किन्तु धन स्वार्थके लिये तो होता नहीं । धनको चाहनेवाला अर्थी चाहने योग्य वस्तु अर्थ ये दोनों सम्बन्धी शब्द हैं, दो सम्बन्धियोंके होनेपर सम्बन्ध होता है, एकका नहीं, इस कारण ये दोनों अर्थ और अर्थी भिन्न२ हैं, वैसे ही [1]अनर्थ और अनर्थी भी भिन्न२ हैं ।। अर्थी अभिलाषीका अनुकूल अभिलषित वस्तु अर्थ है,

१—धनका नाम अर्थ है, तथा अनर्थ भी उसका नाम है, यह इसलिये कि धनोपार्जन करनेमे और उपार्जितकी रक्षा करनेमें बड़े२ कष्ट और हिंसा आदि करनी पड़ती है, फिर दुःख और हिंसासे उपार्जित धनकी हानि होनेपर महान् शोक और संताप होते हैं इसलिये धन अर्थ होता हुवा अनर्थ है, यह अनर्थ अर्थीको दुःख देता है । ऐसे अनर्थको चाहनेवाला पुरुष भी अनर्थी है । अर्थका अर्थ—धन, अनर्थ—धनसे भिन्न पदार्थ, एवं अर्थी—धनाभिलाषी, अनर्थी—धनभिन्न पदार्थाभिलाषी, ये दोनों अनर्थ और अनर्थी भी भिन्न२ हैं—अनुवादक ।

यर्थार्थिनौ । तथानर्थानर्थिनावपि । अर्थिनोऽनुकूलोऽर्थः प्रतिकूलोऽनर्थस्ताभ्यामेकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यते । तत्रार्थस्याल्पीयस्त्वाद्भूयस्त्वाच्चानर्थस्योभावप्यर्थानर्थावनर्थ एवेति तापकः स उच्यते । तप्यस्तु पुरुषो य एकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यत इति तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मतायां मोक्षानुपपत्तिः । जात्यन्तरभावे तु तत्संयोगहेतुपरिहारात्स्यादपि कदाचिन्मोक्षोपपत्तिरिति ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—अत्रोच्यते—न । एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः । भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम् । नत्वेतदस्त्येकत्वादेव । नह्यग्निरेकः सन्स्वमात्मानं दहति प्रकाशयति वा सत्यप्यौष्ण्यप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च । [1]किं कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिंस्तप्यतापकभावः संभवेत् ?

प्रश्नः-सांख्यवादी—क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—उच्यते—[2]किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवद्देहस्तप्यस्तापकः सवितेति ।

प्रश्नः-सांख्यवादी—ननु तप्तिर्नाम दुःखं सा चेतयितुर्नाचेतनस्य देहस्य । यदि हि देहस्यैव तप्तिः स्यात्सा देहनाशे स्वयमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैषितव्यं स्यादिति ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—उच्यते—देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा । नच त्वयापि तप्तिर्नाम विक्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते । नापि देहचेतनयोः संहतत्वमशुद्ध्यादि-

उसका प्रतिकूल—अनभिलषित वस्तु अनर्थ है, इन दोनों अर्थ तथा अनर्थसे एक अर्थी पर्यायसे सम्बद्ध होता है, यहां अनुकूल अर्थ तो बहुत थोड़ा है, और प्रतिकूल अनर्थ बहुत अधिक है, इस कारण ये अर्थ और अनर्थ दोनों अनर्थ ही हैं, इसलिये धन आदि पदार्थ तापक—संताप देनेवाला कहा जाता है । पुरुष तप्य है, वह एक पुरुष पर्यायसे—( एकके पश्चात् दूसरे ) अर्थ और अनर्थद्वारा सम्बद्ध होता है, इस कारण तप्य और तापकको एकात्मत्व माननेपर मोक्ष न होगा, पृथक् २ जातीय माननेपर तो तप्य और तापकके संयोगके कारणको नाश करनेसे कभी तो मोक्ष हो जावेगा ?

उत्तर-वेदान्तवादी—यह ठीक नहीं, एक होनेसे ही तप्य और तापकभाव न होगा, यह दोष तब हो सकता है यदि एकात्मत्व माननेपर तप्य—तापक दोनों विषय और विषयिभावको प्राप्त हों, एकत्व होनेसे ही यह बात नहीं रहती, गर्मी और प्रकाश आदि धर्मभेद तथा परिणामी गुणयुक्त होनेपर भी अग्नि एक होकर अपनी आत्माको न जलाता है, न प्रकाश करता है, कूटस्थ नित्य एक ब्रह्ममें तप्य—तापकभाव कैसे संभव हो सकता है ।

प्रश्न-सांख्यवादी—यह तप्य—तापकभाव कहां रहता है ?

उत्तर-वेदान्तवादी—कहा जाता है—क्या देखते नहीं हो यह कर्मभूत जीवित शरीर तप्य है और तापक सूर्य है ?

प्रश्न-सांख्यवादी—ताप दुःखका नाम है, वह चेतनको होता है, अचेतन शरीरको नहीं होता है, यदि शरीरको ही ताप हो तो शरीरके नाश होनेपर स्वयं ही ताप शान्त हो जावेगा, इस कारण तापके नाशके लिये साधनकी आवश्यकता न रहेगी ?

उत्तर-वेदान्तवादी—देह न होनेपर भी केवल चेतनको ताप होना नहीं देखा गया है, और तुम्हें भी तो केवल चेतनको ताप नामक विकार होना इष्ट नहीं है, और न देह और चेतनके योग होनेपर ताप हो

१—श्रीवेङ्कटेश्वर की छपी पुस्तक में 'किमु' पाठ है । 'किमु कूटस्थे ब्रह्मणि' यहां आक्षेप अर्थमें 'किं' शब्द है—न्यायनिर्णय ।

२—जहां तप्य-तापकभाव देखा जाता है वहां ही ( यह व्यवहार होता है ) इस व्यावहारिक पक्षको लेकर सिद्धान्ती कहते हैं—किं न पश्यसीति—रत्नप्रभा ।

दोषप्रसङ्गात् । नच तप्तेरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि । कथं तथापि तप्यतापकभावः ?

प्रश्न–सांख्यवादी—सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत् ?

उत्तरम्–वेदान्तवादी—न । ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः ।

प्रश्नः–सांख्यवादी—सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि तप्यत इवेति चेत् ?

उत्तरम्–वेदान्तवादी—परमार्थतस्तर्हि नैव तप्यत इत्यापततीवशब्दप्रयोगात् । न चेत्तप्यते नेव-
दोषाय । नहि डुण्डुभः सर्प इवेत्येतावता सविषो भवति । सर्पो वा डुण्डुभ इवेत्येता-
वता निर्विषो भवति । अतश्चाविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो न पारमार्थिक इत्यभ्यु
पगन्तव्यमिति । नैवं सति ममापि किंचिद्दुष्यति । अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य
तप्यत्वमभ्युपगच्छसि तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रसज्येत, नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य ।

प्रश्नः–सांख्यवादी—तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि सनिमित्तसंयोगापेक्षत्वात्तप्तेः संयोगनिमि-
त्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिकः संयोगोपरमः, ततश्चात्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत् ?

उत्तरम्–वेदान्तवादी—न । अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात् । गुणानां चोद्भवाभिभवयोर-
नियतत्वादनियतः संयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याप्यनियतत्वात्सांख्यस्यैवानि-
र्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात् । औपनिषदस्य त्वात्मैकत्वाभ्युपगमादेकस्य च विषयविषयि-
भावानुपपत्तेर्विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणादनिर्मोक्षशङ्का स्वप्नेऽपि नोप-

सकता है, क्योंकि ऐसे माननेपर देहके अशुद्धि आदि दोष चेतनमें प्रसंग होंगे, और न तुम तापको ताप होना मानते हो । अच्छा बताओ कि तुम्हारे मतमें भी कैसे तप्य—तापकभाव होता है ?

प्रश्न–सांख्यवादी—सत्त्व तप्य है और रजः तापक है ?

उत्तर–वेदान्तवादी—यह ठीक नहीं, क्योंकि सत्त्व और रजःमें चेतन संयुक्त नहीं होता है ।

प्रश्न–सांख्यवादी—सत्त्वकी चाह होनेसे चेतन भी तप्त सा होता है ?

उत्तर–वेदान्तवादी—यह भी ठीक नहीं, परमार्थरूपसे तो तप्त नहीं होता है ऐसा ही प्रतीत होता है, क्योंकि इव शब्दका प्रयोग किया गया है, यदि चेतन तप्त नहीं होता है तो इव शब्द दोषके लिये नहीं होता है । डुंडुभ ( दुमुखी सांप ) सर्प जैसा होता है ऐसे कहने मात्रसे वह दुमुखी सांप विषयुक्त नहीं होता है, अथवा सांप दुमुखी सर्पके समान होता है ऐसे कहने मात्रसे सर्प विषरहित होता है । इस कारण यह तप्य—तापकभाव अविद्याकृत है पारमार्थिक नहीं ऐसा ही मानना चाहिये, ऐसे माननेपर हमें भी कोई दोष नहीं आता । यदि चेतनका तप्यभाव होना पारमार्थिक—वास्तविक मानते हो तो तुम्हारे मतमें कभी मोक्ष न होगा, क्योंकि तुम तापकको नित्य मानते हो ।

प्रश्न–सांख्यवादी—तप्य और तापक शक्ति नित्य होनेपर भी ताप किसी निमित्तके संयोगको अपेक्षा करता है, संयोगमें निमित्त होनेवाला अदर्शन—तमोगुणकी निवृत्ति होनेपर आत्यन्तिक संयोगनाश होगा, फिर तो आत्यन्तिक मोक्ष हो ही जावेगा यदि ऐसा माना जाय ?

उत्तर–वेदान्तवादी—ऐसा मानो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि तुम प्रकाशरहित अदर्शन—तमको नित्य मानते हो, गुणोंके आविर्भाव और तिरोभाव अनियत होनेसे संयोगमें निमित्त होनेवाले तमोगुणका नाश भी अनियत होगा, इससे वियोग भी अनियत होनेसे सांख्यवादीके मतमें मोक्षाभावका परिहार नहीं हो सकता । उपनिषद् शास्त्रको माननेवाले वेदान्तियोंके मतमें तो एकात्मत्वको माननेसे, एकका विषय और विषयिभाव ( तापक—तप्यभाव ) न होनेसे और विकारोंके भेद केवल वाणीमात्रसे आरंभ करना सुने जानेसे मोक्षाभावकी शंका स्वप्नमें भी नहीं होती है । व्यवहार अवस्थामें तो जहां जैसा

जायते । व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तप्यतापकभावस्तत्र तथैव स इति न चोदयितव्यः परिहर्तव्यो वा भवति ॥ १० ॥

## २ महद्दीर्घाधिकरणम् । सू० ११

प्रधानकारणवादो निराकृतः । परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्यः । तत्रादौ तावद्योऽणुवादिना ब्रह्मवादिनि दोष उत्प्रेक्ष्यते स प्रतिसमाधीयते । तत्रायं वैशेषिकाणामभ्युपगमः—कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात्तद्विपर्ययादर्शनाच्च । तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवेयात् । तददर्शनात्तु न चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं भवितुमर्हतीति । इममभ्युपगमं तदीययैव प्रक्रियया व्यभिचारयति—

**[1]महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥**

एषा तेषां प्रक्रिया-परमाणवः किल कंचित्कालमनारब्धकार्या यथायोगं रूपादिमन्तः

---

तप्य—तापकभाव देखा जाता है वहां वैसा ही होता है, इससे इस विषयमें न कुछ कहना और न कुछ परिहार करना पड़ता है ॥ १० ॥ यह प्रथम रचनानुपपत्त्यधिकरण समाप्त हो गया ।

## २ महद्दीर्घाधिकरणम् । सू० ११

प्रधानकारणवादका निराकरण हो चुका, अब परमाणुकारणवादका निराकरण होना चाहिये, प्रथम तो परमाणुवादी ब्रह्मवादीपर जिस दोषको देखते हैं उसीका प्रतिसमाधान किया जाता है । वैशेषिकोंका यह सिद्धान्त है कि कारणद्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले गुण कार्य द्रव्यमें समान जातिवाले दूसरे गुणोंको आरम्भ करते हैं, क्योंकि सफेद तागोंसे सफेद कपड़ेकी उत्पत्ति देखी जाती है, और इससे विरुद्ध ( सफेदसे नीले हरे आदिकी उत्पत्ति ) नहीं देखी जाती । इस कारण चेतन ब्रह्मको जगत्का कारण मानें तो कार्य जगत्में भी चैतन्य आ जाता, चेतनता न देखे जानेके कारण ही तो चेतन ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता । सूत्रकार व्यास जी इस वैशेषिक सिद्धान्तको उन्हींकी प्रक्रियामे ( उत्पत्तिनियमसे ) व्यभिचार (अनियम ) दिखाते हैं—

**महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥**

वैशेषिकोंकी प्रक्रिया यह है—परमाणु जब किसी कार्यको आरम्भ नहीं करते हैं तब कुछ काल

---

[1]—इस सूत्रभाष्यपर वैशेषिक प्रक्रियाका निम्नलिखित प्रकारसे थीबोने अनुवाद किया है, विद्यार्थियोंकी सुगमताके लिये यहां दिया जाता है:—

The system of the Vaiseshikas is the following:- The atoms which possess, according to their special kind, the qualities of colour, etc, and which are of spherical form, subsist during a certain period without producing any effect. After that, the unseen principle (adrishta), etc. acting as operative causes and conjunction constituting the non-inherent cause, they produce the entire aggregate of effected things, beginning with binary ( two and two—दो और दो ) atomic compounds. At the same time the qualities of the causes (i.e. of the simple atoms) produce corresponding qualities in the effects. Thus when two atoms produce a binary atomic compound ( द्व्यणुकगत घेरा ) the special qualities belonging to the simple atoms, such as white colour, etc. produce a corresponding white

पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति । ते च पश्चाददृष्टादिपुरःसराः संयोगसचिवाश्च सन्तो द्व्यणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्यजातमारभन्ते । कारणगुणाश्च कार्ये गुणान्तरम् । यदा द्वौ परमाणू द्व्यणुकमारभेते तदा परमाणुगता रूपादिगुणविशेषाः शुक्लादयो द्व्यणुके शुक्लादीन-परानारभन्ते । परमाणुगुणविशेषस्तु पारिमाण्डल्यं न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यमपरमारभते, द्व्यणुकस्य परिमाणान्तरयोगाभ्युपगमात् । अणुत्वह्रस्वत्वे हि द्व्यणुकवर्तिनी परिमाणे वर्ण-यन्ति । यदापि द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभेते तदापि समानं द्व्यणुकसमवायिनां शुक्लादीना-मारम्भकत्वम् । अणुत्वह्रस्वत्वे तु द्व्यणुकसमवायिनी अपि नैवारभेते, चतु-

तक वे यथायोग्य रूप आदिवाले तथा पारिमाण्डल्य परिमाणयुक्त रहते हैं, पश्चात् वे अदृष्ट—दैवी शक्तिसे प्रेरित होकर संयुक्त होते हैं तब 'द्व्यणुक आदि क्रमसे सम्पूर्ण कार्यसमुदायको आरम्भ करते हैं, और कारणगत गुण कार्यमें गुणान्तरको उत्पन्न करते हैं। जब दो परमाणु द्व्यणुकको आरम्भ करते हैं तब परमाणुगत शुक्ल आदि रूपादि गुणविशेष द्व्यणुकमें अन्य शुक्ल आदि गुणोंको उत्पन्न करते हैं। परमाणुका गुणविशेष पारिमाण्डल्य तो द्व्यणुकमे अन्य पारिमाण्डल्य परिमाणको उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि द्व्यणुकको अन्य परिमाण माना है, द्व्यणुकवर्त्ती परिमाण अणु तथा ह्रस्व होता है ऐसे वर्णन करते हैं। और जब दो द्व्यणुक भी चतुरणुकको आरंभ करते हैं तब भी द्व्यणुकमें समवायसम्बन्धमे रहनेवाले गुणोंका शुक्ल आदियोंको आरंभ करना समान ही है, द्व्यणुकमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले अणुत्व और ह्रस्वत्व भी चतुरणुकमें अणुत्व और ह्रस्वत्वको आरम्भ नहीं करते, क्योंकि चतुरणुकको महान् और दीर्घ परिमाण-

---

colour in the binary compound. One special quality, however, of the simple atoms, viz. atomic sphericity, does not produce corresponding sphericity (परमाणुगत परिमण्डल) in the binary compound; for the forms of extention belonging to the latter are said to be minuteness (anutva) and shortness. And, again, when two binary compounds combining produce a quaternary atomic compound ( चतुरणुकगत घेरा ), the qualities, such as whiteness, etc., inherent in the binary compounds produce corresponding qualities in the quaternary compounds; with the exception, however, of the two qualities of minuteness and shortness. For it is admitted that the forms of extention belonging to the quaternary compounds are not minuteness and shortness, but bigness (mahattva) and length. The same happens when many simple atoms or many binary compounds or a simple atom and a binary compound combine to produce new effects.

Well, then, we say, just as from spherical atoms binary compounds are produced, which are minute and short, and ternary compounds which are big and long, but not anything spherical; or as from binary compounds, which are minute and short, ternary compounds ( त्र्यणुकगत घेरा), etc. are produced which are big and long, not minute or short, so this noni-ntelligent world may spring from the intelligent. Brahma. This is a doctrine to which you —the Vaiseshika—cannot on your own principles, object.

ण्वणुकस्य महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणयोगाभ्युपगमात् । यदापि बहवः परमाणवो बहूनि वा द्व्यणुकानि द्व्यणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते तदापि समानैषा योजना । तदेवं यथा परमाणोः परिमण्डलात्सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणुकं जायते महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि न परिमण्डलम्, यथा वा द्व्यणुकादणोर्ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाणु नो ह्रस्वम्, एवं चेतनाद्ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यत इत्यभ्युपगमे किं तव च्छिन्नम् । अथ मन्यसे विरोधिना परिमाणान्तरेणाक्रान्तं कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादीत्यतो नारम्भकाणि कारणगतानि पारिमाण्डल्यादीनीत्यभ्युपगच्छामि, न तु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण जगत आक्रान्तत्वमस्ति, येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नारभेत । नह्यचेतना नाम चेतनाविरोधी कश्चिद्गुणोऽस्ति, चेतनाप्रतिषेधमात्रत्वात् । तस्मात्पारिमाण्डल्यादिवैषम्यात्प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वमिति । मैवं मंस्थाः । यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेवं चैतन्यस्यापीत्यस्यांशस्य समानत्वात् । न च परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणं, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात्पारिमाण्डल्यादीनामारम्भकत्वोपपत्तेः । आरब्धमपि कार्यद्रव्यं प्राग्गुणारम्भात्क्षणमात्रमगुणं तिष्ठतीत्यभ्युपगमात् । न च परिमाणान्तरारम्भे व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते परिमा-

वाले मानते हैं । और जब भी बहुतसे परमाणु बहुतसे द्व्यणुकोंको अथवा द्व्यणुकसहित परमाणु कार्यको आरभ करते हैं तब भी यह नियम समान ही है । तो इस प्रकार जैसे परमाणुके विद्यमान परिमण्डलसे अणु और ह्रस्व द्व्यणुक उत्पन्न हो जाता है, और महान् तथा दीर्घ त्र्यणुक आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु परिमण्डल उत्पन्न नहीं होता, अथवा जैसे अणु तथा ह्रस्व होता हुवा द्व्यणुकसे भी महान् और दीर्घ त्र्यणुक उत्पन्न हो जाता है वह त्र्यणुक न अणुपरिमाणवाला होता है न ह्रस्व परिमाणवाला, इसी प्रकार चेतन ब्रह्मसे भी अचेतन जगत् उत्पन्न हो जायगा इस प्रकार स्वीकार करनेमें तुम्हारी क्या हानि हो जाती है ? यदि यह मानते हो कि विरोधी अन्य परिमाणसे द्व्यणुकादि कार्यद्रव्य आक्रान्त होता है, इसलिये कारणगत पारिमाण्डल्य परिमाण आरम्भक नहीं होते हैं यह मानता हूं, और तुम्हारे मतमें चेतनविरोधी गुणान्तरसे ( अचेतनसे ) जगत् आक्रान्त नहीं हो सकता है, जिससे कारणगत चेतन कार्यमें चेतनान्तरको आरम्भ न करे, और न तुम्हारे मतमें अचेतन नामक चेतनके विरोधी कोई गुण है, क्योंकि ( जगत्की ) चेतनताकी केवल निषेध मात्र तो करते हो ( अर्थात् तुम तो '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' ऐसा मानते हो ) इसलिये [1]पारिमाण्डल्य परिमाणकी विषमता होनेसे ( हमारे मतमें तो वह आरम्भक नहीं होता, किन्तु तुम्हारे मतमे चेतन ) चेतनताका आरम्भक हो सकता है ।

इस आक्षेपपर वेदान्तियोंका कहना है कि—

ऐसा तुम नहीं मान सकते, क्योंकि जैसे कारणमें विद्यमान भी पारिमाण्डल्य परिमाण आरम्भक नहीं होता, इस प्रकार चेतन भी आरम्भक नहीं होता है, यह अंश दोनोंमे समान है । परिमाणान्तरसे आक्रान्त होना पारिमाण्डल्य परिमाणोंका आरम्भक न होनेमें कारण नहीं हो सकता, क्योंकि परिमाणान्तरके आरम्भ होनेसे प्रथम पारिमाण्डल्यादि आरम्भक हो सकते हैं, तथा आरम्भ किया हुवा कार्य द्रव्य भी गुणान्तरके आरम्भ होनेसे पहिले क्षणमात्रके लिये अगुण होकर रहता है ऐसा मानते हो । परिमाणान्तरके आरम्भ करनेमें पारिमाण्डल्य परिमाण व्यग्र होते हैं इसलिये वे अपने समानजातीय परिमाणान्तरको आरम्भ नहीं करते—ऐसा भी नहीं कह सकते हो, क्योंकि परिमाणान्तरके उत्पन्न होनेमें अन्य कारण माने गये हैं, जैसेः—

---

१—नित्य परमाणुओंमें जो परिमाण होता है उसे पारिमाण्डल्य परिमाण कहते हैं—अनुवादक ।

णान्तरस्यान्यहेतुत्वाभ्युपगमात्। 'कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७।१।९) 'तद्विपरीतमणु' (७।१।१०) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (७।१।१७) इति हि काणभुजानि सूत्राणि। नच संनिधानविशेषात्कुतश्चित्कारणबहुत्वादीन्येवारभन्ते न परिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वारभ्यमाणे सर्वेषामेव कारणगुणानां स्वाश्रयसमवायाविशेषात्। तस्मात्स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वं, तथा चेतनाया अपीति द्रष्टव्यम्। संयोगाच्च द्रव्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात्समानजातीयोत्पत्तिव्यभिचारः।

प्रश्नः—द्रव्ये प्रकृते गुणोदाहरणयुक्तमिति चेत्?

उत्तरम्—न। दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात्। नच द्रव्यस्य द्रव्यमेवोदाहर्तव्यं गुणस्य वा गुण एवेति कश्चिन्नियमे हेतुरस्ति। सूत्रकारोऽपि भवतां द्रव्यस्य गुणमुदाजहार—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते' (वै० सू० ४।२।२) इति। यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोर्भूम्याकाशयोः समवयन्संयोगोऽप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेषु पञ्चसु भूतेषु समवयच्छरीरमप्रत्यक्षं स्यात्। प्रत्यक्षं हि शरीरम्।

(१) कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च (वै० सू० ७। १। ९)।

(२) तद्विपरीतमणु (७। १। १०)।

(३) एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते (७। १। १७)।

ये कणादके बनाये हुवे सूत्र हैं। यदि कहोगे कि कहीं सन्निकर्षविशेषसे अनेक कारणयुक्त द्रव्य ही आरम्भक होते हैं पारिमाण्डल्य परिमाण आरम्भक नहीं होते हैं–यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि द्रव्यान्तर या गुणान्तरके आरम्भ करनेमें सभी कारणगुण समवायसम्बन्धसे अपने आश्रयमें समानरूपसे रहते हैं, इस कारण स्वभावसे ही पारिमाण्डल्य परिमाण आरम्भक नहीं होते, इसी प्रकार चेतनका आरम्भक न होना भी देखना चाहिये। और दूसरी बात यह है कि संयोगसे विलक्षण द्रव्यादियोंकी उत्पत्ति देखे जानेसे समानजातीयका उत्पन्न होना नियम नहीं है।

प्रश्न—यहां तो द्रव्यरूप परमाणुका प्रकरण है, इसलिये पारिमाण्डल्यपरिमाणरूप गुणका उदाहरण देना ठीक नहीं?

उत्तर—यह कहना अनुचित है, क्योंकि यहां तो दृष्टान्तसे विलक्षण आरम्भ होना मात्र तात्पर्य है। द्रव्यका द्रव्य ही और गुणका गुण ही उदाहरण देना यह कोई नियममें हेतु नहीं है। आपके सूत्रकारने भी द्रव्यके विषयमें गुणको उदाहरण दिया है—

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते (वै० सू० ४। २। २)

जैसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भूमि और आकाशका मिश्रित संयोग अप्रत्यक्ष है, इस प्रकार प्रत्यक्ष पृथिवी आदि अप्रत्यक्ष वायु आदि पञ्चभूतोंसे मिश्रित संयोग अप्रत्यक्ष होना चाहिये, शरीरका पार्थिव होना प्रत्यक्ष है, इस कारण शरीर पाञ्चभौतिक नहीं, अभिप्राय यह है कि—संयोग गुण है, शरीर द्रव्य है।

---

१—अनेक कारण होनेसे, कारणमें महत्त्व होनेसे और विशेष समुदाय होनेसे कार्य द्रव्यमें महापरिमाण आ जाता है।

२—परमाणुओंमें ये तीनों बातें न होनेसे उनमें महापरिमाण नहीं होता है, किन्तु उनका पारिमाण्डल्य परिमाणमात्र रहता है। इस कारण महापरिमाणसे परमाणुका परिमाण विपरीत–उल्टा होता है।

३—जिस प्रकार अणुत्व और महत्त्व अणुत्व तथा महत्त्ववाले नहीं होते हैं यह प्रतिपादन किया है इससे दीर्घत्व ह्रस्वत्वका भी व्याख्यान समझ लेना चाहिये, अर्थात् दीर्घत्व तथा ह्रस्वत्व भी दीर्घत्व ह्रस्वत्ववाले नहीं होते हैं, जहां महत्त्व है वहां दीर्घत्व है, वहां अणुत्व है वहां ह्रस्वत्व है और जहां अणुत्व नित्य है वहां ह्रस्वत्व भी नित्य है—अनुवादक।

तस्मान्न पाञ्चभौतिकमिति । एतदुक्तं भवति—गुणश्च संयोगो द्रव्यं शरीरम्। 'दृश्यते तु' ( ब्र० सू० २।१।६ ) इति चात्रापि विलक्षणोत्पत्तिः प्रपञ्चिता।

प्रश्नः—नन्वेवं सति तेनैवैतद्गतम् ?

उत्तरम्—नेति ब्रूमः। तत्सांख्यं प्रत्युक्तम्, एतत्तु वैशेषिकं प्रति।

प्रश्नः—नन्वतिदेशोऽपि समानन्यायतया कृतः। 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' ( ब्र० सू० २।१।१२ ) इति ?

उत्तरम्—सत्यमेतत् । तस्यैव त्वयं वैशेषिकप्रक्रियारम्भे तत्प्रक्रियानुगतेन निदर्शनेन प्रपञ्चः कृतः ॥ ११ ॥

## ३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम् । सू० १२–१७

### उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति । स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठते—पटादीनि हि लोके सावयवानि द्रव्याणि स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तन्त्वादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमाणानि दृष्टानि। तत्सामान्येन यावत्किंचित्सावयवं तत्सर्वं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैस्तैर्द्रव्यैरारब्धमिति गम्यते। स चायमवयवावयविविभागो यतो निवर्तते सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः। सर्वं चेदं जगद्गिरिसमुद्रादिकं सावयवं, सावयवत्वाच्चाद्यन्तवत्। नचाकारणेन कार्येण भवितव्यमित्यतः परमाणवो जगतः कारणमिति कणभुगभिप्रायः। तानीमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदकतेजःपवनाख्यानि सावयवान्युपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परि-

---

'दृश्यते तु' (ब्र० सू० २।१।६) यहांपर भी विलक्षणोत्पत्तिको विस्ताररूपसे वर्णन कर दिया है।

प्रश्न—ऐसा होनेपर तो उसीसे विलक्षणोत्पत्ति आ गई ( फिर पुनर्विधान क्यों ) ?

उत्तर—नहीं आ जाती, क्योंकि वह तो सांख्यके लिये कही गयी, और यह तो वैशेषिकोंके लिये है।

प्रश्न—एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ( ब्र० सू० २ । १ । १२ ) इससे समानन्यायपूर्वक अतिदेश भी कर दिया था ?

उत्तर—हां—यह ठीक है, उसीका तो इस वैशेषिक प्रक्रियाके आरम्भमें उस प्रक्रियान्तर्गत दृष्टान्तसे यह विस्तार किया गया है ॥ ११ ॥ यह दूसरा महद्दीर्घाधिकरण समाप्त हो गया।

## ३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम् । सू० १२–१७

### उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

अब परमाणुकारणवादको निराकरण करते हैं। वह वैशेषिक परमाणुकारणवाद इस प्रकार है—लोकमें पट आदि सावयव सब द्रव्य अपनेमें होनेवाले, संयोग सहायवाले धागे आदि द्रव्योंसे ही आरम्भ करते देखे गये हैं, उनकी समानतासे जितने भी सावयव द्रव्य हैं वे सब उन२ अपने से सम्बद्ध होनेवाले संयोगसचिवोंसे ( संयोग सहायवालोंसे ) युक्त द्रव्योंसे आरम्भ किये गये हैं ऐसा प्रतीत होता है। अवयव और अवयवीका विभाग जहां निवृत्त होता है वह अत्यन्त सूक्ष्मभावको प्राप्त हो कर परमाणु कहलाता है, ये सब पर्वत समुद्र आदि जगत् सावयव हैं, सावयव होनेसे ये सब आदि और अन्तवाले हैं। कार्य कारणरहित नहीं होता है, इस कारण परमाणु जगत्का कारण है यह कणादजीका अभिप्राय है। ये पृथिवी, जल, तेज और वायुनामक चार भूत सावयव उपलब्ध होते हैं, इस कारण चार प्रकारके परमाणुओंकी कल्पना की जाती है। इन परमाणुओंके अत्यन्त सूक्ष्मत्वको प्राप्त होनेपर फिर पीछे उनका विभाग

कल्प्यन्ते तेषां चापकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो विभागासंभवाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति स प्रलयकालः। ततः सर्गकाले च वायवीयेष्वणुष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते तत्कर्म स्वाश्रयमणुमणवन्तरेण संयुनक्ति ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुरुत्पद्यते। एवमग्निरेवमाप एवं पृथवी एवमेव शरीरं सन्द्रियमिति। एव सर्वमिदं जगदणुभ्यः संभवति। अणुगतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि संभवन्ति तन्तुपटन्यायेनेति काणादा मन्यन्ते। तत्रेदमभिधीयते—विभागावस्थानां तावदणूनां संयोगः कर्मापेक्षोऽभ्युपगन्तव्यः, कर्मवतां तन्त्वादीनां संयोगदर्शनात्। कर्मणश्च कार्यत्वान्निमित्तं किमप्यभ्युपगन्तव्यम्। अनभ्युपगमे निमित्ताभावान्नाण्वाद्यं कर्म स्यात्। अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा ( अथा ) यथादृष्टं किमपि कर्मणो निमित्तमभ्युपगम्येत तस्यासंभवान्नैवाण्वाद्यं कर्म स्यात्। नहि तस्यामवस्थायामात्मगुणः प्रयत्नः संभवति शरीराभावात्। शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्यात्मनः संयोगे सत्यात्मगुणः प्रयत्नो जायते। एतेनाभिघाताद्यपि दृष्टं निमित्तं प्रत्याख्यातव्यम्। सर्गोत्तरकालं हि तत्सर्वं नाद्यस्य कर्मणो निमित्तं संभवति। अथादृष्टमाद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्युच्येत तत्पुनरात्मसमवायि वा स्यादणुसमवायि वा। उभयथापि नादृष्टनिमित्तमणुषु कर्मावकल्पेतादृष्टस्याचेतनत्वात्। नह्यचेतनं चेतनेनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तते प्रवर्तयति वेति सांख्यप्रक्रियायामभिहितम्। आत्मनश्चानुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यामवस्थायामचेतनत्वात्। आत्मसमवायित्वाभ्युपगमाच्च नादृष्टमणुषु कर्मणो निमित्तं स्यादसम्बन्धात्।

संभव नहीं होता है, नष्ट होनेवाले पृथिवी आदियोंका परमाणुपर्यन्त विभाग होता है, वह प्रलय काल है। पश्चात् सृष्टिकालमें वायवीय परमाणुओंमें अदृष्टको अपेक्षा करनेवाला कर्म उत्पन्न होता है, वह कर्म अपने आश्रयमें रहनेवाले परमाणुको परमाण्वन्तरसे संयुक्त करता है, तब द्व्यणुकादिक्रमसे वायु उत्पन्न होता है, इस प्रकार अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न होती है, इसी तरह ये शरीर इन्द्रियोंके सहित उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार यह सब जगत् परमाणुओंसे उत्पन्न होता है। परमाणुगत रूप आदियोंसे द्व्यणुकगत रूप आदि तन्तुपटन्यायसे उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार कणादजीके अनुयायी लोग मानते हैं।

यहांपर यह कहा जाता है—विभागावस्थाको प्राप्त हुवे परमाणुओंके संयोगको कर्मापेक्ष मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्मयुक्त तागोंका संयोग देखा गया है, तथा कर्म कार्य होनेसे किसी निमित्तको भी मानना पड़ेगा, कोई निमित्त न माने जानेपर निमित्त न होनेसे परमाणुओंमें आरम्भिक कर्म न होगा, कोई निमित्त माने जानेपर भी यदि वह प्रयत्न है अथवा अभिघात अर्थात् संघर्ष है जैसा देखा गया हो वैसा कर्मके किसी भी निमित्तको मानना चाहिये, उस निमित्तके असम्भव होनेसे परमाणुओंमें आरम्भिक कर्म न होगा, उस अवस्थामें आत्माका गुण जो प्रयत्न है वह नहीं हो सकता, क्योंकि (विभाग अवस्थामें) शरीर नहीं होता है। मन शरीरमें प्रतिष्ठित होनेपर ही आत्माके साथ संयोग होनेपर आत्माका गुण प्रयत्न उत्पन्न होता है, इस हेतुसे संघर्ष आदि देखे हुवे निमित्तोंका भी खण्डन हो जाता है। प्रयत्न और अभिघात आदि सब कर्म सृष्टिके पश्चात् होते हैं, ये सब प्रारम्भिक कर्मके निमित्त नहीं हो सकते।

यदि यह कहा जाय कि आदि कर्मका निमित्तकारण अदृष्ट ( अर्थात् धर्म और अधर्म ) है तो वह अदृष्ट आत्माके साथ समवायसम्बन्धसे रहता है अथवा परमाणुओंके साथ समवायसम्बन्धसे रहता है? दोनों प्रकारसे भी परमाणुओंमें अदृष्टनिमित्तक कर्मकी कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि अदृष्ट अचेतन होता है। चेतन आत्मासे रहित कोई अचेतन वस्तु स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्त नहीं होती वा प्रवृत्त कराती है यह हमने सांख्यप्रक्रियामें कह दिया, चेतनोत्पत्तिरहित आत्मा भी उस विभागावस्थामें अचेतन ही रहता है। अदृष्टको आत्मसमवायी माननेसे भी परमाणुओंमें कर्मका निमित्तक अदृष्ट नहीं हो सकता है, क्योंकि उस

प्रश्नः-वैशेषिकः—अदृष्टवता पुरुषेणास्त्यणूनां संबन्ध इति चेत् ?

उत्तरम्-वेदान्ती—संबन्धसातत्यात्प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गो नियामकान्तराभावात् । तदेवं नियतस्य कस्यचित्कर्मनिमित्तस्याभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात् । कर्माभावात्तन्निबन्धनः संयोगो न स्यात् । संयोगाभावाच्च तन्निबन्धनं द्व्यणुकादि कार्यजातं न स्यात् । संयोगश्चाणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा । सर्वात्मना चेदुपचयानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च । प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात् । एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः ।

प्रश्नः-वैशेषिकः—परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युरिति चेत् ?

उत्तरम्-वेदान्ती—कल्पितानामवस्तुत्वादवस्त्वेव संयोग इति वस्तुनः कार्यस्यासमवायिकारणं न स्यात् । असति चासमवायिकारणे द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यं नोत्पद्येत । यथा चादिसर्गे निमित्ताभावात्संयोगोत्पत्त्यर्थं कर्म नाणूनां संभवत्येवं महाप्रलयेऽपि विभागोत्पत्त्यर्थं कर्म नैवाणूनां संभवेत् । नहि तत्रापि किंचिन्नियतं तन्निमित्तं दृष्टमस्ति । अदृष्टमपि भोगप्रसिद्ध्यर्थं न प्रलयप्रसिद्ध्यर्थमित्यतो निमित्ताभावान्न स्यादणूनां संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थं वा कर्म । अतश्च संयोगविभागाभावात्तदायत्तयोः सर्गप्रलययोरभावः प्रसज्येत । तस्मादनुपपन्नोऽयं परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

अदृष्टका परमाणुओंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

प्रश्न-वैशेषिक—अदृष्टवान् पुरुषोंका परमाणुओंके साथ सम्बन्ध होता है ?

उत्तर-वेदान्ती—यदि ऐसा मान तो सर्वदा सम्बन्ध होनेसे सदा संयोगकी ही प्रवृत्ति होती रहेगी, क्योंकि कोई और नियामक—अधिष्ठाता तो नहीं है । इस प्रकार किसी कर्मके निमित्त नियत न होनेसे परमाणुओंमें आरम्भिक कर्म नहीं होगा, कर्मके न होनेसे कर्मनिमित्तक संयोग न होगा, संयोग न होनेसे संयोगनिमित्तक द्व्यणुकादि कार्यसमूह न बनेंगे । परमाणुका परमाण्वन्तरसे संयोग सर्वात्मरूपसे है अथवा एकदेशसे ? यदि सर्वात्मरूपसे संयोग होता है तो उपचय अर्थात् वृद्धि न होनेसे परमाणुमात्र ही रहेगा तथा यह सर्वात्मरूपसे संयोग होना दृष्ट विषयोंके साथ विरोध भी होता है, क्योंकि प्रदेशवान् पदार्थका प्रदेशवान पदार्थोंके साथ संयोग होना देखा गया है । यदि परमाणुके एकदेशके साथ संयोग होता तो परमाणु सावयव हो जावेगा ।

प्रश्न-वैशेषिक—परमाणुओंके प्रदेश कल्पित होते हैं यदि ऐसा माना जाय ?

उत्तर-वेदान्ती—यदि ऐसा मानें तो कल्पित वस्तु वस्तु नहीं होती, इसलिये अवस्तुका संयोग अवस्तु होगा, संयोग अवस्तु होनेसे कार्य वस्तुके प्रति संयोग असमवायिकारण न होगा ( क्योंकि वैशेषिकोंका यह सिद्धान्त है कि तन्तुसंयोग पटके प्रति असमवायिकारण है ), संयोगरूप असमवायिकारण न होनेपर द्व्यणुकादि कार्य द्रव्य उत्पन्न न होगा । जैसे आदिसृष्टिमें निमित्तके न होनेसे संयोगोत्पत्तिके निमित्त परमाणुओंमें कर्म नहीं हो सकता, वैसे महाप्रलयमें भी विभागोत्पत्तिके निमित्त परमाणुओंमें कर्म न हो सकेगा, क्योंकि विभागावस्थामें भी विभागनिमित्तक कोई नियत नहीं देखा गया है, और दूसरी बात यह है कि धर्माधर्म—पापपुण्य रूप अदृष्ट भी भोगकी प्रसिद्धिके लिये है न कि प्रलयकी प्रसिद्धिके लिये, इसलिये निमित्तके अभावमें परमाणुओंके संयोगोत्पत्तिके लिये अथवा विभागोत्पत्तिके लिये कर्म न होगा, इसीलिये संयोग और विभाग न होनेसे संयोग विभागाधीन सृष्टि और प्रलयका अभावप्रसङ्ग होगा, इस कारण यह परमाणुकारणवाद ठीक नहीं है ॥ १२ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृतेनाणुवादनिराकरणेन संबध्यते । द्वाभ्यां ग्गणुभ्यां द्व्यणुकमुत्पद्यमानमत्यन्तभिन्नमणुभ्यामणवोः समवैतीत्यभ्युपगम्यते भवता । नचैवमभ्युपगच्छता शक्यतेऽणुकारणता समर्थयितुम् ।

प्रश्नः-वैशेषिकः—कुतः ?

उत्तरम्-वेदान्ती—साम्यादनवस्थितेः । यथैव द्व्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद्द्व्यणुकं समवायलक्षणेन सम्बन्धेन ताभ्यां सम्बध्यत एवं समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन्समवायलक्षणेनान्येनैव सम्बन्धेन समवायिभिः सम्बध्येतात्यन्तभेदसाम्यात् । ततश्च तस्य तस्यान्योन्यः संबन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत ।

प्रश्नः-वैशेषिकः—नन्विह प्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसंबद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते नासंबद्धः सम्बन्धान्तरापेक्षो वा । ततश्च न तस्यान्यः सम्बन्धः कल्पयितव्यो येनानवस्था प्रसज्येतेति ?

उत्तरम्-वेदान्ती—नेत्युच्यते । संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसंबद्ध एवेति समवायवन्नान्यं संबन्धमपेक्षेत । अथार्थान्तरत्वात्संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षेत, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात्सम्बन्धान्तरमपेक्षेत । न च गुणत्वात्संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षते न

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

समवायसम्बन्धको स्वीकार कर लेनेसे भी सृष्टि और प्रलयका अभाव होगा यह प्रकृत परमाणु कारणवादके निराकरणसे सम्बन्ध रखता है । दो परमाणुओंसे अत्यन्त भिन्न द्व्यणुक उत्पन्न होता है, यह द्व्यणुक दो परमाणुओंसे दो परमाणुओंमें समवायसम्बन्धसे रहता है यह आप मानते हैं, इस प्रकार मान कर आप परमाणुकारणवादको समर्थन नहीं कर सकते ।

प्रश्न—वैशेषिक—क्यों नहीं कर सकते ?

उत्तर—वेदान्ती—इसलिये कि अनवस्था दोष समानरूपसे रहता है, जैसे दो परमाणुओंसे अत्यन्त भिन्न होता हुवा द्व्यणुक समवायसम्बन्धसे उन दोनों परमाणुओंके साथ सम्बद्ध होता है, एवं समवाय भी समवायवालोंसे अत्यन्त भिन्न हो कर अन्य ही समवायसम्बन्धसे समवायवालोंके साथ सम्बद्ध होगा, क्योंकि अत्यन्त भिन्न होना दोनोंमें समान ही है ( अर्थात् जैसा द्व्यणुक परमाणुओंसे अत्यन्त भिन्न होता है वैसे ही समवाय भी समवायियोंसे—समवायवालोंसे अत्यन्त भिन्न होता है, यह अत्यन्त भेद समान ही है ) तब फिर उस२ समवायका अन्य२ सम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार अनवस्थारूप दोष प्रसक्त होगा ।

प्रश्न—वैशेषिक—[1]इसमें यह है इस प्रकारके ज्ञानसे ग्रहण करने योग्य जो समवाय है वह समवायवालोंके साथ नित्य सम्बद्धरूपसे ही ग्रहण किया जाता है, इसमें न कोई असम्बद्ध है और न सम्बन्धान्तरोंकी अपेक्षा रहती है, तब तो समवायका अन्य सम्बन्धकी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी जिससे अनवस्थारूप दोषका प्रसंग हो जाय ?

उत्तर—वेदान्ती—यह कहना ठीक नहीं, ऐसा होनेपर संयोग भी संयोगवालोंके साथ नित्य सम्बद्ध ही रहेगा, इस तरह समवायके समान अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा न करेगा । यदि यह कहा जाय कि संयोग वस्त्वन्तर होनेसे सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा करेगा तो समवाय भी वस्त्वन्तर होनेसे सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा

---

१—अर्थात् अवयवोंमें अवयवी, गुणोंमें गुणी, क्रियाओंमें क्रियावान्, जातियोंमें व्यक्ति और कार्योंमें कारण समवायसम्बन्धसे रहते हैं 'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः' ( वैशे० अ० ७ । २ । २६ )—अनुवादक ।

समवायोऽगुणत्वादिति युज्येत वक्तुम्। अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्। गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात्। तस्मादर्थान्तरं समवायमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था। प्रसज्यमानायां चानवस्थायामेकासिद्धौ सर्वासिद्धेर्द्वाभ्यामणुभ्यां द्व्यणुकं नैवोत्पद्येत। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १३ ॥

## नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

अपि चाणवः प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा वोभयस्वभावा वाऽनुभयस्वभावा वाऽभ्युपगम्यन्ते गत्यन्तराभावात्। चतुर्धापि नोपपद्यते। प्रवृत्तिस्वभावत्वे नित्यमेव प्रवृत्तेर्भावात्प्रलयाभावप्रसङ्गः। निवृत्तिस्वभावत्वेऽपि नित्यमेव निवृत्तेर्भावात्सर्गाभावप्रसङ्गः। उभयस्वभावत्वं च विरोधादसमञ्जसम्। अनुभयस्वभावत्वे तु निमित्तवशात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्यसंनिधानान्नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अतन्त्रत्वेऽप्यदृष्टादेर्नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १४ ॥

## रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न संभवति ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव। यतो रूपादिमत्त्वात्परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत। परमकारणापेक्षया स्थूलत्वमनित्यत्वं च तेषामभि-

---

करेगा। संयोग गुण होनेसे समवायरूप सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा करेगा, समवाय अगुण अर्थात् पदार्थविशेष होनेसे सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा न करेगा यह कहना भी अनुचित ही है, क्योंकि दोनोंमें अपेक्षाका कारण तुल्य है, और तुम्हारी जो गुणकी परिभाषा है वह शास्त्रसम्मत नहीं है (अर्थात् समवाय भी द्रव्याश्रयी है पदार्थविशेष नहीं) इस कारण समवायको पदार्थान्तर माननेपर अनवस्थारूप दोष प्रसक्त होगा ही, अनवस्थारूप दोष प्रसक्त होनेपर एककी असिद्धि होनेसे सबकी असिद्धि होनेके कारण दो परमाणुओंसे द्व्यणुक उत्पन्न न होगा, इसलिये परमाणुकारणवाद ठीक नहीं ॥ १३ ॥

## नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

और दूसरी बात यह है कि परमाणु प्रवृत्तिस्वभाववाले हैं या निवृत्तिस्वभाववाले अथवा दोनों स्वभाववाले वा दोनों स्वभावोंसे रहित माने जा सकते हैं, इससे अन्य परमाणुओंकी गति नहीं है, ये चारों परमाणुओंकी गति बन नहीं सकती, कारण कि परमाणु यदि प्रवृत्तिस्वभाववाले होंगे तो उनके नित्य ही प्रवृत्त होते रहनेसे प्रलय न होगा, यदि वे निवृत्तिस्वभाववाले हैं तो भी उनकी नित्य ही निवृत्ति होते रहनेसे सृष्टि न होगी, यदि वे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों स्वभाववाले हैं तो यह विरोध होनेसे ठीक नहीं, यदि वे प्रवृत्तिनिवृत्तिस्वभावरहित हैं तो किसी निमित्तवशसे उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति माननी पड़ेगी, और अदृष्ट आदि निमित्तके नित्य ही सम्बन्ध होनेसे नित्य प्रवृत्ति होती रहेगी, अदृष्टादिको शास्त्रसम्मत न होनेसे न माननेपर परमाणुओंकी कभी प्रवृत्ति ही न होगी, इसलिये भी परमाणुकारणवाद ठीक नहीं ॥ १४ ॥

## रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

अवयवपूर्वक विभक्त होनेवाले सावयव द्रव्योंका जहांसे परे विभाग संभव न हो वे चार प्रकारके रूप आदि वाले परमाणु चार प्रकारके भूतभौतिकोंका आरम्भक तथा नित्य होते हैं, इस प्रकार जो वैशेषिक लोग मानते हैं उनका यह मानना निराधार ही है, कारण कि परमाणुओंके रूप आदि होनेसे अणुत्व और नित्यत्वका विरोध होगा, अर्थात् परमकारणकी अपेक्षासे कार्यका स्थूलत्व और अनित्यत्व होना

प्रेतविपरीतमापद्येतेत्यर्थः ।

प्रश्नः–वैशेषिकः—कुतः ?

उत्तरम्–वेदान्ती—एवं लोके दृष्टत्वात् । यदि लोके रूपादिमद्वस्तु तत्स्वकारणापेक्षया स्थूलमनित्यं च दृष्टम् । तद्यथा पटस्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति तन्तवश्चांशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति, तथाचामी परमाणवो रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्यन्ते, तस्मात्तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति । यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम्—'सदकारणवन्नित्यम्' ( वै० सू० ४ । १ । १ ) इति । तदप्येवं सत्यणुषु न संभवति उक्तेन प्रकारेणाणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः । यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—'अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधभावः' (वै० ४।१।४) इति । तदपि नावश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति। असति हि यस्मिन्कस्मिंश्चिन्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते। न पुनः परमाणुनित्यत्वमेवापेक्ष्यते । तत्रास्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म । न च शब्दार्थव्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तरसिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात् । यदपि नित्यत्वे तृतीयं कारणमुक्तम्—'अविद्या च' ( वै० ४ । १ । ५ ) इति, तद्यद्येवं विव्रियेत सतां परिदृश्यमान-

---

जो उनका मानना है वह विपरीत हो जाय ।

प्रश्न–वैशेषिक—कैसे ?

उत्तर–वेदान्ती—ऐसा लोकमें देखा जाता है । लोकमें जो रूपादियुक्त वस्तु है वह अपने कारणकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य देखी जाती है, जैसे कपड़े तागोंकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य होते हैं, और तागे भी रुईके छोटे२ भागोंकी अपेक्षा स्थूल अनित्य होते हैं, वैसे ही ये परमाणु रूपादि युक्त होते हैं इस प्रकार वैशेषिक लोग मानते हैं, इस कारण परमाणु भी कारणवाले होनेसे उन कारणोंकी अपेक्षा परमाणु भी स्थूल और अनित्य हो जाते हैं ।

और जो वैशेषिकोंने नित्यत्वमे कारण कहा है कि—"[1]सदकारणवन्नित्यम्' (वै० अ० ४।१।१) ऐसे लक्षण होनेपर भी परमाणुओंमें नित्यत्व संभव नहीं, क्योंकि उपर्युक्त रूपादि होनेसे परमाणु भी कारणवाले सिद्ध होते हैं ।

और जो नित्यत्वमें दूसरा कारण कहा कि:—

[2]अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधभावः ( वै० ४।१।४ ) ।

यह लक्षण भी परमाणुओंका नित्यत्व सिद्ध नहीं करता, क्योंकि जिस किसी नित्य वस्तुके न होनेपर नित्य शब्दके साथ नञ्का समास 'न नित्यः—अनित्य' इस प्रकार नहीं हो सकता, और फिर परमाणुओंकी नित्यताकी ही तो अपेक्षा नहीं की जाती है, नित्य परमकारण ब्रह्म भी तो है । शब्द और अर्थोंके व्यवहारमात्रसे किसी वस्तुकी प्रसिद्धि नहीं होती है, क्योंकि प्रमाण आदियोंसे सिद्ध होनेवाले ही शब्द और अर्थोंके व्यवहारसे किसीकी प्रसिद्धि होती है ।

नित्यत्वमें और जो तीसरा कारण कहा है:—

अविद्या ( वै० ४ । १ । ५ )

---

१—अर्थात् जो विद्यमान होकर कारणरहित होता है वह नित्य है—अनुवादक ।

२—नित्यका निषेध ही अनित्य है, नित्य पदार्थ न हो तो यह अनित्य है ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता, विद्यमानका ही तो निषेध किया जाता है, इससे परमाणुओंका नित्य होना सिद्ध होता है—अनुवादक ।

कार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाग्रहणमविद्येति, ततो द्व्यणुकनित्यताऽप्यापद्येत। [1]अथाद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत तथाप्यकारणवत्त्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत । तस्य च प्रागेवोक्तत्वात् 'अविद्या च' इति पुनरुक्तं स्यात् । अथापि कारणविभागात्कारणविनाशाच्चान्यस्य तृतीयस्य विनाशहेतोरसंभवोऽविद्या सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति व्याख्यायेत । नावश्यं विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां विनष्टुमर्हतीति नियमोऽस्ति । संयोगसचिवे ह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्यारम्भकेऽभ्युपगम्यमान एतदेवं स्यात् । यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते तदा घृतकाठिन्यविलयनवन्मूर्त्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते । तस्माद्रूपादिमत्त्वात्स्यादभिप्रेतविपर्ययः परमाणूनाम् । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १५ ॥

## उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी, रूपरसस्पर्शगुणाः सूक्ष्मा आपः, रूपस्पर्शगुणं

---

यदि यह वर्णन किया जाय कि देखे जाने वाले कार्योंके कारणोंका प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण न करना अविद्या है, तब तो ( इस लक्षणके अनुसार ) द्व्यणुककी भी नित्यता सिद्ध हो जाय । यदि अविद्याके लक्षणमें 'अद्रव्य होता हुवा' इतना और जोड़ दिया जाय ( तो द्व्यणुकमें अतिव्याप्ति न होगी क्योंकि द्व्यणुक अनेक द्रव्यरूप होता है, इससे परमाणुओंका नित्यत्व सिद्ध हो जायगा ) तो भी नित्यत्वका निमित्त तो कारणरहित होना ही सिद्ध होगा, यह कारणरहित होना तो **'सदकारणवन्नित्यम्** (वै० ४ । १ । १)' यहांपर प्रथम ही कह दिया है फिर **'अविद्या च'** यह लक्षण करना पुनरुक्त होगा ।

यदि कारणविभागसे और कारणविनाशसे अन्य तीसरा विनाशहेतुका न होना अविद्या है ( क्योंकि नित्य परमाणुमें परमाणुरूप कारणका विभाग नहीं होता और न परमाणुरूप कारणका नाश ही होता है, ये दोनों गुण तो अनित्य कार्यमें होते हैं ) यह अविद्याका लक्षण परमाणुओंका नित्यत्व प्रसिद्ध करावेगा, ऐसी व्याख्या की जाय तो नष्ट होनेवाली वस्तु ये दो ही हेतुओंसे नष्ट होनी चाहिये यह कोई नियम नहीं है । संयोगसे बननेवाले अनेक द्रव्य द्रव्यान्तरोंके आरम्भक होते हैं जब ऐसा स्वीकार किया जाय तब ऐसा हो सकता है ( ऐसा तो हम वेदान्तीलोग नहीं मानते हैं, हम तो तागोंसे अतिरिक्त पटको मानते नहीं, इसलिये द्रव्य द्रव्यान्तरका आरम्भक होना हम नहीं मानते ) और जब सब विशेषताओंसे रहित सामान्य जात्यात्मक कारण ही विशेषके तुल्य अवस्थान्तरको प्राप्त होता हुवा आरम्भक माना जाय ( जैसे मिट्टी वा सुवर्ण घट और कुण्डल आदियोंमें यह मिट्टी है यह सुवर्ण है इस प्रकार सामान्यरूपसे अनुभव होता है ) तब तो घृतकी कठोरताका पिघलनेके समान मूर्त्त पदार्थ सुवर्ण आदिके अवस्थान्तर होनेसे भी विनाश हो सकता है इस कारण रूप आदियुक्त होनेसे परमाणुओंका नित्यत्व आदि माना जाना विपरीत होता है, इस कारण भी यह परमाणुकारणवाद ठीक नहीं ॥ १५ ॥

## उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

गन्ध-रस-रूप और स्पर्श गुणवाली पृथिवी स्थूल है, रूप-रस और स्पर्श गुणवाला जल सूक्ष्म

---

१—यदि आरम्भकका द्रव्यशून्य होना हेतुका विशेषण है तब विशेष्य हेतु ( अविद्या ) व्यर्थ हो जाता तथा पुनरुक्ति भी होती यह कहते हैं—**अथ** इत्यादिसे—**रत्नप्रभा** ।

यदि **'द्रव्य न होता हुवा'** ऐसा विशेषण दिया जाय तो द्व्यणुकमें अतिव्याप्ति न होगी, क्योंकि वह अनेक द्रव्य होनेसे द्रव्य ही होता है—**भामती** ।

सूक्ष्मतरं तेजः, स्पर्शगुणः सूक्ष्मतमो वायुरित्येवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचितगुणानि स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते, तद्वत्परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणाः कल्प्येरन्न वा । उभयथापि च दोषानुषङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात् । कल्प्यमाने तावदुपचितापचितगुणत्व उपचितगुणानां मूर्त्युपचयादपरमाणुत्वप्रसङ्गः । नचान्तरेणापि मूर्त्युपचयं गुणोपचयो भवतीत्युच्यते, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात् । अकल्प्यमाने तूपचितापचितगुणत्वे परमाणुत्वसाम्यप्रसिद्धये यदि तावत्सर्वे एकैकगुणा एव कल्प्येरंस्ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात्, अप्सु रूपस्पर्शयोः, पृथिव्यां च रसरूपस्पर्शानां, कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यगुणानाम् । अथ सर्वे चतुर्गुणा एव कल्प्येरन् ततोऽप्स्वपि गन्धस्योपलब्धिः स्यात्, तेजसि गन्धरसयोः, वायौ गन्धरूपरसानाम् । नचैवं दृश्यते । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १६ ॥

## अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्धः । अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभिः । अपिच वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान्षट्पदार्थान्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यानत्यन्तभिन्नान्भिन्नलक्षणानभ्युपगच्छन्ति । यथा मनुष्योऽश्वः शश इति । तथात्वं चाभ्युपगम्य तद्विरुद्धं द्रव्याधीनत्वं शेषाणामभ्युपगच्छन्ति । तन्नो-

है, रूप और स्पर्श गुणवाली आग अधिक सूक्ष्म है, स्पर्शगुणवाला वायु अत्यन्त सूक्ष्म है, ये चार भूत अधिक न्यून गुणवाले तथा स्थूल—सूक्ष्म—अधिक सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म सिलसिलेमें युक्त लोकमें देखे जाते हैं । इसी प्रकार परमाणुका भी अधिक तथा न्यून गुणयुक्त होनेकी कल्पना करोगे या नहीं ? दोनों प्रकारसे भी दोषप्रसंग होना अखण्डनीय है । यदि परमाणुओंके अधिक तथा न्यून गुणयुक्त होनेकी कल्पना की जाय तो गुणातिशयवाले स्थूलमूर्त्तिमान् होनेसे परमाणु सिद्ध न हो सकेंगे, स्थूलमूर्त्ति हुवे विना गुणकी वृद्धि नहीं होती है, क्योंकि कार्य भूतोंमे गुणोंकी वृद्धि होनेपर ही स्थूल मूर्त्ति देखी जाती है । यदि परमाणुओंका अधिक तथा हीन गुणयुक्त होनेकी कल्पना न की जाय तो परमाणुओंकी समानताको सिद्ध करनेके लिये सभी परमाणु एक२ गुणवाले हैं ऐसी कल्पना करोगे, तब तो अग्निमें स्पर्शकी उपलब्धि न होगी, जलोंमें रूप और स्पर्शकी और पृथिवीमें रस रूप तथा स्पर्शोंकी, क्योंकि कारणगुणपूर्वक ही कार्यके गुण होते हैं ( अर्थात् परमाणुरूप कारणमें 'यदि केवल एक२ गुण है तो उन२ भौतिक कार्योंमें भी केवल एक२ ही गुण होना चाहिये ), यदि सभी परमाणु चारों गुणोंसे युक्त हैं ऐसी कल्पना की जाय, तब तो जलमें भी गन्धकी उपलब्धि हो जाय, अग्निमें गन्ध और रसकी, तथा वायुमें गन्ध रूप और रसोंकी, किन्तु ऐसे तो नहीं देखे जाते, इस कारण भी परमाणुकारणवाद बनता नहीं ॥ १६ ॥

## अपरिग्रहाचात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

किन्हीं वेदवेत्ता मनु आदि ऋषियोंने प्रधानकारणवादको सत्कार्यत्व, आत्माका असङ्गत्व चिद्रूपत्व अंशकी सत्ताके अभिप्रायसे निर्माण किया था, किन्तु इस परमाणु कारणवादको किन्हीं शिष्ट पुरुषोंने किसी अंशसे भी स्वीकार नहीं किया है, इसलिये वेदवादी लोगोंको इसको अत्यन्त अनादरकी दृष्टिसे देखना चाहिये ।

और दूसरी बात यह है कि वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय इन ६ पदार्थोंको अत्यन्त भिन्न तथा भिन्नलक्षणयुक्त शास्त्रसिद्ध मानते हैं, जैसे—मनुष्य, घोड़ा, खरगोश (आदि परस्पर अत्यन्त भिन्न२ होते हैं), इस प्रकार अत्यन्त भिन्न२ मान कर इससे विरुद्ध अवशिष्ट गुण

पपद्यते ।

प्रश्नः-वैशेषिकः—कथम् ?

उत्तरम्-वेदान्ती—यथा हि लोके शशकुशपलाशप्रभृतीनामत्यन्तभिन्नानां सतां नेतरेतराधीनत्वं भवति, एवं द्रव्यादीनामत्यन्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां भवितुमर्हति । अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां ततो द्रव्यभावे भावाद्द्रव्याभावेऽभावाद्द्रव्यमेव संस्थानादिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति । यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति तद्वत् । तथा सति [1]सांख्यसिद्धान्तप्रसङ्गः स्वसिद्धान्तविरोधश्चापद्येयाताम् ।

प्रश्नः-वैशेषिकः—नन्वग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याग्न्यधीनत्वं दृश्यते ?

उत्तरम्-वेदान्ती—सत्यं दृश्यते । भेदप्रतीतेस्तु तत्राग्निधूमयोरन्यत्वं निश्चीयते । इह तु शुक्लः कम्बलो रोहिणी धेनुर्नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तस्य तेन तेन विशेषणेन प्रतीयमानत्वान्नैव द्रव्यगुणयोरग्निधूमयोरिव भेदप्रतीतिरस्ति । तस्माद्द्रव्यात्मकता गुणस्य । एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता । गुणानां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यदुच्येत, तत्पुनरयुतसिद्धत्वमपृथग्देशत्वं वा

---

आदिको द्रव्याधीन होना मानते हैं, सो वह बन नहीं सकता ।

प्रश्न-वैशेषिक—क्यों नहीं बन सकता ?

उत्तर-वेदान्ती—जैसे लोकमें खरगोश, कुश, पत्ते आदि परस्पर अत्यन्त भिन्न होकर एक दूसरेके आधीन नहीं होते हैं, इसी प्रकार द्रव्य आदि भी अत्यन्त भिन्न होनेसे गुण आदि द्रव्याधीन नहीं हो सकते । यदि गुण आदि द्रव्याधीन होते हैं तब तो द्रव्यके होनेमें गुणादि होनेसे और द्रव्यके न होनेमें गुण आदि न होनेसे द्रव्य ही स्थानादिभेदसे अनेक शब्दोंके प्रयोगसे प्रतीत होता है, जैसा देवदत्त एक ही होकर बाल्यादि अवस्थायोगसे अनेक शब्दोंद्वारा प्रयुक्त होकर जाना जाता है उसी प्रकार ( द्रव्य भी आकारभेदसे अनेक शब्दोंद्वारा प्रयुक्त होकर जाना जाता है ), ऐसे होनेपर सांख्यसिद्धान्तका प्रसंग और अपने सिद्धान्तका विरोध होगा ।

प्रश्न-वैशेषिक—अग्निसे धुवां भिन्न होकर भी अग्न्यधीन देखा जाता है ( एवं गुणादि भी द्रव्यसे भिन्न होकर द्रव्याधीन माने जायें तो क्या हानि है ) ?

उत्तर-वेदान्ती—हां, ठीक भिन्न२ देखे जाते हैं, किन्तु भेदप्रतीति होनेसे ही तो अग्नि और धूमका पृथक् होना निश्चय किया जाता है । यहां तो सफेद कम्बल, लाल गाय, नीला कमल इस प्रकार तत्तद् द्रव्य ही उस२ विशेषणसे प्रतीत होनेसे अग्नि और धूम समान द्रव्य और गुणमें भेदकी प्रतीति नहीं होती है, इस कारण गुण द्रव्यात्मक है, इससे कर्म, सामान्य, विशेष और समवायोंका द्रव्यात्मक होना व्याख्या कर दी गयी । यदि कहा जाय कि और गुण द्रव्याधीन होनेसे गुण और द्रव्य [2]अयुत सिद्ध होते हैं,

---

१—यहां सांख्य शब्दसे वेदान्तीको ग्रहण करना चाहिये, अथवा कपिल ऋषिका भी तादात्म्यसिद्धान्त हो इस अभिप्रायसे सांख्यका ग्रहण है—रत्नप्रभा ।

२—दो पृथक्२ पदार्थ मिलकर जो वस्तु बनती है वह युतसिद्ध कहलाती है, जैसे तागे पृथक् होकर संयुक्त होनेपर वस्त्र बन जाता है । और जो भिन्न न होकर एक ही में दोनों सदासे संयुक्त होकर बने रहते हैं वे अयुत सिद्ध कहलाते हैं, जैसे तन्तु रूप द्रव्य और शुक्लरूप दोनों रूपसे एकमें अभिन्न होकर बने रहते में । और आत्मा तथा आकाशका जो संयोग है वह अजसंयोग है, ये परस्पर स्वरूपतः भिन्न२ होकर भी अभिन्नरूपसे संयुक्त रहते हैं । यह वैशेषिक सिद्धान्त है—अनुवादक ।

स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा सर्वथापि नोपपद्यते। अपृथग्देशत्वे तावत्स्वाभ्युपगमो विरुध्येत।

प्रश्नः-वैशेषिकः—कथम्?

उत्तरम्-वेदान्ती—तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते न पटदेशः। पटस्य तु गुणाः शुक्लत्वादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते न तन्तुदेशाः। तथा चाहुः—'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वै० १।१।१०) इति। तन्तवो हि कारणद्रव्याणि कार्यद्रव्यं पटमारभन्ते। तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादय कार्यद्रव्ये पटे शुक्लादिगुणान्तरमारभन्त इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति। सोऽभ्युपगमो द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाध्येत। अथापृथक्कालत्वमयुतसिद्धत्वमुच्येत, सव्यदक्षिणयोरपि गोविषाणयोरयुतसिद्धत्वं प्रसज्येत। तथाऽपृथक्स्वभावत्वे त्वयुतसिद्धत्वे न द्रव्यगुणयोरात्मभेदः संभवति, तस्य तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वात्। युतसिद्धयोः संबन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृषैव तेषां, प्राक्सिद्धस्य कार्यात्कारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। अथान्यतरापेक्ष एवायमभ्युपगमः स्यादयुतसिद्धस्य कार्यस्य कारणेन संबन्धः समवाय इति, एवमपि प्रागसिद्धस्यालब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन संबन्धो नोपपद्यते द्वयायत्तत्वात्संबन्धस्य।

प्रश्नः-वैशेषिकः—सिद्धं भूत्वा संबध्यत इति चेत्?

तब फिर यह बतलाओ कि यह जो अयुतसिद्धत्व है वह अपृथक्देशत्व है अथवा अपृथक्कालत्व है, वा अपृथक्स्वभावत्व है? किसी प्रकारसे भी अयुतसिद्ध सिद्ध नहीं होता है, यदि अयुतसिद्धको समान देशमें होना मानें तो अपना सिद्धान्तविरोध होगा।

प्रश्न-वैशेषिक—कैसे?

उत्तर-वेदान्ती—तन्तुसे बना हुवा जो पट है वह तन्तुस्थानीय माना जाता है, पटस्थानीय नहीं, और पटके शुक्लत्व आदि गुण तो पटस्थानीय माने जाते हैं, तन्तुस्थानीय नहीं, जैसे—सूत्रकारने कहा है—

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् (वै० १।१।१०) कारण द्रव्य तन्तु कार्य द्रव्य पटको बनाते हैं, और तन्तुगत शुक्लादि गुण कार्यद्रव्य पटमें अन्य शुक्लादि गुणान्तरको उत्पन्न करते हैं, इस प्रकार वैशेषिक लोग मानते हैं, यह सिद्धान्त द्रव्य गुणोंको समान स्थानीय माननेमें विरोध होगा। यदि अयुतसिद्धका अभिप्राय समानकालिक है तो गायके दांयें और बांयें सींग भी अयुतसिद्ध होंगे, यदि अयुतसिद्धका तात्पर्य समानस्वभावसे है तो द्रव्य और गुणका परस्पर भेद सम्भव न होगा, क्योंकि तादात्म्यसे ही प्रतीत होते हैं, इसलिये युतसिद्धोंका संयोगसम्बन्ध है और अयुतसिद्धोंका समवाय सम्बन्ध है यह वैशेषिकोंका सिद्धान्त मिथ्या ही है, क्योंकि कार्यसे प्रथम सिद्ध हुवे कारणका अयुतसिद्ध होना बनता नहीं। अथवा यह अयुतसिद्धरूप मन्तव्य किसी अन्यको अपेक्षा करनेवाला हो कि अयुतसिद्ध कार्यका कारणके साथ जो सम्बन्ध हो वह समवाय है, ऐसे माने जानेपर भी पूर्वसे असिद्ध अनुत्पन्न कार्यका कारणसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सम्बन्ध दो के अधीन होता है (केवल एकके अधीन नहीं)।

प्रश्न-वैशेषिक—सिद्ध अर्थात् कार्य प्रथमसे ही सिद्ध होता हुवा कारणके साथ सम्बन्ध माना लिया जाय?

उत्तरम्-वेदान्ती—प्राक्कारणसंबन्धात्कार्यस्य सिद्धावभ्युपगम्यमानायामयुतसिद्ध्यभावात्कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते इतीदं दुरुक्तं स्यात् । यथा चोत्पन्नमात्रस्याक्रियस्य कार्यद्रव्यस्य विभुभिराकाशादिभिर्द्रव्यान्तरैः सम्बन्धः संयोग एवाभ्युपगम्यते न समवायः, एवं कारणद्रव्येणापि संबन्धः संयोग एवस्यान्न समवायः । नापि संयोगस्य समवायस्य वा संबन्धस्य संबन्धिव्यतिरेकेणास्तित्वे किंचित्प्रमाणमस्ति ।

प्रश्नः-वैशेषिकः—संबन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययदर्शनात्तयोरस्तित्वमिति चेत् ?

उत्तरम्-वेदान्ती—न । एकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयानेकशब्दप्रत्ययदर्शनात् । यथैकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूपं संबन्धिरूपं चापेक्ष्यानेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति, मनुष्यो ब्राह्मणः श्रोत्रियो वदान्यो बालो युवा स्थविरः पिता पुत्रः पौत्रो भ्राता जामातेति, यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानैकदशशतसहस्रादिशब्दप्रत्ययभेदमनुभवति, तथा संबन्धिनोरेव संबन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्य-

---

उत्तर-वेदान्ती—तब तो कारणके साथ सम्बन्ध होनेसे प्रथम कार्य सिद्ध माने जानेपर [1]अयुतसिद्धि न होनेसे 'कार्य और कारणके संयोग और विभाग नहीं होते हैं' यह वैशेषिकोंका कहना नहीं बनेगा। जैसे केवल उत्पन्न क्रियारहित कार्य द्रव्यका विभु आकाशादि द्रव्योंके साथ संयोग सम्बन्ध ही माना जाता है, समवायसम्बन्ध नहीं, एवं कार्यका कारण द्रव्योंके साथ संयोग सम्बन्ध ही होगा समवायसम्बन्ध नहीं, और न सम्बन्धीके अतिरिक्त संयोग वा समवायसम्बन्धके होनेमें कोई प्रमाण है ।

प्रश्न-वैशेषिक—सम्बन्धी शब्दोंके ज्ञानके अतिरिक्त भी संयोग और समवाय शब्दोंका ज्ञान होना देखा गया है, इसलिये इन दोनोंका अस्तित्व है यदि ऐसा माना जाय ?

उत्तर-वेदान्ती—यह बात नहीं, क्योंकि एक होनेपर भी स्वरूपोंके बाह्यरूपोंकी अपेक्षासे अनेक शब्दोंका ज्ञान होना देखा गया है, जैसे—देवदत्त एक हो कर भी अपने रूपोंको और सम्बन्धियोंके रूपोंको अपेक्षा कर अनेक शब्दज्ञानकारक होता है कि यह मनुष्य है, ब्राह्मण है, वेदज्ञ है, दानी है, बाल-युवा-वृद्ध है, पिता है, पुत्र है, पौत्र है, भाई है, जमाई है इत्यादि । अथवा जैसे रेखा एक हो कर भी स्थान भेदसे रखे जानेपर एक-दस-सौ-हजार आदि शब्दज्ञानोंके भेदको अनुभव करती है, तथा दो सम्बन्धियोंके ही सम्बन्धी शब्दोंके ज्ञानके अतिरिक्त संयोग और समवाय शब्दोंका ज्ञान योग्य

---

१—"युतसिद्ध्यभावात्कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ( वै० ७ । २ । १३ )" अवयव और अवयवीरूप द्रव्योंका संयोग क्यों नहीं होता ? इसलिये वैशेषिक सूत्रकार कहते हैं कि युतसि०—पृथक्२ हुवे पदार्थोंका विद्यमान होना युतसिद्धि है अथवा पृथक् आश्रयाश्रितभाव है, अवयव और अवयवीमें ये दोनों नहीं हैं—शङ्करमिश्रकृत वैशेषिक सूत्रोपस्कार । भाव यह है कि पटरूप अवयवी कार्य और तन्तुरूप अवयव कारण अयुतसिद्ध हैं, ये अलग२ होकर संयुक्त नहीं होते हैं, पट आदि अवयवी तन्तु आदि अवयवोंसे असम्बद्ध हो कर नहीं रहते हैं, जिससे उन दोनोंके संयोग विभाग संभव हों, इस कारण अवयवी-अवयवरूप कार्यकारणके संयोग तथा विभाग नहीं होते हैं ।

निर्णयसागरकी छपी मूल व टीकासहित पुस्तकोंमें और श्रीवेङ्कटेश्वरकी छपी टीकासहित पुस्तकमें "अयुतसिद्ध्यभावात्" केवल इतनामात्र पाठ है, हमने भी इसी पाठकी संगति लगा दी है । किन्तु "युतसिद्ध्यभावात्" इतना सूत्रपाठ छूट गया प्रतीत होता है, क्योंकि यह वैशेषिक दर्शन (७।२।१३) का पूरा सूत्र है । जो ऊपर लिख दिया है भामती टीकाकारने भी 'युतसिद्ध्यभावात्' लिख कर भाष्यकी संगति लगाई है—अनुवादक ।

यार्हत्वं न व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वेन, इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरभावो वस्त्वन्तरस्य । नापि संबन्धिविषयत्वे संबन्धशब्दप्रत्यययोः संततभावप्रसङ्गः । स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयेत्युक्तोत्तरत्वात् । तथाऽणवात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः संभवति, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात् ।

प्रश्नः–वैशेषिकः—कल्पिताः प्रदेशा अणवात्ममनसां भविष्यन्तीति चेत् ?

उत्तरम्–वेदान्ती—न । अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात् । इयानेवाविद्यमानो विरुद्धोऽविरुद्धो वार्थः कल्पनीयो नातोऽधिक इति नियमहेत्वभावात् । कल्पनायाश्च स्वायत्तत्वात्प्रभूतत्वसंभवाच्च । न च वैशेषिकैः कल्पितेभ्यः षड्भ्यः पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वार्था न कल्पयितव्या इति निवारको हेतुरस्ति । तस्माद्यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्तत्सिध्येत् । कश्चित्कृपालुः प्राणिनां दुःखबहुलः संसार एव माभूदिति कल्पयेत् । अन्यो वा व्यसनी मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत् । कस्तयोर्निवारकः स्यात् । किंचान्यत् । द्वाभ्यां परमाणुभ्यां निरवयवाभ्यां सावयवस्य द्व्यणुकस्याकाशेनेव संश्लेषानुपपत्तिः । नह्याकाशस्य पृथिव्यादीनां च जतुकाष्ठवत्संश्लेषोऽस्ति ।

प्रश्नः–वैशेषिकः—कार्यकारणद्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यवश्यं कल्प्यः समवाय इति चेत् ?

उत्तरम्–वेदान्ती—न । इतरेतराश्रयत्वात् । कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रिताश्रयभावसिद्धि-

---

होना पृथक् वस्तुरूपसे नहीं, इससे यह सिद्ध हुआ कि वस्तु आदि प्राप्त होनेसे उनका होना सिद्ध होता है, और जो वस्तु प्राप्त नहीं होती वह विद्यमान भी नहीं होती । और न सम्बन्ध शब्दों और ज्ञानोंका सम्बन्धीके विषय होनेपर सार्वकालिक भाव प्रसङ्ग होगा, क्योंकि स्वरूपोंके बाह्यरूपोंको अपेक्षा कर ( अनेक शब्दोंका ज्ञान होता है ) यह ऊपर उत्तर दिया जा चुका है ।

और दूसरी बात यह है कि परमाणु, आत्मा और मन इनके प्रदेश न होनेसे संयोग हो नहीं सकता, क्योंकि प्रदेशवाले द्रव्यका प्रदेशवाले द्रव्यके साथ संयोग देखा गया है ।

प्रश्न–वैशेषिक—परमाणु, आत्मा तथा मनके प्रदेश कल्पित किये हुवे होंगे ?

उत्तर–वेदान्ती—सो भी ठीक नहीं, क्योंकि अविद्यमान वस्तुकी कल्पना हो सकती है तो सभी वस्तुओंकी सिद्धि हो जाय, कारण कि इतने अभाव वस्तुकी अथवा विरुद्ध वा अविरुद्ध वस्तुकी कल्पना करनी चाहिये इससे अधिक नहीं इस नियममें कोई हेतु नहीं है । और कल्पना भी स्वाधीन होनेसे अधिक से अधिककी भी कल्पना हो सकती है । और दूसरी बात यह है कि वैशेषिकोंके कल्पित ६ पदार्थोंसे और अधिक सौ अथवा हजारों पदार्थोंकी कल्पना नहीं करनी चाहिये इसमें कोई निवारक हेतु नहीं है, इस कारण जिसके लिये जो२ रुचे वह२ सिद्ध होने लगेगा । कोई दयालु पुरुष प्राणियोंके लिये यह अधिक दुःखमय संसार ही न रहे ऐसी कल्पना करेगा, अथवा अन्य व्यसनी पुरुष मुक्तोंके भी पुनर्जन्मकी कल्पना करेगा, इन दोनोंका निवारक कौन होगा ? और अधिक क्या कहें—दो निरवयव परमाणुओंसे सावयव द्व्यणुकका आकाशके तुल्य संयोग नहीं हो सकता । आकाश और पृथिवी आदियोंका लाख और काठके समान संयोग नहीं होता है ।

प्रश्न–वैशेषिक—कार्य और कारण द्रव्योंका आश्रित–आश्रयभाव सम्बन्ध अन्यथा बनता नहीं इसलिये अवश्य समवायकी कल्पना करनी चाहिये ?

उत्तर–वेदान्ती—सो भी ठीक नहीं—क्योंकि इतरेतराश्रय दोष प्रसङ्ग हो जावेगा, जैसे—कार्य और कारणकी

ताश्रिताश्रयभावसिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डबदरवदितीतरेतराश्रयता स्यात् । नहि कार्यकारणयोर्भेद आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते, कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात् । किंचान्यत् । परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत ।

प्रश्नः-वैशेषिकः—यांस्त्वं दिग्भेदभेदिनोऽवयवान्कल्पयसि त एव परमाणव इति चेत् ?

उत्तरम्-वेदान्ती—न । स्थूलसूक्ष्मतारतम्यक्रमेणापरमकारणाद्विनाशोपपत्तेः । यथा पृथिवी द्व्यणुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा वस्तुभूतापि विनश्यति, ततः सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च पृथिव्येकजातीयकं विनश्यति, ततो द्व्यणुकं, तथा परमाणवोऽपि पृथिव्येकजातीयकत्वाद्विनश्येयुः ।

प्रश्नः-वैशेषिकः—विनश्यन्तोऽप्यवयवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत् ?

उत्तरम्-वेदान्ती—नायं दोषः । यतो घृतकाठिन्यविलयनवद्विनाशोपपत्तिमवोचाम । यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवानामप्यग्निसंयोगाद्द्रवभावापत्त्या काठिन्यविनाशो भवति, एवं परमाणूनामपि परमकारणभावापत्त्या मूर्त्यादिविनाशो भविष्यति । तथा कार्यारम्भोऽपि नावयवसंयोगेनैव केवलेन भवति, क्षीरजलादीनामन्तरेणाप्यवयवसंयोगान्तरं दधिहिमादिकार्यारम्भदर्शनात् । तदेवमसारतरतर्कसंदृब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवानपेक्षास्मिन्परमाणुकारणवादे कार्या श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः ॥ १७ ॥

भेदकी सिद्धि होनेपर आश्रित—आश्रयभावकी सिद्धि होगी, और आश्रित—आश्रयभावकी सिद्धि होनेपर उन दोनों कार्य—कारणके भेदकी सिद्धि होगी, कुण्डस्थ बेर फलकी तरह इतरेतराश्रय दोष आता है । कार्य और कारणके भेदको अथवा आश्रित—आश्रयभावको वेदान्ती लोग नहीं मानते हैं, क्योंकि कारणका ही स्वरूपमात्र कार्य होता है ऐसा माना जाता है । और अधिक क्या कहें—परमाणु परिच्छिन्न—एकदेशी होनेसे छः आठ या दस जितनी दिशायें हैं उतने अवयवोंसे परमाणु सावयव होंगे, सावयव होनेसे अनित्य हो जावेंगे, इससे उनका नित्यत्व और निरवयवत्व होना बाध होगा ( अर्थात् परमाणु नित्य और निरवयव हो नहीं सकते ) ।

प्रश्न-वैशेषिक—तुम जिन दिशाओंके भेदसे भिन्न अवयवोंकी कल्पना करते हो वे ही तो परमाणु हैं ?

उत्तर-वेदान्ती—यह ठीक नहीं, क्योंकि स्थूल और सूक्ष्मके सिलसिलेसे परम कारण परमाणु पर्यन्तका विनाश हो जावेगा, जैसे पृथिवी द्व्यणुककी अपेक्षा अत्यन्त स्थूल वस्तुरूप होनेपर भी नष्ट हो जाती है, तब फिर सूक्ष्म और अधिक सूक्ष्मरूपसे पृथिवीसम्बन्धी एक जाति नष्ट होती है, तब द्व्यणुक नष्ट होगा, तथा परमाणु भी पृथिवीके एक जातीय होनेसे नष्ट हो जावेंगे ।

प्रश्न-वैशेषिक—विनाश होनेपर भी अवयवके विभागसे ही नष्ट होते हैं यदि ऐसा माना जाय ?

उत्तर-वेदान्ती—तो भी यह दोष ठीक नहीं, क्योंकि घृतकी कठोरताके नाश होनेके तुल्य भी हमने विनाशके हेतुको कहा था, जैसे अविभक्त अवयववाले घृत सुवर्ण आदिका अग्निसंयोगद्वारा द्रवभावकी प्राप्तिसे कठोरताका नाश हो जाता है, एवं परमाणुओंकी मूर्त्ति आदिका विनाश भी परम कारणभावकी प्राप्तिसे हो जावगा । तथा कार्यारम्भ ( सृष्टि ) भी केवल अवयवोंके संयोगसे ही नहीं होता है, क्योंकि दूध और जल आदिका अवयवसंयोग विना ही दही और बर्फ आदि कार्य बनना देखा गया है, इस कारण वैशेषिकोंके अधिक असार तर्क गुंथे हुये होनेसे, ईश्वरको कारण बतानेवाली श्रुतियोंके विरुद्ध होनेसे तथा वेदपारङ्गत शिष्ट मनु आदि ऋषियोंद्वारा न माने जानेसे इस परमाणु कारणवादमें कल्याणको चाहनेवाले मनुष्य बिलकुल अपेक्षा न करें, इतना वाक्यशेष है ॥ यह तीसरा परमाणुजगदकारणत्वाधिकरण समाप्त हो गया ।

## ४ समुदायाधिकरणम् । सू० १८–२७

### समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम् । [१]सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात्सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयामः । स च बहुप्रकारः, [२]प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा । तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति । तत्र ये सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति भूतं

## समुदायाधिकरणम् । सू० १८–२७

### समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

वैशेषिक सिद्धान्त दुष्ट युक्तियोंसे संयुक्त होनेसे, वेदोंसे विरोध होनेसे तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा स्वीकार न किये जानेसे मानने योग्य नहीं है यह कह दिया है । वैशेषिक लोग अर्धवैनाशिक है, इसलिये वैनाशिकोंकी समतासे सर्ववैनाशिकोंके सिद्धान्तको बिलकुल ही आश्रयण नहीं करना चाहिये इस विषयको यहा अब प्रतिपादन करेंगे । वे वैनाशिकों के सिद्धान्त बुद्धिभेदसे अथवा बौद्ध शिष्योंके सिद्धान्तभेदसे बहुत प्रकारके होते हैं । ये तीन वादी होते हैं—कोई सर्वास्तित्ववादी हैं, कोई बाह्य वस्तुओंका ज्ञान मात्र होना माननेवाले विज्ञानास्तित्ववादी हैं, और अन्य बौद्ध सर्वशून्यवादी होते हैं । जो सर्वास्तित्ववादी बौद्ध है वे बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुको मानते है, भूत तथा भौतिक ये बाह्य वस्तु है, और चित्त तथा चैत्त आभ्यन्तर है ।

प्रथम सर्वास्तित्ववादीके प्रति कहा जाता है—पृथिवी धातु आदि भूत हैं, और रूप आदि

---

१—वैशेषिक लोग अर्द्ध वैनाशिक होते हैं, कारण कि वे परमाणु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मनोंको और सामान्य, विशेष, समवायको तथा किन्हीं गुणोंको ( परमाणुके परिमाण आदिको ) नित्य मान कर अवशिष्ट द्रव्योंका *निरन्वय विनाश मानते हैं, इसलिये वैशेषिक लोग अर्द्धवैनाशिक होते हैं—**भामती** ।

*—निरन्वय विनाशका अभिप्राय यह है कि कार्य और कारणके अभेद होनेपर कार्यका नाश भी कारणरूपसे रहता है, इसलिये कार्यका निरन्वय नाश नहीं होता है ( अर्थात् कार्य कारणसे कुछ सम्बन्ध न कर नष्ट नहीं होता है ) कार्यका कारणसे भेद होनेपर तो कार्यके नाशका कारणसे सम्बन्ध नहीं होता है—**वेदान्तकल्पतरु** ।

२—शास्त्रको व्याख्यान करनेवाले एक ही शिष्यकी अवस्थाके भेद होनेके कारण बुद्धिभेदसे, अथवा निकृष्ट मध्यम—उत्तम बुद्धिवाले शिष्योंके भेदसे बौद्धोंके सिद्धान्त बहुत प्रकारके होते हैं यह अभिप्राय है—**रत्नप्रभा** ।

थीबोने भी इसी प्रकार अंग्रेजीमें प्रतिपत्तिभेदका अर्थ बुद्धिके सामयिक विचारभेद और विनेयभेदका अर्थ बौद्धशिष्योंके योग्यताभेद किया है—

That doctrine is presented in a variety of forms due either to the difference of the views ( maintained by Budha at different times ), or else to the difference of capacity on the part of the disciples ( of Budha ). ( P. 401 )

**इसका भावार्थ टिप्पणी और भाष्यानुवादके समान है ।**

भौतिकं च चित्तं चैत्तं च, तांस्तावत्प्रतिक्रमः । तत्र भूतं पृथिवीधात्वादयः । भौतिकं रूपादयश्चक्षुरादयश्च । चतुष्टये च पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते । [1]तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्चस्कन्धाः । तेऽप्याध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते । तत्रेदमभिधीयते—योऽयमुभयहेतुक उभयप्रकारः समुदायः परेषामभिप्रेतोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः स्कन्धहेतुकश्च पञ्चस्कन्धीरूपः तस्मिंन्नुभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिः स्यात्समुदायाप्राप्तिः । समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः ।

प्रश्नः—सर्वास्तित्ववादी—कुतः ?

उत्तरम्—वेदान्तवादी—समुदायिनामचेतनत्वात् । चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्ध्यधीनत्वात् । अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात् । निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात् । [2]आशयस्याप्यन्यत्वान-

---

तथा चक्षु आदि भौतिक हैं, चार प्रकारके पृथिवी आदिके परमाणु कठोर, चिकना, गरम तथा गमन स्वभाववाले होते हैं, ये परमाणु पृथिवी आदि रूपसे परस्पर मिल कर बन जाते हैं इस तरह बौद्ध लोग मानते हैं, तथा रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार नामक पांच स्कन्ध हैं, वे पांचों भी आत्मामें सब प्रकारके व्यवहाररूपसे संमिलित होते हैं ऐसा मानते हैं। यहां यह कहा जाता है—जो यह दोनों बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारके हेतुवाले दो प्रकारके समुदाय बौद्धोंका अभिप्रेत है, अर्थात् परमाणु-निमित्तसे बने हुवे भूत—भौतिक समुदाय तथा स्कन्धनिमित्तसे बने हुवे रूप आदि पांच स्कन्धोंका समुदाय है, ये दोनों निमित्तसे बने हुवे समुदाय माने जानेपर भी समुदाय हो नहीं सकता, समुदाय न होनेका अर्थ यह है कि इन परमाणु आदियोंका परस्पर संगठन नहीं हो सकता ।

प्रश्न—सर्वास्तित्ववादी—कैसे नहीं हो सकता ?

उत्तर—वेदान्तवादी—क्योंकि परमाणु आदि सब समुदाय ही अचेतन हैं। चित्तका चेतनात्मक प्रकाश होना भी इन सब परमाणुओंके समुदाय सिद्ध होनेपर ही सिद्ध होता है ( इसलिये चेतनात्मक चित्त भी समुदाय सिद्ध होनेसे प्रथम अचेतन होनेसे इनका परस्पर संगठन हो नहीं सकता ) और अन्य किसी चेतन भोक्ता अथवा स्थिर होनेवाले संगठनकर्ता शासकका होना तुम मानते नहीं हो ( इसलिये भी समुदाय रूप जगत् बन नहीं सकता ), यदि किसीको निमित्त न मान कर परमाणुओंसे जगत् बनना मान लिया जाय तो सदा ही परमाणुओंकी प्रवृत्ति होती रहेगी रुकेगी नहीं, आशय भी

---

१—भूत-भौतिक भेदोंको कहकर चित्त और चैत्तिक भेदोंको कहते हैं—तथा रूपेति—जिनसे रूप प्रतीत हों अथवा जो रूप प्रतीत होते हों इस व्युत्पत्तिसे इन्द्रिय सविषयक है यह रूपस्कन्ध है। यद्यपि रूपसे प्रतीत होनेवाले पृथिवी आदि बाह्य हैं तथापि शरीरस्थ होनेसे अथवा इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होनेसे यह रूप आध्यात्मिक है। विज्ञानस्कन्ध वह है जो 'मैं हूं' इस प्रकार रूप आदि विषयवाले अथवा इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है जो दण्डके समान प्रवाह रूप होता है। जो प्रिय, अप्रिय तथा प्रियाप्रिय रहित विषयोंके स्पर्शमें सुख दुःख तथा सुखदुःखरहित विशेष अवस्था चित्तकी हो जाती है वह वेदनास्कन्ध है। विकल्पसंयुक्त ज्ञान, संज्ञावाचक शब्दोंका संसर्गयोग्य आभास होना संज्ञास्कन्ध है जैसे—यह डित्थ है, यह कुण्डली है, यह श्वेतवर्ण ब्राह्मण जाता है। राग आदि क्लेश, मद मान आदि उपक्लेश तथा धर्म और अधर्म ये संस्कारस्कन्ध हैं। इन पांचोंका समुदाय पञ्चस्कन्धी है—भामती ।

२—यदि कहा जाता है कि पूर्व-परको अनुसन्धान-विचार करनेवाला 'मैं हूं' इस प्रकार जो आलयविज्ञान होता है वही कार्योंका प्रतिसन्धाता होगा—वहांपर कहा जाता है—आशयस्यापीति। यदि वह आशय

न्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात्। क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मात्समुदायानुपपत्तिः। समुदायानुपपत्तौ च तदाश्रया लोकयात्रा लुप्येत ॥ १८ ॥

## इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

प्रश्नः-सर्वास्तित्ववादी—यद्यपि भोक्ता प्रशासिता वा कश्चिच्चेतनः संहन्ता स्थिरो नाभ्युपगम्यते तथाप्यविद्यादीनामितरेतरकारणत्वादुपपद्यते लोकयात्रा। तस्यां चोपपद्यमानायां न किंचिदपरमपेक्षितव्यमस्ति। ते चाविद्यादयोऽविद्या संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो वेदना तृष्णा उपादानं भवो जातिर्जरा मरणं शोकः परिदेवना दुःखं दुर्मनस्तेत्येवंजातीयका इतरेतरहेतुकाः सौगते समये क्वचित्संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित्प्रपञ्चिताः। सर्वेषामप्ययमविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येयः। तदेवमविद्यादिकलापे परस्परनिमित्तनैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानेऽर्थाक्षिप्त उपपन्नः संघात इति चेत्?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—तन्न।

प्रश्नः-सर्वास्तित्ववादी—कस्मात्?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। भवेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य किंचिन्नि-

अन्यत्व और अनन्यत्वरूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता और तुम सबका क्षणिक होना भी मानते हो इसलिये भी क्षणिक होनेमें क्रिया नहीं हो सकती, क्रिया न होनेसे प्रवृत्ति भी न होगी, इस कारण समुदायरूप जगत् नहीं बन सकता, समुदाय सिद्ध न होनेपर समुदायाश्रित लोकयात्रा भी लुप्त हो जावेगी ॥ १८ ॥

## इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

प्रश्न—सर्वास्तित्ववादी—यद्यपि कोई भोक्ता जीवात्मा वा शासक परमेश्वर स्थिर संगठनकर्त्ता चेतन नहीं माना जाता, तथापि अविद्या आदि एक दूसरेका कारण हो जाती है इसलिये लोकयात्रा हो सकती है, लोकयात्रा हो जानेपर अन्य कुछ अपेक्षणीय नहीं रहता है वे अविद्या आदि ये हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, विज्ञान पृथिवी आदि चार और रूप ये ६ इन्द्रियों के आधार-स्थान हैं, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति वृद्धत्व, मरण, शोक, परिदेवना—विलाप, दुःख तथा मानसिक दुःख। इस प्रकारके एक दूसरेके प्रति कारण होनेवाले बौद्धोंके सिद्धान्तमें कहीं संक्षेपमें और कहीं विस्तार रूपसे बताये गये हैं। अविद्यादि समूह सभीके लिये अखण्डनीय है। इस प्रकार अर्थसे आक्षिप्त-सिद्ध अविद्यादि समूह परस्पर निमित्त-हेतु और नैमित्तिक-हेतुमद् भावसे घड़ीके समान रातदिन चलते रहनेपर जगत्रूप समुदाय बन जाता है?

उत्तर—वेदान्तवादी—ऐसा मानना ठीक नहीं।

प्रश्न—सर्वास्तित्ववादी—कैसे?

उत्तर—वेदान्तवादी—क्योंकि ये अविद्यादि तो उत्पत्तिमात्रमें कारण होते हैं। जगत्रूप समुदाय चाहे बन जाय यदि समुदायका कोई निमित्त कारण माना जाय, किन्तु कोई निमित्त कारण तो माना नहीं जाता।

---

एक स्थिररूप है तो नामान्तरसे वह आत्मा ही है यदि वह अस्थायी क्षणिक है तो क्षणिक होनेसे ऊपर कहे दोष आ जावेंगे, और न उस आशयका प्रवाहरूप सन्तान होता है, यदि वह प्रवाहरूप सन्तान 'मैं हूं' इस आशयसे अन्य है तो नामान्तरसे वह आत्मा मान लिया जावेगा, यदि वह सन्तान आशयसे अभिन्न है तो वह आलयविज्ञान ही है, वह आलयविज्ञान क्षणिक ही होता है, इसलिये उक्त दोष आ जावेंगे। जिसमें कर्मोंकी अनुभव वासना पड़ी रहती है वह आशय आलयविज्ञान है—भामती।

सित्त्ववगम्येत । न त्ववगम्यते । यत इतरेतरप्रत्ययत्वेऽप्यविद्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रनिमित्तं भवद्भवेन्न तु संघातोत्पत्तेः किंचिन्निमित्तं संभवति ।

प्रश्नः-सर्वास्तित्ववादी—नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते संघात इत्युक्तम् ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—अत्रोच्यते—यदि तावदयमभिप्रायोऽविद्यादयः संघातमन्तरेणात्मानमलभमाना अपेक्षन्ते संघातमिति,ततस्तस्य संघातस्य निमित्तं वक्तव्यम्। तच्च नित्येष्वप्यणुष्वभ्युपगम्यमानेष्वाश्रयाश्रयिभूतेषु च भोक्तृषु सत्सु न संभवतीत्युक्तं वैशेषिकपरीक्षायाम् । किमङ्ग पुनः क्षणिकेष्वप्यणुषु भोक्तृरहितेष्वाश्रयाश्रयिशून्येषु वाभ्युपगम्यमानेषु संभवेत् ? अथायमभिप्रायोऽविद्यादय एव संघातस्य निमित्तमिति, कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः ? अथ मन्यसे संघाता एवानादौ संसारे संतत्यानुवर्तन्ते तदाश्रयाश्चाविद्यादय इति, तदपि संघातात्संघातान्तरमुत्पद्यमानं नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमेन वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत । नियमाभ्युपगमे [1]मनुष्यपुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्यभावः प्राप्नुयात् । अनियमाभ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्गलः कदाचित्क्षणेन हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेदिति प्राप्नुयात् । उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम् । अपि च यद्भोगार्थः संघातः स्यात्स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगमः । ततश्च भोगो भोगार्थ एव स नान्येन प्रार्थनीयः । तथा मोक्षो मोक्षार्थ एवेति मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम् । अन्येन चेत्प्रार्थ्येतोभयं भोग-

---

कारण कि अन्य२ के प्रति कारण होनेपर भी अविद्या आदि पूर्व२ जो हैं वे उत्तर२ के उत्पत्तिमात्रमें निमित्त होते हैं, किन्तु समुदायकी उत्पत्तिमें कुछ निमित्त नहीं होते हैं ।

प्रश्न-सर्वास्तित्ववादी—अविद्या आदियोंके कारण समुदाय अर्थसे आक्षिप्त-सिद्ध होता है यह कहा था ?

उत्तर-वेदान्तवादी—यदि यह अभिप्राय है कि अविद्या आदि समुदाय विना अपने स्वरूपको प्राप्त न हो कर समुदायको अपेक्षा करती हैं तब तो उस समुदायका निमित्त कारण कहना चाहिये । वह निमित्त तो परमाणु नित्य माने जानेपर भी तथा आश्रय और आश्रयिभाव होनेवाले भोक्ता जीवात्माओंके होनेपर भी हो नहीं सकता है यह वैशेषिक परीक्षामे कह दिया । फिर आश्चर्यकी बात है कि परमाणु क्षणिक माने जानेपर तथा भोक्ता जीवात्मासे रहित आश्रय और आश्रियभाव शून्य स्वीकार किये जानेपर तो कैसा निमित्त होना संभव हो सकता है ? अथवा यह अभिप्राय है कि अविद्या आदि ही समुदायके निमित्त हैं, तब तो उसीको आश्रयण कर अपने स्वरूपको प्राप्त होने वाले अविद्या आदि कैसे उसी समुदायके निमित्त हो सकते हैं ? अथवा यह मानते हो कि यह जगत् रूप समुदाय ही इस अनादि संसारमें निरन्तररू मे विद्यमान रहता है, और उसके आश्रित अविद्या आदि हैं, तब भी समुदायसे अन्य समुदायकी उत्पत्ति होना या तो नियमसे समान ही उत्पन्न होना चाहिये, अथवा अनियमसे समान वा असमान उत्पन्न होना चाहिये । यदि मनुष्यपुद्गल—मनुष्य शरीरका नियमसे उत्पन्न होना मानें तो देवयोनि, पशुयोनि तथा नरककी प्राप्ति नहीं होती ( क्योंकि नियमसे समान ही उत्पन्न होना चाहिये न कि विषम ), यदि अनियमसे उत्पन्न होना मानें तो मनुष्यशरीर किसी क्षणमें हाथी हो कर देव हो जाय अथवा फिर मनुष्य ही हो जाय, यह नियमानियम दोनों ही सिद्धान्त विरुद्ध हैं । और दूसरी बात यह है कि जिसके भोगके लिये यह समुदायरूप संसार है वह स्थिर भोक्ता आत्मा तुम्हारे मतमें नहीं है, तब तो भोग भोगके लिये ही है, भोगनिमित्त किसीको याचना ही करनी न पड़ेगी, तथा मोक्ष मोक्षनिमित्त ही है, इसलिये किसीको मुक्तिका इच्छुक नहीं होना

---

१—जो पूर्ण हो कर गल जाय क्षय भावको प्राप्त हो जाय वह पुद्गल देह है—रत्नप्रभा तथा न्यायनिर्णय ।

मोक्षकालावस्थायिना तेन भवितव्यम् । अवस्थायित्वे क्षणिकत्वाभ्युपगमविरोधः । तस्मादितरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद्भवतु नाम न तु संघातः सिध्येत् । भोक्त्रभावादित्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

## उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

उक्तमेतदविद्यादीनामुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वान्न संघातसिद्धिरस्तीति । तदपि तूत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वं न संभवतीतीदमिदानीमुपपाद्यते । क्षणभङ्गवादिनोऽयमभ्युपगम उत्तरस्मिन्क्षण उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्यत इति । नचैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलभावः शक्यते संपादयितुम् । निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वादुत्तरक्षणहेतुत्वानुपपत्तेः । अथ भावभूतः परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायस्तथापि नोपपद्यते । भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसंबन्धप्रसङ्गात् । अथ भाव एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नैवोपपद्यते हेतुस्वभावानुपरक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसंभवात् । स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभङ्गाभ्युपगमत्यागप्रसङ्गः । विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः । अपिचोत्पादनिरोधौ नाम वस्तुनः स्वरूपमेव वा स्यातामवस्थान्तरं वा वस्त्वन्तरमेव वा । सर्वथापि नोपपद्यते । यदि तावद्वस्तुनः स्वरूपमेवो-

चाहिये, यदि अन्य कोई याचना करे तो उस याचकको दोनों भोग और मोक्ष कालमें स्थिर होना चाहिये, यदि स्थिर हो जाय तो तुम्हारे क्षणिकवादका विरोध होगा । इस कारण अविद्या आदि अन्योन्यके उत्पत्तिमात्रमें निमित्त हो तो भले हो जाय, किन्तु समुदाय जगत् बन नहीं सकता, क्योंकि भोक्ता आत्मा नहीं है यह अभिप्राय है ॥ १९ ॥

## उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

अविद्या आदि उत्पत्तिमात्रमें निमित्त होते हैं इसलिये उनसे समुदायरूप जगत् बन नहीं सकता कह दिया है । अविद्या आदि उत्पत्तिमात्रमें भी तो निमित्त नहीं हो सकती अब इसको प्रतिपादन करते हैं । क्षणभङ्गवादियोंका यह सिद्धान्त है कि उत्तर क्षणके उत्पन्न होनेमें पूर्व क्षण नष्ट हो जाता है । ऐसा मान कर पूर्वोत्तर क्षणोंमें कारण और कार्य भाव बना नहीं सकता, क्योंकि नष्ट होनेवाला अथवा नष्ट हुआ पूर्वक्षण अभावरूप होनेसे उत्तर क्षणका कारण नहीं हो सकता । यदि सिद्ध अवस्थावाले भावरूप पूर्वक्षण उत्तरक्षणका कारण होता है यह अभिप्राय है तो भी कारण बन नहीं सकता, क्योंकि भावरूप पूर्वक्षणकी फिर क्रियाकी कल्पना करनेमें पूर्वक्षणका अन्य क्षणोंसे सम्बन्ध हो जावेगा ( इससे क्षणभङ्गवादकी हानि होगी ) । [1]यदि माना जाय कि इस पूर्व क्षणका भाव–उत्पत्ति ही व्यापार रूप क्रिया है वही कारक है तो भी बन नहीं सकता, क्योंकि कारणस्वभावरहित कार्यरूप फलकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, ( अर्थात् कारणके विना कार्य हो नहीं सकता ) यदि कारणस्वभावको मानें तो कारण स्वभाव कार्यरूप फलकी उत्पत्तिसमय तक स्थायी होनेसे क्षणभङ्गवादको त्याग करना पड़ेगा यदि कारणस्वभावके विना ही कारण और कार्यभाव मानो तो सभी जगह इसकी प्राप्ति होनेसे अतिव्याप्ति होगी । और दूसरी बात यह है कि उत्पत्ति और विनाश वस्तुके स्वरूप ही हैं अथवा वस्तुके अवस्थान्तर विशेष हैं, अथवा वस्त्वन्तरविशेष ही हैं ? किसी तरहसे भी बनता नहीं । यदि वस्तुके स्वरूप ही उत्पत्ति

---

१—भाव उत्पत्ति, जैसे कहा है—'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते' इति । जिन क्षणिक भावोंकी भूति-उत्पत्ति है वही क्रिया है और कारक भी है—भामती—रत्नप्रभा ।

त्पादनिरोधौ स्यातां ततो वस्तुशब्द उत्पादनिरोधशब्दौ च पर्यायाः प्राप्नुयुः । अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येतोत्पादनिरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुन आद्यन्ताख्ये अवस्थे अभिलप्येते इति । एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसंबन्धित्वाद्वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः । अथात्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिषवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामसंसृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः । यदि च दर्शनादर्शने वस्तुनः उत्पादनिरोधौ स्याताम्, एवमपि द्रष्टृधर्मौ तौ न वस्तुधर्माविति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग एव । तस्मादप्यसंगतं सौगतं मतम् ॥ २० ॥

### असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

क्षणभङ्गवादे पूर्वक्षणो निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवतीत्युक्तम् । अथासत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात्, ततः प्रतिज्ञोपरोधः स्यात् । चतुर्विधान्हेतून्प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । निर्हेतुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात्सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत । अथोत्तरक्षणोत्पत्तिर्यावत्तावदवतिष्ठते पूर्वक्षण इति ब्रूयात्ततो यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात् । तथापि प्रतिज्ञोपरोध एव स्यात् । क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इतीयं प्रतिज्ञोपरुध्येत ॥ २१ ॥

### प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकं चेति । तदपि

---

विनाश है तब तो वस्तु शब्द और उत्पत्ति-विनाश शब्द पर्यायवाचक हो जायेंगे, यदि माना जाय कि उत्पत्ति विनाश तथा वस्तुमें कोई विशेषता है तो उत्पत्ति और विनाश शब्दोंसे मध्यवर्ती वस्तुकी आदि और अन्त नामक दो अवस्थायें कही जाती हैं इस प्रकार भी वस्तु आदि, अन्त और मध्य तीनों क्षणोंसे सम्बन्ध रखनेवाली होनेसे क्षणिकवादकी हानि होगी। यदि वस्तुमें अत्यन्त भिन्न उत्पत्ति और विनाश हैं जैसे घोड़े और भैंसे अत्यन्त भिन्न२ हैं, तब तो उत्पत्ति और विनाशसे वस्तुका कोई सम्बन्ध नहीं इससे वस्तु नित्य सिद्ध होगी। यदि वस्तुका दीखना और न दीखना ही उत्पत्ति और विनाश है तो भी देखना और न देखना द्रष्टा आत्माके धर्म हैं वस्तुके धर्म नहीं, इस तरह भी वस्तु नित्य सिद्ध होगी, इस कारण भी बौद्धमत असंगत है ॥ २० ॥

### असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

क्षणभङ्गवादमें पूर्व क्षण नष्ट हो जानेके कारण उत्तर क्षणका कारण नहीं हो सकता यह कह दिया, यदि कारण न होनेपर भी कार्यरूप फलकी उत्पत्तिको कहे तो प्रतिज्ञाका विरोध होगा। चार प्रकारके कारणोंको मान कर चित्त-चैत्त उत्पन्न होते हैं इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। कारणरहित भी उत्पत्ति मानी जाय तो किसी रुकावटके न होनेसे सर्वत्र सबकी उत्पत्ति हो जावेगी, यदि वह कहे कि— उत्तर क्षणकी उत्पत्ति तक पूर्व क्षण रहता है तब तो कारण और कार्यका एक साथ होना सिद्ध हो जायगा, ऐसे माननेपर भी प्रतिज्ञाकी हानि होगी, सब संस्कार क्षणिक हैं यह प्रतिज्ञा रुक जावेगी ॥ २१ ॥

### प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्याविरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

और दूसरी बात यह है कि बौद्ध लोग यह कल्पना करते हैं कि तीनसे अन्य सब बुद्धिसे जानने

---

१—इस सूत्र के भाष्य का अनुवाद अंग्रेजी में प्रोफेसर थीबोने इस प्रकार किया है:—

The Baudhas who maintain that universal destruction is going on

च त्रयं प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते । त्रयमपि चैतदवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते, बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां 'प्रतिसंख्यानिरोधो नाम

योग्य हैं, संस्कृत-बने हुवे क्षणिक हैं, वे तीन भी प्रतिसंख्या, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश कहलाते हैं, ये तीनों वस्तु नहीं हैं अभावमात्र हैं इसीलिये निरुपाख्य अर्थात् निःस्वरूप होते हैं बुद्धिपूर्वक विद्यमान पदार्थोंका नाश होना प्रतिसंख्यानिरोध कहा जाता है, इससे विपरीत अप्रतिसंख्यानिरोध है । इन

constantly, assume that 'whatever forms an object of knowledge and is different from the triad (तीन का समूह) is produced (samskrita बना हुआ) and momentary (क्षणिक)'. To the triad there mentioned they give the names 'cessation (निरोध) dependent on a sublative (अभावात्मक) act of the mind', cessation not dependent on such an act, and space. This triad they hold to be non-substantial, of a merely negative character (abhavamatra-अभावमात्र), devoid of all positive characteristics. By 'cessation dependent on a sublative act of the mind,' we have to understand such destruction of entities (भावपदार्थ की सत्ता) as is preceded by an act of thought, by cessation not so dependent is meant destruction of the opposite kind, by 'space' is meant absence in general of something covering (or occupying space). Out of these three non-existances 'space' will be refuted later on (Sutra 24) the two other ones are refuted in the present sutra.

Cessation which is dependent on a sublative act of the mind, and cessation which is not so dependent are both impossible, 'on account of the absence of interruption'. For both kinds of cessation must have reference either to the series (सन्तान of momentary existances) or to the single members constituting the series. The former alternative is impossible, because in all series (of the momentary existances) the members of the series stand in an unbroken relation of cause and effect so that the series cannot be interrupted. The latter alternative is likewise inadmissible, for it is impossible to maintain that any momentary existance should undergo complete annihilation entirely undefinable and disconnected (with the previous state of existance), since we observe that a thing is recognised in the various states through which it may pass and thus has a connected existance. And in those cases also where a thing is not clearly recognised (after having undergone a change) we yet infer, on the ground of actual observations made in other cases, that one and the same thing continues to exist without any interruption. – For these reasons the two kinds of cessation which the Baudhas assume cannot be proved,

(Pages 410-411)

—विद्यमान पदार्थके प्रतिकूल संख्या-बुद्धि होना प्रतिसंख्या है, इससे नाश होना प्रतिसंख्यानिरोध है।

भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः, आवरणाभावमात्रमाकाशमिति । तेषामाकाशं परस्तात्प्रत्याख्यास्यति । निरोधद्वयमिदानीं प्रत्याचष्टे । प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयो-रप्राप्तिः । असंभव इत्यर्थः ।

प्रश्नः-सर्वास्तित्ववादी—कस्मात् ?

उत्तरम्-वेदान्तवादी—अविच्छेदात् । एतौ हि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ संतानगोचरौ वा स्यातां भावगोचरौ वा । न तावत्संतानगोचरौ संभवतः । सर्वेष्वपि [1]सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात् । नापि भावगोचरौ सम्भवतः । नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः सम्भवति, सर्वास्वप्यवस्थासु [2]प्रतिभिज्ञानबलेनान्वय्यविच्छेददर्शनात् । अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद्दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेनान्यत्रापि तदनुमानात् । तस्मात्परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः ॥ २२ ॥

---

तीनोंमें बौद्धमतीय आकाशको पीछे खण्डन करेंगे, अब दो प्रकारके विनाशोंको खण्डन करते हैं—प्रतिसंख्याविनाश और अप्रतिसंख्याविनाश नहीं हो सकते अर्थात् इन दोनोंका विनाश असम्भव है ।

प्रश्न-सर्वास्तित्ववादी—कैसे ?

उत्तर-वेदान्ती—क्योंकि इनका सम्बन्ध नहीं छूटता है, ये दोनों प्रतिसंख्याविनाश और अप्रतिसंख्याविनाश या तो सन्तानगोचर होना चाहिये अथवा भावगोचर होना चाहिये, ये दोनों सन्तानगोचर तो नहीं हो सकते, क्योंकि सभी सन्तानोंमें सन्तानी अभिन्न रूपसे कारणकार्यभावसे रहनेसे सन्तानका विच्छेद नहीं हो सकता, और न ये दोनों विनाश भावरूपसे देखे जा सकते हैं, भाव पदार्थोंका निरन्वय और निरुपाख्य विनाश नहीं होता है, क्योंकि सभी अवस्थाओं प्रत्यभिज्ञाबलसे अन्वयीका अविच्छेदरूपसे होना देखा जाता है, और जिन अवस्थाओंमें स्पष्ट प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है वहां कहीं अन्वयीका अभिन्न होना देखे जानेसे अन्यत्र स्थानोंमें भी उसका अभिन्नरूपसे बने रहनेका अनुमान होता है, इस कारण बौद्धोंके कल्पित दोनों प्रकारके विनाश नहीं हो सकते ॥ २२ ॥

---

वेद्यमान भाव पदार्थको अभावरूप करता हूं इस प्रकारकी बुद्धि भावप्रतीपा है । इस व्याख्यानसे अप्रतिसंख्या निरोधका भी व्याख्यान हो गया—**भामती-रत्नप्रभा** ।

[1]—भाव पदार्थ सन्तानी है, सन्तान वह है जो हेतुफलभावसे—कारणकार्यरूपसे प्रवाहित होता है, उस सन्तानमें अन्तिम क्षण क्षणान्तरको उत्पन्न करता है वा नहीं ? यदि उत्पन्न करता है तो वह अन्तिम न होगा, क्योंकि ( पूर्व क्षणसे उत्तर क्षणका प्रवाहरूप ) सन्तानका विच्छेद नहीं होता है । यदि क्षणान्तरको उत्पन्न नहीं करता है तो वह अन्तिम न होगा, क्योंकि तुम्हारा सिद्धान्त है कि भाव पदार्थकी सत्ता क्रियाको उत्पन्न करनेवाली होती है, अन्तिम क्षण न होनेपर पूर्वक्षण भी न होगा, क्योंकि भाव पदार्थकी सत्ताने क्रियाको उत्पन्न नहीं किया । इस कारण सन्तानका विच्छेद असम्भव होनेसे निरोध—विनाश न होगा यह भाष्यकार कहते हैं—**न तावत्** इत्यादिसे—**रत्नप्रभा** ।

[2]—कार्यका कारणके साथ किसी प्रकारका अन्वय-सम्बन्ध न होना निरन्वय कहा जाता है सो वह हो नहीं सकता क्योंकि घटके नाश होनेपर भी मिट्टीरूप कारणका अन्वय बना रहता है, विद्यमान वस्तुका सर्वथा अभाव होना निरुपाख्य है यह भी ठीक नहीं क्योंकि भावपदार्थका सर्वथा विनाश नहीं होता है—**अनुवादक** ।

## उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

योऽयमविद्यादिनिरोधः प्रतिसंख्यानिरोधान्तःपाती परपरिकल्पितः, स सम्यग्ज्ञानाद्वा 'सपरिकरात्स्यात्स्वयमेव वा । पूर्वस्मिन्विकल्पे निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसङ्गः । उत्तरस्मिंस्तु मार्गोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः । एवमुभयथापि दोषप्रसङ्गादसमञ्जसमिदं दर्शनम् ॥ २३ ॥

## आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

यच्च तेषामेवाभिप्रेतं निरोधद्वयमाकाशं च निरुपाख्यमिति, तत्र निरोधद्वयस्य निरुपाख्यत्वं पुरस्तान्निराकृतम् । आकाशस्येदानीं निराक्रियते । आकाशे चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगमः । प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात् । आगमप्रामाण्यात्तावत 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २ । १) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशस्य च वस्तुत्वप्रसिद्धिः । विप्रतिपन्नान्प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्वं वक्तव्यं, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात । अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन्सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात्सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसङ्गः ।

प्रश्नः-सर्वास्तित्ववादी—यत्रावरणाभावस्तत्र पतिष्यतीति चेत् ?

उत्तर-वेदान्तवादी—येनावरणाभावो विशेष्यते तत्तर्हि वस्तुभूतमेवाकाशं स्यात्, नावरणाभाव-

## उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

जो यह प्रतिसंख्यानिरोधके बीचमें आनेवाला अविद्यादि निरोधको बौद्धोंने माना है क्या वह परिकर अर्थात् यमनियमादि तथा श्रवणमननादि सामग्रीसे युक्त तत्त्वज्ञानसे होता है अथवा स्वयं होता है ? यदि पूर्वविकल्प तत्त्वज्ञानसे होता है तो हेतुके बिना विनाशको मानना यह तुम्हारे सिद्धान्तकी हानि होगी, यदि दूसरा विकल्प माना जाय तो क्षणिक और निरात्मादि भावना रूप मार्गोंका उपदेश व्यर्थ हो जावेगा, इस तरह दोनों प्रकारसे भी दोष प्रसङ्ग होनेसे उनका दर्शनशास्त्र असङ्गत है ॥ २३ ॥

## आकाशे चा विशेषात् ॥ २४ ॥

और जो उनका अभीप्सित मत है कि दोनों निरोध और आकाश निरुपाख्य अभावरूप हैं, दोनों प्रकारके निरोधोंको प्रथम खण्डन कर दिया, अब आकाशका निरुपाख्य होना खण्डन किया जाता है—आकाशमें निरुपाख्यत्व मानना अनुचित है, क्योंकि प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या निरोधकी तरह आकाशका भी समानरूपसे वस्तुत्व ज्ञान होता है, प्रथम तो वेदके प्रमाणसे "आत्मासे आकाश उत्पन्न हुवा (तै० २ । १)" इत्यादि श्रुतिसे आकाश वस्तुरूपसे प्रसिद्ध होता है, विरोधियोंके लिये तो शब्दगुणसे आकाश अनुमेय होता है ऐसा कह देना चाहिये, क्योंकि गन्ध आदि गुणोंका पृथिवी आदि वस्तुओंमें आश्रय होना देखा जाता है । और दूसरी बात यह है कि आवरणका न होना मात्र ही आकाश है ऐसे बौद्धोंके मतमें एक पक्षीके गिरनेपर आवरण आ जानेसे पतनोन्मुख पक्षियोंके लिये अवकाश न रहेगा ।

प्रश्न-सर्वास्तित्ववादी—यदि कहा जाय कि जहां आवरण न हो वहां गिरेगा ?

उत्तर-वेदान्तवादी—तो जिससे आवरणका अभाव सम्बन्ध होता है वह वस्तुभूत ही आकाश है, आवरणका

१—परिकर-सम्यग्ज्ञानकी यमनियमादि तथा श्रवण मनन आदि सामग्री । मार्ग-क्षणिक नैरात्म्य आदि भावना—भामती । परिकर—यमनियम आदि हैं । सब दुःख क्षणिक है इस भावनाका उपदेश मार्गोपदेश है—रत्नप्रभा ।

मात्रम् । अपि चावरणाभावमात्रमाकाशं मन्यमानस्य सौगतस्य स्वाभ्युपगमविरोधः प्रसज्येत । सौगते हि समये 'पृथिवी भगवः किंसन्निश्रया' इत्यस्मिन्प्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किंसन्निश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति 'वायुराकाशसन्निश्रयः' इति । तदाकाशस्यावस्तुत्वे न समञ्जसं स्यात् । तस्मादप्ययुक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम् । अपि च निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं चेति विप्रतिषिद्धम् । नह्यवस्तुनो नित्यत्वमनित्यत्वं वा संभवति, वस्त्वाश्रयत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य । धर्मधर्मिभावे हि घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्यान्न निरुपाख्यत्वम् ॥ २४ ॥

## अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात् । न च सा संभवति । अनुस्मृतेः । अनुभवमुपलब्धिमनूत्पद्यमानं स्मरणमेवानुस्मृतिः । स चोपलब्ध्येककर्तृका सती संभवति । पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात् । कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात् । अपि च दर्शनस्मरणयोः कर्तर्येकस्मिन्प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य प्रसिद्धोऽहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति । यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात्ततोऽहं स्मराम्यद्राक्षीदन्य इति प्रतीयात् । नत्वेवं प्रत्येति कश्चित् । यत्रैवं प्रत्ययस्तत्र दर्शनस्मरणयोर्भिन्नमेव कर्तारं सर्वलोकोऽवगच्छति, स्मराम्यहमसावदोऽद्राक्षीदिति । इह त्वहमदोऽद्राक्षमिति दर्शनस्मरणयोर्वैनाशिकोऽप्यात्मानमेवैकं कर्तारमवगच्छति । न नाहमित्यात्मनो दर्शनं निर्वृत्तं निह्नुते

अभावमात्र नहीं । और दूसरी बात यह है कि आवरणाभावमात्र आकाशको माननेवाले बौद्धोंकी सिद्धान्तहानि भी होगी, कारण कि बौद्धोंके मतमे 'भगवन् पृथिवी किसके आश्रयमे है ?" इस प्रश्नके उत्तरोंमें पृथिवी आदिके अन्तमे "वायु किसके आश्रयमें है ?" इस प्रश्नका यह उत्तर होता है कि "वायु आकाशके आश्रय है" यदि आकाश कोई वस्तु नहीं है तो ऐसा उत्तर ठीक नहीं, इस कारण भी आकाशका अवस्तु होना उचित नहीं । और दूसरी बात यह है कि दोनों प्रकारके विनाश और आकाश ये तीनों निरुपाख्य हैं अवस्तु हैं तथा नित्य हैं यह कहना भी परस्पर विरुद्ध है, अवस्तु न नित्य होती है और न अनित्य, क्योंकि धर्मधर्मी व्यवहारका आश्रय वस्तु होती है, धर्म और धर्मीका भाव होनेपर घट आदिके समान वस्तु ही होती है निरुपाख्य नहीं ॥ २४ ॥

## अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

दूसरी बात यह है कि वैनाशिक बौद्ध सब वस्तुओंको क्षणिक मान कर उपलब्धा आत्माको भी क्षणिक मानने लग जावेगा, वह क्षणिकता हो नहीं सकती, क्योंकि फिर पश्चात् उसका स्मरण किया जाता है । प्राप्तिके पश्चात् उत्पन्न होनेवाले अनुभवका स्मरण करना ही अनुस्मृति है, इस प्रकारकी प्राप्ति एककर्तृक हो कर संभव हो सकती है, क्योंकि अन्य पुरुषकी उपलब्धिके विषयमें अन्य पुरुषका स्मरण नहीं देखा जाता है, मैंने इसको देखा था इसको अब देखता हूं इस प्रकारका ज्ञान पहिले और बादमें देखनेवाले एक द्रष्टा आत्माके न होनेपर कैसे हो सकता है ? दूसरी बात यह है कि दर्शन और स्मरणके एक कर्ता होनेपर सब मनुष्योंकी प्रत्यभिज्ञाका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है कि यह मैंने देखा था अब मैं इसे देखता हूं । यदि दर्शन और स्मरणका भिन्न कर्ता है तब तो मैं स्मरण करता हूं, किन्तु अन्य किसीने देखा था ऐसी प्रतीति होती, किन्तु कोई पुरुष ऐसी प्रतीति नहीं करता है । जहां इस प्रकारका ( दो भिन्न२ व्यक्तियोंका ) ज्ञान होता है वहां सब लोग दर्शन और स्मरणके भिन्न ही कर्ताकी निश्चय करते हैं कि मैं स्मरण करता हूं, इसने यह देखा था इत्यादि । यह मैंने देखा था यहां पर तो दर्शन

यथाग्निरनुष्णोऽप्रकाश इति वा । तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरणलक्षणक्षणद्वयसम्बन्धे क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपरिहार्या वैनाशिकस्य स्यात् । तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन्नेककर्तृकामोत्तमादुच्छ्वासादतीताश्च प्रतिपत्तीः [1]आजन्मन आत्मैककर्तृकाः प्रतिसंदधानः कथं क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नापत्रपेत । स यदि ब्रूयात्सादृश्यादेतत्संपत्स्यत इति । तं प्रतिब्रूयात् । तेनेदं सदृशमिति द्वयायत्तत्वात्सादृश्यस्य, क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोर्ग्रहीतुरेकस्याभावात्, सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धानमिति मिथ्याप्रलाप एव स्यात् । स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः सादृश्यस्य ग्रहीतैकः तथा सत्येकस्य क्षणद्वयावस्थानात्क्षणिकत्वप्रतिज्ञा पीड्येत ।

प्रश्नः—सर्वास्तित्ववादी—तेनेदं सदृशमिति प्रत्ययान्तरमेवेदं न पूर्वोत्तरक्षणद्वयग्रहणनिमित्तमिति चेत् ?

उत्तरम्—वेदान्तवादी—न । तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादानात् । प्रत्ययान्तरमेव चेत्सादृश्यविषयं स्यात्तेनेदं सदृशमिति वाक्यप्रयोगोऽनर्थकः स्यात् । सादृश्यमित्येव प्रयोगः प्राप्नुयात् । यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैर्न परिगृह्यते तदा स्वपक्षसिद्धिः परपक्षदोषो वोभयमप्युच्यमानं परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसंतानमारोहति । एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यम् । ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः केवलं प्रख्यापयेत् । नचायं सादृश्यात्संव्यवहारो युक्तः । तद्भावावगमात्तत्स

और स्मरणके एक ही कर्ता आत्माको वैनाशिक बौद्ध भी 'निश्चयपूर्वक जानता है, 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार आत्माके प्रत्यक्ष सिद्ध दर्शनको नहीं छिपाता है—जैसे अग्नि गर्म नहीं है अथवा प्रकाशरहित है, यहां ऐसी अवस्थामें तो एक आत्माका दर्शन और स्मरणरूप लक्षणवाले दो क्षणोंके साथ सम्बन्ध होनेपर वैनाशिक बौद्धका क्षणिकवादकी हानिका परिहार (खण्डन) नहीं हो सकता, तथा आत्माके ही एक कर्तृक पश्चात् उत्पन्न हुए ज्ञानकी प्रत्यभिज्ञा (पुनः स्मृति) करता हुआ और जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त आत्माके एक कर्तृक व्यतीत हुए ज्ञानोंको प्रतिसन्धान—अनुस्मरण करता हुआ क्षणभङ्गवादी वैनाशिक बौद्ध कैसे लज्जित नहीं होगा ? यदि वह बौद्ध कहे कि ज्ञानकी सदृशता होनेसे ज्ञानोंका प्रतिसंधान हो जायगा, तब उस बौद्धसे कहना चाहिये कि 'उससे यह सदृश है' यह सदृशता दोके अधीन होती है, इस कारण क्षणभङ्गवादीके मतमें दो समान वस्तुओंके ग्रहीता एक आत्माके न होनेसे यह प्रतिसंधान—अनुस्मरण सादृश्यनिमित्त है ऐसा कहना मिथ्याप्रलाप ही होगा । यदि माना जाय कि पहिले और पश्चात्के क्षणोंकी सदृशताका ग्रहीता आत्मा एक होगा, ऐसा होनेपर तो एक आत्माका दो क्षणोंतक अवस्थिति होनेसे क्षणिकत्व प्रतिज्ञा पीड़ित होगी ।

प्रश्न—'उससे यह सदृश है' यह ज्ञानान्तर ही है, प्रथम और पश्चात्के दो क्षणोंके ग्रहण निमित्तक ज्ञान नहीं यदि यह माना जाय ?

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि 'उससे यह' ऐसा कहना भिन्न पदार्थोंका ग्रहण सिद्ध करता है । यदि सादृश्यविषयक ज्ञान ज्ञानान्तर है तो 'उससे यह समान है' ऐसा वाक्यप्रयोग अनर्थक होगा, ('तेन—उससे' इस पदको हटा कर) समानता है केवल इतना ही प्रयोग होना । परीक्षक लोग जब लोकमें प्रसिद्ध पदार्थको ग्रहण नहीं करते तब अपने पक्षकी सिद्धि तथा परपक्षमें दोष दोनोंको कहना परीक्षकोंके और अपने बुद्धिप्रवाहमें यथार्थरूपसे नहीं चढ़ता अर्थात् दोनोंकी समझमें वह बात आती नहीं, इस कारण वह यही पदार्थ है इस प्रकार जो निश्चित है उसीको कहना चाहिये, निश्चितसे अन्य अनिश्चितको कहना केवल अपनेको बहुप्रलापी—बकवादी प्रसिद्ध करना है । दूसरी बात यह है

१—आ जन्मनः आ ओत्तमादुच्छ्वासात् । अर्थात् मरणपर्यन्त—भामती ।

दृशभावानवगमाच्च । भवेदपि कदाचिद्बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसंभवात्तदेवेदं स्यात्तत्सदृशं वेति संदेहः । उपलब्धरि तु संदेहोऽपि न कदाचिद्भवति स एवाहं स्यां तत्सदृशो वेति । य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चिततद्भावोपलम्भात् । तस्मादप्यनुपपन्नो वैनाशिकसमयः ॥ २५ ॥

## नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायिकारणमनभ्युपगच्छतामभावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते । दर्शयन्ति चाभावाद्भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इति । विनष्टाद्धि किल बीजादङ्कुर उत्पद्यते, तथा विनष्टात्क्षीराद्दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः । कूटस्थाच्चेत्कारणात्कार्यमुत्पद्येताविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत । तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद्भावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते । तत्रेदमुच्यते—'नासतोऽदृष्टत्वात्' इति नाभावाद्भाव उत्पद्यते । यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात्कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात् । नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादीनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायते क्षीरादेव दधीत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान्स्यात् । निर्विशेषस्य त्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन् । नचैवं दृश्यते । यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतोत्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत्प्रसज्येत । नाप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः स्यात्, अभावत्वादेव, शशविषाणादिवत् ।

कि सदृशता निमित्तक ( दोनोंका एक होना ) यह व्यवहार ठीक नहीं, क्योंकि सादृश्यसे 'उसके सदृश यह है' ऐसा सादृश्यका ही ज्ञान होता है, न कि 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होता है। अथवा बाह्य वस्तुमें छलकपटके संभव होनेसे 'यह वही है' अथवा 'यह उससे भिन्न है' ऐसा सन्देह हो सकता है, किन्तु उपलब्धा आत्मामें तो कदाचित् संदेह नहीं हो सकता कि 'वह मैं हूँ अथवा मैं उसके समान हूँ' क्योंकि 'जो मैंने कल देखा था वही मैं आज स्मरण करता हूँ' इस प्रकार निश्चयपूर्वक एक आत्माका ज्ञान होता है, इस कारण भी वैनाशिक बौद्धोंका सिद्धान्त ठीक नहीं ॥ २५ ॥

## नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

इससे आगे भी वैनाशिकोंका सिद्धान्त ठीक नहीं, कारण कि बाद तक रहनेवाले स्थिर कारणको न माननेवालोंके मतमें अभावसे भावकी उत्पत्ति माननी पड़ती है, तथा बौद्ध लोग अभावसे भावकी उत्पत्ति दिखलाते हैं कि—'कोई चीज नष्ट न होकर उत्पन्न नहीं होती है'—जैसे—नष्ट हुवे बीजसे ही अङ्कुर उत्पन्न होता है, तथा नष्ट हुवे दूधसे दही और मिट्टीके टुकड़ोंसे घड़ा। यदि स्थिर कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हो तो अविशेषतासे चारों तरफसे सब वस्तु उत्पन्न हो जाती, इस कारण अभावावस्थापन्न बीजोंसे अङ्कुर आदियोंकी उत्पत्ति होनेके कारण अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है ऐसा मानते हैं। इसपर यह कहा जाता है—'नासतोऽदृष्टत्वात्'। अभावसे भाव उत्पन्न नहीं होता है, यदि अभावसे भाव उत्पन्न हो जाय तो अभाव—सामान्यसे कारणविशेषको मानना व्यर्थ होगा, जैसे—नष्ट हुवे बीजोंका जो अभाव है उस अभावका खरगोशके सींगोंके न होनेरूप अभावसे समानता होनेसे ( दोनोंमें अभावरूपकी ) कोई विशेषता नहीं रहती है, जिससे बीजसे ही अङ्कुर उत्पन्न होता है और दूधसे दही इस प्रकार कारणविशेषको मानना सार्थक हो जाय। विशेषता—रहित अभावको कारणरूपसे मानें तो खरगोशके सींगोंसे भी अङ्कुर आदि उत्पन्न हो जाते, ऐसा तो नहीं देखा जाता। यदि अभावकी भी कुछ विशेषता मानी जाय जैसे कमलोंके नीलत्व आदि विशेषता होती है तब तो विशेषता होनेसे ही कमल आदिके समान अभावका भावरूप होना सिद्ध हो जायगा। और अभाव कभी किसीकी उत्पत्तिका हेतु

अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्यं स्यात्। नचैवं दृश्यते। सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात्। न च मृदन्विताः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। मृद्विकारानेव तु मृदन्वितान्भावाँल्लोकः प्रत्येति। यत्तूक्तं स्वरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित्कूटस्थस्य वस्तुनः कारणत्वानुपपत्तेरभावाद्भावोत्पत्तिर्भवितुमर्हतीति। तदयुक्तम्। स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णादीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचकादिकार्यकारणभावदर्शनात्। येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दो लक्ष्यते तेष्वपि नाऽसावुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगम्यते, अनुपमृद्यमानानामेवानुयायिनां बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारणभावाभ्युपगमात्। तस्मादसद्भ्यः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात्सद्भ्यश्च सुवर्णादिभ्यः सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः। अपि च चतुर्भिश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते, परमाणुभ्यश्च भूतभौतिकलक्षणः समुदाय उत्पद्यत इत्यभ्युपगम्य पुनरभावाद्भावोत्पत्तिं कल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नुवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते ॥ २६ ॥

## उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

यदि चाभावाद्भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवं सत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्यात्। अभावस्य सुलभत्वात्। कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्यापि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्। कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याप्यमत्रोत्पत्तिः। तन्तुवायस्यापि तन्तूनतन्वानस्यापि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः। स्वर्गापवर्गयोश्च न कश्चित्कथं-

---

नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अभावरूप ही होता है जैसे खरगोश आदिके सींगोंका अभाव होता है। और अभावसे भावकी उत्पत्ति होनेपर वह सब उत्पन्न कार्य भी अभावरूप ही होगा, ऐसा तो नहीं देखा जाता, क्योंकि सब ही वस्तु अपनेर भावरूपसे ही उपलब्ध होती हैं, मिट्टीके बने हुये सकोरे आदि वस्तुओं को तागे आदि विकाररूपमें कोई स्वीकार नहीं करते हैं, लौकिक पुरुष तो मिट्टीसे बनी हुई वस्तुओंको मिट्टीके विकाररूपसे ही मानता है। और जो यह कहा था कि स्वरूपके नष्ट हुये विना कोई स्थिर वस्तु कारण नहीं हो सकता इस कारण अभावसे भावकी उत्पत्ति होनी चाहिये, सो यह कहना अनुचित है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञासे जानने योग्य स्थिर स्वभाववाले सुवर्ण आदि कुण्डल आदि कार्योंके कारण देखे जाते हैं, और जिन बीज आदियोंमें भी स्वरूपका नाश देखा जाता है उन बीजोंमें भी नष्ट होनेवाली पूर्वावस्था उत्तरावस्थाका कारण नहीं मानी जाती, क्योंकि नष्ट न होकर स्थिर होनेवाले बीज आदिके अवयव अंङ्कुरादि कार्यके कारण माने जाते है, इस कारण अभावात्मक शशविषाण आदियोंमे भावात्मक वस्तुकी उत्पत्ति न देखे जानेसे और भावरूप सुवर्ण आदिसे भावरूप वस्तुकी उत्पत्ति देखे जानेसे अभावसे भावकी उत्पत्ति होना यह सिद्धान्त ठीक नहीं। और दूसरी बात यह है कि चार प्रकारके कारणोंसे चित्त चैत्त उत्पन्न होते हैं और परमाणुओंसे भूत भौतिक लक्षणवाले समुदायरूप जगत् उत्पन्न होता है इस प्रकार मान कर फिर अभावसे भावकी उत्पत्तिकी कल्पना कर स्वीकृत सिद्धान्तको छिपानेवाले वैनाशिक बौद्धलोग सब मनुष्योंको व्याकुल कर देते हैं ॥ २६ ॥

## उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति मानी जाय तो उदासीन इच्छा न करनेवाले जनोंकी भी इष्टसिद्धि हो जावेगी, क्योंकि अभाव सबके लिये सुलभ है। खेतके काममें न लगे हुये किसानको भी अन्नकी उत्पत्ति होनी चाहिये, मिट्टीके संस्कार करनेमें प्रयत्न न किये हुये कुम्हारको भी मिट्टीका वर्तन बन जाना चाहिये, तागोंको न फैलाये हुये जुलाहेको भी फैलानेवाले जुलाहेके समान वस्त्र लाभ होना चाहिये

चित्समीहेत । नचैतद्युज्यतेऽभ्युपगम्यते वा केनचित् । तस्मादप्यनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः ॥ २७ ॥

## ५ अभावाधिकरणम् । सू० २८–३२

### नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते । केषांचित्किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता । नासौ सुगताभिप्रायः । तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एवाभिप्रेतः । तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेणान्तस्थ एवं प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः सर्व उपपद्यते । सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात् ।

प्रश्नः—कथं पुनरवगम्यतेऽन्तस्थ एवायं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति ?

उत्तरम्—तदसंभवादित्याह । स हि बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यमानः परमाणवो वा स्युस्तत्समूहा वा स्तम्भादयः स्युः । तत्र न तावत्परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति परमाण्वाभासज्ञानानुपपत्तेः । नापि तत्समूहाः स्तम्भादयः, तेषां परमाणुभ्योऽन्यत्वानन्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात् । एवं जात्यादीनपि प्रत्याचक्षीत । अपि चानुभवमात्रेण साधारणात्मनो ज्ञानस्य जायमानस्य योऽयं प्रतिविषयं पक्षपातः स्तम्भज्ञानं कुड्यज्ञानं

---

स्वर्ग और मोक्षके विषयमें भी कोई किसी प्रकार न चाहेगा ऐसा न उचित है और न कोई मानता है, इस कारण भी यह अभावसे भावकी उत्पत्तिरूप सिद्धान्त ठीक नहीं ॥ २७ ॥ यह चौथा समुदायाधिकरण समाप्त हो गया ।

## ५ अभावाधिकरणम् । सू० २८–३२

### नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

इस प्रकार ( सर्वास्तित्ववादी बौद्धोंके ) बाह्य अर्थवादको आश्रयण कर जगत्‌रूप समुदायका न बनना आदि दोष दिये जानेपर अब दूसरा विज्ञानवादी बौद्ध उपस्थित होता है ।

( **विज्ञानवादी बौद्ध** ) किन्हीं सिद्धान्तोंका बाह्य वस्तुमें प्रवेश देख कर तदनुकूलतासे बाह्य अर्थवादकी ( बाहरकी वस्तुओंका विद्यमान मानना रूप सर्वास्तित्ववादकी ) प्रक्रिया बनाई गई थी, किन्तु यह बौद्धोंका अभिप्राय नहीं, बौद्ध तो एक विज्ञानस्कन्धवादको मानता है । उस विज्ञानवादमें बुद्धिसे उठे हुवे रूपसे भीतर ही सब प्रमाण प्रमेय आदिके फलका व्यवहार हो जाता है, क्योंकि बाह्य वस्तु होनेपर भी बुद्धिमे प्रवेश हुवे विना प्रमाण आदि ( प्रमेय-प्रमाता प्रमिति ) का व्यवहार नहीं होता है ।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि भीतर ही सब व्यवहार हो जाते हैं विज्ञानके अतिरिक्त बाह्य पदार्थ कोई नहीं है ?

उत्तर—इस कारण कि बाह्य वस्तुओंका होना सम्भव नहीं है । जो बाह्य पदार्थ माना जाता है वह क्या परमाणु है अथवा परमाणुसमूह स्तम्भ आदि पदार्थ हैं ? परमाणु स्तम्भ आदि ज्ञानसे परिच्छिन्न नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणुओंमें स्तम्भतुल्य ज्ञानकी प्रतीति नहीं होती है, और न परमाणुसमूह ही स्तम्भ आदि पदार्थ हो सकते हैं, क्योंकि स्तम्भ आदि परमाणुओंसे भिन्न हैं वा अभिन्न इस प्रकार निरूपण नहीं किया जा सकता । इस प्रकार बौद्धलोग (बाह्य प्रतीत होनेवाले) जाति—गुण—कर्म आदिकोंको भी खण्डन करेंगे । दूसरी बात यह है कि अनुभवमात्रसे उत्पन्न होनेवाले साधारणात्मक ज्ञानका जो प्रत्येक बाह्य विषयोंके साथ जो यह पक्षपात—विशेषताका ज्ञान होता है कि यह खम्भेका ज्ञान, भीतका ज्ञान,

घटज्ञानं पटज्ञानमिति, नासौ ज्ञानगतविशेषमन्तरेणोपपद्यत इत्यवश्यं विषयसारूप्यं ज्ञानस्याङ्गीकर्तव्यम्। अङ्गीकृते च तस्मिन्विषयाकारस्य ज्ञानेनैवावरुद्धत्वादपार्थिका बाह्यार्थसद्भावकल्पना । अपि च [1]सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोरापतति । नह्यनयोरेकस्यानुपलम्भेऽन्यस्योपलम्भोऽस्ति । नचैतत्स्वभावविवेके युक्तं, प्रतिबन्धकारणाभावात् । तस्मादप्यर्थाभावः । स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम् । यथा हि स्वप्नमायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति, एवं जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्तीत्यवगम्यते । प्रत्ययत्वाविशेषात् ।

प्रश्नः—कथं पुनरसति बाह्यार्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते ?

उत्तरम्—वासनावैचित्र्यादित्याह । अनादौ हि संसारे बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यं न विप्रतिषिध्यते । अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते । स्वप्नादिष्वन्तरेणाप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्योभाभ्यामप्यावाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात् । अन्तरेण तु वासनामर्थनिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य मयानभ्युपगम्यमानत्वात् । तस्मादप्यभावो बाह्यार्थस्येति ।

घड़ेका ज्ञान और वस्त्रका ज्ञान इत्यादि । वह पदार्थविषयक ज्ञान ज्ञानगत विशेषताके बिना नहीं होता है, इस कारण विषयाकार ही ज्ञानको मानना चाहिये । ज्ञानको विषयाकार मान लेनेपर विषयाकारका ज्ञानके साथ अवरोध होनेसे बाह्य वस्तुकी सत्ताकी कल्पना करना व्यर्थ ही है । दूसरी बात यह भी है कि दोनोंका एक साथ प्राप्ति होनेका नियम होनेसे बाह्य वस्तुका और ज्ञानका अभेद होना सिद्ध होता है, इन दोनों विषय और ज्ञानमें एकको प्राप्ति न होनेपर अन्यकी प्राप्ति होती नहीं है । और न ( ज्ञान व ज्ञेयके स्वभावभेद होनेसे ) यह सहोपलम्भ स्वाभाविक भेदज्ञानसे हो सकता है, क्योंकि ( ज्ञेय-ज्ञानविषयक सहोपलम्भ होनेसे ) कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं होता है । इस कारण भी बाह्य वस्तुका अभाव है । तथा इसको स्वप्न आदिके समान देखना चाहिये, जैसे स्वप्न, माया, मृगतृष्णा और गन्धर्वनगरका ज्ञान बाह्य वस्तुके बिना ही ग्राह्य और ग्राहकाकार हो जाता है, इसी प्रकार जागरित अवस्थामें देखे जानेवाले खम्भे आदिका ज्ञान भी होना चाहिये ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि स्वप्न और जागरित दशामें ज्ञानका होना ज्ञानस्वरूपमें कोई विशेषता नहीं ।

प्रश्न—बाह्य वस्तु न होनेपर फिर कैसे ज्ञानकी विचित्रता होती है ?

उत्तर—वासनाओंकी विचित्रतासे होती है । अनादि संसारमें बीज और अंकुरके समान विज्ञानों और वासनाओंके परस्पर निमित्त और नैमित्तक भावसे विचित्रता होती है यह निषेध नहीं किया जा सकता । और दूसरी यह भी बात है कि अन्वय और व्यतिरेकसे वासनाके निमित्तसे ही ज्ञानकी विचित्रता प्रतीत होती है, क्योंकि स्वप्न आदियोंमें बाह्य वस्तुके बिना भी वासनानिमित्तक ज्ञानकी विचित्रताको हम दोनों ही मानते हैं, किन्तु वासनाके बिना तो बाह्य वस्तुके निमित्तसे ज्ञानकी विचित्रताको हम स्वीकार नहीं करते हैं, इस कारण भी बाह्य वस्तुका अभाव है ।

( यहां तक विज्ञानवादी बौद्धका प्रश्नोत्तर है; अब सिद्धान्तीका प्रत्युत्तर ) ।

---

१—बौद्धोंका यह सिद्धान्त है कि:—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः । भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥

जिसके साथ एक साथ जिसकी प्राप्ति होती है वह उससे भिन्न नहीं होता है, जैसे नील कमलमें नीलत्व और नीलत्वका ज्ञान इनमें सहभाव रहता है, भ्रान्तिज्ञानवालोंको भेदकी प्रतीति होती है, जैसे एक चन्द्रमामें दोका ज्ञान होना भ्रान्ति है—अनुवादक ।

प्रत्युत्तरम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—'नाभाव उपलब्धेः' इति । न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते ।

प्रश्नः-विज्ञानवादी—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—उपलब्धेः । उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति । नचोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति । यथा हि कश्चिद्भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन्कथमुपादेयवचनः स्यात् ।

प्रश्नः-विज्ञानवादी—ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति किं तूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि ?

प्रत्युत्तरम्—बाढमेवं ब्रवीषि निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य । न तु युक्त्युपेतं ब्रवीषि । यत उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव । नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते । उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन्सर्वे लौकिका उपलभन्ते । अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासत इति । तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासमानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं कुर्वन्ति । इतरथा हि कस्माद्बहिर्वदिति ब्रूयुः । नहि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभा-

---

प्रत्युत्तर—इस प्रकार प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'नाभाव उपलब्धेः', बाह्य वस्तुका अभाव होना निश्चय नहीं करा सकते ।

प्रश्न-विज्ञानवादी बौद्ध—कैसे ?

प्रत्युत्तर—क्योंकि बाह्य वस्तुकी उपलब्धि-प्राप्ति होती है, प्रत्येक ज्ञानके साथ बाह्य वस्तु उपलब्ध होती है यह खम्भा है, भींत है, घट है तथा पट है, जो पदार्थ उपलब्धही होता है उसका अभाव नहीं हो सकता है, जैसे कोई खाता हुआ खानेमें तृप्तिको स्वयं अनुभव कर लेनेपर ऐसा कहे कि "मैं नहीं खाता हूं और न मैं तृप्त ही होता हूं" उसी प्रकार इन्द्रियोंका ( बाह्य वस्तुओंके साथ ) सन्निकर्ष होनेसे स्वयं बाह्य वस्तुको प्राप्त कर "मैं बाह्य वस्तुको प्राप्त नहीं करता हूं और न वह कोई बाह्य वस्तु है" इस प्रकार कोई कहे तो उसका वचन कैसे स्वीकार करने योग्य हो सकता है ?

प्रश्न-विज्ञानवादी बौद्ध—मैं यह नहीं कहता हूं कि किसी वस्तुको प्राप्त नहीं करता हूं किन्तु यह कहता हूं कि ज्ञानके अतिरिक्त अन्य वस्तुको प्राप्त नहीं करता हूं ?

प्रत्युत्तर—हां ठीक ऐसा ही कहते हो, क्योंकि तुम्हारा मुख निरंकुश है अर्थात् बकवाद करनेवाला है, इसीलिये तुम युक्तिपूर्वक नहीं कहते हो, कारण कि ज्ञानसे अतिरिक्त भी बाह्य वस्तुके बलसे बाह्य वस्तुको उपलब्धि होनेके कारण ही मानना चाहिये । ज्ञानको ही यह खम्भा है यह भींत है ऐसा कोई नहीं प्राप्त करता है, ज्ञानके विषय ( कर्म ) होनेसे ही तो खम्भे भींत आदिको सब लौकिक जन प्राप्त करते हैं, इसी कारण सब लौकिक जन प्राप्त करते हैं कि खण्डन करनेवाले भी बाह्य वस्तुको ही कहते हैं कि जो भीतर ज्ञेयरूप है वह बाहरके समान भासित होता है । खण्डन करनेवाले भी सब लोकमें प्रसिद्ध बाहर प्रकाशित होनेवाले ज्ञानको प्राप्त कर फिर बाह्य वस्तुको खण्डन करनेकी इच्छा कर बाहरकी तरह इस प्रकार 'तरह' शब्दका प्रयोग करते हैं, अन्यथा ( यदि बाह्य वस्तु कोई नहीं होती तो ) बाहरकी तरह ऐसा कैसे कहते ? कोई यह नहीं कहता कि विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्रकी

सत इति कश्चिदाचक्षीत । तस्माद्यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं न तु बहिर्वदवभासत इति ।

*प्रश्नः-विज्ञानवादी—ननु बाह्यस्यार्थस्यासंभवाद्बहिर्वदवभासत इत्यध्यवसितम् ?

प्रत्युत्तरम्—नायं साधुरध्यवसायो यतः प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवावधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती । यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनापि प्रमाणेनोपलभ्यते तत्संभवति यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न संभवति । इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न संभवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव । न च ज्ञानस्य विषयसारूप्याद्विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः, बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य । अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुक इत्यभ्युपगन्तव्यम् । अपि च घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य । यथा शुक्लो गौः कृष्णो गौरिति शौक्ल्यकार्ष्ण्ययोरेव भेदो न गोत्वस्य । द्वाभ्यां च भेद एकस्य सिद्धो भवत्येकस्माच्च द्वयोः । तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः । तथा घटदर्शनं घटस्मरणमित्यत्रापि प्रतिपत्तव्यम् । अत्रापि हि विशेष्ययोरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य । यथा क्षीरगन्धः क्षीररस इति विशेष्ययोरेव गन्धरसयोर्भेदो न विशेषणस्य क्षीरस्य तद्वत् । अपि च द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः

तरह भासित होता है, इस कारण अनुभवके अनुसार वस्तुतत्त्वको माननेवालेको चाहिये कि बाहर ही भासित होता है ऐसा मानना उचित है, न कि बाहरकी तरह भासित होता है ऐसा मानना ।

*प्रश्न–विज्ञानवादी बौद्ध—बाह्य वस्तुके न होनेसे बाहरकी तरह भासित होता है यह निश्चय किया था ?

प्रत्युत्तर—यह निश्चय ठीक नहीं है, कारण कि प्रमाणोंकी प्रवृत्ति और अप्रवृत्तिपूर्वक ही सम्भव और असम्भवका निर्णय होता है, न कि सम्भव और असम्भवपूर्वक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति और अप्रवृत्तिका निर्णय होता है । जो प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणसे उपलब्ध होता है वह सम्भव है, और जो किसी भी प्रमाणसे उपलब्ध नहीं होता है वह असम्भव है । यहां तो यथार्थ रूपसे सब ही प्रमाणोंसे उपलब्ध होनेवाला बाह्य पदार्थ व्यतिरेक और अव्यतिरेक ( भिन्न अभिन्न ) आदि विकल्पोंसे सम्भव नहीं है इस प्रकार क्यों कहा जावेगा ? क्योंकि बाह्य पदार्थ तो उपलब्ध होता ही है । ज्ञानका विषयके साथ समानरूप होनेसे विषय ( ज्ञानका कर्म ) का नाश नहीं होता है, क्योंकि विषय ( बाह्य वस्तु ) के न होनेपर विषयके समानरूप होना भी नहीं बनता है, तथा विषय बाहर उपलब्ध होते ही है । इसी कारण साथ२ उपलब्धि होनारूप नियम भी ज्ञान और विषयका उपाय और उपेयभावके हेतु होता है, न कि इन दोनोंके अभेद भावके कारण होता है ऐसा मानना चाहिये ।

और दूसरी बात यह भी है कि घटज्ञान और पटज्ञानमें विशेषण घट पटका ही भेद होता है, विशेष्य ज्ञानका भेद नहीं होता, जैसे 'गोरी गाय तथा काली गाय' ऐसे कहनेपर शुक्लत्व कृष्णत्व विशेषणका ही भेद होता है गोत्वका भेद नहीं, दोनो विशेषणोंमें एक ज्ञानरूप विशेष्यका भेद सिद्ध होता है और एकके भेद सिद्ध होनेपर दोनोंका भेद सिद्ध होता है, इस कारण भी ( विशेषण—विशेष्यरूपसे ) अर्थ और ज्ञानका भेद होता है । तथा घटका दर्शन और घटका स्मरण यहांपर भी जान लेना चाहिये, यहांपर भी विशेष्य ही दर्शन और स्मरणका भेद है, विशेषण घटका भेद नहीं, जैसे 'दूधका गन्ध और दूधका रस' यहांपर भी विशेष्य ही गन्ध और रसका भेद है, विशेषण दूधका भेद नहीं उसी प्रकार ( वस्तुभेद होनेपर भी ज्ञानभेद जानना चाहिये ) ।

और दूसरी बात यह भी है कि अपनेको बोध करानेसे ही नष्ट हुवे पूर्व और उत्तर कालिक

स्वसंवेदनेनैवोपक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः । ततश्च विज्ञानभेदप्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्मप्रतिज्ञा स्वलक्षणसामान्यलक्षणवास्यवासकत्वाऽविद्योपप्लवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च स्वशास्त्रगतास्ता हीयेरन् । किंचान्यत् । विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यमित्येवंजातीयकः कस्मान्नाभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम् ।

प्रश्नः-विज्ञानवादी—विज्ञानमनुभूयत इति चेत ?

प्रत्युत्तरम्—बाह्योऽप्यर्थोऽनुभूयत एवेति युक्तमभ्युपगन्तुम् ।

प्रश्नः-विज्ञानवादी—अथ विज्ञानं प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपवत्स्वयमेवानुभूयते न तथा बाह्योऽप्यर्थ इति चेत ?

प्रत्युत्तरम्—अत्यन्तविरुद्धां स्वात्मनि क्रियामभ्युपगच्छस्यग्निरात्मानं दहतीतिवत्, अविरुद्धं तु लोकप्रसिद्धं स्वात्मव्यतिरिक्तेन विज्ञानेन बाह्योऽर्थोऽनुभूयत इति नेच्छस्यहो पाण्डित्यं महद्दर्शितम् ! [2]न चार्थाव्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते, स्वात्मनि

दोनों ज्ञान परस्पर ग्राह्य और ग्राहक नहीं हो सकते, तब तो विज्ञानभेदकी प्रतिज्ञा, क्षणिकत्व आदि धर्मकी प्रतिज्ञा ( जो अनेक प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त ज्ञानभेदसे साध्य होते हैं ), स्वलक्षण ( जो अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भव दोषसे रहित असाधारण लक्षण है जो अनेक ज्ञानसाध्य है ), सामान्यलक्षण ( जो जातिरूप अनेकमें अनुगत होता है ), वास्य-वासकभाव ( जो वासनासे जाना जाय वह वास्य है, जो वासनाको उत्पन्न करे वह वासक है, ये भी अनेक ज्ञानोंसे साध्य हैं ), अविद्याका उपप्लव—संसर्ग उससे जो सत्-असत् धर्मभाव होते हैं और बन्ध मोक्ष आदिकी प्रतिज्ञा ( जो मुक्त होता है, जहांसे मुक्त होता है और जिससे मुक्त होता है इत्यादि अनेक ज्ञानसे सिद्ध होते हैं ) ये अपने शास्त्रमें की गई प्रतिज्ञाएँ सब नष्ट होंगी ( क्योंकि क्षणिकवादीके मतमें ये सब हो नहीं सकते, ये सब अनेकार्थदर्शी प्रतिसन्धाता आत्माके विना नहीं हो सकते ) । और अधिक क्या कहें, यह ज्ञान है यह ज्ञान है इस प्रकार स्वीकार कर यह खम्भा है यह भीत है इस प्रकारके बाह्य वस्तुको क्यों स्वीकार नहीं करते हो इसका कारण कहना चाहिये ।

प्रश्न-विज्ञानवादी—विज्ञान ही तो अनुभव किया जाता है ?

प्रत्युत्तर—बाह्य वस्तु भी अनुभव होता ही है ऐसा मानना उचित है ।

प्रश्न-विज्ञानवादी—ज्ञान दीपकके समान प्रकाशात्मक होनेसे स्वयं ही अनुभव किया जाता है वैसा ही बाह्य वस्तु भी प्रकाशात्मक नहीं होता है यदि यह माना जाय ?

प्रत्युत्तर—अपनेमें अत्यन्त विरुद्ध क्रियाको स्वीकार करते हो, जैसे अग्नि आत्माको जलाता है, यह तो लोकसिद्ध अविरुद्ध है कि निजात्मातिरिक्त विज्ञानसे बाह्य वस्तुका अनुभव किया जाता है इसे तुम नहीं चाहते हो, अहो ! तुमने तो बड़ा पाण्डित्य दिखा दिया ! अर्थ-बाह्य वस्तुसे अभिन्न ज्ञान भी

१—अविद्योपप्लव-अविद्याका संसर्ग उससे नीलत्व आदि गुण यह सत्का धर्म है, मनुष्यका सींग यह असत्का धर्म है और अमूर्त होना यह सत्-असत्का धर्म है, ये भी अनेक ज्ञानोंसे जाने जाते हैं— रत्नप्रभा—भामती ।

२—ज्ञान स्वसंवेद्य है, अर्थ-वस्तु नहीं यह भेद मान कर कहा गया । अब ज्ञान भी स्वसंवेद्य नहीं यह कहते हैं—न च इत्यादिसे । कर्ता निजात्मामें कर्मत्वको लेकर क्रियाको स्वीकार करनेपर निजात्मा कर्तृरूपसे गौण और कर्मरूपसे प्राधान्य होगा, इस प्रकार क्रम विना एक क्रियामें एकका ही गौण प्राधान्य होना विरुद्ध होगा । इस कारण अर्थ-वस्तुके समान ज्ञान भी स्वसंवेद्य—अपनेसे जानने योग्य नहीं है यह भाव है— न्यायनिर्णय ।

क्रियाविरोधादेव ।

प्रश्नः-विज्ञानवादी—[1]ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तग्राह्यत्वे तदप्यन्येन ग्राह्यं तदप्यन्येनेत्यनवस्था प्राप्नोति । अपि च प्रदीपवदवभासात्मकत्वाज्ज्ञानस्य ज्ञानान्तरं कल्पयतः समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेः कल्पनानर्थक्यमिति ?

प्रत्युत्तरम्—तदुभयमप्यसत् । विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणाकांक्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः । साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्धृ उपलभ्यभावोपपत्तेः । स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात् । किंचान्यत् । प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात् । [2]शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत् ।

प्रश्नः-विज्ञानवादी—बाढमेवम्, अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो नः पक्षस्त्वयाऽनुज्ञायत इति चेत् ?

स्वयं ही अनुभव नहीं किया जाता है, अपनी आत्मामें क्रियाका ( गौण प्रधानभावसे ) विरोध होनेसे ही यह अनुभव नहीं हो सकता ।

प्रश्न-विज्ञानवादी—यदि विज्ञानको अपने स्वरूपसे अतिरिक्तद्वारा ग्राह्य माना जाय अर्थात् स्वसंवेद्य न माना जाय तो वह विज्ञान भी अन्य विज्ञानद्वारा ग्राह्य होगा, फिर अन्य विज्ञान भी अन्य विज्ञानद्वारा ग्राह्य होगा इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा । और दूसरा दोष यह है कि ज्ञान दीपकके समान प्रकाशात्मक होनेसे ज्ञानको ज्ञानान्तरकी कल्पना करनेवालेके मतमें ( ज्ञान दीपकके समान ) सम होनेसे प्रकाश्य प्रकाशकभाव न होनेके कारण यह कल्पना व्यर्थ हो जायगी ( क्योंकि दीपक प्रकाश करनेके लिये अन्य दीपककी अपेक्षा नहीं करता है )?

प्रत्युत्तर—यह दोनों दोष ठीक नहीं, क्योंकि विज्ञानके ग्रहणमात्रसे ही विज्ञानके साक्षी प्रमाता आत्माको अन्य ज्ञानान्तरके ग्रहणकी आकांक्षा न होनेसे अनवस्थाकी शंका नहीं हो सकती, और साक्षी प्रमाता आत्माके तथा ज्ञानके स्वभाव भिन्न२ होनेसे उपलब्धृ-उपलभ्यभाव ( ग्राहक-ग्राह्यभाव ), हो जायगा तथा स्वयंसिद्ध साक्षी प्रमाता आत्माका खण्डन नहीं हो सकता । और अधिक क्या कहें, दीपकके समान विज्ञान किसी अन्य प्रकाशककी अपेक्षा नहीं करता है और वह स्वयं फैलता है इस प्रकार कहना यह सिद्ध करता है कि विज्ञान प्रमाणसे नहीं जाना जाता है और वह अवगन्ता प्रमाता आत्मासे रहित है, जैसे ( साक्षी आत्माके बिना ) पत्थरोंके बीचमें स्थित हजारों दीपकोंके प्रकाश फैलनेके समान होता ।

प्रश्न-विज्ञानवादी बौद्ध—हां ऐसा ठीक है, ( हमारे मतमें विज्ञान ही अवगन्ता प्रमाता है ) क्योंकि विज्ञान अनुभव रूप होनेसे अवगन्ता है, यह हमारा अभिमत पक्ष है जिसे तुमने स्वीकार किया है !

---

१—ज्ञान स्वसंवेद्य न होनेपर दो दोष होंगे यह कहते हैं 'ननु' इत्यादिसे—रत्नप्रभा ।

२—यदि किसी अवगन्ता जाननेवाला चेतन आत्माके निमित्त प्रदीप प्रकाशमान न हो तो बस ज्ञानरूप स्वयं प्रकाश हो गया ( अर्थात् प्रदीपका प्रकाशमान होना व्यर्थ होगा)—भामती ।

ज्ञाता आत्माके ज्ञानका अविषय होनेसे शिलास्थ प्रदीपके समान असत् ही विज्ञान होता, इस कारण विज्ञानके साक्षी आत्माको मानना चाहिये—रत्नप्रभा ।

प्रत्युत्तरम्—न । अन्यस्यावगन्तुश्चक्षुःसाधनस्य प्रदीपादिप्रथनदर्शनात् । अतो विज्ञानस्याप्यवभास्यत्वाविशेषात्सत्येवान्यस्मिन्नवगन्तरि प्रथनं प्रदीपवदित्यवगम्यते ।

प्रश्नः-विज्ञानवादी—साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाश्रित इति चेत् ?

प्रत्युत्तरम्—न । विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात् । अतः प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम् ॥ २८ ॥

## वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति । तत्प्रतिवक्तव्यम् । अत्रोच्यते-न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति ।

प्रश्नः-विज्ञानवादी—कस्मात् ?

प्रत्युत्तरम्—वैधर्म्यात् । वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः ।

प्रश्नः-विज्ञानवादी—किं पुनर्वैधर्म्यम् ?

प्रत्युत्तरम्—बाधाबाधाविति ब्रूमः । बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति, नह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति । एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः । नैवं

प्रत्युत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि नेत्र साधनवाले अन्य अवगन्ता कर्त्ताद्वारा प्रदीप आदिका प्रकाश फैलना देखा जाता है, इसलिये 'विज्ञान' भी प्रकाश्य रूपमें समान होनेके कारण अन्य अवगन्ता प्रमाताके होनेपर ही विज्ञान दीपककी तरह फैलता है ऐसा निश्चय होता है ।

प्रश्न-विज्ञानवादी बौद्ध—साक्षी प्रमाता स्वयंसिद्ध है ऐसा मान कर 'विज्ञान स्वयं फैलता है' मेरे इस पक्षको तुमने युक्त्यन्तरसे मान लिया है ?

प्रत्युत्तर—ऐसा नहीं माना है, क्योंकि विज्ञानकी उत्पत्ति और ध्वंस आदि अनेक विशेषताओंका होना माना जाता है, इस कारण दीपकके समान विज्ञान भी किसी अतिरिक्त प्रमाता द्वारा जाना जाता है यह हमने सिद्ध कर दिया ॥ २८ ॥

## वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

बाह्य वस्तुको खण्डन करनेवालेने यह जो कहा था कि स्वप्न आदिके ज्ञानके समान जागरितके दृश्य पदार्थ स्तम्भ आदिके ज्ञान भी बाह्य वस्तुके विना ही होते हैं, क्योंकि ज्ञान ( स्वप्नके ज्ञानमें और जागरितके ज्ञानमे ) ज्ञानत्वेन समान ही है कोई विशेषता नहीं, इसलिये इसका परिहार होना चाहिये । अब यहा कहा जाता है—स्वप्न आदिके ज्ञानके समान जागरितके ज्ञान नहीं हो सकते ।

प्रश्न-विज्ञानवादी—कैसे नहीं हो सकते ?

प्रत्युत्तर—क्योंकि ( इन दोनों ज्ञानोंमे ) विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं, स्वप्न और जागरितके ज्ञानोंमें विरुद्ध धर्म होते हैं ।

प्रश्न-विज्ञानवादी—फिर वह विरुद्ध धर्म क्या है ?

प्रत्युत्तर—हम तो बाध और अबाध कहते हैं, जैसे—स्वप्नमें प्राप्त हुई वस्तु मनुष्यके जाग जानेपर बाधित होती है कि मैंने जो महाजनोंके साथ समागम—मुलाकात की थी वह मिथ्या थी, महाजनोंके साथ तो मेरी मुलाकात नहीं हुई थी, किन्तु मेरा मन नींदसे व्याकुल था, इसलिये यह भ्रान्ति हुई थी, इसी प्रकार माया और मृगतृष्णा आदियोंमें यथार्थ रूपसे बाध होता है, इस प्रकार जागरितमें प्राप्त हुई

जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽ[१]र्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभ उपलब्धुमिच्छामीति। तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता। न च स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिर्युक्तः कर्तुम्। अपि चानुभवविरोधप्रसङ्गाज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद्वक्तुमिष्यते। न च यो यस्य स्वतो धर्मो न संभवति सोऽन्यस्य साधर्म्यात्तस्य संभविष्यति। नह्यग्निरुष्णोऽनुभूयमान उदकसाधर्म्याच्छीतो भविष्यति। दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः॥ २९॥

## न भावोऽनुपलब्धेः॥ ३०॥

यदप्युक्तं विनाप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनावैचित्र्यादेवावकल्प्यत इति। तत्प्रत्यवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न भावो वासनानामुपपद्येत त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेर्बाह्यानामर्थानाम्। अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति। अनुपलभ्यमानेषु त्वर्थेषु किंनिमित्ता विचित्रा वासना भवेयुः। अनादित्वेऽप्यन्धपरम्परान्यायेनाप्रतिष्ठैवानवस्था व्यवहारलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः। यावप्यन्वयव्यतिरेकावर्थापलापिनोपन्यस्तौ वासनानिमित्तमेवेदं ज्ञान

[illegible] है।

[illegible], और [illegible] प्राप्ति [illegible] पुत्रको [illegible], इस [illegible] यह नहीं कहा जा सकता [illegible] अनुभव [illegible] है।

और दूसरी बात यह भी है कि [illegible] निरालम्बन [illegible] कह न सकनेवाले [illegible] धर्म [illegible] है वह [illegible] धर्म नहीं हो सकता। अग्नि गर्म है [illegible] अनुभव [illegible] शीतल नहीं [illegible] स्वप्न और जागरितमें [illegible] दिखाया है॥ २९॥

## न भावोऽनुपलब्धेः॥ ३०॥

और जो यह भी कहा था कि बाह्य वस्तुके बिना भी वासनाओंकी विचित्रतासे ही ज्ञानकी विचित्रता होती है, इसलिए उसका परिहार करना चाहिये, अब उसपर कहा जाता है—वासनाओंका भाव नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे पक्षमें बाह्य वस्तुओंका अभाव माना जाता है, बाह्य वस्तुओंकी प्राप्ति होनेके कारण ही प्रत्येक पदार्थके विषयमें अनेक प्रकारकी वासनायें होती हैं, बाह्य वस्तुओंके अभावमें तो विचित्र वासनायें किस निमित्तक होंगी? वासना अनादि माने जानेपर भी यह अन्धपरम्परा न्यायसे व्यवहारको लोप करनेवाली अवस्था अप्रतिष्ठित होगी, इसलिये तुम्हारा अभिप्राय सिद्ध न होगा।

---

१—स्मृति और प्रत्यक्ष उपलब्धिमें वैधर्म्यान्तरको कहते हैं—अर्थविप्रयोग इत्यादिसे। स्मृतिका विषय अविद्यमान होता है इस तरह स्मृति कभी निरालम्बना भी हो सकती है, प्रत्यक्ष अनुभवग्राह्य वर्तमान अर्थमात्रको ग्रहण करनेवाली उपलब्धि निरालम्बना नहीं होती है—रत्नप्रभा।

ज्ञानं नार्थनिमित्तमिति, तावप्येवं सति प्रत्युक्तौ द्रष्टव्यौ । विनार्थोपलब्ध्या वासनानुपपत्तेः । अपि च विनापि वासनाभिरर्थोपलब्ध्युपगमाद्विना त्वर्थोपलब्ध्या वासनोत्पत्त्यनभ्युपगमादर्थसद्भावमेवान्वयव्यतिरेकावपि प्रतिष्ठापयतः । अपि च वासना नाम संस्कारविशेषाः । संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते । एवं लोके दृष्टत्वात् । न च तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

## क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

यदप्यालयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं तदपि क्षणिकत्वाभ्युपगमादनवस्थितस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवन्न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति । नहि कालत्रयसंबन्धिन्येकस्मिन्नन्वयिन्यसति कूटस्थे वा सर्वार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधानस्मृतिप्रतिसंधानादिव्यवहारः संभवति । स्थिरस्वरूपत्वे त्वालयविज्ञानस्य सिद्धान्तहानिः । अपि च विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाभ्युपगमस्य समानत्वाद्यानि बाह्यार्थवादे क्षणिकत्वनिबन्धनानि दूषणान्युद्भावितानि 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्येवमादीनि तानीहाप्यनुसंधातव्यानि । एवमेतौ द्वावपि वैनाशिकपक्षौ निराकृतौ बाह्यार्थवादिपक्षो विज्ञानवादिपक्षश्च । शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते । नह्ययं सर्वप्रमाणप्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः ॥३१॥

बाह्य वस्तुका खण्डन करनेवालेने और जो अन्वय व्यतिरेकको उपस्थित किया था कि वासनाके निमित्तसे ही ज्ञानसमुदाय है बाह्य वस्तुके निमित्तसे नहीं ऐसी अवस्थामें उन दोनोंका भी खण्डन हो गया यह देख लेना चाहिये, क्योंकि बाह्य वस्तुकी प्राप्तिके बिना वासना नहीं हो सकती। और दूसरी यह भी बात है कि वासनाओंके बिना भी बाह्य वस्तुओंकी उपलब्धि होनेसे और बाह्य वस्तुके बिना तो वासनाओंकी उत्पत्ति न माने जानेसे अन्वय व्यतिरेक ये दोनों ही बाह्य वस्तुओंकी सत्ताकी स्थापना करते हैं। और यह भी बात है कि वासना नाम संस्कार विशेष है, और संस्कार आश्रयके बिना नहीं रह सकता क्योंकि लोकमें ऐसा देखा जाता है, तुम्हारे मतमें वासनाका आश्रय कोई नहीं है, क्योंकि प्रमाणोंसे उस आश्रयकी उपलब्धि नहीं होती है ॥ ३० ॥

## क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

और जो आलयविज्ञानको वासनाके आश्रय रूपसे कल्पना की थी, वह भी क्षणिक माने जानेके कारण अनवस्थित स्वरूप है इसलिये प्रवृत्तिविज्ञानके समान वह आलयविज्ञान वासनाओंका अधिकरण—आधार नहीं हो सकता। तीनों कालोंसे सम्बन्ध रखने वाला, सब वस्तुओंका द्रष्टा, एक अन्वयी स्थिर आत्माके अभाव होनेपर देश काल और निमित्तकी अपेक्षा करनेवाली वासनाका स्थापन, स्मृति तथा प्रतिसन्धान—अनुस्मरण आदिका व्यवहार नहीं हो सकता। यदि आलयविज्ञानको स्थिर मानो तो सिद्धान्तहानि होगी।

और यह भी बात है कि विज्ञानवादमें भी क्षणिकत्व सिद्धान्त समान होनेसे, सर्वास्तित्ववाद—बाह्यार्थवादमें जितने क्षणिकत्व निमित्तक दोष दिये गये थे **'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात** ( ब्र० सू० २ । २ । २०)' इत्यादि उन सबोंको यहां भी अनुस्मरण कर लेना चाहिये, इस प्रकार बाह्यार्थवादिपक्ष और विज्ञानवादिपक्ष ये दोनों वैनाशिक पक्ष खण्डित हो गये। और शून्यवादी पक्ष तो सब ही प्रमाणोंसे निषिद्ध है, इस कारण उसके परिहारके लिये कोई आदर नहीं किया जाता, सब प्रमाणोंसे प्रसिद्ध यह लोक व्यवहार अन्य किसी सद्वस्तुरूप तत्त्वको न मानकर छिपाया नहीं जा सकता ( तुमने किसी सद्वस्तु तत्त्वको दिखा कर लोक व्यवहारको अतात्त्विक सिद्ध तो नहीं कर दिखाया है ) इसलिये किसी अपवाद-विशेष नियमके अभावमें उत्सर्ग—सामान्य नियमोंकी प्रसिद्धि होती है ॥ ३१ ॥

## सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

**किं बहुना । सर्वप्रकारेण यथायथायं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते तथातथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव । न कांचिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः । अतश्चानुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः । अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति । सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥**

## ६ एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम् । सू० ३३--३६

## नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

**निरस्तः सुगतसमयः । विवसनसमय इदानीं निरस्यते । सप्त चैषां पदार्थाः संमता 'जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम । संक्षेपतस्तु द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाख्यौ ।**

---

## सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

और अधिक क्या कहें सब ही प्रकारसे जैसे२ यह वैनाशिक-सिद्धान्त युक्तियुक्त होनेके लिये परीक्षा किया जाता है वैसे२ बालुका कूपके समान गिरता ही जाता है, किसी भी युक्तिको यहां हम नहीं देखते हैं, इस कारण वैनाशिक शास्त्रका व्यवहार युक्तियुक्त नहीं है। और दूसरी यह भी बात है कि बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीनों वादोंका परस्पर विरुद्ध उपदेश दे कर बौद्धने अपनेको असम्बद्ध प्रलापी होना स्पष्ट सिद्ध कर दिखाया है, अथवा ( इसलिये हो कि ) प्रजाओंमें द्वेष फैल जाय, विरुद्धार्थ ज्ञानसे ये सब प्रजा मोहित हो जाय, अभिप्राय यह है कि कल्याण चाहनेवालोंको यह बौद्धोंका सिद्धान्त सर्वथा ही आदर योग्य नहीं है ॥ ३२ ॥ यह पादनवा०अभावाधिकरण समाप्त हो गया ।

## ६ एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम् । सू० ३३ ३६

## नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

बौद्धोंके सिद्धान्तको खण्डन कर दिया, अब जैनोंके सिद्धान्तका खण्डन किया जाता है, 'इनके माने हुवे ७ पदार्थ हैं—जीव, अजीव, आस्रव, संवर निर्जर, बन्ध और मोक्ष । संक्षेपसे तो जीव और

---

१—जीव और अजीव इन दो पदार्थोंको ( जीवास्तिकाय आदि रूपसे ) ५ प्रकारसे विस्तृत किया है। आस्रव, संवर और निर्जर इन तीनों पदार्थोंका प्रवृत्ति लक्षणवाले मानते हैं । प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है—सम्यक्रूपसे और मिथ्यारूपसे प्रवृत्ति होना आस्रव कहलाता है, संवर और निर्जर यथार्थ रूपसे प्रवृत्तिवाले होते हैं । विषयोंमें पुरुषको जो प्रवृत्त करावे वह करानेवाला आस्रव है, इन्द्रियद्वारा पुरुषसम्बन्धी ज्योति—प्रकाश विषयोंको स्पर्श करता हुवा रूपादि ज्ञानरूपसे परिणत होता है. और लोग तो कर्मोंको ही आस्रव कहते हैं, क्योंकि कर्म ही कर्ताको व्याप्त कर कर्ताके पीछे२ चलते हैं, इसलिये कर्म आस्रव है, यह आस्रवकी प्रवृत्ति मिथ्याप्रवृत्ति है, क्योंकि अनर्थ होनेमें यह कारण होता है । संवर और निर्जर तो यथार्थरूपसे प्रवृत्त कराते हैं, जो शम—दम दि रूपसे प्रवृत्त करावे वह संवर है, क्योंकि आस्रवके स्रोतके मार्गको यह ढक देता है इसलिये यह संवर कहलाता है ( जैसे कि जैनोंके ग्रन्थोंमें लिखा है—**आस्रवः स्रोतसां द्वारं संवृणोतीति संवरः । आस्रवः भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम् ॥**

आस्रव कर्मके स्रोतोंका द्वार है, संवर कर्मद्वारको रोकता है, इसलिये आस्रव सांसारिक जन्म होनेमें कारण है और संवर मोक्षका कारण है )।

निर्जर तो वह है जो अनादिकालसे प्रवृत्ति करनेवाले वासनोत्पन्न दोष, पुण्य और अपुण्योंके नाश करनेमें हेतु है जिससे तप्त शिलापर चढ़ना आदि होता है, वह सम्पूर्ण पुण्यापुण्यको सुख और दुःखके भोगसे क्षीण करता है इसलिये निर्जर है—भामती ।

यथायोगं तयोरेवान्तर्भावादिति मन्यन्ते। तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते 'पञ्चास्तिकाया नाम, जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेति । सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान्बहुविधान्स्वसमयपरिकल्पितान्वर्णयन्ति । सर्वत्र चेमं सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति । 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति । एवमेवैकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभङ्गीनयं योजयन्ति । अत्राचक्ष्महे— नायमभ्युपगमो युक्त इति ।

अजीव नामक दो ही [illegible], और इन दोनोंमें [illegible] पदार्थोंका यथायोग्य [illegible] मानते हैं, उन दोनों [illegible] अन्य [illegible] कहते हैं, [illegible]— जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मा[illegible], अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। [illegible] अनेक [illegible] अपने सिद्धान्तोंके [illegible] वर्णन करते हैं। [illegible] 'स्यात् अस्ति' [illegible] 'स्यात्—नास्ति' [illegible] 'स्यात्—अस्ति च नास्ति च' [illegible] 'स्यात्—अवक्तव्यः' [illegible] 'स्यात्—अस्ति—चावक्तव्यः' [illegible] 'स्यात् नास्ति चावक्तव्यः' [illegible] 'स्यात् अस्ति च नास्ति चावक्तव्यः' [illegible]

१—[illegible] 'अर्हन् उपदेशोऽशिनि' [illegible] 'आत्मा युक्त [illegible]' [illegible] 'काय' [illegible] है—अनुवादक।

२—यह 'स्यात्' [illegible] अनेक सिद्धान्तको [illegible] है, [illegible] है:

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् । स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तिङन्तप्रतिरूपकः ॥

यह 'स्यात्' श[illegible] प्रकाश करनेवाला [illegible] है, [illegible] गम्य—अर्थात् अस्ति इत्यादि[illegible] विशेषण होता है [illegible] यह शब्द अर्थसे युक्त होनेसे निपात अव्यय है जो [illegible] समान दीखता है।

यदि यह 'स्यात्' शब्द अनेक सिद्धान्तद्योतक न माना जाय तो 'स्यात् अस्ति' इस वाक्यमें 'स्यात्' पद [illegible] हो जाय, इसलिये 'अर्थयोगित्वात्' कहा है। अनेक सिद्धान्तोंके द्योतक होनेसे तो 'स्यादस्ति' [illegible] 'किसी स्वरूपसे है' इस प्रकार 'स्यात्' पदसे किसी प्रकारसे अर्थ होता है, इससे अनुक्त अर्थ प्रतीत हो जाता है, इस कारण यह पद अनर्थक नहीं है—भामती।

जैनोंके सिद्धान्तोंको समझनेके लिये विद्यार्थियोंको उपर्युक्त अनुवादमें कुछ कठिनता प्रतीत होगी, [illegible] थीबोने इस सूत्रके भाष्यका अनुवाद अच्छी तरहसे किया है, इसलिये हम उनके अनुवादके कुछ अंशको यहां देते हैं:—

The Jainas acknowledge seven categories (tattvas), viz. the sou

प्रश्नः–जैनी—कुतः ?

उत्तरम्—एकस्मिन्नसंभवात्। नह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत्। य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः। इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्।

प्रश्नः–जैनी—नन्वनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति ?

उत्तरम्—नेति ब्रूमः। निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात्स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात्। एवं निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे नास्तितेति। एवं

प्रश्न–जैनी—कैसे ठीक नहीं ?

उत्तर—'एकस्मिन्नसंभवात', क्योंकि एक धर्मी वस्तुमें एकसाथ होना और न होना आदि विरुद्ध धर्मोंका समावेश नहीं हो सकता, जैसे एकमें ठण्डा और गर्म गुण एक साथ नहीं रह सकते। और जो सात प्रकारके पदार्थ माने गये हैं कि इतने हैं और इस रूपके हैं तो वे ७ पदार्थ वैसे ही होंगे, या वैसे नहीं होंगे, अन्यथा वैसे हैं भी और नहीं भी ऐसा मानना अनिश्चित ज्ञान .संशय ज्ञानके समान अप्रमाण हो जावेगा।

प्रश्न–जैनी—वस्तु तो अनेकात्मक होते हैं, निश्चित रूपका ही ज्ञान होता है, इसलिये वह ज्ञान सांशयिक ज्ञानके समान अप्रमाण नहीं हो सकता ?

उत्तर—हम कहते हैं कि यह ठीक नहीं, निरंकुश—हेतुरहित अनेक सिद्धान्तोंको सब वस्तुओंमें माननेवाले तुम्हारे मतमें किसी प्रकारका निश्चय भी अनिश्चयात्मक ही रहेगा, क्योंकि वस्तुत्व सामान्यसे 'किसी स्वरूपसे है और किसी स्वरूपसे नहीं' इस प्रकार विकल्प करते हो। इस प्रकार निर्धारयिता ( निश्चय करनेवाले) जीवात्माके और निश्चय करना रूप फलके एक पक्षमें है तथा एक पक्षमें नहीं भी यह दोनों सिद्ध

(giva), non-soul (agiva), the essuing outward (asrava) restraint (samvara), destruction (nirgara), bondage (bandha), and release (moksha). Shortly it may be said that they acknowledge two categories, viz. soul and non-soul, since the five other categories may be subsumed under these two. —They also set forth a set of categories different from the two mentioned, They teach that there are five so—called astikayas 'existing bodies', i.e. categories, viz. the categories of soul (giva), body (pudgal), merit (dharma), demerit (adharma) and space (akasa). All these categories they again subdivide in various fanciful ways.—To all these they apply the following method of reasoning, which they call the saptabhanginaya ( सप्तभङ्गीनय ) : somehow it is somehow it is not; somehow it is and is not; somehow it is indescribable; somehow it is and is indescribable; somehow it is not and is indescribable; somehow it is and is not and is indesscribable.

To this unsettling style of reasoning they submit even such conceptions as that of unity and eternity. ( एकत्व और नित्यत्व ) (P. 428-429)

सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात् । कथं वा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टेऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन् । ऐकान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते नान्यथा । अतश्चानिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन्मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात् । तथा पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसंख्यास्ति वा नास्ति वेति विकल्प्यमाना स्यात्तावदेकस्मिन्पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादित्यतो न्यूनसंख्यात्वमधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात् । नचैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति । अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन् । उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम् । उच्यमानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्त इति च । तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्ति वा, एवं तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्ति वेति प्रलपन्मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यान्न प्रत्यायितव्यपक्षस्य । स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः । एवं जीवादिषु पदार्थेष्वेकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरसंभवात्सत्त्वे चैकस्मिन्धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्यासंभवादसत्त्वे चैवं सत्त्वस्यासंभवादसंगतमिदमार्हतं मतम् । एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताद्यनेकान्ताभ्युपगमा निराकृता मन्तव्याः । यत्तु पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः संघाताः संभवन्तीति कल्पयन्ति तत्पूर्वेणैवाणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक्तन्नि

होंगे। ऐसी अवस्थामें प्रमाणस्वरूप तीर्थंकर कैसे अनिश्चित प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमितियोंमें उपदेश देना समर्थ हो सके ? अथवा कैसे तीर्थंकरोंके अभिप्रायके अनुसार चलनेवाले अनुयायी लोग उनके अनिश्चितरूपसे उपदेश दिये हुए अर्थमें प्रवृत्त हो सकेंगे ? एक नास्तिक सिद्धान्तके फलका निश्चय होनेपर ही उस फलके साधनोंको अनुष्ठान करनेके लिये सब ही मनुष्य असंदिग्ध होकर प्रवृत्त होते हैं, इससे विपरीत नहीं। इस कारण अनिश्चित अर्थवाले शास्त्रको बना कर उनका वचन मदोन्मत्त—पागलोंके समान अग्राह्य होगा। और दूसरी बात यह है कि पांच अस्तिकायोंकी पञ्चत्व संख्या है अथवा नहीं इस प्रकार विकल्प होनेपर एक पक्षमें तो ( तुम्हारे स्याद्वादके अनुसार ) पञ्चत्व संख्या होगी, और पक्षान्तरमें तो न होगी, इस कारण या तो पञ्चसंख्यामें न्यून संख्या होगी अथवा अधिक संख्या होगी। और न ये पदार्थ अवक्तव्य हो सकते हैं, यदि अवक्तव्य हैं तो न कहे जाय, कहे भी जांय और कहने योग्य भी नहीं यह परस्पर विरुद्ध वचन है। कहे जानेपर भी उसी प्रकार निश्चय करते हैं और नहीं भी करते हैं, तथा वह निश्चय ज्ञानका फल तत्त्वज्ञान है अथवा नहीं भी ! अथवा उससे विपरीत—उल्टा मिथ्याज्ञान भी है या नहीं भी है इस प्रकारका प्रलाप मदोन्मत्तोंके पक्षका ही हो सकता है, निश्चित पक्षका नहीं। स्वर्ग और मोक्षके विषयमें भी एक पक्षमें होना और एक पक्षमें न होना, तथा एक पक्षमें नित्य और एक पक्षमें अनित्य इस प्रकार अनिश्चय होनेपर उनमें प्रवृत्ति नहीं होगी, और अपने शास्त्रोंमें प्रतिपादित निश्चित स्वभाववाले अनादि सिद्ध जीव आदि भी अनिश्चित स्वभाववाले हो जायगे। इसी प्रकार जीव आदि पदार्थोंमें एक धर्मी वस्तुमें 'होना और न होना' इन दोनों विरुद्ध धर्मोंके न होनेसे, एक भावात्मक धर्ममें अभावात्मक धर्मान्तरका होना असंभव होनेसे तथा अभावमें भी भावका होना असंभव होनेसे यह जैनोंका मत असंगत है, इससे एक, अनेक, नित्य, अनित्य, भिन्न और अभिन्न आदि अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंका खण्डन हो गया यह जान लेना चाहिये।

और जो पुद्गल नामक परमाणुओंमें समुदायरूप जगत्‌की उत्पत्ति कल्पना करते हैं वह तो प्रथम

राकरणाय प्रयत्यते ॥ ३३ ॥

## एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

यथैकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मासंभवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्त एवमात्मनोऽपि जीवस्याकार्त्स्न्यमपरो दोषः प्रसज्येत ।

प्रश्नः—जैनी—कथम् ?

उत्तरम्—शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यन्ते । शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नोऽसर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत । शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वान्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित्कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात् । पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत । समान एष एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः ।

प्रश्नः—जैनी—स्यादेतत् । अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवावयवा अल्पे शरीरे संकुचेयुर्महति च विकसेयुरिति ?

उत्तरम्—तेषां पुनरनन्तानां जीवावयवानां समानदेशत्वं प्रतिहन्यते वा न वेति वक्तव्यम् । प्रतिघाते तावन्नानन्तावयवाः परिच्छिन्ने देशे संमीयेरन् । अप्रतिघातेऽप्येकावयवदेशत्वोपपत्तेः सर्वेषामवयवानां प्रथिमानुपपत्तेर्जीवस्याणुमात्रत्वप्रसङ्गः स्यात् । अपि च शरीरमात्रपरिच्छिन्नानां जीवावयवानामानन्त्यं नोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् ॥ ३४ ॥

अणुवादके खण्डनमें गौरव हो जाता है, इसलिए पृथक् निराकरणके लिए श्रम नहीं किया जाता है ॥ ३३ ॥

## एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

जैसे एक धर्मी वस्तुमें विरुद्ध धर्मोंका होना असंभवरूप दोष स्याद्वादमें आता है, ऐसे जीवात्माका व्यापक न होना यह दूसरा दोष आवेगा ।

प्रश्न—जैनी—कैसे ?

उत्तर—शरीरका जो परिमाण है वही जीवका परिमाण है ऐसा जैनी लोग मानते हैं, जीवात्मा शरीरपरिमाण होनेपर आत्मा असम्पूर्ण असर्वव्यापक परिच्छिन्न हो जावेगा, इसलिये घट आदिके समान आत्मा अनित्य हो जावेगा । शरीरका परिमाण अव्यवस्थित होनेसे मनुष्यका जीवात्मा मनुष्य शरीरके परिमाण होकर फिर किसी कर्मफलसे हाथीका जन्म पाकर सम्पूर्ण हाथीके शरीरमें व्याप्त न होगा, चींटीका जन्म पा कर सम्पूर्ण चींटीके शरीरमें न अटेगा, तथा किसी भी एक जन्ममें कुमार यौवन और वृद्धावस्थाओंमें ( अवस्थाभेदमें जीवात्माका अटना न अटना ) समान ही दोष आता है ।

प्रश्न—जैनी—यह हो सकेगा—जीवात्माके अनन्त अवयव होते हैं, 'उसके वे ही' अवयव छोटे शरीरमें संकुचित होंगे और बड़े शरीरमें विकसित होंगे ( जैसे दीपककी ज्योति छोटे और बड़े मकानमें संकुचित और विकसित होती है ) ?

उत्तर—फिर जीवके अनन्त अवयव समानदेशमें विकसित होते हैं अथवा 'नहीं' यह कहना चाहिये, समानदेशमें विकसित होते हैं तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न स्थानमें अट नहीं सकते, विकसित न होनेपर भी एक देशमें एक ही अवयव रहनेसे तथा सब अवयवोंकी उन्नति न होनेसे जीव अणुमात्र ही रहेगा । और दूसरी बात यह भी है कि शरीरमात्रमें अटनेवाले जीवात्माके अवयव अनन्त हैं इसे कोई विचार भी नहीं सकता (क्योंकि परिच्छिन्न शरीरमें अनन्त अवयव नहीं हो सकते) ॥ ३४ ॥

अथ पर्यायेण बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ केचिज्जीवावयवा उपगच्छन्ति तनुशरीरप्रतिपत्तौ च केचिदपगच्छन्तीत्युच्येत, तत्राप्युच्यते—

**नच पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥**

न च पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमाभ्यामेतद्देहपरिमाणत्वं जीवस्याविरोधेनोपपादयितुं शक्यते।

प्रश्नः-जैनी—कुतः?

उत्तरम्—विकारादिदोषप्रसङ्गात्। अवयवोपगमापगमाभ्यां ह्यनिशमापूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य च जीवस्य विक्रियावत्त्वं तावदपरिहार्यम्, विक्रियावत्त्वे च चर्मादिवदनित्यत्वं प्रसज्येत। ततश्च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत [1]'कर्माष्टकपरिवेष्टितस्य जीवस्यालाबुवत्संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्वगामित्वं भवतीति। किंचान्यत्। आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामागमापायधर्मवत्त्वादेवानात्मत्वं शरीरादिवत्। ततश्चावस्थितः कश्चिदवयव आत्मेति स्यात्। न च स निरूपयितुं शक्यतेऽयमसाविति। किंचान्यत्। आगच्छन्तश्चैते जीवावयवाः कुतः प्रादुर्भवन्त्यपगच्छन्तश्च क्व वा लीयन्त इति वक्तव्यम्। नहि भूतेभ्यः प्रादुर्भवेयुर्भूतेषु च निलीयेरन्, अभौतिकत्वाज्जीवस्य। नापि कश्चिदन्यः साधारणोऽसाधारणो वा जीवानामवयवाधारो निरूप्यते प्रमाणाभावात्। किंचान्यत्। अनवधृतस्वरूपश्चैवं सत्यात्मा स्यात्। आगच्छतामपग-

यदि यह कहा जाय कि क्रमसे बड़े शरीर मिलनेपर कोई जीवके अवयव आते हैं और छोटे शरीरके मिलनेपर कोई अवयव चले जाते हैं, वहांपर भी यह कहा जाता है:—

**नच पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥**

क्रमसे भी अवयवोंके आने और जानेमें जीवात्माका देहपरिमाण होना अविरोधरूपसे सिद्ध नहीं कर सकते।

प्रश्न-जैनी—कैसे?

उत्तर—क्योंकि विकार आदि दोष आ जावेंगे, अवयवोंके आने और जानेमें सतत ही उपचित और अपचित होनेवाले जीवात्माका विकार युक्त होना अपरिहरणीय हो जायगा, विकारयुक्त होनेपर चर्म आदिके समान अनित्य हो जायगा, तब तो ८ प्रकारके कर्मोंमें घिरे हुवे तुम्बीके समान संसार सागरमें डूबे हुवे जीवात्माके बन्धन नष्ट होजानेपर मोक्ष प्राप्त होती है यह बन्ध और मोक्षके सिद्धान्त भी बाधित होंगे। और अधिक क्या कहें, अवयवोंके आने और जानेसे बढ़ना और घटनारूप धर्मवाला होनेसे ही जीवात्माका आत्मत्व सिद्ध नहीं होता है, बल्कि शरीर आदिके समान अनित्य हो जावेगा, तब तो यह मानना पड़ेगा कि कोई अवयवविशेष ही आत्मा होगा, परन्तु वह अवयव आत्मा यह है ऐसा निरूपण नहीं कर सकते, और अधिक क्या कहें—आते हुवे ये जीवात्माके अवयव कहांसे उत्पन्न होते हैं और जाते हुवे कहां लीन होते हैं यह भी आप कहिये? पृथिवी आदि भूतोंसे जीवात्माके अवयव उत्पन्न नहीं होते हैं और न उनमें लीन हो सकते हैं, क्योंकि जीवात्मा अभौतिक है, और न कोई साधारण अथवा असाधारण जीवोंके अवयवोंके आधारका निरूपण होता है, क्योंकि इसमें कोई

---

१—बन्ध नामक ८ प्रकारके कर्म हैं, उनमें घातिकर्म-मोक्षके बाधक चार प्रकारके हैं जैसे—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। तथा चार अघातिकर्म होते हैं जैसे—वेदनीय, नामिक, गोत्रिक और आयुष्क—रत्नप्रभा, भामती, न्यायनिर्णय।

च्छतां चावयवानामनियतपरिमाणत्वात् । अत एवमादिदोषप्रसङ्गान्न पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमावात्मन आश्रयितुं शक्येते । अथवा पूर्वेण सूत्रेण शरीरपरिमाणस्यात्मन उपचितापचितशरीरान्तरप्रतिपत्तावकार्त्स्न्यप्रसञ्जनद्वारेणानित्यतायां चोदितायां पुनः पर्यायेण परिमाणानवस्थानेऽपि स्रोतःसंताननित्यतान्यायेनात्मनो नित्यता स्यात् । यथा रक्तपटानां विज्ञानानवस्थानेऽपि तत्संताननित्यता तद्वद्विसिचामपीत्याशङ्क्यानेन सूत्रेणोत्तरमुच्यते । संतानस्य तावदवस्तुत्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्गः । वस्तुत्वेऽप्यात्मनो विकारादिदोषप्रसङ्गादस्य पक्षस्यानुपपत्तिरिति ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

अपि चान्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जैनैः । तद्वत्पूर्वयोरप्याद्यमध्यमयोर्जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषप्रसङ्गः स्यात् । एकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः । अथवान्त्यस्य जीवपरिमाणस्यावस्थितत्वात्पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात्, ततश्चाविशेषेण सर्वदैवाणुर्महान्वा जीवोऽभ्युपगन्तव्यो न शरीरपरिमाणः । अतश्च सौगतवदार्हतमपि मतमसंगतमित्युपेक्षितव्यम ॥ ३६ ॥

प्रमाण नहीं है। और अधिक क्या कहें—ऐसा होनेपर तो जीवात्मा अनवस्थित स्वरूपवाला हो जायगा, क्योंकि आने और जानेवाले अवयवोंका कोई नियत परिमाण नहीं है, इस कारण इस प्रकारके अनेक दोषोंके प्रसंग होनेसे क्रमपूर्वक भी जीवात्माके अवयवोंके आने जानेका आश्रयण नहीं कर सकते। अथवा—'**एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्**' इस पूर्व सूत्रसे शरीरपरिमाणवाले जीवात्माके उन्नत और अवनत शरीरान्तरकी प्राप्ति होनेपर आत्मा शरीरमें अव्यापक—असर्वगत हो जायगा इस प्रकारके दोष आजानेसे आत्माकी अनित्यता कही जानेपर फिर क्रमसे परिमाण अनवस्थित हो जानेपर भी (बौद्धोंके विज्ञान सन्तानके समान) जलस्रोतके प्रवाहरूप सन्तानकी नित्यताके न्यायसे आत्माकी भी नित्यता हो जायगी, जैसे लाल वस्त्रका ज्ञान अनवस्थायी होनेपर भी विज्ञानके सन्तान—(प्रवाह) की नित्यता होती है उसी प्रकार इस विसिच्—दिगम्बरोंके (मतमें भी आत्मा नित्य सिद्ध हो जायगा), यह शंका कर इस सूत्रसे उत्तर दिया जाता है—सन्तान अवस्तु होनेपर तो निरात्मवाद प्रसङ्ग होगा, और सन्तान वस्तु होनेपर भी आत्माके विकार आदि दोषोंके प्रसङ्ग होनेसे यह पक्ष बनता नहीं ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

और दूसरी यह भी बात है कि अन्त्य अर्थात् मोक्षावस्था तक रहनेवाले जीवके परिमाणको जैन लोग नित्य मानते हैं, उसी प्रकार पूर्वके अर्थात् आदि और बीचके जीवपरिमाण भी नित्य हो जावेंगे, इसलिये (अन्त्यावस्थाके जीवके परिमाण और आदि मध्य वाले जीवके परिमाणमें) कोई विशेषता न होगी, शरीरका एक ही परिमाण होगा न कि उन्नत और अवनत रूप शरीरान्तरकी प्राप्ति। अथवा 'अन्त्यके—मोक्षावस्थाके जीवपरिमाण स्थायी होनेसे पहिलेके अर्थात् आदि मध्य अवस्थाके जीवपरिमाण भी स्थायी ही होगा, तब तो कोई विशेषता न होनेसे जीव सदा ही अणुरूप होगा अथवा महान होगा ऐसा मानना चाहिये, न कि शरीरपरिमाणवाला, इसी कारण बौद्धोंके समान जैनोंका मत भी असंगत है इसलिये उपेक्षणीय है ॥ ३६ ॥ यह छठा एकस्मिन्नसंभवाधिकरण समाप्त हो गया।

## ७ पत्यधिकरणम् सू० ३७-४१

### पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

इदानीं केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादः प्रतिषिध्यते ।

प्रश्नः—तत्कथमवगम्यते ?

उत्तरम्—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्,' 'अभिध्योपदेशाच्च' ( ब्र० १।४।२३,२४ ) इत्यत्र प्रकृतिभावेनाधिष्ठातृभावेन चोभयस्वभावस्येश्वरस्य स्वयमेवाचार्येण प्रतिष्ठापितत्वात् । यदि पुनरविशेषेणेश्वरकारणवादमात्रमिह प्रतिषिध्येत । पूर्वोत्तरविरोधाद्व्याहताभिव्याहारः सूत्रकार इत्येतदापद्येत । तस्मादप्रकृतिरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इत्येष पक्षो वेदान्तविहितब्रह्मैकत्वप्रतिपक्षत्वाद्यत्नेनात्र प्रतिषिध्यते । सा चेयं 'वेदबाह्येश्वरकल्पनानेकप्रकारा । केचित्तावत्सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति

## ७ पत्यधिकरणम् । सू० ३७-४१

### पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

अब केवल अधिष्ठातृरूपसे ( निमित्तरूपसे ) ईश्वरकारणवादका निषेध किया जाता है ।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर—क्योंकि 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोपधात्,' 'अभिध्योपदेशाच्च' ( ब्र० १।४।२३,२४ ) यहांपर उपादानकारणरूपसे और निमित्तकारणरूपसे दोनों स्वभाववाले ईश्वरकी स्थापना स्वयं आचार्य व्यासजीने की थी । यदि फिर सामान्यरूपसे यहां केवल ईश्वरकारणवाद मात्रका निषेध किया जाय तो पूर्वापरविरोध होनेसे सूत्रकारका सिद्धान्त व्याहत हो जाता, इसलिये ईश्वर उपादानकारण नहीं किन्तु वह केवल अधिष्ठातृरूपसे निमित्तकारण है यह पक्ष वेदान्तविहित ब्रह्मैकत्वका विरोधी है, इसलिये यत्नपूर्वक इसी पक्षका निषेध किया जाता है । यह वेदबाह्य ईश्वरकी कल्पना अनेक प्रकारकी

---

१—वेदबाह्य ईश्वर कल्पनाओंको जार्ज थीबोने निम्नलिखित प्रकारसे अनुवाद किया है:—

The theories about the Lord which are independent of the Vedanta are of various nature. Some taking their stand on the Sankhya and Yoga systems assume that the Lord acts as a mere operative cause, as the ruler of the pradhana and of the souls, and that pradhana, soul and Lord are of mutually different nature.—The Maheshvaras (Saivas) maintain that the five categories, viz. effect, cause, union, ritual, the end of pain, were taught by the Lord Pasupati (Siva) to the end of breaking the bonds of the animal (i.e. the soul); Pasupati is, according to them, the Lord, the operative cause.—Similarly, the Vaiseshikas and others also teach, according to their various systems, that the Lord is somehow the operative cause of the world. (P. 434—435)

प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वरा इति। माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति। तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथंचित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति। अत उत्तरमुच्यते— 'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति। पत्युरीश्वरस्य प्रधानपुरुषयोरधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते।

प्रश्नः—कस्मात् ?

उत्तरम्—असामञ्जस्यात्।

प्रश्नः—किं पुनरसामञ्जस्यम् ?

उत्तरम्—हीनमध्यमोत्तमभावेन हि प्राणिभेदान्विदधत ईश्वरस्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत।

प्रश्नः—प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत् ?

उत्तरम्—न। कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्।

प्रश्नः—नानादित्वादिति चेत् ?

उत्तरम्—न। वर्तमानकालवदतीतेष्वपि कालेष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायोपपत्तेः।

है—कोई सांख्य योगको आश्रय करनेवाले कल्पना करते हैं कि प्रधान और पुरुषका अधिष्ठाता केवल निमित्तकारण ईश्वर है, और प्रधान, पुरुष तथा ईश्वर परस्पर विलक्षण हैं। शैव लोग तो—मानते हैं कि कार्य—प्रधानोत्पन्न महदादि, कारण—ईश्वर, योग—ओंकारादिका ध्यान धारणा आदि, विधि—स्नान आदिका अनुष्ठान, तथा दुःखान्त मोक्ष इन ५ पदार्थोंको पशुपति ईश्वरने पशुपाशसे—जीवरूप बन्धनसे मुक्त होनेके लिये उपदेश दिये हैं, और पशुपति ईश्वर निमित्तकारण है इस प्रकार वर्णन करते हैं। तथा कोई वैशेषिक आदि भी किसी प्रकारसे अपने सिद्धान्तके अनुसार ईश्वर निमित्तकारण है इस प्रकार वर्णन करते हैं। इस कारण यह उत्तर कहा जाता है—'पत्युरसामञ्जस्यात्'। पति—स्वामी ईश्वर प्रधान और पुरुषका अधिष्ठाता निमित्तरूपसे जगत्का कारण नहीं हो सकता।

प्रश्न—शैव आदि—क्यों नहीं हो सकता ?

उत्तर—इसलिये कि यह पक्ष असङ्गत है।

प्रश्न—शैव—आदि फिर वह असङ्गतता क्या है ?

उत्तर—हीन-मध्यम-उत्तमभावसे प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला ईश्वर ( किसीमें अनुकूल होनेमें उनके साथ स्नेह और प्रतिकूलतामें द्वेष इस प्रकार ) राग द्वेष आदि दोषोंसे आसक्त होनेके कारण हम मनुष्य प्राणियोंके समान अनीश्वर हो जायगा।

प्रश्न-शैव आदि—( निकृष्ट मध्यम और उत्कृष्ट स्वभावका होना ) यह प्राणियोंके कर्मोंकी अपेक्षासे है, इसलिये दोष नहीं आता ?

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि कर्म और ईश्वरको प्रेर्य तथा प्रेरक माने तो इतरेतराश्रय दोष आ जावेगा ( कर्म होनेपर ईश्वर प्रेरक होगा और ईश्वरकी प्रेरणासे कर्मकी प्रवृत्ति होगी यह इतरेतराश्रय दोष है)।

प्रश्न-शैव आदि—यह दोष भी ठीक नहीं, क्योंकि प्राणियोंके कर्म अनादि हैं ( इस कारण इतरेतराश्रय दोष नहीं आ सकता ) ?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे वर्तमानकालमें यह दोष आता है वैसा ही भूतकालोंमें भी यह इतरेतराश्रय दोष समान होनेसे अन्धपरम्परा हो जावेगी।

अपि च 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (न्यायसू० १।१।१८) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थप्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तत इत्येवमप्यसामञ्जस्यं, स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्। पुरुषविशेषत्वाभ्युपगमाच्चेश्वरस्य पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमादसामञ्जस्यम् ॥३७॥

## संबन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पुनरप्यसामञ्जस्यमेव। नहि प्रधानपुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्धं प्रधानपुरुषयोरीशिता। न तावत्संयोगलक्षणः संबन्धः संभवति, प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निरवयवत्वाच्च। नापि समवायलक्षणः संबन्धः, आश्रयाश्रयिभावानिरूपणात्। नाप्यन्यः कश्चित्कार्यगम्यः संबन्धः शक्यते कल्पयितुं, कार्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धत्वात्।

प्रश्नः—ब्रह्मवादिनः कथमिति चेत्?

उत्तरम्—न। तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः। अपि चागमबलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयतीति नावश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमिति नियमोऽस्ति। परस्य तु दृष्टान्तबलेन कारणादिस्वरूपं निरूपयतो यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमित्ययमस्त्यतिशयः।

प्रश्नः—परस्यापि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात्समानमागमबलमिति चेत्?

और दूसरी बात यह भी है कि 'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः' (न्याय सू० १।१।१८) यह नैयायिकोंका सिद्धान्त है। कोई दोषोंसे अप्रयुक्त हो कर स्वार्थमें वा परार्थमें प्रवृत्त होता दिखाई नहीं देता है, स्वार्थसे प्रयुक्त हो कर सब लोग परार्थमें भी प्रवृत्त होता है इस प्रकारसे भी यह पक्ष ठीक बनता नहीं है। स्वार्थी होनेसे ईश्वर ईश्वर हो नहीं सकता, और फिर ईश्वरको पुरुषविशेष मानते हैं, यह भी माना जाता है कि वह ईश्वर पुरुष उदासीन रहता है, इस प्रकार माननेसे यह पक्ष असमञ्जस है अर्थात् युक्तियुक्त नहीं ॥ ३७ ॥

## सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

फिर भी यह पक्ष असमञ्जस—अनुचित ही है, प्रधान और पुरुषसे भिन्न ईश्वर किसी सम्बन्धके विना प्रधान और पुरुषका शासक नहीं हो सकता, इनका संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधान, पुरुष और ईश्वर सर्वगत और निरवयव हैं (कारण कि परिच्छिन्न पदार्थोंका ही संयोग अव्याप्यवृत्ति पूर्वक होता है सर्वव्यापक तथा निरवयव पदार्थोंका व्याप्यवृत्तिपूर्वक संयोग होता है) और न समवाय रूप सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि इनका आधार और आधेय भाव सम्बन्धका निरूपण नहीं किया गया है, और न अन्य कोई कार्यसे जानने योग्य सम्बन्धकी कल्पना कर सकते हैं, क्योंकि इनके कार्य कारणभावकी सिद्धि अब तक भी नहीं हुई है।

प्रश्न-शैव आदि—ब्रह्मवादियोंके पक्षमें कैसा सम्बन्ध है?

उत्तर—हम वेदान्तियोंके मतमें उसका तादात्म्यरूप सम्बन्ध होता है। और दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्मवादी लोग वेदप्रमाणरूप बलसे कारण आदिके स्वरूपको निरूपण करते हैं, इसलिये उनके मतमें जैसा कुछ देखा जाता है वैसा ही सब कुछ स्वीकार किया जाना चाहिये ऐसा कुछ नियम नहीं है। दूसरे मतवाले तो दृष्टान्तबलसे कारण आदिके स्वरूपको निरूपण करते हैं इसलिये उनको जैसा देखा जाता है वैसा ही सब कुछ मानना पड़ता है, इस कारण उससे इतना विशेष है।

प्रश्न-शैव आदि—हमारे मतमें भी सर्वज्ञ ईश्वरप्रणीत वेदोंका अस्तित्व माना जाता है, इसलिये वेद प्रमाणोंका बल दोनोंका समान है?

उत्तरम्—न। [1]इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्। आगमप्रत्ययात्सर्वज्ञत्वसिद्धिः सर्वज्ञप्रत्ययाच्चागमसिद्धिरिति। तस्मादनुपपन्ना सांख्ययोगवादिनामीश्वरकल्पना। एवमन्यास्वपि वेदबाह्यास्वीश्वरकल्पनासु यथासंभवमसामञ्जस्यं योजयितव्यम् ॥ ३८ ॥

## अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। स हि परिकल्प्यमानः कुम्भकार इव मृदादीनि प्रधानादीन्यधिष्ठाय प्रवर्तयेत्। नचैवमुपपद्यते। नह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं संभवति मृदादिविलक्षणत्वात् ॥ ३९ ॥

## करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

प्रश्नः—स्यादेतत्। यथा करणग्रामं चक्षुरादिकमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च पुरुषोऽधितिष्ठत्येवं प्रधानमपीश्वरोऽधिष्ठास्यतीति ?

उत्तरम्—तथापि नोपपद्यते। भोगादिदर्शनाद्धि करणग्रामस्याधिष्ठितत्वं गम्यते। नचात्र भोगादयो दृश्यन्ते। करणग्रामसाम्ये वाभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन्। अन्यथा वा सूत्रद्वयं व्याख्यायते—'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। साधिष्ठानो हि लोके सशरीरो राजा

---

उत्तर—आगमबल समान नहीं, तुम्हारे मतमें इतरेतराश्रय दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि वेदज्ञानसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होगी और सर्वज्ञ ईश्वरके ज्ञानसे वेदप्रमाणकी सिद्धि होगी इस कारण सांख्ययोगवादियोंकी ईश्वरकल्पना ठीक नहीं, इसी प्रकार अन्य भी वेदभिन्न ईश्वरकल्पनाओंमें यथासंभव अनौचित्यकी योजना कर लेनी चाहिये ॥ ३८ ॥

## अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

यहांसे आगे भी तार्किकोंके कल्पित ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती, वह कल्पित ईश्वर कुम्हारके समान मिट्टी आदि प्रधान आदियोंमें अधिष्ठित होकर उनको प्रवृत्त करावेगा, सो यह बनता नहीं है, अप्रत्यक्ष रूपादिहीन प्रधान ईश्वरका अधिष्ठेय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधानसे मिट्टी आदि विलक्षण होती है ॥ ३९ ॥

## करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

प्रश्न-शैव आदि—यह प्रधान अधिष्ठेय हो सकता है, जैसा अप्रत्यक्ष रूपादिरहित नेत्र आदि इन्द्रिय समुदायमें पुरुष जीवात्मा रहता है, इसी प्रकार प्रधानमें भी ईश्वर अधिष्ठातृरूपसे रहेगा ?

उत्तर—तो भी प्रधान अधिष्ठेय नहीं हो सकता, क्योंकि भोग आदि देखे जानेसे ही इन्द्रियसमुदाय अधिष्ठेय हो सकता है, ईश्वरमें तो भोग आदि नहीं देखे जाते हैं। अथवा इन्द्रियसमुदायकी समता स्वीकार किये जानेपर संसारी जीवात्माओंके समान ईश्वरके भी भोग आदि प्रसक्त होंगे। अथवा ये ३९ वें और ४० वें दोनों सूत्रोंकी व्याख्या अन्य प्रकारसे की जाती है—'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च'।

---

[1]—( हमारे मतमें यह दोष नहीं आ सकता, क्योंकि ईश्वर शास्त्रयोनि होनेपर भी अनादिसिद्ध नियत क्रमकी अपेक्षासे वेदका प्रामाण्य ईश्वराधीन नहीं है, किन्तु स्वतः है, जैसे देवदत्तद्वारा दीपक प्रज्वलित किये जानेपर भी प्रकाशशक्तिवाले दीपक ही प्रकाशक हैं, किन्तु दीपकका प्रकाशकत्व देवदत्तापेक्ष नहीं है, उसी प्रकार वेदविषयमें जानना चाहिये—वेदान्तकल्पतरु।

राष्ट्रस्येश्वरो दृश्यते न निरधिष्ठानः। अतश्च तद्दृष्टान्तवशेनादृष्टमीश्वरं कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किंचिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात्। न च तद्वर्णयितुं शक्यते। सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः। निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः। एवं लोके दृष्टत्वात्। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः'। अथ लोकदर्शनानुसारेणेश्वरस्यापि किंचित्करणानामायतनं शरीरं कामेन कल्प्येत। एवमपि नोपपद्यते। सशरीरत्वे हि सति संसारिवद्भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत ॥ ४० ॥

## अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। स हि सर्वज्ञस्तैरभ्युपगम्यतेऽनन्तश्च। अनन्तं च प्रधानमनन्ताश्च पुरुषा मिथो भिन्ना अभ्युपगम्यन्ते। तत्र सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्ता परिच्छिद्येत वा न वा परिच्छिद्येत। उभयथापि दोषोऽनुषक्त एव।

प्रश्नः—कथम्?

उत्तरम्—पूर्वस्मिंस्तावद्विकल्पे इयत्तापरिच्छिन्नत्वात्प्रधानपुरुषेश्वराणामन्तवत्त्वमवश्यंभाव्येवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोक इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु घटादि तदन्तवद्दृष्टं तथा प्रधानपुरुषेश्वरत्रयमपीयत्तापरिच्छिन्नत्वादन्तवत्स्यात्। संख्यापरिमाणं तावत्प्रधानपुरुषेश्वर

यहासे आगे भी तार्किकोंके कल्पित ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती, लोकमें आधारवाले ही शरीरधारी राजा राष्ट्रका ईश्वर—मालिक देखा जाता है अधिष्ठान ( आधार ) रहित नहीं, इस कारण उस दृष्टान्त वशसे अदृष्ट ईश्वरकी कल्पना करनेकी इच्छा करनेवालेके मतमें ईश्वरके भी कोई इन्द्रियोंके आधार शरीरको वर्णन करना पड़ेगा, उस ईश्वरके शरीरको वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि शरीर तो सृष्टिके पश्चात् बनता है सृष्टिसे पहिले शरीर बन नहीं सकता, ईश्वर अधिष्ठान रहित होनेपर प्रवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा ही लोकमें देखा गया है (कि साधिष्ठान शरीरधारी ही प्रवर्तक होता है)।

## करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः।

'लोकमें देखे जानेके अनुसार ईश्वरके भी कोई इन्द्रियोंके आधार शरीरको यथेच्छरूपसे कल्पना करोगे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि शरीरधारी होने पर भी संसारी जीवात्माओंके समान भोग आदि प्रसङ्ग होनेसे ईश्वर भी अनीश्वर हो जायेगा ॥ ४० ॥

## अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

यहासे आगे भी तार्किकोंका कल्पित ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता, वे ईश्वरको सर्वज्ञ और अनन्त मानते हैं और प्रधान अनन्त तथा जीवात्मा भी अनन्त और परस्पर भिन्न मानते हैं। ऐसी परिस्थितिमें सर्वज्ञ ईश्वर प्रधान और जीवात्माकी तथा अपनी इयत्ताको परिच्छिन्न करता है अथवा नहीं करता है? दोनों ही प्रकारसे दोष प्रसक्त होते ही है।

प्रश्न—शैव आदि—कैसे?

उत्तर—पूर्व विकल्पमें तो (अर्थात् यदि ईश्वर प्रधानकी, जीवात्माओंकी तथा अपनी इयत्ताको परिच्छिन्न—सीमित कर सकता है इस विकल्पको माननेपर तो) इयत्तावाले—इयत्तासे परिच्छिन्न—सीमित होनेके कारण प्रधान, जीवात्मा और ईश्वर अवश्य सान्त-अन्तवाले हो जायेंगे, क्योंकि लोकमें ऐसा ही देखा जाता

मयत्तयेव परिच्छिन्नम् । स्वरूपपरिमाणमपि तदीयमीश्वरेण परिच्छिद्यतेति । पुरुषगता च महासंख्या । ततश्चेयत्तापरिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसारान्मुच्यन्ते तेषां संसारोऽन्तवान्संसारित्वं च तेषामन्तवत् । एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्तवत्त्वं स्यात् । प्रधानं च सविकारं पुरुषार्थमीश्वरस्याधिष्ठेयं संसारित्वेनाभिमतं तच्छून्यतायामीश्वरः किमधितिष्ठेत् । किंविषये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम् । प्रधानपुरुषेश्वराणां चैवमन्तवत्त्वे सत्यादिमत्त्वप्रसङ्गः । आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवादप्रसङ्गः । अथ मा भूदेष दोष इत्युत्तरो विकल्पोऽभ्युपगम्येत न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परिच्छिद्यत इति, तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभ्युपगमहानिरपरो दोषः प्रसज्येत । तस्मादप्यसंगतस्तार्किकपरिगृहीत ईश्वरकारणवादः ॥ ४१ ॥

: उत्पत्त्यसंभवाधिकरणम् सू० ४२–४५

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

येषामप्रकृतिरधिष्ठाता केवलनिमित्तकारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यातः । येषां पुनः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यायते । प्रश्नः—ननु श्रुतिप्रमाण्यगेनाप्येवंरूप एवेश्वरः प्राङ्निर्धारितः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चेति ।

है। लोकमें जो पट आदि वस्तु इयत्तासे परिच्छिन्न होती हैं वे सान्त देखी गई हैं, वैसे ही प्रधान, जीवात्मा और ईश्वर ये तीनों भी इयत्तासे परिच्छिन्न होनेके कारण सान्त हो जावेंगे। संख्याका परिमाण भी प्रधान, जीवात्मा और ईश्वर इन तीनोंसे परिच्छिन्न है, प्रधान गत अपने रूपके अणु महत् दीर्घका परिमाण भी ईश्वर द्वारा परिच्छिन्न होगा, तथा जीवात्मगत महासंख्या ईश्वर द्वारा परिच्छिन्न होगी, तब तो इयत्तासे परिच्छिन्नोंमें जो संसारी जीवात्मा संसारसे मुक्त होते हैं उनका संसार सान्त होगा तथा उनका संसारी होना भी सान्त होगा, एवं अन्य जीवात्मा भी क्रमसे मुक्त होने पर संसार, और संसारी जीवात्मा सान्त होंगे, विकारयुक्त प्रधान भी जो पुरुषार्थ निमित्त ईश्वरका अधिष्ठेय तथा लौकिक रूपसे इष्ट है उसके अभावमें ईश्वर किस पर रहेगा? अथवा (प्रधानके अभावमें) किस विषयमें ईश्वरके सर्वज्ञत्व और प्रभुत्व होंगे? प्रधान, पुरुष और ईश्वर इस प्रकार सान्त सिद्ध होनेपर वे सादि भी सिद्ध होंगे सादि और सान्त होनेपर शून्यवादका भी प्रसङ्ग होगा। ये दोष न आवें इसलिये दूसरा विकल्प स्वीकार किया जाय कि प्रधानकी, पुरुषोंकी तथा अपनी इयत्ताको ईश्वर परिच्छिन्न—सीमित नहीं करता है तब तो ईश्वरका सर्वज्ञत्व होना इस सिद्धान्तकी हानि यह दूसरा दोष प्रसक्त होगा इसलिये भी तार्किकोंका स्वीकृत ईश्वर कारणवाद असङ्गत है ॥ ४१ ॥ यह सातवां पत्यधिकरण समाप्त होगया।

उत्पत्त्यसंभवाधिकरणम् [ सू० ४२–४५

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

जिनके मतमें ईश्वर उपादान कारण रहित अधिष्ठाता केवल निमित्त कारण अभिमत है उनके पक्षका खण्डन कर दिया। और जिनके मतमें ईश्वर उपादान और निमित्त दोनों कारण इष्ट है उनके पक्षका खण्डन किया जाता है।

प्रश्न—श्रुतिके आश्रयसे इस प्रकारके ही ईश्वरको पहिले निश्चय किया था कि वह उपादान कारण अधिष्ठाता,

श्रुत्यनुसारिणी च स्मृतिः प्रमाणमिति स्थितिः । तत्कस्य हेतोरेष पक्षः प्रत्याचिख्यासित इति ?

उत्तरम्—उच्यते—यद्यप्येवंजातीयकोंऽशः समानत्वान्न विसंवादगोचरो भवत्यस्ति त्वंशान्तरं विसंवादस्थानमित्यतस्तत्प्रत्याख्यानायारम्भः । तत्र [1]भागवता मन्यन्ते । भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वं, स चतुर्धात्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेवव्यूहरूपेण संकर्षणव्यूहरूपेण प्रद्युम्नव्यूहरूपेणानिरुद्धव्यूहरूपेण च । वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते । संकर्षणो नाम जीवः । प्रद्युम्नो नाम मनः । अनिरुद्धो नामाहंकारः । तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम् । तमित्थंभूतं

रूपसे निमित्त कारण भी है, श्रुत्यनुकूल स्मृति भी प्रमाण है, इसकी स्थापना हो चुकी थी, इसलिये किस कारण इस पक्षको खण्डन करनेकी इच्छा करते हो ?

उत्तर—यद्यपि इस प्रकारके अंश समान होनेसे कोई [बाधा] नहीं दीखता, किन्तु किसी अंशमें विवादका अवकाश है, इस कारण उस पक्षके परिहारके [लिये] यह आरंभ किया जाता है । भागवत लोग मानते हैं कि—भगवान् ही एक वासुदेव है, जो निरञ्जन ज्ञानस्वरूप वास्तविक तत्त्वरूप है, वह अपने आपको चार प्रकारसे विभक्त कर [2]वासुदेव व्यूह रूपसे, संकर्षण व्यूहरूपसे, प्रद्युम्न व्यूह रूपसे और अनिरुद्ध व्यूहरूपसे प्रतिष्ठित होता है वासुदेव नामक परमात्मा कहा जाता है संकर्षण नामक जीवात्मा है, प्रद्युम्न मनका नाम है, अनिरुद्ध अहंकारका नाम है, इनमें वासुदेव मूल प्रकृति है,

१—यद्यपि ब्रह्म प्रकृति और अधिष्ठाता दोनों हैं यह वेदान्तियोंका सिद्धान्त है, और भागवतोंका भी यही सिद्धान्त है, तथापि अंशान्तरमें सिद्धान्तभेद होनेसे भाष्यकारने उनके इस सिद्धान्तको भी खण्डन किया है भागवतोंके सिद्धान्तको डा० थीबोने निम्नलिखित प्रकारसे अंग्रेजीमें भाष्यका अनुवाद किया है: -

The so-called Bhagavatas are of opinion that the one holy (Bhagavat) Vasudeva, whose nature is pure knowledge, is what really exists, and what he, dividing himself fourfold, appears in four forms (Vyuha) as Vasudeva Shankarshana Pradyumna' and Aniruddha. Vasudeva denotes highest Self, Shankarshana the individual soul. Pradyumna. the mind, (monah), Anirudha the principle of egoity (ahankar). Of these four Vasudeva constitutes the ultimate causal essence, of which the three others are the effects. The believer after having worshipped Vasudeva for a hundred years by means of approach to the temple (abhigamana), procuring of things to be offered (upadana), oblation (igya), recitation of prayers, etc. (svadhyaya), and devout meditation (Yoga), passes beyond all affliction and reaches the highest Being. (P. 140.)

२—संभव है कि भागवत लोगोंने निम्नलिखित अर्थके अभिप्रायसे इन चारोंका नाम रखा हो—

रूपके निवासस्थान होनेसे ईश्वर वासुदेव है, जीवात्माका नाम संकर्षण इसलिये है कि वह कर्मद्वारा अथवा विषय वासनाओंद्वारा विशेषरूपसे आकृष्ट होता है। मनका नाम प्रद्युम्न इसलिये है कि वह प्रत्येक कर्ममें निमित्त होनेसे सहज ही द्योतित होता है अथवा शीघ्रगामी होनेसे मन प्रद्युम्न है। अहंकारका नाम अनिरुद्ध इसलिये है कि वह रोका नहीं जाता, किन्तु रोके जानेपर भी प्रकट ही हो जाता है—अनु० ।

[illegible] भगवन्तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत इति । तत्र यत्तावदुच्यते योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित इति तन्न निराक्रियते, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' ( छा० ७।२६।२ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधाभावस्याधिगतत्वात् । यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते, तदपि न प्रतिषिध्यते । श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात् । यत्पुनरिदमुच्यते [illegible] संकर्षण उत्पद्यते संकर्षणाच्च प्रद्युम्नः प्रद्युम्नाच्चानिरुद्ध इति । अत्र ब्रूमः—न वासुदेवसंज्ञकात्परमात्मनः संकर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः संभवति । अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् । उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन् । ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः स्यात् । कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसङ्गात् । प्रतिषेधिष्यति [illegible] जीवस्योत्पत्तिम्—'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' ( ब्र० सू० २।३।१७ ) [illegible] तस्मादसंगतैषा कल्पना ॥ ४२ ॥

## न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

इतश्चासंगतैषा कल्पना । यस्मान्नहि लोके कर्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्युत्पद्यमानं दृश्यते । वर्णयन्ति च भागवताः कर्तुर्जीवात्संकर्षणसंज्ञकात्करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्यते [illegible]

और अन्य भक्त [illegible] [illegible] उपादान, यज्ञ, [illegible], और [illegible] प्राप्त [illegible] ।

[illegible] परमात्मा सर्वात्मा है [illegible] इसका [illegible] नहीं किया [illegible] ( छा० ७ । २६ । २ ) इत्यादि [illegible] परमात्माका अनेक [illegible] ।

और यह [illegible] भगवानका [illegible] अभिगमन आदि [illegible] [illegible] है, उसका भी निषेध नहीं किया जाता है, क्योंकि श्रुति और स्मृतिमें ईश्वरकी उपासना प्रसिद्ध है ।

और जो यह [illegible] जाता है कि वासुदेवसे संकर्षण उत्पन्न होता है, संकर्षणसे प्रद्युम्न और प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध, यहां कहते हैं—वासुदेव नामक परमात्मासे संकर्षण नामक जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनित्यत्व आदि दोष आ जायँगे, [illegible] उत्पत्ति माननेपर अनित्यत्व आदि दोष प्रसक्त होंगे, तब तो अनित्य [illegible] भगवानकी प्राप्तिरूप मोक्ष न होगा, क्योंकि कारणमें [illegible] प्राप्ति होनेपर जीवका नाश हो जायगा । आचार्य [illegible] उत्पत्तिका 'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' ( ब्र० सू० २ । ३ । १७ ) यहांपर निषेध करेंगे, इसलिए यह कल्पना असंगत है ॥ ४२ ॥

## न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

इससे आगे भी यह कल्पना असंगत है, कारण कि लोकमें कर्ता देवदत्त आदिसे कार्यके साधन कुल्हाड़ी आदि उत्पन्न होते दिखाई नहीं देते, भागवत लोग वर्णन करते हैं कि कर्ता संकर्षण नामक

---

* प्रातःकाल भगवानको मन्त्र, जप, स्तुति, नमस्कार आदि करना—अभिगमन है । तत्पश्चात् पूजाके लिये पुष्प आदि सञ्चय करना—उपादान है । पश्चात् पूजा करना—इज्या है । इस कारण भगवान्‌के बनाये शास्त्र, शास्त्रानुयायी पुराण और श्रुतियोंका श्रवण और चिन्तन आदि—स्वाध्याय है, तब सायंकाल की संध्याके पश्चात् भगवान्‌में चित्तका समाधान—योग है—कल्पतरुपरिमल ।

यते । कर्तुश्चाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञकोऽहंकार उत्पद्यत इति । नचैतद् दृष्टान्तमन्तरेणाध्यवसातुं शक्नुमः । नचैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे ॥ ४३ ॥

## विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

प्रश्नः—अथापि स्यान्न वैते संकर्षणादयो जीवादिभावेनाभिप्रेयन्ते ?

उत्तरम्—किं तर्हि ?

प्रश्नः—ईश्वरा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वरैर्धर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते वासुदेवा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वरैर्धर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते वासुदेव एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति । तस्मान्नायं यथावर्णित उत्पत्त्यसंभवो दोषः प्राप्नोतीति ?

उत्तरम्—अत्रोच्यते—एवमपि तदप्रतिषेधः उत्पत्त्यसंभवस्याप्रतिषेधः प्राप्नोत्येवायमुत्पत्त्यसंभवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः ।

प्रश्नः—कथम् ?

उत्तरम्—यदि तावदयमभिप्रायः-परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः । सिद्धान्तहानिश्च । भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमात् । अथायमभिप्राय एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तुल्यधर्माण इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसंभवः । नहि वासुदेवात्संकर्षणस्योत्पत्तिः संभवति संकर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्य, अतिशयाभावात् । भवितव्यं हि कार्यकारणयोरति

जीवसे कर्ताका साधन प्रद्युम्न नामक मन उत्पन्न होता है, और कर्तासे उत्पन्न हुए उस प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध नामक अहंकार उत्पन्न होता है, इसको हम दृष्टान्तके बिना निश्चय नहीं कर सकते, और न इसको [illegible] श्रुति भी हमें मिलती है ॥ ४३ ॥

## विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

प्रश्न–भागवत—यह अभिप्राय नहीं कि संकर्षण आदि जीव आदि रूपसे उत्पन्न होते हैं ।

उत्तर–वेदान्ती—तो क्या अभिप्राय है ?

प्रश्न–भागवत—ये सब ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज इन ईश्वरसम्बन्धी धर्मोंसे अन्वित होकर ईश्वर ही हो जाते हैं ऐसा हम मानते हैं, ये सब निर्दोष—अविद्या आदि दोष रहित, निराधार—उपादान कारण रहित, और अनिन्दित—अनित्यत्वादि दोष रहित वासुदेव ही होते हैं, इस कारण जीवात्माकी उत्पत्तिका असंभव होना दोष जो वर्णन किया गया है वह प्राप्त नहीं होता है ?

उत्तर–वेदान्ती—यहां कहा जाता है, ऐसे माने जानेपर भी उत्पत्त्यसंभव दोष निषिद्ध नहीं होता है, अभिप्राय यह है कि प्रकारान्तरसे उत्पत्त्यसंभव दोष प्राप्त ही होता है ।

प्रश्न–भागवत—कैसे ?

उत्तर–वेदान्ती—यदि यह अभिप्राय है कि ये वासुदेव आदि चार समानधर्मवाले परस्पर भिन्न ही हैं, ये सब एक नहीं, तब तो एक ही ईश्वरसे कार्य सिद्ध होनेसे अनेक ईश्वरकी कल्पना करना व्यर्थ होगा, तथा इससे सिद्धान्तहानि भी होगी, क्योंकि भगवान् वासुदेव ही एक वास्तविक तत्त्व है ऐसा तुम मानते हो ।

अथवा यह अभिप्राय हो कि एक ही भगवान्‌के ये चार समान धर्मवाले व्यूह हैं, तो भी उस अवस्थामें ही उत्पत्त्यसंभवरूप दोष आता है, वासुदेवसे संकर्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, और न संकर्षणसे प्रद्युम्नकी तथा प्रद्युम्नसे अनिरुद्धकी, क्योंकि इन चारोंमें कोई विशेषता नहीं है, कार्य और

षेण यथा मृद्घटयोः । अव्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते । न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकस्मिन्सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतः कश्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते । वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते । नचैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसंख्यायामेवावतिष्ठेरन्, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात् ॥ ४४ ॥

## विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

विप्रतिषेधश्चास्मिञ्छास्त्रे बहु[illegible]पलभ्यते गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः । ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः, आत्मान एवैते, भगवन्तो वासुदेवा इत्यादिदर्शनात् । वेदविप्रतिषेधश्च भवति । चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेदनिन्दादर्शनात् । तस्मादसंगतैषा कल्पनेति ॥ ४५ ॥ इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

॥ इति द्वितीयाध्याये सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनं नाम द्वितीयः पादः ॥

कारणमें विशेषता होनी चाहिये जैसे मिट्टी और घड़ेमें विशेषता होती है, विशेषता न होनेपर यह कार्य है यह कारण है इस प्रकार निश्चय नहीं होता है। [1]पञ्चरात्र सिद्धान्तको माननेवाले वासुदेव आदियोंमें एकमें अथवा सबोंमें ज्ञान ऐश्वर्य आदि क्रमसे भेद नहीं मानते हैं, ये सब विशेषतारहित व्यूह वासुदेव ही हैं ऐसे वे चाहते हैं, ये भगवान्‌के व्यूह चार संख्याओंमें अवलम्बित नहीं हो सकते, क्योंकि ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्त समस्त जगत् ही भगवान्‌के व्यूह रूपसे माने जाते हैं ॥ ४४ ॥

## विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

भागवतोंके शास्त्रमें गुण और गुणी आदिकी कल्पनारूप परस्पर विरुद्ध बातें बहुतसी हैं, क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, ब[illegible] गुण हैं, फिर ये चारों आत्मायें भगवान् वासुदेव ही हैं यह भी देखनेमें मिलता है ( अर्थात् गुण और गुणीमें भेद होनेसे फिर ये चारों आत्मायें भगवान् वासुदेव ही हैं ऐसा अभेद कथन करना परस्पर विरुद्ध है ), इस शास्त्रमें वेदोंका निषेध भी किया जाता है—चारों वेदोंमें उत्कृष्ट श्रेय न पाकर शाण्डिल्य नामक किसी पुरुषने भागवतोंके इस शास्त्रको प्राप्त किया इस प्रकार वेदोंकी निन्दा देखी जाती है, इस कारण सिद्ध होता है कि कल्पना असङ्गत है ॥ ४५ ॥ यह आठवां उत्पत्त्यधिकरण समाप्त हो गया।

द्वितीयाध्यायका द्वितीय पाद समाप्त हो गया।

[1]—बुद्धिपूर्वकृतिः पञ्चरात्रं निःश्वसितं श्रुतिः ।

भगवान्‌के मुखसे निकला हुवा पञ्चरात्र शास्त्ररूप श्रुति है जो बुद्धिपूर्वक बनी हुई है, पञ्चरात्र एकायनशाखा नामक शाखाविशेष है—अनुवादक ।

